Sarasvati

Vol.2
1918

G. K. V.
HARDWAR

लेख-सूची ।

——

चित्र-सूची ।

सचित्र

मासिक पत्रिका

भाग १९, खण्ड २

जुलाई—दिसम्बर

१९१८

सम्पादक

१—महावीरप्रसाद द्विवेदी

२—देवीप्रसाद शुक्ल, बी० ए०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, प्रयाग

वार्षिक मूल्य पाँच रुपये

लेख-सूची।

चित्र-सूची।

रङ्गीन चित्र।

सादे चित्र।

रङ्गीन चित्र ६

सादे चित्र ३५

कुल ४१

कृष्णाभिसारिका ।

क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे, प्राणाधिपो वसति यत्र निजः प्रियो मे ।
एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले, नन्वस्ति पुङ्खितशरो मदनः सहायः ॥

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

सरस्वती

मासिक पत्रिका।

भाग १६, खण्ड २] अगस्त १६१८—भाद्रपद १९७५ [संख्या २, पूर्ण संख्या २२४

केसरिया रङ्ग।

कुसुम मन पर केसरिया रङ्ग।
जब से चढ़ा निराला इसने बना दिया सब ढङ्ग॥
भक्ति-मेघ ने जल बरसाये, हृदय-बेल में पल्लव आये,
सुन्दर आशा-फूल खिलाये, बैठे शान्ति-विहङ्ग॥
ब्रह्म-तेज की जोत वही है, इस जीवन का स्रोत वही है,
भवसागर-जल-पोत वही है, वही आत्म-अरधङ्ग॥
कुशल, भोग, सुख, क्षेम वही है, इष्ट, भक्ति, शुचि प्रेम वही है,
धर्म, कर्म, व्रत, नेम वही है, वही विमल सुरगङ्ग॥
जगत निराला रङ्ग हमारा, जीवन का बस वही सहारा,
शान्ति, सौख्य, वैभव का द्वारा, रहे विभो! नित सङ्ग॥
अर्पण करके जीवन को भी, बने रहेंगे उसके लोभी,
विनय प्रभो! है तुम से तो भी, रङ्ग न होवे भङ्ग॥

देवीप्रसाद गुप्त, बी० ए०

श्रीस्वामी मगनीरामजी।

जयन्ति ते सुकृतिनः कामाद्यस्पृष्टचेतसः।
शुद्ध्यन्ति मानवा येषां चरित्रैर्लोकलङ्घिभिः॥

सरस्वती के कई अङ्कों में महात्माओं के चरित निकल चुके हैं। उन्हें देख कर मुझे भी यह उत्कण्ठा हुई कि मैं भी एक महात्मा का चरित लिखकर अपने को पवित्र करूँ।

यद्यपि स्वामीजी का चरित मुझे विशेष रूप से मालूम नहीं तथापि जन-श्रुतियों द्वारा जो सुना है और जो कुछ आँखों देखा है उसे ही लिखता हूँ। जयपुर-ज़िले में लालसोट नामक एक ग्राम है। स्वामीजी का जन्म इसी गाँव में हुआ था। आपने अपने शुभ-जन्म से गौड़-ब्राह्मण-कुल को गौरवान्वित

किया है। बाल्यावस्था ही में आपके पिता का देहान्त हो गया। जब आप बारह वर्ष के हुए तब ऐसे विद्याहीन देश में भी आपको विद्याध्ययन से बड़ा अनुराग हुआ। इसी अनुराग से प्रेरित हो कर आप घर से कुछ दूर पर पढ़ने के लिए चुपचाप भाग गये।

आप अपनी माता के बड़े भक्त थे और उनकी खूब सेवा करते थे। अतएव जब आपको माता के दर्शन न होने से दुःख हुआ तब आप फिर घर लौट गये। घर जाने पर आपको पता लगा कि लोग मेरे विवाह के लिए उद्योग कर रहे हैं। यह सुन कर आपको परिताप हुआ और रात ही में घर से भाग कर फिर आप अपने गुरुजी के पास चले गये।

गुरुजी ने आपका हाल सुन कर आपको आज्ञा दी कि सब छोड़ कर पढ़ो और ईश्वर का भजन करो। परन्तु आपने कहा कि जब तक मेरी माता जीवित रहेंगी तब तक मैं दूसरा काम नहीं कर सकता। उस जगह एक शिवानन्द नामक संन्यासी भी बैठे थे। उन्होंने कहा—ब्रह्मचारी, तुम्हारी सेवा तो यही है कि माताजी को बदरीनारायण का दर्शन करा दो, जिससे वे मुक्त हो जायँ।

श्रीस्वामी मगनीरामजी।

कुछ दिन बाद आपने स्वामीजी के कथनानुसार अपनी माता को भगवान् बदरी-नारायणजी का दर्शन करा दिया। फिर आप काशी चले आये। यहाँ आपने खूब अध्ययन किया और वेदान्त-शास्त्र के प्रगाढ़ पण्डित हो गये। इसके अनन्तर आप उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र आदि वेदान्त के अनेक ग्रन्थों को बीस बीस संन्या-सियों और ब्रह्मचारियों को रोज़ पढ़ाने लगे। सम्पूर्ण दिन आपका विद्याध्ययनाध्यापन में ही व्यतीत होने लगा।

आप सच्चे साधु हैं। लिखा है—"कर्मण्येकं मनस्येकं वचस्येकं महात्मनाम्"। आप में ये बातें अक्षरशः विद्यमान हैं। आपने अभी तक जन-साधारण

पर अपनी सिद्धि प्रकट नहीं की। आप अपने सत्कर्मों द्वारा ब्रह्मचर्यावस्था में ही संन्यासियों के कान काटते थे। अब तो आपने स्पष्ट रूप से संन्यास ग्रहण कर लिया है। द्रव्य का त्याग आपने ब्रह्मचर्यावस्था ही से किया है। कदाचित् कोई दर्शक यदि हठात् कुछ अर्पण भी कर देता है तो वह जहाँ का तहाँ ही पड़ा रहता है और किसी ब्राह्मण के आ जाने पर उसी के हाथ से वह उठाया जाता है। वह उसी को मिलता है।

सुनते हैं, आपके प्रसाद से एक मारवाड़ी का मनोरथ पूर्ण होगया। उसने कई हज़ार रुपये लाकर आपको अर्पण किये। वे रुपये आपको विषधर सर्प से मालूम हुए; परन्तु मारवाड़ी के हठ करने पर आपने आज्ञा दी कि सारस्वत और गौड़-विद्यार्थी तो क्षेत्रों की कृपा से भी अपना जीवन निर्वाह कर लेते हैं। पर सरयूपारी और कान्यकुब्ज नहीं। अतएव उन लोगों के लिए इन रुपयों से कुछ प्रबन्ध कर दिया जाय। यह कार्य बहुत दिनों तक चलता रहा है।

आप चाहते तो भ्रुकुटि-क्षेप की सहायता से ही बहुत से मठ और क्षेत्र स्थापित करा लेते। परन्तु आपको यह बात कब अच्छी लगने लगी। आप सच्चे त्यागी हैं। आपके कुटीर में पुस्तकें और कौपीन आदि छोड़ कर और कुछ भी नहीं है। सुनते हैं, एक दिन आपके कुटीर में एक चोर घुसा। आपका सोना और जागना बराबर ही है। अतएव जब आपने देखा कि चोर ने बड़ा परिश्रम किया, पर उसे कुछ भी न मिला, तब आपने चोर से कहा कि तुमने परिश्रम तो बहुत किया, परन्तु पाया कुछ भी नहीं। इसलिए आले पर प्रसाद रूप थोड़े से बताशे रक्खे हैं, ले लो। चोर यह सुनते ही एक दो तीन हो गया।

ईश्वर की कृपा से मैंने बहुत से महात्माओं के दर्शन किये हैं और उनके चरित भी सुने हैं। परन्तु किसी न किसी तरह का आडम्बर मैंने सभी में पाया है। कोई चकार का सेवक, कोई नगर-सेठ-शिष्यों के अधीन, और कोई महा क्रोधी। किन्तु स्वामीजी में किसी तरह का आडम्बर नहीं। आज तक स्वामीजी के सदृश दूसरे महात्मा मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुए। स्वामीजी ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, सभी को पूर्णरूपेण जीत लिया है। शान्त तो आप ऐसे हैं कि यदि शान्तरस का अवतार आपको कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। आप के दर्शन के समय दर्शक के हृदय में रजस्तम ध्वस्त हो कर सत्वगुण सञ्चरण करने लगता है। आप की वाणी मधुर और उपदेश गोस्वामी तुलसीदासजी के उपदेशों के समान होते हैं। अर्थात् आप के उपदेशों में किसी शास्त्र या मत से विरुद्धता नहीं पाई जाती।

बहुतेरे धन-पात्रों ने आप से मन्त्र लेना चाहा; परन्तु आपने किसी को भी शिष्य नहीं किया।

आपकी धारणा है कि काशी से बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है। इसलिए जब से आप काशी आये तब से प्रायः अन्यत्र कहीं नहीं गये।

आपकी कुटी, काशी में, अस्सी-सङ्गम के पास, मोतीराम के बाग़ में है। वहीं थोड़े दिनों से आपके नाम से "मगनीराम-पाठशाला" चल रही है। उसमें विद्यार्थियों को अन्न भी दिया जाता है। ख़र्च ४१५) रुपये महीना होता है। यह ख़र्च कलकत्ते के मारवाड़ी विलासराय और भजनलाल आदि की सहायता से होता है। पाठशाला के अध्यक्ष पण्डित विष्णुदत्त ब्रह्मचारीजी हैं, जो अच्छे विद्वान् हैं।

हरिनारायण शर्मा गौड़
(काव्यतीर्थ)

अन्धे सैनिकों को कला-कौशल की शिक्षा।

कुछ दिन हुए मैं लन्दन में एक स्कूल देखने गया जहां जल और स्थल की लड़ाइयों में अन्धे हो जानेवाले सैनिकों को, अपना भरण-पोषण स्वयं करने के योग्य बनाने के लिए, कला-कौशल की शिक्षा दी जाती है। यह

सर आर्थर पियर्सन।

विद्यालय १९ एकड़ अति रमणीक भूमि के बीचों बीच है। रीजेन्ट्स पार्क (Regent's Park) नाम का मनोहर उद्यान इसे प्रायः चारों ओर से घेरे हुए है। यद्यपि यह विद्यालय संसार के सबसे बड़े नगर के मध्य में स्थित है, जिसकी आबादी ७० लाख से भी अधिक है, तथापि यहाँ आने से दर्शकों को ग्राम्य जीवन का अनुभव होने लगता है। जब युद्ध शुरू हुआ था तब "सेन्ट डन्स्टन्स" (St. Dunstans) नाम की भूमि अमेरिका के एक बड़े व्यवसायी मिस्टर ओटो काह्न (Mr. Otto Kahn) के कब्ज़े में थी। इस उदार महाशय ने इस विस्तृत भूमि को अन्धे सैनिकों तथा नाविकों की सहायता करनेवाली संस्था "Blinded Sailors' and Soldiers' Committee" को, देश की सेवा में अपनी आँखें खोनेवाले सैनिकों की शुश्रूषा तथा निवास के लिए, दे दिया। इस संस्था के व्यवस्थापक तथा प्रधान कार्यकर्त्ता सर साइरिल आर्थर पियर्सन (Sir Cyril Arthur Pearson) हैं। ये महाशय तीन दैनिक तथा कई मासिक पत्रों के अध्यक्ष तथा प्रकाशक हैं और आँखों से बेहद काम लेने के कारण, कुछ दिन से बिलकुल नेत्रहीन हो गये हैं।

अख़बारी दुनिया में सर आर्थर पियर्सन का अभ्युदय बहुत ही आश्चर्यजनक है। मिस्टर (बाद को सर) जार्ज न्यून्स (George Newnes) ने १८८४ में "टिट् बिट्स" (Tit Bits) नाम के अख़बार में एक विज्ञापन निकाला कि वे १२०० रुपये साल की एक जगह इस साप्ताहिक पत्र के विभाग में उस मनुष्य को देंगे जो तीन महीने तक प्रति सप्ताह इस अख़बार में निकलनेवाले प्रश्नों का यथोचित और सन्तोषजनक उत्तर दिया करेगा। कोई भी मनुष्य चाहे उसका ज्ञान कितना ही विस्तृत और व्यापक क्यों न हो, इन प्रश्नों का उत्तर बिना बड़े धैर्य्य और बिना अत्यन्त परिश्रम तथा गवेषणा किये न दे सकता था। युवा पिअर्सन कमर कस कर तैयार हो गया। उस

समय वह अपने पिता के साथ, जो पादड़ी का काम करते थे, ड्रेटन (Drayton) नाम के एक छोटे से नगर में रहता था, और इन प्रश्नों को हल करने के लिए ३० मील दूर बाइसिकल पर बेडफ़ोर्ड (Bedford) के पुस्तकालय में जाया करता था। इस पद को पाने के लिए वह इतना उत्सुक था कि वह कभी कभी हफ़्ते में तीन बार बेडफ़ोर्ड को सवाल हल करने के लिए जाता था। इस तरह उसे कभी कभी हफ़्ते में १३० मील तै करना पड़ता था। अपने प्रतिद्वन्दियों से कहीं अधिक प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर उसने दिया और अन्त में वह अपने उद्देश में सफल-मनोरथ हुआ।

दूसरे साल, वसन्त ऋतु में, उस कम्पनी में मैनेजर की जगह ख़ाली हुई, जहाँ वह अभी तक जूनिअर क्लर्क (छोटे से लेखक) के पद पर काम करता था। उसने हिम्मत करके मैनेजर के पद के लिए दरख़्वास्त की। न्यूल्स इस निवेदन से बड़े चक्कर में पड़ा कि उसे इस सम्बन्ध में क्या करना चाहिए। किन्तु अन्ततो-गत्वा इस युवक के बार बार कहने पर उसे इम्तिहान के तौर पर मैनेजर के पद पर रख लिया। तीन वर्ष बाद पिअर्सन इसी पद पर ४५००) रुपये साल पाने लगा। उसने अपनी योग्यता को सिद्ध कर दिखाया और अब वह इतना योग्य समझा गया कि कम्पनी की ओर से अमरीका की रियासतों में दौरा करने का काम उसे सौंपा गया।

एक बार जब उसने इस बात की धमकी दी कि यदि कम्पनी उसके वेतन में वृद्धि न करेगी तो वह काम छोड़ देगा, मिस्टर न्यूल्स ने उस से कहा कि वह ख़ुशी से काम छोड़ सकता है। इस पर उसने न्यूल्स की कम्पनी का काम छोड़ कर स्वयं अपना कारोबार शुरू किया। उसने फ़ौरन ही पियर्सन्स वीकली (Pearson's Weekly) नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला, जो कुछ दिनों के बाद इतना समृद्धिशाली और उन्नत दशा में हो गया कि पियर्सन को एक सामयिक पत्रिका (Pearson's Magazine) निकालने का भी हौसला हो गया। जिस समय उसके नेत्रों से प्रकाश बिलकुल चला गया था उस समय वह इतना धनी हो गया था कि अपना शेष जीवन वह लोकोपयोगी कामों में बिता सकता था। उसने अपनी शेष आयु अन्धों की सेवा में व्यतीत करने का निश्चय कर लिया। अतएव लोगों ने उसे अन्धों का जातीय विद्यालय (National Institute of the Blind) नाम की संस्था का सभापति चुना।

युद्ध छिड़ जाने पर सर आर्थर पियर्सन को उन सैनिकों के लिए कोई ख़ास प्रबन्ध करना बहुत आवश्यक मालूम पड़ा जो युद्ध में घायल होकर अन्धे हो गये थे। स्वयं नेत्रहीन होने के कारण उसे उन अन्धे सैनिकों की असहाय दशा का अनुभव करने में कोई कठिनता न हुई। बेचारा वह सैनिक जो आज नेत्रों से अनेक सुखों का अनुभव कर रहा है कल गोली लगने से नेत्रविहीन हो जाता है। अब वह न तो सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश का अनुभव कर सकता है, न इन्द्र-धनुष के सुन्दर दृश्य देख सकता है, न मनोहर प्राकृतिक विचित्रताओं को प्रत्यक्ष कर सकता है, और न वह पुस्तक तथा समाचारपत्र पढ़ कर अपना दिल बहला सकता है। अपनी ज़िन्दगी उसे दूभर हो जाती है। वह दिन रात अपनी निःसहाय दशा पर रोया करता है। वह उस दिन को कोसता है जिस दिन वह स्वदेश, स्वतन्त्रता, तथा सभ्यता की रक्षा के लिए फ़ौज तथा जहाज़ी बेड़े में भरती हुआ था। वह मन में बार बार यही सोचता है कि उसका शेष जीवन दुःखमय हो गया और उसको दूसरों की कृपा तथा दान पर अवलम्बित रहना पड़ेगा। अच्छा होता वह युद्धभूमि में मर गया होता! धन्य हैं वे उदार मनुष्य जो ऐसे मनुष्यों के अन्धकारमय जीवन में कुछ भी प्रकाश पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं, जो उन्हें उभड़े हुए अक्षरों को टटोल कर पुस्तक इत्यादि पढ़ने की शिक्षा देते हैं और कला-कौशल की शिक्षा देकर उन्हें स्वयं अपनी जीविका उपार्जन कर लेने योग्य बना देते हैं।

नेत्र-रहित होने पर भी पिअर्सन साहब में अब भी वही जोश और काम करने की वही शक्ति तथा उत्साह बना हुआ है जिसके कारण वे इँगलिस्तान की अख़बारी दुनिया में एक प्रधान मनुष्य समझे जाते थे। शीघ्रही उन्होंने मिस्टर काह्न से सेन्ट डन्स्टन्स (St. Dunstans) नामक स्थान लेकर उसमें आवश्यक परिवर्त्तन कराया और उसे अन्धों के रहने के लिए ठीक किया। उन्होंने सरकारी अफ़सरों से लिखा-पढ़ी कर के यह तय कर लिया कि जो सैनिक युद्ध में घायल हो

कर अन्धे हो गये हैं वे किसी ख़ास अस्पताल में भेज दिये जायँ, जहाँ सैनिक-रक्षा-समिति (Blinded Soldiers' and Sailors' Care Committee) के सदस्य उनसे मिल कर उनका दिलबहलाव करने के साथ साथ उन्हें ब्रेल साहब की ईजाद की हुई, उभड़े अक्षरों की मेशीन, से लिखने-पढ़ने तथा जालीदार थैले बुनने की भी शिक्षा दिया करेंगे। उन्होंने घायल सैनिकों को, आबोहवा बदलने तथा फिर से तन्दुरुस्त हो जाने के लिए, अस्पताल से समुद्र के किनारे भेजने का भी इन्तिज़ाम किया। वे अन्धे सैनिक, जो अधिक बीमार नहीं होते और जिन्हें थोड़े ही विश्राम की आवश्यकता होती है, ब्राइटन के एक अस्पताल में भेजे जाते हैं, जिसका इन्तिज़ाम अन्धों की रक्षा करनेवाली जातीय समिति (Committee of the National Institute for the Blind) नाम की संस्था के हाथ में है। कुछ अन्धे सैनिक टार्के (Torquay) नामक स्थान के एक अस्पताल में भेज दिये जाते हैं, जिसका इन्तिज़ाम वहीं के लोगों के हाथ में है। ज्योंही वे चल फिर सकते हैं और शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं वे सेन्ट डन्स्टन्स में भेज दिये जाते हैं। जब मैं सेन्ट डन्स्टन्स के अन्धाश्रम में आया तब, उस समय, पिअर्सन साहब वहाँ उपस्थित न थे, किन्तु वे शीघ्र ही आनेवाले थे। इस बीच में मिस्टर पियर्सन के सहायक और दाहिने हाथ, मिस्टर अर्नेस्ट केसेल (Mr. Ernest Kessel), ने कृपा करके मेरे साथ घूम फिर कर मुझे इस आश्रम का प्रत्येक विभाग अच्छी तरह दिखलाया।

एक अन्धा सैनिक टोकरी बनाना सीख रहा है।

मैंने वहाँ एक बड़ा कमरा देखा जिसके मध्य में क़ालीन का एक टुकड़ा बिछा हुआ था। वह अन्धों के लिए मार्ग-निर्देशक का काम देता था। वे उस पर चल कर अपना रास्ता पहचान लेते थे। जहाँ तक उनके पैरों के नीचे क़ालीन रहता है वहाँ तक उन्हें किसी चीज़ से धक्का या ठोकर लगने का डर नहीं रहता। यदि कोई दूसरा अन्धा मनुष्य उस तरफ़ से आता हो तो बात दूसरी है; नहीं तो उन्हें किसी चीज़ की ठोकर का डर नहीं। कई बार मैंने क़ालीन पर चलते हुए दो मनुष्यों को आमने सामने टक्कर खाते हुए देखा। किन्तु वे दोनों आपस में ऐसी खुशी के साथ मिले कि मानों कुछ हुआ ही नहीं। इस तरह वहाँ के अन्धे मनुष्य बिना छड़ी के सहारे अपना रास्ता ढूँढ़ लेते हैं।

यहाँ से बाहर निकलने पर मैंने देखा कि इस कमरे के ऊपर की छत और उसकी सीढ़ियाँ सीसक-धातु से जड़ी हुई हैं। उन पर पैर रखते ही अन्धों को तत्काल मालूम हो जाता है कि वे छत पर चढ़ अथवा उतर रहे हैं। इस तरह बिना किसी की सहायता के वे ऊपर और नीचे आ जा सकते हैं।

पहला कमरा जहाँ मैं गया उसमें अन्धे सिपाहियों को मर्दन अथवा मालिश करने का काम सिखलाया जाता है। मुझे वहाँ से पता लगा कि मालिश करने की विद्या में कुशल मनुष्यों की बड़ी माँग है। फ़ौज में घायल मनुष्यों के अङ्गों

की मालिश करने के लिए ऐसे मनुष्यों की बड़ी ज़रूरत है। जो अन्धे सैनिक इस आश्रम से मालिश का काम सीख कर बाहर निकलते हैं वे प्रायः १२०) महीने के हिसाब से रुपया पैदा करने लगते हैं। इन में से बहुत से अन्धे

अन्धे सैनिक एक दूसरे को पीठ पर चढ़ा कर कूदते हुए चलने का खेल खेल रहे हैं।

होने के पहले इसका तिहाई हिस्सा भी नहीं पैदा करते थे। युद्ध समाप्त होने पर भी सम्भवतः मालिश का काम करनेवालों की माँग बनी ही रहेगी, क्योंकि अब लोग, मालिश से कितना फ़ायदा होता है इस बात को अच्छी तरह समझने लगे हैं। मैंने स्वयं देखा है कि एक सैनिक की उँगली का कुछ हिस्सा युद्ध में कट गया और इसी मालिश की बदौलत उसकी कटी हुई उँगली इस दशा में हो गई कि वह फिर उससे बन्दूक चलाने के सर्वथा योग्य हो गया और एक बार फिर वह फ़्रांस में युद्ध करने के लिए भेजा गया। प्रायः देखा गया है कि नेत्रवालों की अपेक्षा नेत्र-रहित मनुष्य अच्छी मालिश करते हैं। इसका कारण यह है कि अन्धों में स्पर्शज्ञान की ऐसी विशेषता होती है जो नेत्रवालों में नहीं होती। दूसरे यह कि नेत्र-रहित होने से अन्धे का ध्यान किसी दूसरी ओर आकर्षित न होकर उस एक ही काम में लगा रहता है।

अन्धे सैनिकों को इस आश्रम में मालिश का काम करते हुए देख कर मुझे जापान की याद आ गई, जब मैं १९०४—५ में रूस-जापान के युद्ध के बाद ही वहाँ गया था। बहुत से जापानी योद्धा जो युद्ध में घायल होकर अन्धे हो गये थे, उनको मालिश करने का काम सिखलाया गया था। रूस-जापान-युद्ध के पूर्व भी जापान में मालिश करना अन्धों ही का पेशा समझा जाता था।

विद्यालय में प्रवेश करने पर मैंने बहुत से अन्धे सैनिकों को ब्रेल मेशीन के द्वारा उभड़े हुए अक्षर सीखते देखा। ये अक्षर काग़ज़ों पर उभड़े रहते हैं, जिन पर उँगलियाँ फेर कर अन्धे मनुष्य पढ़ने का अभ्यास करते हैं। इधर कुछ वर्षों से कितने ही उदार-हृदय और परोपकारी पुरुषों तथा स्त्रियों ने साहित्य के प्रायः सभी अङ्गों पर इन्हीं अक्षरों में पुस्तकें रच डाली हैं। संसार के प्रायः जितने उत्तम और ऊँचे दर्जे के ग्रन्थ हैं वे सब इन्हीं उभड़े हुए अक्षरों में विद्यमान हैं। सब विषयों की पाठ्य पुस्तकें ख़ास अन्धों के लिए इन अक्षरों में बन गई हैं। नहीं मालूम कितने उपन्यास इन अक्षरों में अन्धों के लिए निकल चुके हैं। कई साप्ताहिक और मासिक पत्र भी इन्हीं अक्षरों में छपते हैं। अन्धे मनुष्य दैनिक पत्र भी अब पढ़ सकते हैं, क्योंकि लन्दन का डेली मेल प्रति दिन इन अक्षरों में भी निकलने लगा है। इस तरह ये मनुष्य, संसार में क्या हो रहा है, इस बात से अनभिज्ञ नहीं रहते और नेत्रों से प्रकाश चले जाने पर भी इनके हृदयपटल में जो अन्धकार और भय समा जाता है वह भी बहुत कुछ कम हो जाता है।

मैंने बहुत से अन्धे मनुष्यों को एक बड़े हवादार कमरे में उभड़े हुए अक्षर लिखने पढ़ने की शिक्षा पाते देखा। अक्षर लिखने के लिए एक छोटी किन्तु अत्यन्त कौशलपूर्ण मेशीन से काम लिया जाता है। इस मेशीन का चलाना

बहुत ही आसान है। भिन्न भिन्न कुञ्जियां दबाने से भिन्न भिन्न प्रकार के अक्षरों की पङ्क्तियां की पङ्क्तियां मेशीन पर रक्खे हुए काग़ज़ के टुकड़े या फ़ीते, पर आप ही आप, उभड़ आती हैं। जब एक लेख अथवा प्रबन्ध समाप्त हो जाता है तब वह काग़ज़ का टुकड़ा या फ़ीता निकाल कर लपेट दिया जाता है। इन काग़ज़ों पर उभड़े हुए अक्षरों पर उँगलियां फेर कर अन्धे मनुष्य इन लेखों को पढ़ सकते हैं। मुझे

अन्धे सैनिक नाव पर जल-विहार कर रहे हैं।

देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक अन्धा मनुष्य उतनी ही शीघ्रता से मेरे व्याख्यान को इन अक्षरों में मेशीन के द्वारा लिख रहा था जितनी शीघ्रता से मैं बोल सकता था।

मुझे यह देख कर और भी आश्चर्य हुआ कि वहाँ अन्धे मनुष्य साधारण टाइप-राइटर की मेशीनों को भी आँख-वाले मनुष्यों की तरह चला रहे थे। वे टाइपराइटर की मेशीनों को इस आसानी, शुद्धता और शीघ्रता से चलाते थे कि मुझे भ्रम होने लगा कि वे अन्धे नहीं, आँखवाले हैं। मेरे आश्चर्य की पराकाष्ठा हो गई जब मुझे यह बतलाया गया कि अन्धे होने के पहले वे टाइप-राइटिङ्ग का काम बिलकुल न जानते थे और बहुत थोड़े दिनों से उन्हें इसकी शिक्षा दी जाने लगी है। एक मनुष्य वहाँ टाइप कर रहा था, जिसकी दोनों आँखें तथा दाहिना हाथ युद्ध में जाता रहा था। वह केवल बायें हाथ से टाइप करता था।

ज्योंही एक अन्धा मनुष्य बिना एक भी अशुद्धि किये एक पूरा सफ़ा टाइप करने लगता है त्योंही वह पास कर दिया जाता है और उसे एक टाइप-राइटर की मेशीन इनाम के तौर पर भेंट की जाती है। किसी ऐसे दफ़्तर में उसके लिए जगह तलाश कर दी जाती है जहाँ वह आराम के साथ अपना जीवन निर्वाह कर सके। नीचे एक मनुष्य का पत्र दिया जाता है, जिसने अपने यहाँ एक अन्धे को टाइप-राइटिङ्ग और शार्टहैंड के लिखने के काम पर नियुक्त किया था—

"हेरल्ड फ्लेट् नाम का अन्धा सैनिक शार्टहैंड और टाइप के काम को बहुत सन्तोषजनक रीति से कर रहा है। जिन लोगों ने उसे काम करते नहीं देखा वे नहीं विश्वास कर सकते कि अन्धा मनुष्य भी उतनी ही अच्छी तरह से शार्टहैंड लिख सकता है और टाइप कर सकता है जितनी अच्छी तरह नेत्रधारी शार्टहैंड-टाइपराइटर कर सकता है। अन्धाश्रम की शिक्षा और देख भाल की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है"।

इस स्थान से मैं वहाँ गया जहाँ मुर्ग़ियाँ पाली जाती हैं। यह मुर्ग़ीख़ाना कैप्टेन वेबर (Captain Webber) की देख रेख में है, जो स्वयं अन्धे हैं और जो इस काम में बड़े दक्ष हैं। ये अन्धे कैप्टेन उस समय कई अन्धों को इनक्यूबेटर (Incubator) नाम की मेशीन का प्रयोग और रहस्य बतला रहे थे। इस मेशीन के द्वारा कृत्रिम गर्मी पहुँचा कर अण्डों से मुर्ग़ी के बच्चे पैदा किये जाते हैं। पास ही एक और मकान में केवल स्पर्श द्वारा एक पक्षी के बच्चों को दूसरे पक्षी के बच्चों से अलगाने और पहचानने की शिक्षा दी जाती है।

मुर्गीखाने के समीपही एक बाग़ में कुछ अन्धे सैनिक साग-भाजी बो रहे थे। ये खेतों में खुर्पे और फावड़े से ऐसी निपुणता से काम कर रहे थे कि यदि मुझे पहले से न बतलाया गया होता कि ये वास्तव में अन्धे हैं तो मैं इन्हें कभी अन्धा न समझता।

यहाँ से चल कर मैं उस कमरे में गया जहां अन्धों को जाली बुनने का काम सिखलाया जाता है। मामूली थैले से लगा कर झूलने तक, हर प्रकार की जाली की चीज़ें यहाँ बुनी जाती हैं। कुछ मनुष्य छोटी बड़ी हर प्रकार की चटाई बुन रहे थे।
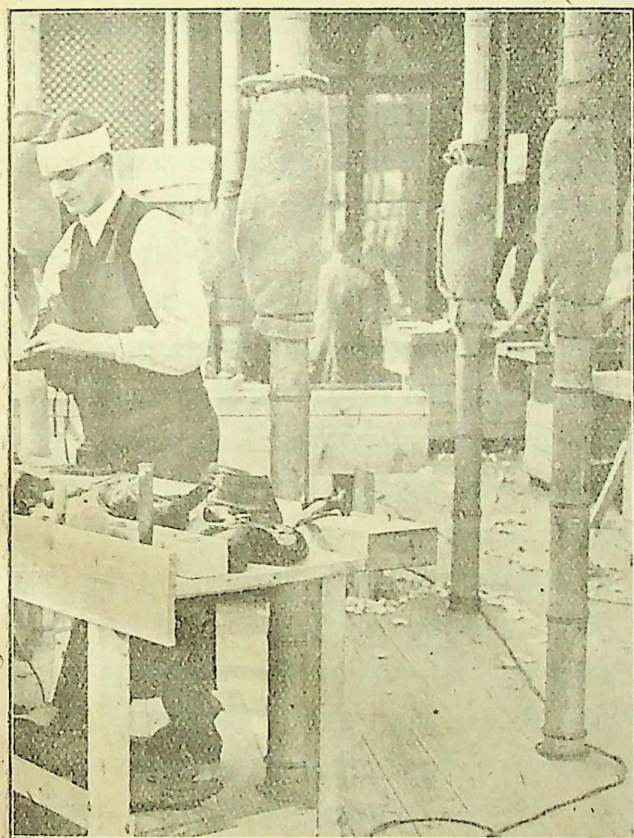
अन्धे सैनिक जूतों की मरम्मत कर रहे हैं।

इस आश्रम के कार्यालय की ओर आते हुए मैंने कुछ अन्धे सिपाहियों को, बूटों की मरम्मत करते हुए, देखा। एक अन्धा मनुष्य सीने की मेशीन पर बैठा काम कर रहा था और ऐसी अच्छी तरह और शीघ्रता के साथ बूटों को सी रहा था कि आँखवाले मोची क्या सीयेंगे। मुझे यह सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि नगर और ग्राम के बहुत से दयालु पुरुष और स्त्री अपने जूतों को मरम्मत के लिए यहीं भेजते हैं और इन लोगों के हाथ में काम हमेशा बना ही रहता है। बहुत से अन्धे सैनिक जो यहाँ से यह काम सीख कर निकले हैं ६०) रुपये मासिक या इससे भी अधिक पैदा कर लेते हैं।

कुछ क़दम आगे चल कर मुझे एक अन्धा मनुष्य दिखलाई पड़ा जो नये अन्धों को बढ़ई और लकड़ी का काम सिखला रहा था। इस मनुष्य से शिक्षा-ग्रहण करनेवाले सैनिक, अन्धे होने के पहले, या तो खेती का काम करते थे या किसी दफ़्तर या दूकान में नौकरी। इन लोगों ने इसके पहले कभी भी बढ़ई के औज़ारों को छुआ भी न था। इस अन्धे अध्यापक की शिक्षा से ये लोग ऐसे बढ़िया बढ़िया सन्दूक, पिँजड़े, मेज़, कुरसियाँ इत्यादि काठ की चीज़ें बनाते हैं कि देख कर दङ्ग होना पड़ता है। मैंने कई टेबिल, डेस्क, आलमारियाँ तथा काठ की अन्य वस्तुयें इन लोगों की बनाई हुई देखीं। मुझे देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि यद्यपि हथौड़ा चलानेवाले अन्धे होते हैं तथापि हथौड़ा कीलों ही पर या उसी स्थान पर पड़ता है जहाँ उसे पड़ना चाहिए; कभी इधर उधर छिटक कर नहीं पड़ता। इन लोगों की बनाई हुई चीज़ों की बनावट तथा चमक-दमक देख कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ।

उस अन्धे अध्यापक ने मुझे बतलाया कि अन्धों को दी जानेवाली बढ़ई के काम की शिक्षा तभी ख़तम होती है जब वे बिना दूसरे की सहायता या देखभाल के काम करने लगते हैं और इस आश्रम से निकलने के बाद बढ़ई का काम करके अपनी जीविका स्वयं पैदा कर लेने की योग्यता उनमें पूरी तरह से आ जाती है। बहुत से अन्धे इस आश्रम से बढ़ई का काम सीख कर बाहर निकल चुके हैं और अच्छा धन पैदा कर रहे हैं। विलियम नाम का एक अन्धा सैनिक, इस आश्रम को छोड़ने के बाद, साल भर के भीतर ३३००) रुपये, बढ़ई के काम से, पैदा कर चुका है।

इस आश्रम में जिस तरफ़ मैं गया उसी तरफ़ मैंने मनुष्यों को प्रसन्न और सुखी पाया। कई एकों को मैंने काम करते समय गाते हुए देखा। अन्धे होने पर भी इन मनुष्यों

की प्रसन्नता का बड़ा भारी कारण, मेरी समझ में, इनके सामने सर आर्थर पिअर्सन के आदर्श जीवन का उदाहरण है। पिअर्सन साहब के धैर्य और प्रसन्नहृदयता को देख कर इन अन्धों को भी ढाढ़स होता है और ये अपने चित्त को जहाँ तक हो सकता है सर्वदा प्रसन्न रखने का यत्न करते हैं।

मैं इस आश्रम को देख कर लौटनेवाला था कि पिअर्सन साहब आगये। मैंने उनसे आध घण्टे तक बात-चीत की। बात-चीत में उन्होंने मुझे बतलाया कि वे सर्वदा इस आश्रम में रहनेवाले अन्धे सैनिकों की शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों की उन्नति करने पर ज़ोर देते हैं। उन मनुष्यों को जो प्रातःकाल उभड़े हुए अक्षर लिखने पढ़ने अथवा टाइपराइटिंग और शार्टहैण्ड लिखना सीखते हैं, दोपहर के बाद कुछ न कुछ हाथ से काम करना, जैसे बढ़ई का काम, माली का काम, जाली बुनने अथवा चटाई बुनने का काम सीखना पड़ता है। इसी तरह जो मनुष्य प्रातःकाल हाथ से काम करते हैं उन्हें तीसरे पहर कुछ न कुछ दिमाग़ी काम करना पड़ता है। मनुष्यों के स्वास्थ्य और शारीरिक उन्नति का बड़ा ख़याल रक्खा जाता है। दिलबहलाव के सामान की भी यहाँ कमी नहीं। धन्य हैं सर आर्थर पिअर्सन के समान उदारहृदय और परोपकारी सज्जन, जिनकी बदौलत न जाने कितने अन्धे सैनिकों का अन्धकारमय जीवन प्रकाशमय होकर संसार में जीने योग्य हो गया है।

सेंट निहालसिंह (लन्दन)

हिन्दी और उर्दू का विरोध।

हिन्दी और उर्दू का विरोध कुछ कम होता नहीं दिखाई देता। कौंसिल की स्पीचें और दोनों तरफ़ के समाचार-पत्रों के वाद-विवाद के अनुशीलन से तो प्रतीत होता है कि हिन्दी और उर्दू का प्रश्न, कहीं ऐसा न हो, हमारी राजनैतिक जागृति को ठण्डा करके फूट के बीज बो दे। इसलिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि दोनों पक्षों के विद्वान् आपस में इस प्रश्न को हल करलें। जब हिन्दू और मुसलमानों के बीच राजनैतिक झगड़ों का अन्त हो गया तब इस कार्य में सफलता होना कुछ भी कठिन नहीं। क्योंकि एक तो देश इस समय एकता के लिए सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार है, दूसरे, कुछ साहित्य-प्रेमी इतने उदार और सत्य-हृदय होते हैं कि कोई भी प्रश्न हो उसको हल करने में उन्हें कोई कठिनता नहीं होती।

सच पूछिए तो हिन्दी और उर्दू का वास्तविक कोई विरोध नहीं। क्या दोनों अलग अलग भाषायें हैं? दोनों भाषायें लिखने और पढ़नेवालों को अपने विचार एक दूसरे पर बोल कर प्रकट करने में कठिनाई नहीं पड़ती। तो फिर वे अलग अलग क्योंकर हैं? लखनऊ, देहली और आगरे में जो भाषा बोली जाती है वह प्रायः एक ही है। उसमें फ़ारसी और अरबी-भाषा के शब्द ठेल दिये और उसको फ़ारसी-लिपि में लिखने लगे तो वह उर्दू हुई; और उसके जो शब्द गवाँरू समझे गये उनकी जगह पर संस्कृत के शब्द मिला दिये गये, पर लिखी जाती रही पहले की तरह देवनागरी लिपि में ही, उसका नाम हो गया हिन्दी। भेद केवल लिपि और शब्दों का है, भाषा का नहीं। और यह भेद दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। न तो पुरानी उर्दू इतनी क्लिष्ट थी और न हिन्दी ही। पुराने ज़माने में मुसलमान और हिन्दू लोग दोनों भाषाओं के साहित्य-भाण्डार भरने के लिए प्रयत्न करते थे। किसी समय हिन्दी के कवि-समाज में जायसी के सदृश मुसलमानों के लिए भी उच्च स्थान था; और उर्दू के मुशायरे में तो अभी तक व्रजनारायण जैसे लखनवी अपना सानी नहीं रखते। परन्तु इतना मानना पड़ेगा कि अब उस एकता में कमी हो रही है। इसका उत्तरदाता साधारण जन-समाज नहीं। क्योंकि पत्रिकाओं और पुस्तकों के बाहर जो संसार है उसमें तो एक ही भाषा है। भेद तो उन्हीं सज्जनों की साहित्य-सेवा

का फल है जो अपने अपने साहित्य की सेवा में तन-मन-धन से लगे हुए हैं।

भारतीय भाषाओं के आधुनिक साहित्य में एक बड़े मार्के की बात है। उसकी भाषा जन-समाज की भाषा से बहुत कुछ भिन्न है। यों तो थोड़ा बहुत अन्तर प्रत्येक देश के साहित्य में मिलेगा; परन्तु इतना अधिक शायद ही कहीं हो। इसके कई कारण हैं। उनमें से मुख्य कारण यह है कि भारत का जन-समाज अपने साहित्य से बहुत कम परिचित है। इस कारण उसका प्रचार अधिक नहीं होने पाता। पर, जिस समय हमारी सरकार तथा जन-समाज अपने प्रयत्न से इस साहित्य से परिचित हो जायँगे, उस समय यह भेद भी जाता रहेगा।

हिन्दी और उर्दू-साहित्य का भी यही हाल है। परन्तु प्रायः हिन्दी में ही यह बात अधिक पाई जाती है। भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक ढूँढ़ डालिए, कदाचित् दर्जन भर से अधिक ऐसे सज्जन न मिलेंगे जो अपने हृदय पर हाथ रख कर कह सकें कि सम्मेलन की हिन्दी हमारी मातृ-भाषा है अर्थात् वे बचपन से वही भाषा बोलते चले आ रहे हैं। परन्तु पाठक विश्वास न करेंगे, देहली, आगरे और लखनऊ के नवाबों और काश्मीरियों तथा कायस्थों के ऊँचे घरानों के विषय में कौन कहे, छोटे घरों की स्त्रियाँ तक फ़िसाने-आज़ाद, जाने-आलम, अवध-पञ्च और सय्यारे की उर्दू बोलती हैं। यही कारण है जो उर्दू-साहित्य, इतनी कठिन लिपि में लिखे जाने पर भी, इतना प्रचलित है—यद्यपि हिन्दी के सामने उसका बल घट रहा है और हिन्दी-साहित्य, देवनागरी के सदृश सर्वमान्य लिपि में लिखे जाने पर भी, जन-समाज में यथेष्ट उन्नति नहीं कर पाया। यदि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखना हो तो आज कल की नाटक-मण्डलियों की भाषा की ओर ध्यान दीजिए। क्या उनकी भाषा हिन्दी है? यदि उनके नाटकों की भाषा साधारण जन-समाज को प्रिय न होती तो वे क्यों कर लाभ उठा सकतीं और क्यों न उनके नाटक हिन्दी में लिखे जाते? तुच्छ नौटङ्कियों में भी जिन नाटकों का प्रचार आज अभाग्यवश इस प्रान्त के बहुत से ज़िलों में है उनकी भाषा में फ़ारसी-शब्द अधिक-तर पाये जाते हैं, यद्यपि वे देवनागरी-लिपि में लिखे होते हैं। बहुत से गन्दे उपन्यासों की भाषा भी क्लिष्ट हिन्दी से बहुत कुछ भिन्न है। संक्षेप में यों कहिए कि साहित्य-संसार में जिस हिन्दी का अधिक मान है उससे जन-समाज को उतना प्रेम नहीं है।

भाषा-भेद तो साहित्य-सेवियों का पैदा किया हुआ है; परन्तु लिपि-भेद की जड़ बहुत गहरी है। मुसलमानों ने उत्तरी भारतवर्ष में अपना राज्य स्थापन करके अपनी फ़ारसी-लिपि का प्रचार किया। जब तक उनका प्रभुत्व रहा और जिन जिन प्रान्तों में वह अधिक रहा उन्हीं में इस लिपि का प्रचार रहा। राजनैतिक दबाव के घटने पर देवनागरी-लिपि, जो फ़ारसी-लिपि से सर्वथा श्रेष्ठ है, फिर से अपना सिक्का जमाने लगी। अभी तक फ़ारसी-लिपि जो भारत-वर्ष से हटी नहीं, इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि पञ्जाब और संयुक्त-प्रान्त की अदालतों और सरकारी महकमों में अभी तक उसका अखण्ड राज्य है। इसमें सरकार का भी अधिक दोष नहीं। क्योंकि कम से कम उत्तरी भारत में तो मुग़ल-राज्य ही के खँडहरों पर उसने अपनी शासन-पद्धति का भवन खड़ा किया है। दूसरे, फ़ारसी-लिपि के प्रच-लित रहने से कुछ लोगों की स्वार्थ-सिद्धि भी है। यदि वह एकदम उठा दी जाय तो कितने ही मुन्शियों की रोटी में बाधा पड़े। तीसरे, मुसलमानों की हठ है कि फ़ारसी-लिपि चाहे जितनी दूषित क्यों न हो, उनको अन्धकार में पड़े रहने में उसने चाहे जितनी सहायता दी हो, परन्तु वह उनकी जातीय लिपि है और वे उसे न छोड़ेंगे—जैसा, थोड़े दिन हुए, वे कहा करते थे कि तुर्की और फ़ारस उनका देश है।

समय ने उनके राजनैतिक विचार तो बदल दिये और, यदि, ईश्वर को इस जाति का भला करना है तो उनकी यह हठ भी दूर हो जायगी। उनसे हमारा इतना ही निवेदन है कि जातीय भाषा तथा लिपि को, देश-काल के अनुसार, परिवर्तित करने से लाभ ही लाभ है, हानि ज़रा भी नहीं। भाषा या लिपि के बदलने से किसी जाति या धर्म्म की हानि नहीं हो सकती। पारसियों को देखिए, इतने अल्प-संख्यक होने तथा दूसरी भाषा और लिपि का आश्रय लेने पर भी क्या वे धर्मच्युत हो गये? आपके पूर्वजों ने फ़ारसी और अरबी छोड़ कर जब भारतीय भाषाओं का आश्रय लिया तब आप उस पुरानी लिपि की लकीर के फ़क़ीर क्यों हो रहे हैं?

हिन्दी-साहित्य सर्वसाधारण के लिए कठिन होने पर भी, देवनागरी के सत्सङ्ग के कारण, दिन दिन उन्नति कर रहा है। उसकी भाषा-विषयक क्लिष्टता दूर कर देने से क्या उसकी उन्नति वेगवती न हो जायगी? और कारण चाहे जो कुछ हों, परन्तु सबसे बड़ा कारण, जो हिन्दी-उर्दू के बीच में झगड़ा डाले हुए है, यह है कि आधुनिक हिन्दी संस्कृत की बहिन बनना चाहती है। सरलता का होना तो हिन्दी-साहित्य-समाज में मानों बड़ा भारी दोष समझा जाता है। यदि संस्कृत के शब्द कूट कूट कर भरे हों तो चारों ओर से धन्य धन्य की ध्वनि आने लगती है। परन्तु यदि लेखक ने प्रचलित फ़ारसी या अँगरेज़ी-शब्दों का थोड़ा भी प्रयोग किया तो वह भाषा को अशुद्ध बनाने का दोषी समझा जाता है। शुद्धता का अर्थ क्या यह है कि भाषा में संस्कृत को छोड़ कर और किसी भाषा का अंश न हो? जैसे कोई अँगरेज़ी के लिए यह कहे कि उसमें लैटिन को छोड़ कर और किसी भाषा के शब्द प्रचलित न होने पावें। परन्तु ऐसी शुद्धता को स्थिर रखना समय की तीव्र धारा के सम्मुख अपनी टाँग अड़ाना है। यह शुद्धता-भ्रम भाषा के विकास का बाधक है।

विचार प्रकट करने के लिए भाषा की उत्पत्ति हुई है। जो जो रङ्ग भाषा ने अपने विकास में बदले हैं उनको हम, संक्षिप्त रूप में, बच्चे की भाषा की उन्नति के क्रम में, प्रत्यक्ष देख सकते हैं। पहले पहल, मनुष्य-जाति के विचार बहुत सङ्कीर्ण थे। ज्यों ज्यों मनुष्य का संसर्ग अपने भाइयों से बढ़ता गया त्यों त्यों उसकी विचार-परिधि भी बढ़ती गई। तब अपने विचारों को प्रकट करने के लिए उसको शब्दों की आवश्यकता हुई। जिन विकाशों के द्वारा ये विचार उसके मस्तिष्क में उत्पन्न हुए उनको उसने तदनुरूप शब्दों में प्रकट किया। इससे उसकी भाषा के शब्दों की संख्या बढ़ती रही। नये शब्द पहले तो कुछ समय तक खलते रहे; वे आगन्तुक समझे जाते रहे। ठीक उनकी वही दशा रही जो किसी जाति-समूह की नये देश में बसने पर होती है। परन्तु भाषा के साथ रहते रहते वे शब्द उसी भाषा में फबने लगे। किसी देश के निवासियों के मस्तिष्क और भाषा में तो नये विचारों तथा नये शब्दों के स्थान पाने में देर लगती है और कहीं कहीं वे बड़ी जल्दी अपना लिये जाते हैं। यह जलवायु के प्रभाव का फल है। परन्तु यह प्रायः देखा जाता है कि जिन देशों में सभ्यता उच्च स्थान पा कर पुरानी पड़ जाती है उनमें, जीर्ण मनुष्यों की तरह, नये विचारों से चिढ़ हो जाती है; उनमें घमण्ड की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि वे अपने साहित्य, अपनी सभ्यता, अपने बल और अपनी विद्या के सामने अन्य सब को तुच्छ समझने लगते हैं। यही दशा भारतवर्ष की है। जिस समय समस्त संसार अविद्यान्धकार में पड़ा हुआ था उस समय आर्य्यावर्त्त उच्च-विचार-पूर्ण वेद-

ध्वनि से गूँज रहा था । परन्तु, अभाग्यवश, भारतवर्ष में पैर रखते ही, आर्य्यजाति को अन्धकार में पड़ी हुई कोल-भील-जातियों का सामना करना पड़ा । उसने अपने विचार और भाषा को शुद्ध रखने के लिए मस्तिष्क के कपाट बन्द कर लिये । बस, उसी समय से वेद-भाषा का ह्रास होने लगा । उस समय तक वेदभाषा और सर्व-साधारण की भाषा में कोई अन्तर न था । इस परिवर्तन के साथ साथ यह अन्तर भी बढ़ने लगा । सर्वसाधारण की भाषा में अनार्य्य शब्द बढ़ने लगे । यहाँ तक कि आर्य्य-भाषा के साहित्य-सेवियों को उसका संस्कार करना पड़ा । उस संस्कार की हुई अर्थात् संस्कृत-भाषा में भी अब ढेरों अनार्य्य शब्द आ गये । अर्थात् उसको भी वे शुद्ध दशा में स्थिर न रख सके । जो इस विषय के ज्ञाता हैं वे बता सकते हैं कि पाणिनि-काल से कालिदास के समय तक, व्याकरण के कड़े बन्धनों से जकड़े रहने पर भी, संस्कृत के शब्द-भाण्डार में कितना अन्तर आ गया । भोज के समय तक यवन, शक तथा हूण-जाति की भाषाओं के कितने ही शब्द उसके विशाल मन्दिर में घुस आये; यद्यपि उनको इसमें बहुत कुछ कठिनाई पड़ी होगी । मुसलमान-काल से तो संस्कृत का प्रचार बहुत ही कम हो गया । चौके की तो वह पहले ही से पाबन्द थी, अब राजकीय-अत्याचार के सामने उसने महलों से भाग कर काशी और नदिया के झोपड़ों में शरण ली । वहाँ उसकी टीका-टिप्पणी के सिवा और क्या हो सकता था ! ऐसी दशा में यदि उसमें फ़ारसी के शब्द न आये तो आश्चर्य्य ही क्या ! क्या मृतप्राय शरीर में भी नये रक्त का सञ्चार हो सकता है ? अब अँगरेज़ी शासन के समय से फिर इस महती भाषा के जीर्णोद्धार का प्रयत्न हो रहा है । भारतवर्ष में ही नहीं, किन्तु योरप और अमरीका में भी अब उसने उच्च श्रेणी का स्थान पा लिया है । परन्तु इससे उसके भाण्डार में वृद्धि नहीं हो सकती । और भाषाओं को उससे चाहे जो कुछ लाभ पहुँचे, परन्तु वह उनसे कोई विशेष लाभ नहीं उठा सकती ।

भारतवर्ष की वर्त्तमान भाषाओं का इतिहास उस समय से आरम्भ होता है जिस समय से संस्कृत का अन्त होता है । यह कहना कि वे संस्कृत-भाषा से निकली हैं कुछ ही दूर तक सत्य है । हाँ, यह कहना ठीक होगा कि उन सब का थोड़ा बहुत सम्बन्ध संस्कृत से अवश्य है । इन सब भाषाओं में प्रथम ही से सबसे उच्च स्थान उसको मिला जो देहली से लेकर बिहार तक बोली जाती थी । इसके दो कारण थे । एक तो यह कि प्राचीन समय में अयोध्या, पाटलिपुत्र तथा इन्द्रप्रस्थ आर्य्य-सभ्यता के केन्द्र थे । वहीं से समस्त भारतवर्ष का शासन होता था । वहीं से नवयुवक शासन-नीति की शिक्षा पाकर भिन्न भिन्न प्रान्तों का शासन करते थे । उन्हीं की राज-भाषा सीख कर उन प्रान्तवालों को कार्य्य-साधन करना पड़ता था । यही दशा मुसलमान-काल में रही । तब से देहली और आगरा शासन के केन्द्र हो गये और देहली की भाषा राज-भाषा हो गई । दूसरा कारण यह था कि भारत के इस भाग में, प्राचीन समय से, आर्य्य तथा बौद्धधर्म के तीर्थ-स्थान हैं । काशी की गलियों में ही—विश्वनाथजी के मन्दिर में ही—खड़े होकर आप प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं कि हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा होने के योग्य है । मदरासी, महाराष्ट्र, बङ्गाली, पञ्जाबी, मारवाड़ी, गुजराती, सभी एक सूत्र से बँधे चले आ रहे हैं । देहली में भी वही रङ्गत है—यहाँ संसार-सुख के लिए और वहाँ स्वर्ग-सुख के लिए—परन्तु परिणाम एक ही निकलता है । भारतवर्ष में ऐसा कोई शहर नहीं है जहाँ की हिन्दी लोग न समझ सकें और आपका काम आप ही की भाषा के द्वारा न चल सके ।

अच्छा, तो वह हिन्दी भाषा कौन सी है? जो भाषा देहली से पटने तक बोली जाती है और भारत भर में समझी जा सकती है उसका क्या रूप है? क्या उसमें संस्कृत और फ़ारसी के शब्दों की उसी तरह भरमार है जैसी कि, अभाग्यवश, आजकल, हिन्दी और उर्दू-साहित्य में देखी जाती है? संस्कृत और फ़ारसी से निकले हुए अर्थात् तद्भव शब्द अलबत्ते उसमें हैं; उन्हीं भाषाओं के जैसे के तैसे—तद्वत् या तत्सम—शब्द नहीं। ऐसे शब्द तो, आँख के कङ्कड़ की तरह, खटकते हैं। इस भाषा में शब्दों को, समय के प्रवाह ने, पुरानी भाषाओं के खँडहरों को तोड़ कर, स्वाभाविक रूप दे दिया है। साहित्य की भाषा में उसके कुछ सेवियों ने इन पुरानी भाषाओं के खँडहरों को तोड़ कर—समय का काम अपने हाथ में लेकर—अपनी बुद्धिमानी दिखाई है। इन्होंने यही नहीं किया कि उन शब्दों को जैसे का तैसा रख दिया हो, किन्तु बहुतेरे तो अपनी बुद्धिमत्ता यहाँ तक दिखाते हैं कि वे व्याकरण-सम्बन्ध को भी टूटने नहीं देते। 'ज़रूरत' का बहुवचन उर्दू के सेवक 'ज़रूरतें' न करेंगे; वे फ़ारसी का बहुवचन 'ज़रूरयात' लिखेंगे। संस्कृत के सन्धि और समास-सम्बन्धी नियम, हिन्दी के दरबार में जैसे के तैसे, आदर पाते हुए दिखाई देते हैं।

यह उर्दू-फ़ारसी और हिन्दी-संस्कृत का ढकोसला कब तक चलेगा? समय ने अँगरेज़ी के पुराने साहित्य की इस आन को तो रक्खा ही नहीं कि लैटिन के शब्द अँगरेज़ी में अपने ही रूप में रहें। अब तो सब शब्दों का निराला ही रङ्ग है, चाहे जिस भाषा से वे निकले हों। यही दशा वर्त्तमान हिन्दी-उर्दू-साहित्य की होनेवाली है। समय से लड़ कर किसी को भी सफलता हुई है? वह इन शब्दों को—चाहे जिस भाषा से वे इस समय नाता जोड़े हों—एक ही रङ्ग में रँग देगा और भविष्य की राष्ट्रभाषा का रूप न तो हिन्दी ही होगा, न उर्दू ही। वह एक ऐसी भाषा होगी जिसमें वर्त्तमान समय की सब भाषाओं का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहेगा। राष्ट्र-लिपि देवनागरी ही होगी, चाहे उसका रूप, और लिपियों के संसर्ग से, कुछ बदल जाय। फ़ारसी-लिपि को अकेले सब लिपियों से लड़ना है। वह भारतवर्ष के लिपि-युद्ध में विजय नहीं प्राप्त कर सकती। उसको अपना बस्ता बाँध कर फ़ारिस और अफ़ग़ानिस्तान की शरण लेनी पड़ेगी। उर्दू और फ़ारसी-लिपि के लिए मुसलमान चाहे जितनी हठ करें; परन्तु समय उनकी बुद्धि को बदल देगा, यदि ईश्वर को उनका वर्त्तमान महत्त्व बना रखना है। हिन्दी-साहित्य संस्कृत के घर बैठ कर फ़ारसी के विरुद्ध चाहे जितना मज़बूत कोट खींचे, परन्तु समय उसको तोड़ डालेगा और फ़ारसी के शब्दों को उसमें अवश्य स्थान मिलेगा। परन्तु अपने रूप में नहीं; हिन्दी ही का अँगरखा पहन कर वे राष्ट्र-भाषा के दरबार में आदर पा सकेंगे, न कि फ़ारसी की फ़ेज पहन कर।

समय की गति को अच्छी तरह पहचान कर जब दोनों पक्षों के लोग अपनी हठ छोड़ कर और आपस में बैठ कर विचार करेंगे और जो कुछ ठीक समझें उसको कार्य्य-रूप में परिणत करेंगे, तभी भारतवर्ष का भला होगा।

कालिदास कपूर
(बी० ए०)

विकट भट।

(चारणों की गाथाओं के अनुसार)

होठों से हटाते हुए स्वर्ण-सुरा-पात्र को
सहसा विजयसिंह राजा जोधपुर के
पोकरणवाले सरदार देवीसिंह से
ख़ास दरबार में यों बोले—"देवीसिंह जी,

कोई यदि रूठ जाय मुझसे तो क्या करे ?''
बोले सरदार—''खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या ?
ऐसा कौन होगा कि जो रूठ जाय आप से ?''
बोले फिर भूप—''तोभी पूछता हूँ, क्या करे ?''
''जीवन से हाथ धोवे और मरे मुझ से''
देवीसिंह ने यों कहा, भूप फिर बोले यों—
''और तुम रूठ जाओ तो बताओ, क्या करो ?''
देवीसिंह चौंके—''खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या !
आप से मैं रूठ जाऊँ, ऐसा भाव क्यों हुआ ?''
राजा ने कहा कि ''मैं ने पूछा है सहज ही
यदि तुम रूठ जाओ मुझ से तो क्या करो ?''
देवीसिंह बोले—''खमा अन्नदाता, यह क्या ?
सेवक हूँ मैं तो और आप मेरे स्वामी हैं
आप से क्यों रूठूँगा भला मैं ? आप मुझको—
देते हैं टुकड़े और उनसे मैं जीता हूँ
जाऊँगा कहाँ मैं फिर रूठ कर आप से ?''
''तो भी, यदि रूठ जाओ ?'' पूछा फिर राजा ने
उत्तर दिया यों सरदार ने पुनः—''क्या मैं
नमकहराम हूँ जो रूठ जाऊँ स्वामी से ?''
फिर भी विजयसिंह प्रश्न करने लगे
सुन कर बार बार बात वही उनकी
वृद्ध वीर ठाकुर को क्रोध कुछ आ गया
लाली दौड़ आई सौम्य, शान्त, गौर गात्र में
वदन गभीर हुआ किन्तु रहे मौन वे
बोले फिर भूप—''देवीसिंह जी, कहा नहीं ?
यदि तुम रूठ जाओ मुझसे तो क्या करो ?''
''पृथ्वीनाथ, मैं जो रूठ जाऊँ'' कहा वीर ने—
''जोधपुर की तो फिर बात ही क्या, वह तो
रहता है मेरी कटारी की पर्तली में ही
मैं यों ''नवकोटी मारवाड़'' को उलट दूँ''
कहते हुए यों ढाल सामने जो रक्खी थी
बायें हाथ से उन्होंने उलटी पटक दी !
सन्नाटा सभा में हुआ, सब चुपचाप थे
सिर को हिलाते हुए सन्न रहे राजा भी !
दूसरे दिवस देवीसिंह दरबार में
जाने के लिए जो सिंहपौर पार करके
चौक में—करों के बल—पीनस से उतरे
एक जन पीछे से उनकी तलवार ले
भाग गया, लौट कर देखा जो उन्होंने तो
ढाल ही दिखाई पड़ी, चौंक उठे तब वे
चारों ओर दृष्टि डाली, द्वार सब बन्द थे
पीनस के डंडे पर रक्खे हुए हाथ वे
क्षण भर सोचा किये इस अभिसन्धि को
देखा सिर ऊँचा कर ऊपर को अन्त में
सामने विजयसिंह छत पर थे खड़े
''मेरे साथ ऐसा व्यवहार ! भला, अब क्या
इच्छा है ?'' उन्होंने कहा भूपति को देख के
आज्ञा हुई—''शीघ्र इसे जीता ही पकड़ लो''
पीनस का डंडा किन्तु अब भी था हाथ में
जाता कौन मरने को ठाकुर के सामने !
फन्दे तब फेंके गये उनके फँसाने को
और वे फँसाये गये, बाँधे गये खम्भ से !
''हाँ, अब अमल आवे'' आज्ञा हुई नृप की
सोने के कटोरों में अफीम घुलने लगी
देवीसिंह को भी वह ठीकरे में मिट्टी के
भेजी गई, देखते ही मानी सरदार से
अब न सहा गया, रहा गया न मौन भी
''अधम, अधर्मी, अकृतज्ञ, अनाचारी रे,
ऐसा अपमान !'' कोड़ा खाके भला घोड़ा ज्यों—
तड़पे, त्यों ठाकुर ने एक झटका दिया
टूट गये बन्धन तड़ाक किन्तु वेग था
सँभला न मस्तक भड़ाक हुआ भीत में
शोणित की लालिमा को चिह्न सम छोड़ के
ठाकुर का जीवन-दिनेश अस्त हो गया !
''हाय ! पिता, ऐसा परिणाम हुआ आप का !
किन्तु आप का ही पुत्र हूँ मैं, यदि राजा के
सामने प्रणत होऊँ तो मैं नत होऊँगा
अपनी ठकुरानी के आगे, यही प्रण है
आता है चढ़ाई कर पोकरण, आने दो,
देखूँगा कृतघ्न को मैं, प्रस्तुत हो भाइयो,
मान रखने को आज प्राण हमें देने हैं''
यों कह सबलसिंह पोकरण-दुर्ग में

बोले फिर—"जाय वह प्राण जिसे प्यारे हों
प्रस्तुत हो मरने के अर्थ जो रहे वही"
"प्रस्तुत हैं हम सब" सैनिकों ने यों कहा
और जो कहा सो सब करके दिखा दिया
प्राण-मोह छोड़ उन मुट्ठी भर वीरों की—
टुकड़ी ने झंझा के समान, जोधपुर के
घोर दल-बादल को छिन्न भिन्न कर के
और भली भाँति से उड़ाके धूल उसकी
रण में सबलसिंह-युक्त गति वीरों की—
पाई और मानों स्वर्ग लेकर ही शान्ति ली
सबल पिता का पुत्र, पौत्र देवीसिंह का,
बालक सवाईसिंह बारह बरस का
लड़ने को उद्यत था किन्तु था अकेला ही
सेना हत हो चुकी थी पहले ही, राजा का
हुक्म हुआ—"जोधपुर हाज़िर करो उसे"
"बेटा, तुझे राजा ने बुलाया है, न जाने से
तू भी न बचेगा किन्तु"—बीच में ही माता से
बोला वीर बालक कि "जननी, मैं जाऊँगा
किन्तु इससे नहीं कि यदि मैं न जाऊँगा
तो मैं भी बचूँगा नहीं, किन्तु इससे कि मैं
देखूँगा कृतघ्न और क्रूर उस राजा के
सींग-पूँछ हैं या नहीं, क्योंकि पशुओं से भी
नीच तथा मूढ़ महा मानता हूँ मैं उसे"
बोली तब वीर-माता आँसुओं से भींग के
"वत्स, जाने में भी मुझे क्षेम नहीं दीखता
ससुर गये हैं और स्वामी गये साथ ही
मेरे लाल, तू भी चला, कैसे धरूं धैर्य्य मैं ?
रोने तक का भी अवकाश मुझे है नहीं
तो भी आनबान बिना जीना मरना ही है
तुझको भी प्राणहीन देख सकती हूँ मैं
किन्तु मानहीन देखा जायगा न मुझसे
सहना पड़ेगा सो सहूँगी किन्तु देखना,
कहना वही जो कहा तेरे पितामह ने
भूल मत जाना जिस बात पर वे मरे
अच्छा, कह, तेरी कटारी की पतली में भी
जोधपुर है या नहीं ?" पुत्र तब बोला यों—
"इसका जवाब उसी घातक को दूँगा मैं
तू क्यों पूछती है प्रसू, क्या इस शरीर में
शोणित क्रमागत नहीं है उन्हीं दादा का ?
किन्तु एक प्रार्थना मैं करता हूँ तुझसे
अन्ततः माँ, मेरा वह उत्तर सुने बिना
छोड़ना न नश्वर शरीर यह अपना
अपने अभागे इस पुत्र के विषय में
संशय लिये ही चली जाना तू न तात के
पीछे, जिसमें कि उन्हें दे न सके तोष तू"
"जा, बेटा, कदाचित सदा के लिए" हाय रे !
करुणा से कण्ठ भर आया ठकुरानी का
जाकर अँधेरी एक कोठरी में वेग से
पृथ्वी पर लोट वह रोई चीख़ मार के
व्योम की भी छाती पर होने लगी लीक-सी !
पुनरपि जोधपुर। जीत पोकरण को
पीकर विजयसिंह एक प्याला और भी
बोले आहुए के सरदार जैतसिंह से—
"जैतसिंह जी, क्या कहीं कोई ठौर ऐसा है
डङ्के को बजाकर मैं जाऊँ जहाँ चढ़ के ?"
बोले जैतसिंह—"पृथ्वीनाथ, भला कौन सा
ऐसा ठौर है कि जहाँ जोधपुर के धनी
डङ्के को बजा के चढ़ें !" भूप फिर बोले यों—
"मैं ने दूर दूर तक सोच कर देखा है
किन्तु तो भी दीख नहीं पड़ता है मुझको
जाऊँ जहाँ चढ़के मैं, देखूँ, तुम्हीं सोचके
बतलाओ ऐसा ठौर" जैतसिंह ने कहा—
"पृथ्वीनाथ, ऐसा कौन ठौर है बताऊँ जो ?"
"तो भी" कह ठाकुर की ओर जो महीप ने
देखा तो भृकुटियाँ थीं टेढ़ी वहाँ हो रहीं
बोला सरदार—"पृथ्वीनाथ पूछते ही हैं
तो मैं कई ऐसे ठौर आप को बताऊँगा
जैपुर है जैसे या उदयपुर है, जहाँ—
जावें तो हुज़ूर के भी खट्टे दाँत हो जावें
किन्तु वे तो दूर भी हैं, सेवक को आज्ञा हो
जाऊँ आहुए मैं और पृथ्वीनाथ डङ्का दे
चढ़कर आवें वहीं" वीर चुप हो गया

"ऐसा है!" महीप बोले "तो मैं बिदा देता हूँ
आहुए पधारें आप और सावधान हों"
कहके "जो आज्ञा" उठे जैतसिंह शीघ्र ही
डेरे पर आये और आहुए चले गये
भाई बन्द और सब सैनिक भी अपने
जोड़ के उन्होंने सब हाल कहा उनसे
बोले सब—"चिन्ता कौन सी है, चढ़ आने दो,
क्या कर सकेंगे महाराज यहाँ अपना ?"
सत्य ही विजयसिंह आहुए का कुछ भी—
कर न सके चढ़ाई करके भी कोप से !
तीन दिन बीत गये युद्ध करते हुए
बोले तब वे कि—"अरे, टूटा नहीं आहुआ ?"
उत्तर मिला यों—"खमा पृथ्वीनाथ, अब भी
आहुए में जैतसिंह जीवित जो बैठे हैं"
सोचा तब भूप ने कि टूटा नहीं आहुआ
यह तो कलङ्क होगा, "अच्छा, जैतसिंह से
जाकर कहो कि हमें दुर्ग में वे आने दें
रोकें नहीं।" ठाकुर ने आज्ञा यह नृप की
मान ली, यों भूपति ने आहुए के दुर्ग में
जाकर प्रवेश किया, ठाकुर ने उनकी
फेरदी दुहाई, नज़रें दीं, मनुहारें कीं
और उनके ही साथ आये जोधपुर वे
किन्तु रात को जो वहाँ सोये वे महल में
तो फिर जगे नहीं, सबेरे यों सुना गया—
"जैतसिंह मारे गये सोते हुए रात को"
सुन सब लोग हाय ! हाय ! करने लगे
कहता परन्तु कौन भूपति से कुछ भी ?
बोला एक चारण कि "मैं कहूँगा उनसे"
पहुँचे उसी दिन सवाईसिंह भी वहाँ
देख कर उन्हें लोग हाथ मलने लगे—
वारी है अब हा ! इस केसरी-किशोर की !
दो दो निज कण्टक जो सालते थे, टालके
बैठे हैं विजयसिंह आम दरबार में
किन्तु क्यों, न जानें, आज भी हैं वे उदास से
सब सरदार भी हैं बैठे मौनभाव से
मानों स्तब्ध रजनी में तारागण व्योम के !

"राजा, बुरा काम किया" गूँजी गिरा सहसा
चौंक कर भूपति ने देखा तब सामने
और दरबारियों ने, चारण था कहता
कर लिये नीचे सिर देख कर सब ने
किन्तु इतनी भी ताब भूपति की थी नहीं !
कहता था चारण गभीर धीर वाणी से—
"राजा, बुरा काम किया, मैं ही नहीं कहता
राजा, बुरा काम किया, कहते हैं यों सभी
मारना नहीं था जैतसिंह जैसे वीर को
तोड़नी नहीं थी वह मूर्ति स्वामिधर्म्म की
माननी नहीं थी तुझे बातें बेईमानों की
तुझ पर मरने को प्रस्तुत था आप ही
शूर वह, मारना ही था तो उसे गाढ़े में
आड़ा कर देना था, न पीछे वह हटता
वीर वह ऐसा था कि आयुधों की झाड़ी में
तेरा मार्ग स्वच्छ करदेता अग्रगामी हो
शत्रुओं के हाथियों के हौदे बस ख़ाली ही
तुझको दिखाता वह अपने प्रहारों से
अब जब युद्ध में विपक्षियों के व्यूह में
टङ्कारित होते चाप, झङ्कारित असियाँ
भीड़ पड़ने से तब याद उस वीर की
सालेगी हिये में तुझे, तू ही तब जानेगा"
मौन हुआ चारण, महीपति भी मौन थे
सच मुच जैतसिंह ऐसा ही पुरुष था
पोकरण और आहुआ थे जोधपुर के—
अर्गल दो, टूट गये किन्तु अब दोनों ही
यवनों को, मराठों को कौन अब रोकेगा ?
राजा पछताये, भर आये नेत्र उनके
किन्तु बस क्या था अब हो गया सो हो गया
जी में क्रुद्ध हो रहे थे भूप पर लोग जो
आगई उन्हें भी दया दैन्य देख उनका
हाथ के इशारे से बिठाते हुए शान्ति से
चारण को, बोले वे—"सवाईसिंह है कहाँ ?
लाओ उसे शीघ्र" दौड़े चौबदार हाल ही
और शीघ्र लाये उस एक कुलदीप को
निर्भय नया मृगेन्द्र करता प्रवेश है—

वन में ज्यों, डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यों
भोर के भभूके-सा प्रविष्ट हुआ साहसी
बालवीर मन्द मन्द धीर गति से धरा
मानों धँसी जा रही थी, वदन गभीर था
उठता शरीर मानों अङ्ग में न आता था
वक्षस्थल देख के कपाट खुले जाते थे
मरने मारने को ही मानों कटि थी कसी
शोभित सुखड्ग उसमें था खरे पानी का
पर्तली पड़ी थी उपवीत तुल्य कन्धे में
उसमें कटार खोंसी जिस की समानता
करने को भौंहें भव्य भाल पर थीं तनी
छू रहा था बायाँ हाथ बढ़ कर जानु को
दायें हाथ में थी साँग, पीठ पर ढाल थी
तोड़े के स्वरूप में था सोना पड़ा पैरों में
आकृति ही देती थी परिचय प्रकृति का
चौंक पड़ी सारी सभा देख वीर बाल को
जान पड़ा भूप को कि देवीसिंह ही नया—
जन्म लेके आ रहे हैं आज फिर से यहाँ
चाल वही, ढाल वही, गौरव वही तथा
गर्व भी वही है, तब प्रश्न किया राजा ने—
"बालक, बुलाया तुम्हें मैंने है क्यों, सुनो,
जोधपुर रहता था पर्तली में जिसकी
देवीसिंहवाली सो कटारी कहो मुझ से
अब भी तुम्हारे पास है या नहीं ?" राजा के
पूछने के साथ ही सवाईसिंह ने कहा
निर्भय—"कटारी ? धरा काँपी सदा जिससे ?"
"कण्ठ भी वही है अहा !" जी में कहा राजा ने
सुनके—"कटारी ? धरा काँपी सदा जिससे ?
बिजली की बेटी वह ? भौंह महाकाल की ?
शत्रु के चबाने को कराल डाढ़ यम की ?
चम्पावत ठाकुरों की 'पत' वह लोक में ?
पूछते हैं आप क्या उसी की बात ?" राजा का
उनके बिना जाने ही सम्मति के अर्थ में
माथा डुला, कहता था बालक—"तो सुनिए
दादा ने कटारी वह मेरे पिता के लिए
छोड़ी और मेरे पिता सौंप गये मुझको
पर्तली के साथ वह मेरे इस पार्श्व में
अब भी है, पृथ्वीनाथ, एक जोधपुर क्या ?
कितने ही दुर्ग पड़े रहते हैं सर्वदा
क्षात्र-कीर्ति-कोषवाली पर्तली में उसकी
सच्ची बात कहने से आप रूठ जायँगे
किन्तु जब पूछते हैं कैसे कहूँ झूठ मैं ?
जो न होता जोधपुर पर्तली में उसकी
कहिए तो कैसे वह प्राप्त होता आपको ?"
सिंहासन छोड़ उठे भूपति तुरन्त ही
छाती से लगा के उस क्षत्रियकुमार को
चारण से बोले यों कि—"बारटजी, सत्य ही
मैंने बुरा काम किया, भूल हुई मुझसे
किन्तु देवीसिंह और जैतसिंह दोनों ही
मरके भी जीवित हैं, देखो, इस बच्चे को
और आशीर्वाद दो कि यह सुख से जिये
मैं भी यही आशीर्वाद देता हूँ इसको ।"

मैथिलीशरण गुप्त

मक्खन ।

कोई दस वर्ष पहले की एक बात मुझे याद आई है । हमारे घर एक ग्वालिन, नियमित रूप से, दूध लाया करती थी । उसका दूध बहुत अच्छा हुआ करता था । परन्तु ५-७ दिन तक दूध निरन्तर ख़राब आया । ख़राबी यह थी कि न तो उससे उतना मक्खन ही निकलता था, न मलाई ही पड़ती थी और न पहले की तरह गाढ़ा ही होता था । ग्वालों का विश्वास तो कम होता ही है; अतएव मैंने उस ग्वालिन को बुला कर बहुत कुछ बुरा भला कहा और समझा कि दूसरे दिन से अच्छा दूध लावेगी । परन्तु फिर भी वह अच्छा न आया । ग्वालिन ने मुझ को नाना प्रकार से समझाया कि दूध अच्छा है; उसमें मिलावट नहीं है । परन्तु जिस गाय का दूध वह मेरे लिए लाया करती थी

उससे कभी कभी मक्खन निकलना बन्द हो जाता था। अतएव मैंने उसकी एक न मानी। दाम दे कर पानी कौन मोल लेता! मैंने दूसरी जगह से दूध लेना आरम्भ कर दिया।

दूध में न मलाई पड़ती थी और न मक्खन ही निकलता था। इससे ग्वालिन पर कलङ्क का टीका लगा और मेरे घर का आना जाना भी बन्द हो गया। परन्तु आज मैंने एक पुस्तक में पढ़ा कि मक्खन के निकलने या न निकलने अथवा मलाई के पड़ने या न पड़ने से दूध की अच्छाई बुराई नहीं मालूम हो सकती। यह पढ़ कर मुझ को ग्वालिन की याद आई और यह सोच कर बहुत पश्चात्ताप हुआ कि मैंने उसको वृथा ही फटकारा।

यदि दो चार बूँद दूध को लेकर ख़ुर्दबीन से देखें तो मालूम होगा कि दूध, जल अथवा तेल की भाँति, समघन (Homogeneous) नहीं होता। उसमें छोटे छोटे कोषाकार टुकड़े रहते हैं। इन्हीं टुकड़ों के कारण दूध श्वेत वर्ण का दिखाई देता है। पानी में बने हुए साबूदाने की तरह दूध ख़ुर्दबीन से दिखाई देता है। इन छोटे छोटे दानों को घृत-कोष कहते हैं। ये सब घी से भरे रहते हैं। जब हम मक्खन तैयार करते हैं तब दूध के पानी को अलग करके इन दानों को इकट्ठा कर लेते हैं, और गरमी की सहायता से इन्हें फोड़ कर घी निकालते हैं। इसके विपरीत दुग्ध-व्यवसायी लोग जब दूध में पानी मिला देते हैं तब ये श्वेत घृत-कोष दूर दूर हो जाते हैं। इस कारण दूध का रङ्ग फीका पड़ जाता है।

वैज्ञानिक प्रथा से परीक्षा करने पर मालूम हुआ है कि सौ भाग दूध में साढ़े तीन भाग घृत-कोष रहते हैं। शेष साढ़े छयानवे भागों में से नवासी भाग जल, और बाक़ी और और वस्तुयें रहती हैं।

कुछ दूध को एक पात्र में रख कर हिलाने से घृत-कोष दूध से पृथक् हो जाते हैं और थोड़ी देर रक्खा रहने देने से वे सब दूध के ऊपर आ जाते हैं। यदि जल में तेल मिला कर हिलाया जाय तो तेल के छोटे छोटे टुकड़े हो कर सारे पानी में फैल जायँगे। उसे थोड़ी देर रक्खा रहने देने से वे सब टुकड़े पानी के ऊपर आ जायँगे। ठीक यही हाल घृत-कोषों का है। वे भी इसी तरह दूध के ऊपर इकट्ठे हो जाते हैं। यही जमे हुए घृत-कोष, अवस्था-विशेष में, कभी मलाई और कभी मक्खन कहलाते हैं।

अब यह देखना चाहिए कि किसी दूध से मक्खन अधिक और किसी से कम क्यों निकलता है। पानी से जिन समतोल वस्तुओं का आयतन (Volume) कम होता है वे किसी तरह पानी में नहीं डूब सकतीं। लकड़ी के एक टुकड़े को पानी में डाल दीजिए; पानी उसको ऊपर उठा देगा। इसी तरह हर एक वस्तु पानी के नीचे जाना चाहती है और पानी उसको ऊपर फेंकता है। धातु का आयतन पानी से भारी होता है। अतएव वह पानी पर नहीं तैर सकती। घृत-कोष भी आप ही आप दूध के ऊपर तैरते हैं। अतएव वे भी दूध के जल की अपेक्षा हलके होते हैं, यह बात स्पष्ट है।

इस समय यह प्रश्न होगा कि जब घृत-कोष दूध के पानी से हलका होता है तब किसी किसी दूध से मक्खन निकालना असाध्य क्यों होता है। इसका कारण घृत-कोष का अभाव नहीं। गाय के अच्छे दूध में प्रति सैकड़ा साढ़े तीन भाग मक्खन होता है। परन्तु वैज्ञानिक लोग इसका उत्तर और तरह से देंगे। वे कहेंगे कि सब प्रकार के दूधों में घृत-कोष समान नहीं होते। एक ही गाय के दूध में वे कभी कभी बड़े और कभी कभी छोटे होते हैं। परीक्षा करने से देखा गया है कि छोटे घृत-कोष, बड़ों की भाँति, उतने ही अल्प समय में, ऊपर

नहीं आ सकते। इसी कारण छोटे घृत-कोषों से मक्खन निकालना कठिन होता है। इन कोषों का ऊपर आना न आना उनके आयतन से सम्बन्ध रखता है। अतएव इसके जानने के लिए थोड़े से गणित की सहायता लेनी होगी।

बात यह है कि किसी गोल वस्तु का व्यास जितना ही छोटा होता है, उसका पृष्ठ-फल (Area of the Surface) आयतन (Volume) के सम्बन्ध से उतना ही बढ़ जाता है। मान लीजिए कि एक गोले का व्यास चार इञ्च है और दूसरे का दो इञ्च। हिसाब से बड़े गोले का पृष्ठफल, कोई ५० वर्ग इञ्च और आयतन कोई ३३½ घन इञ्च होगा और ठीक उसी हिसाब से छोटे का पृष्ठ-फल १२½ वर्ग इञ्च और आयतन ४½ घन इञ्च होगा। इससे यह बात स्पष्ट है कि बड़े गोले का पृष्ठ-फल आयतन के दूने से भी कम है; परन्तु छोटे गोले का पृष्ठ-फल अपने आयतन से कोई तीन गुना है। यदि इससे भी कम व्यास का कोई गोला हो तो उसका पृष्ठफल अपने आयतन से और भी बड़ा होगा। दूध के घत-कोषों के तैराव के साथ उनके पृष्ठ-फल का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। क्योंकि जिस वस्तु का पृष्ठ-फल उसके आयतन से जितना बड़ा है, उसके पास के जल को उसकी गति रोकने के लिए, उतना ही अधिक सुभीता होता है। राँगे के एक पतरे को जल में डाल दीजिए; मालूम होगा कि वह बहुत धीरे धीरे पानी में नीचे उतर रहा है। किन्तु यदि वही पतरा गोलाकार बनाकर डाला जाय तो पानी पर छोड़ते ही नीचे पहुँच जायगा। हम पहले ही देख चुके हैं कि दूध के कोष, जब क्षुद्र आयतन के होते हैं तब, आयतन के कम होने की अपेक्षा पृष्ठ-फल कहीं अधिक होता है। अतएव, राँगे के पतरे ने जिस भाँति पानी के नीचे जाने में रुकावट पाई थी, उसी भाँति दूध के कोष भी ऊपर उठने में बाधा पावेंगे। छोटे घृत-कोषोंवाले दूध से मक्खन न निकलने का एक मात्र यही कारण है। फलतः मक्खन अथवा मलाई न होने के कारण हम दूध की विशुद्धता में सन्देह नहीं कर सकते।

जिस दूध में बड़े बड़े घृतकोष हों, मक्खन निकालने के लिए वही बहुत उपयोगी है। परन्तु छोटे घृतकोषवाले दूध को भी हम अनुपयोगी नहीं कह सकते। चिकित्सक लोग इस दूध को रोगी के लिए सुपथ्य बतलाते हैं। इसलिए जब क्षुद्रकोषमय दूध नहीं मिलता है तब साधारण दीर्घकोषमय दूध को तोड़ कर क्षुद्रकोषवाला बनाने का उद्योग किया जाता है। हम यहाँ पर इसका एक उपाय बतलाते हैं। साधारण दूध को बहुत ही छोटे मुखवाली पिचकारी में भर दीजिए। अब उसमें से दूध को बाहर निकालिए। ऐसा करने में बहुत बल-प्रयोग करना होता है। दूध के बड़े बड़े कोष पिचकारी के सङ्कीर्ण मुख से निकलने के कारण टूट कर छोटे छोटे होजाते हैं। साधारण दूध में एक इञ्च में कोई १६ हज़ार कोष होते हैं। परन्तु इस यन्त्र से निकलने के बाद एक इञ्च में २५ हज़ार कोष हो जाते हैं। परीक्षा करके देखा गया है कि ऐसे दूध से किसी प्रकार मक्खन नहीं निकल सकता। पृष्ठ-फल की तुलना से उसका आयतन इतना छोटा हो जाता है कि वह पास के जल की रुकावट से किसी भाँति छुटकारा नहीं पा सकता और न किसी भाँति ऊपर ही उठ सकता है। अमेरिका और योरप में बड़े कोषवाले दूध को छोटे कोषवाला बनाने के लिए कारख़ाने खुल गये हैं। *

गुलज़ारीलाल चतुर्वेदी

---

* श्रीयुत जगदानन्दराय की "वैज्ञानिकी" से गृहीत।

मीठी माँ ।
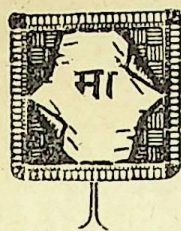
ड़वार में सौतेली माँ को माई माँ और बड़े घरों में मीठी माँ कहते हैं । जिन दिनों राजपूताने के राजा महाराजा बादशाही लड़ाइयों में लगे रहते थे उन्हीं दिनों की यह बात है । एक बार एक ठाकुर के पास उसके महाराजा का यह हुक्म आया कि एक ग़नीम पर जाना है; तुम अच्छे घोड़े और राजपूत लेकर जल्दी आओ ।

ख़ुशी की यह ख़बर सुन कर ठाकुर बहुत प्रसन्न हुआ । हुक्म लानेवाले को सोने की एक जीभ बनवादी और हुक्म दिया कि शादियाने बजें और जब तक मैं न जाऊँ रोज़ बजा करें । फिर उसने अपने सब भाई-बेटों और राजपूत-सरदारों को गाँवों से बुलाया । जब सब आ गये तब ठाकुर ने एक दिन नाच-गाने का जलसा करके उनको गोठ दी । केसर के रँगे हुए बागे (जोड़े) बाँटे और कहा कि कल कूच होगा । तीसरे पहर तक सब सरदार तैयार होकर आजावें । श्रीजी (१) साहेबों ने याद (२) फ़रमाया है । एक बड़ी लड़ाई में जाना है ।

दूसरे दिन फिर जलसा हुआ । नक़ारचियों ने सीँदू बाजा बजाया, जिसके सुनने से राजपूतों का ख़ून उबलने लगा । गवैयों ने जङ्गी गीत गाये । एक कड़खेत ने चिल्ला चिल्ला कर यह कड़खा पढ़ा—

> कंकन बन्धन रण चढ़न पुत्र बधाई चाव ।
> तीन दीहाड़ा त्यागरा क्या रंक क्या राव ॥

अर्थात् जिस दिन ब्याह के वास्ते कंगन बाँधे, जिस दिन लड़ाई पर जाने को घोड़े पर चढ़े और जिस दिन लड़का होने का उत्सव करें, ये तीन दिन अमीर तथा ग़रीब सब के वास्ते त्याग (बधाई) बाँटने के हैं ।

इस कड़खे का सुनना था कि रुपयों का मेंह बरसने लगा । राजपूत-सरदार ठाकुर पर निछावर कर करके गवैयों, नक़ारचियों और कड़खेतों की तरफ़ रुपये फेंकने लगे । ठाकुर ने भी मङ्गलामुखियों (१) को इनाम दिया । फिर पाँतिया हुआ, अर्थात् एक एक गद्दी सब के वास्ते बिछी । गद्दियों के आगे चौकियों पर थाल रक्खे गये । ठाकुर ने सारे राजपूतों को दारू पिलाई और खाने की मनुहार की । सब ने शराब के अनापशनाप नशे में ख़ूब खाया और डेरों में जाकर आराम किया ।

तीसरे पहर फिर सीँदू बाजा बजा । सब सरदार ज़िरह-बख़तर पहन कर और हथियारों से सज कर आ गये । ठाकुर ने कसूँबा अर्थात् अफ़ीम का रस अपनी हथेली में ले ले कर हर एक साथ जानेवाले आदमी को, राजपूत से लेकर साईस तक को, पिलाया और हुक्म दिया कि सवारी तैयार हो । वह आप भी हथियार लगा कर दीवानख़ाने में आ बैठा । कुछ देर नाच देख कर वह रनिवास में गया । वहाँ माँ को मुजरा करके बिदा माँगी । माँ ने पाँच मुहरें उसके हाथ में दीं । फिर एक कटारी कमर में खोंस कर कहा—लालजी, देख, मेरे दूध को मत लजाना ।

माँ से बिदा होकर ठाकुर ठकुरानी के महल में गया । ठकुरानी ने आगे आ कर पाँव छुए और गद्दी पर बिठा कर दो प्याले शराब के दिये । गायनें शराब के गीत गाने लगीं, जिनका एक अन्तरा यह भी था—

> दारू पीयो रण चढ़ो राता राखो नैण ।
> बेरी थांरा बल मरे सुख पावेला सैण ॥
> दारूड़ो दाखाँ रो ।

ठाकुर रण-दूल्हा बना हुआ था । हाथ में कंगन और सिर पर मौर बँधा था । ठकुरानी ने मौर पर रुपये निछावर करके कहा कि जिस बनी (२) को ब्याहने जाते हो उसे ब्याह कर जल्दी आना । जो वह आपको ब्याह ले तो उसके साथ स्वर्ग को चले जाना । फिर अपने हाथ का हाथी-दाँत का चूड़ा दिखा कर कहा कि वह दोनों हालतों में आप के साथ है ।

ठाकुर ने हँस कर कहा, ख़ातिर जमा रखो । तुम्हारा चूड़ा अमर रहेगा । राजपूताने में दस्तूर है कि पति के मरने पर पत्नी

---

(१) मारवाड़ में महाराजा साहिबों को, पुराने क़ायदे से, श्रीजी साहिबान कहते हैं ।

(२) बुलाया है । यह भी बड़े आदमियों को बुलाने की आदर की बोली है ।

(१) माँगने वाले सदा ही कहा करते हैं—मङ्गलामुखी सदा सुखी ।

(२) अप्सरा ।

चूड़ा फोड़ डालती है और जो सती होती है वह चूड़े समेत जल जाती है। चूड़ा अमर रहने का यही अर्थ था कि जो मैं फतह करके आजाऊँगा तो तुम सुहागन बनी रहोगी। और, जो लड़ाई में काम आ गया तो सती होकर मेरे पास आ जाओगी।

यह कह कर ठाकुर उठ खड़ा हुआ। ठकुरानी ने बिदाई का पान दिया। तब उसकी ससुराल की बडारणों ने आकर मुजरा किया और सास का भेजा हुआ जोड़ा और ख़त दिया। ख़त में लिखा था कि जमाई जी, मेरे दिये हुए दही (१) की लाज रखना। ठाकुर ने ख़त को सिर पर चढ़ा कर कहा—बहुत अच्छा—और उनको इनाम दे कर बाहर आया। ठकुरानी दरवाज़े तक पहुँचा गई।

ठाकुर फिर दीवानख़ाने में आकर गद्दी पर बैठा। नाच फिर होने लगा। ब्राह्मण आशीर्वाद के श्लोक और चारण-भाट वीर-रस के गीत-कवित्त पढ़ने लगे। इतने में सवारी की तैयारी हो गई। ज्योतिषी ने पञ्चाङ्ग देख कर कहा—महाराज, अब सिधाने का मुहूर्त आ गया है। ठाकुर उठा। जवानी, शराब और बहादुरी के नशे में झूमता झूमता पौल के बाहर आया। वहाँ शहर की कुछ सुहागन औरतें बधाई देने को, पानी से भरे हुए कलश (२) सिर पर लिये, खड़ी थीं। उन पर फूलों के हार पड़े थे। ठाकुर ने एक एक कलश में एक एक रुपया ख़ज़ानची से डलवाया। जब वे उलटे पैरों पीछे हट कर दायें बायें हो गईं तब निशान का हाथी बढ़ा। डङ्का बजा और गढ़ से तोप चली। ठाकुर की सवारी का घोड़ा, जिसके सुम और अयाल मेंहदी से रँगे हुए थे और जो सुनहरी पाखर से सजा हुआ था, छल-बल कर रहा था। साईस उसे सामने लाया। ठाकुर उसको इनाम देकर सवार हुआ। सब सरदार और राजपूत भी अपने अपने घोड़ों पर चढ़ गये और देखने लगे कि ठाकुर का घोड़ा बढ़े तो वे भी अपने घोड़े बढ़ावें।

ठाकुर की उम्र २० बरस की है। अब तक कोई लड़का बाला नहीं हुआ। न कोई भाई है। इसलिए पुरोहित ने आशीर्वाद देकर कहा कि मेरा आशीर्वाद भाई की तरह रक्षा के लिए आप के पीछे पीछे रहे और बेटे की तरह अर्दली में चले।

ठाकुर कुछ सोचकर घोड़े से उतर पड़ा और ज़नानी ड्योढ़ी की तरफ़ चला। सरदार और राजपूत यह देख कर हैरत से एक दूसरे का मुँह ताकने और इशारों से बातें करने लगे।

एक—यह उलटा क्यों जाता है। कहीं मन में कची (१) तो नहीं खागया।

दूसरा—नौजवान ठकुरानी की याद आगई है।

तीसरा—कुछ भूल आया है।

चौथा—सब्र करो, अभी मालूम हो जायगा।

ज़नानी ड्योढ़ी के भीतर एक तरफ़ ठाकुर की माँ और दूसरी तरफ़ ठकुरानी अपनी अपनी सहेलियों के झुरमुट में खड़ी होकर परदे में से देखने लगीं कि यह क्या हुआ। ठाकुर क्यों लौट आया? परन्तु ठाकुर इधर उधर न देख कर सीधा अपनी मीठी माँ के महल में गया और हँस कर बोला—मीठी माँजी, मुजरा।

मीठी माँ चौंक कर गद्दी से उठ खड़ी हुई और कहने लगी—लालजी, आज किधर भूल पड़े। दूल्हा बने हुए कहाँ जाते हो। क्या दूसरा ब्याह रचाया है?

ठाकुर—मीठी माँजी, नहीं, मुझे श्रीजी साहिबों ने याद फ़रमाया है। लड़ाई पर जाता हूँ। आप से बिदा होने आया हूँ। यह कह कर मीठी मां के पैरों पर सिर रख दिया।

मीठी मां ने ठाकुर को उठाकर छाती से लगा लिया और लगी फूट फूट कर रोने।

ठाकुर—(हाथ जोड़कर) माँजी! रजपूतनी होकर रोती हो! यह रोने का समय नहीं है। ख़ुश होने का है। आपका छोकरा रण चढ़ता है। हँसी ख़ुशी से बिदा करो।

---

(१) मारवाड़ में एक रीति यह भी है कि जब दूल्हा दरवाज़े पर आता है तब सास आरती करके उसके माथे पर दही का टीका लगाती और अन्दर ले जाती है। इसी को दही देना कहते हैं। यदि कोई जमाई कपूत निकल जाता है तो सास उससे कहती है कि तूने मेरा भला दही लजाया। यहाँ दही की लाज रखने का मतलब यही है कि लड़ाई से भाग कर न आना, जिससे मुझको शरमिन्दा होना पड़े।

(२) इन कलशों को बड़बेवड़ा कहते हैं। बड़ का अर्थ बड़ा और बेवड़ा का अर्थ दो है। क्योंकि कलशों पर एक एक लोटा भी होता है।

(१) कची खाना अर्थात् डर जाना या घबरा जाना।

मीठी माँ—लालजी, मैं कायरता से नहीं रोती। रोना तो इस बात का है कि तुम आज इस पौल में से अकेले लड़ाई पर जाते हो। तुम्हारे बाप-दादा कभी इस तरह यहाँ से अकेले नहीं गये। तुम्हारी माँ ने इन २० बरसों में कभी बड़े ठाकुर साहिब को मेरे पास नहीं आने दिया। आने देतीं और तुम्हारे कोई भाई हो जाता तो मैं आज उसको तुम्हारे साथ कर देती। ख़ैर, ज़रा ठहरो, मैं आती हूँ।

इधर तो मीठी-माँ ठाकुर को गद्दी पर बिठा कर ऊपर के महल में गई, उधर ठाकुर की माँ सौतिया-डाह से झुँझला कर बोली—देखो, सौत कितनी चालाक है। भीतर बैठे ही बैठे कैसा जाल रचा है कि मेरा भोला भाला लड़का खिँचा हुआ उसके पास चला आया और अब न जाने उस पर क्या जादू टोना कर रही है।

यह कह कर वह ग़ुस्से से अपनी सौत के महल में जाने लगी। परन्तु सहेलियों ने उसे पकड़ लिया और अर्ज़ की कि ज़रा धीरज धरिए और देखिए कि क्या होता है।

मीठी-माँ कुछ देर पीछे, मरदाने वेश में, ऊपर से नीचे उतरी। घाँघरे का काछिया कसा हुआ था। सिर पर झिलम टोप (१) था। ओढ़नी की गाती छाती से बँधी थी। कमर में कटारी, कन्धे पर तलवार, हाथ में बल्लम था।

ठाकुर मीठी-माँ का यह कालिका का जैसा कराल रूप देख कर दिल में डरा और हाथ जोड़ कर बोला—मीठी-माँ, यह क्या है।

मीठी-माँ—लालजी, उठो, चलो। मैं तुम्हारे साथ चलती हूँ। माँटी (पति) के साथ सती न हुई तो लड़ाई में तुम्हारे काम आऊँगी। जल्दी एक ख़ासा घोड़ा तैयार करा लो।

ठाकुर ने चोबदारनी से कहा कि जा, एक ख़ासा घोड़ा और तैयार करा ला। फिर उसने मीठी-माँ से कहा कि आप ऐसा न करो; मैं कहूँ सो करो।

मीठी-माँ—अच्छा, कहो।

ठाकुर ने उड़दाबेंगणी (उर्दूबेगम, हथियारबन्द सिपाहिनी) को हुक्म दिया कि जाकर सोभाग को बुला ला।

सोभागसिंह नाते में ठाकुर का नज़दीकी भाई था। उसने आकर मुजरा किया तो ठाकुर ने मीठी-माँ से कहा कि आप इसको गोद ले लो। मैं इसको अपना भाई मान कर आपकी तरफ़ से साथ ले जाता हूँ।

मीठी-माँ—तुम्हारी ख़ुशी। मैं इसको गोद लेकर तुम्हारे साथ करती हूँ, यह कह कर उसने हथियार खोल डाले।

ठाकुर (सोभागसिंह से) भाई, अपने हथियार तो उतार कर रख दो। मीठी-माँ के ये हथियार बाँध लो।

सोभागसिंह—महाराज मैंने हथियार रख देने को नहीं बाँधे। मेरे हथियार धरती नहीं झेलती। हाँ, कोई शूरवीर रण में मेरे सामने आवेगा तो वह मेरे हथियार झेलेगा।

ठाकुर—शाबाश, भाई शाबाश!—राजपूत ऐसे ही होने चाहिए जिनके हथियार दुशमनों पर भारी हों। तुम अपने हथियार भी बाँधे रहो और मीठी-माँ के भी बाँध लो।

सोभागसिंह। मेरे बड़े भाग हैं जो दो दो हथियार बाँध कर आपकी अर्दली में चलूँगा।

ठाकुर (मीठी-माँ से) माँजी, आप अपनी तलवार इसको बँधा दो। यह बहुत अच्छा मुहूर्त है और शकुन भी हो रहे हैं। मीठी-माँ ने यह सुन कर सोभाग के माथे पर केसर और कुंकम का टीका लगाया और अपनी तलवार उसकी कमर में बाँध कर कहा कि मेरी तलवार की लाज रखना। बाँधे हुए घर आना या इससे वैरियों को मार कर मर जाना।

सोभागसिंह ने उसके पैरों पर सिर रख कर कहा—माँजी, आप निश्चिन्त रहें। सोभागसिंह आपका हुक्म सिर आँखों से बजा लावेगा।

ठाकुर ने यह सुन कर मीठी-माँ की गायनों को इशारा किया। वे अपने तबले सारङ्गी मिलाकर बधावे गाने लगीं।

फिर ठाकुर ने वाक़आनवीसनी (१) से कहा कि आज की मिती में लिख ले कि सोभागसिंह मीठी-माँ के गोद है। मेरा भाई है। मैं जो लड़ाई में श्रीजी साहिबों के सिरसदक़े (२)

(१) लोहे का टोप जिसकी कड़ियाँ कन्धे तक लटकी रहती हैं। इससे लड़ाई में सिर और गर्दन का बचाव होता है।

(१) नित्य के समाचार लिखनेवाली।

(२) अपने मालिक के वास्ते मारे जाने को मारवाड़ में सिरसदक़े होना कहते हैं।

होजाऊँ तो सोभागसिंह मेरी जगह गद्दी पर बैठे। और जो यह भी काम आजावे तो इसके लड़के के पगड़ी बँधाई जावे।

सोभागसिंह का लड़का बच्चा ही था। ठाकुर ने उसके घर से उसे मँगा कर मीठी-माँ की गोद में दिया और कहा कि हमारे आने तक आप इससे जी बहलावें। यह कह कर मीठी-माँ से बिदा होने को वह उठ खड़ा हुआ। मीठी-माँ ने फिर उसको छाती से लगा कर कहा कि लालजी! तुमने मेरा दूध तो पिया नहीं है जो मैं यह कहूँ कि मेरा दूध मत लजाना। परन्तु यों भी तुम मेरे बेटे हो। दूध नहीं लजाने की बात कहूँ तो कह सकती हूँ।

यह सुन कर ठाकुर की छाती भर आई। वह मीठी-माँ की गोद में बैठ गया और उसका स्तन मुँह में लेकर बच्चे की तरह चूसने लगा। कहते हैं कि उसकी इस मुहब्बत से मीठी-माँ के दिल में भी मुहब्बत का जोश पैदा हो गया और उसके स्तनों में दूध उतर आया। फिर उसने उठकर ठाकुर को पान और रुपया दिया और वारने (१) लेकर बिदा किया।

ठाकुर बाहर आया तो सोभागसिंह डबल हथियार लगाये हुए उसके पीछे पीछे था। ठाकुर माँ से कुछ न बोला। परन्तु वाक़ियानवीसनी ने आकर सब हाल कहा। यह सुन कर माँ का भी जी पसीज गया और रोती हुई अपनी सौत के महल में गई। वहाँ जीजीबाई (२) जीजी बाई कहती हुई वह उससे लिपट गई। उम्र भर में उसी दिन वे दोनों सौतें गले मिल कर रोईं और खूब रोईं। उनके रोने से सारा रनिवास चीख़ उठा। ठकुरानी ने दोनों सासों को अलग करके बराबर बराबर गद्दी पर बिठाया और आप दोनों के पाँव दाबने लगी।

ठाकुर की माँ ने कहा कि जीजीबाई, तुमने मेरे लड़के का खूब लाड़ प्यार किया। मैं ऐसा न जानती थी और इसी भूल से मैंने बड़े ठाकुर को और इसको भी तुमसे दूर दूर रखा।

जीजीबाई—अब इस बात का नाम न लो। बड़े ठाकुर के आने से जो मतलब था वह आज पूरा होगया।

(१) बलायें

(२) बड़े घरों में सौतें आपस में एक दूसरी को जीजी-बाई (बहन) कहती हैं।

ठाकुर बाहर आकर फिर घोड़े पर सवार हुआ। दूसरे खासे घोड़े पर, जो सजा हुआ खड़ा था, सोभागसिंह को सवार होने का इशारा किया और सवारी बढ़ाने का हुक्म दिया।

फिर डङ्का बजा। निशान का हाथी बढ़ा। नक़ीब बोलने लगे। ठाकुर की सवारी बड़े धूमधड़क्के से शहर में होकर निकली। शाम हो गई थी। ठंडा वक्त़ था। बाज़ार में छिड़काव होगया था। चौधरियों और पञ्चों ने आकर नज़रें दीं। निछावरें कीं। ठाकुर ने सबकी ख़ातिर फ़रमाई। औरतों ने कोठों पर से फूल बरसाये और बधावे गाने लगीं। शहर में बड़ा उत्सव हुआ। सवारी के पीछे दो आदमी ऊँट पर बैठे हुए रुपे लुटाते जाते थे।

सवारी, कुछ रात गये, मशालों की रोशनी में, डेरों पर पहुँची, जो शहर के बाहर एक बाग़ में लगे हुए थे। चाँदनी-रात थी। बाग़ के आँगन में सफ़ेद बिछौने बिछे थे। गद्दी तकिया लगा था। ठाकुर अठलाता अठलाता गद्दी पर जा बैठा। माथे से मौर, यह कह कर, उतार दिया कि लड़ाई के दिन फिर बाँधेंगे। सरदार और राजपूत सब अपनी अपनी मिसल से बैठ गये। गाना और नाच होने लगा। कुछ देर बाद दारू के सुनहली गोटके (१) आये। कुसुम के रङ्ग जैसी लाल शराब, जिससे केसर-कस्तूरी की सुवास आती थी, चाँदी की प्यालियों में भरी गई। ठाकुर ने सरदारों को आँख दी। एक एक सरदार आता गया और ठाकुर के हाथ से प्याली लेकर, सलाम करके, अदब से पीछे पाँवों अपनी जगह पर जा बैठा। फिर ठाकुर ने आप भी सोने की प्याली में दारू लेकर पी और सरदारों को भी पीने का हुक्म दिया। सबने फिर सलाम करके प्यालियों को सिर पर चढ़ा कर पी लिया। दो कलाल, जो गोटके लिये हाज़िर थे, दाहनी बाईं मिसलों में फिर फिर कर सरदारों और राजपूतों को शराब पिलाने लगे। रसोड़े के महरों ने मसालेदार कबाब और भुनी हुई कलेजियों की गर्म गर्म रकाबियाँ लाकर उनके आगे रख दीं। नाच बन्द होगया। मृगनैनी गायनें शराब के गीत मीठे और ऊँचे सुरों में गाने लगीं, जिनसे सारी महफ़िल खिल उठी और सरदार लोग, ठाकुर पर निछावर कर करके, उनकी तरफ़ रुपये फेंकने लगे।

१ बतखें।

फिर पाँतियाँ लगा कर थाल आये। ठाकुर ने तथा औरों ने भी खूब रुचि से खाये। फिर झारी-बरदार हाथ धुलाने को झारी और चिलमची लाये। जब सबने हाथ धो लिये तब गन्धी इत्र, अरगजा और तमोली पान के बीड़े चाँदी के वर्क़ लगे हुए लाये। उनको भी इनाम दिया गया। फिर ठाकुर गद्दी से उठ कर सोने के लिए बाग़ के महल में चला गया। सरदार भी अपने अपने डेरों में जाकर सोये। तड़के ही शहनाई का सुरीला और सुहावना सुर सुन कर उठे। शौच और सन्ध्या-वन्दन से निपट कर ठाकुर के साथ सब कूच कर गये।

आगे क्या हुआ, इसके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं।

देवीप्रसाद

मानसोद्गार।

(१)

सुख, दुख मिलते हैं पूर्व कर्म्मानुसार ;
नर, फिर करता क्यों व्यर्थ चिन्ता अपार ?
दृढ़ कर मन को तू नित्य कर्त्तव्य साध ;
यदि यह न करेगा, कष्ट होगा अगाध ॥

(२)

विषय-जनित जो है त्याग देता विकार,
वह जन बन जाता दिव्य देवावतार।
अधम बन गये हैं सैकड़ों शील-सार—
फल-रहित न होते हैं कभी सद्विचार ॥

(३)

सुखद-सुमति-दाता प्रेम ही विश्व बीच ;
कुमति-पथ दिखाता प्रेम ही विश्व बीच।
करगत कर देता प्रेम चारों पदार्थ,
सुध बुध हर लेता प्रेम ही है पदार्थ ॥

(४)

"सुखमय यह सारी सृष्टि है शान्ति-पूर्ण ;
दुखमय यह सारी सृष्टि है भ्रान्ति-पूर्ण"।
कथन उचित ही हैं ये अवस्थानुसार;
इस जगत सभी में द्वन्द-भावाधिकार ॥

(५)

हृदय-विमलता है पुण्य से प्राप्त होती ;
सुकवि-कृति स्वयं ही विश्व में व्याप्त होती।
मनुज-सुजनता है आप ही ख्यात होती,
प्रकृति कुजन की है आप ही ज्ञात होती ॥

(६)

भव-जनित मिटेंगे क्या न चिन्ता-विषाद ?
अति-दुखद मिटेंगे क्या न माया-प्रमाद ?
अहह ! न गत होगी क्या कभी भीति-भ्रान्ति ?
प्रभुवर ! न मिलेगी क्या कभी पूर्ण शान्ति ?

—पाण्डेय लोचनप्रसाद

व्यायाम की आवश्यकता।

रीरिक धर्म के अनुसार शरीर में ऐसी क्रियायें रात दिन हुआ करती हैं जिनसे शरीर के तत्त्वों का ह्रास हुआ करता है। तत्त्व-क्षीणता की परिपूर्णता के लिए, अर्थात् शरीर को यथास्थित रखने के लिए, प्रत्येक मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिए; अन्यथा वह निर्बल हो जायगा और उसकी शरीर-क्रियायें अव्यवस्थित हो जायँगी। शरीर के प्रत्येक भाग का कार्य सुव्यवस्थित रीति पर चलाने के लिए प्रत्येक मनुष्य को व्यायाम अवश्य करना चाहिए। शरीर के क्षीण हुए तत्त्व एक मात्र व्यायाम से ही पुनरुद्भावित किये जा सकते हैं। श्रमित स्नायुओं को तभी यथेष्ट शुद्ध रक्त मिल सकता है और तभी शरीर तेजस्वी, सुदृढ़, सशक्त और निरोगी होता है।

व्यायाम न करने से हानि।

जो लोग व्यायाम नहीं करते उनके शरीर में उपयुक्त रस नहीं बनता। इससे हज़ारों रक्त-दोष उत्पन्न हो जाते हैं और नसें निर्बल हो जाती हैं। इससे शरीर कमज़ोर हो जाता है। बाष्प-यन्त्र को

उत्तम प्रकार से चलाने के लिए उसके बॉयलर में शक्तिमती भाफ़ पैदा करनी पड़ती है और वैसी भाफ़ तैयार करने के लिए बॉयलर में कोयला डालने की आवश्यकता होती है। इसी तरह शरीर-रूपी यन्त्र को चलाने के लिए शुद्ध रक्त का संग्रह परम आवश्यक है। अन्न के यथेष्ट परिपाक से रक्त पैदा होता है। अतएव अन्न को अच्छी तरह पचाने के लिए नियमित व्यायामरूपी कोयले की ज़रूरत रहती है।

व्यायाम से शरीर के भीतर और बाहर होनेवाले परिवर्त्तन।

व्यायाम करने से अङ्ग में उष्णता उत्पन्न होती है। उससे शरीर में सञ्चित विजातीय पदार्थ नष्ट हो जाते हैं; शरीर में शुद्ध रक्त का सञ्चार होता है और अन्न ठीक ठीक पचता है। इस तरह रोग का मूल नष्ट होने पर त्वचा-रोग, रक्त-दोष, बदहज़मी इत्यादि की दाल नहीं गलती।

व्यायाम के अभाव में द्रव्य-हानि।

शरीर नीरोग हो जाने पर डाक्टर अथवा वैद्य के पास नहीं जाना पड़ता। फ़ीस और गाड़ी के किराये के दाम बचते हैं। इस रक़म को आप कम न समझिए। इस रक़म को मनुष्य अनेक सुकार्यों में लगा सकता है। यदि उस द्रव्य का उपयोग वह अपने आरोग्य की वृद्धि में करे तो अधिक नीरोग और शक्तिमान् हो सकता है। निर्धन रोगियों को वही धन गृह-कार्य्य में सहायता दे सकता है।

नियमपूर्वक किये गये व्यायाम से लाभ।

नियमपूर्वक किये गये व्यायाम से कितने ही लाभ होते हैं। लिख कर मनुष्य उन लाभों को नहीं बता सकता। इसके लिए तो स्वयं अनुभव की आवश्यकता है। जो मनुष्य नियम से व्यायाम नहीं करता है वह शीघ्र वृद्ध हो जाता है। उसकी आयु कम हो जाती है। जिसको नीरोग और सशक्त होकर बहुत दिन जीने की इच्छा हो उसको नियमपूर्वक व्यायाम अवश्य करना चाहिए। भारत अथवा अन्य देशों में जो पुरुष अथवा स्त्री दीर्घजीवी हो गये हैं उनकी दिनचर्या पढ़िए। आप देखिएगा कि उनके प्रत्येक व्यवहार में नियमनिष्ठा थी। वे नियमित आहार और विहार करते थे। फिर हम लोग क्या, नियमित आहार और विहार के द्वारा, उनकी तरह शतायुषी नहीं हो सकते? जो दीर्घायुष्य प्राप्त करना चाहते हों उनको मनोयोगपूर्वक नियमित व्यायाम करना चाहिए।

नियमित व्यायाम के साथ शरीर-सुधार के उद्देश की आवश्यकता।

लोग बहुधा कह देते हैं, दिन भर तो हम मिहनत ही करते रहते हैं, और कितना व्यायाम किया जाय? परन्तु यह उनकी भूल है। वे जो श्रम करते हैं, जीविका-अर्जन के लिए करते हैं; व्यायाम के लिए नहीं। एञ्जिन चौबीसों घण्टे चक्कर लगाता रहता है, पर कुछ लाभ नहीं होता; बल्कि उसकी शक्ति का ह्रास होता रहता है। यही हाल श्रमजीवियों का है। व्यायाम करनेवालों के और उन के उद्देश भिन्न भिन्न हैं। पहला जो श्रम करता है शरीर-सुधार के लिए करता है और दूसरा उदर के निमित्त करता है। यद्यपि परिश्रम दोनों को पड़ता है तथापि उद्देश भिन्न होने के कारण फल में भेद हो जाता है। जैसे, दो विद्यार्थी एक ही दरजे में पढ़ते हैं। एक का उद्देश केवल परीक्षा पास करना है; दूसरे का उद्देश ज्ञान-प्राप्ति करना है। अतएव फल भी उन्हें वैसा ही मिलता है। रोड़ा कूटने और लकड़ी फाड़नेवालों तथा अपने पेट के लिए सबेरे से शाम तक विविध काम करनेवालों को देखिए। वे अविराम परिश्रम करते हैं। पर शरीर-सुधार का

नाम नहीं । बल्कि पहले का गठीला हृष्टपुष्ट शरीर सूखने लगता है । यदि वे व्यायाम की दृष्टि से परिश्रम करें तो उसका परिणाम बिलकुल उलटा हो । इससे नियमित व्यायाम के साथ शरीर-सुधार के उद्देश की घनिष्ठता प्रतीत होती है ।

व्यायाम सबके लिए है ।

निर्बल और रोगी मनुष्यों का यह ख़याल होता है कि व्यायाम हृष्ट-पुष्ट लोगों के ही लिए है । परन्तु यह उनका निरा भ्रम है । शरीर में सञ्चित मल, अशुद्ध रक्त और बदहज़मी के कारण शरीरस्थित अन्न इत्यादि ही रोग की जड़ हैं । शरीर में उनके रहने से कमज़ोरी और बीमारी बढ़ती ही जायगी और मनुष्य दिनों दिन अधिक निर्बल और रोगी होता चला जायगा । अन्त को उसीसे उसका अन्त हो जाने की भी सम्भावना है । जिन्होंने अपने शरीर को कूड़े का कोश कर रक्खा है उनकी दुर्गति का कहीं ठिकाना है ? वे यदि उसे साफ़ रखने का प्रयत्न करें तो उनकी दशा बहुत सुधर जाय । वे आरोग्यवान्, सतेज, सशक्त हो जायँ । हम अपने घर को साफ़-सुथरा रखने के लिए नित्य झाड़ू लगाते हैं । हर एक चीज़ साफ़ करके रखते हैं । यदि कुछ दिन ऐसा न करें तो घर की दशा बिगड़ जाती है । साफ़ सुथरे मकान को देख कर हमें कितना आनन्द होता है । शरीररूपी घर का भी यही हाल है । व्यायामरूपी ब्रश से यदि हम उसे स्वच्छ रक्खें तो मन को कितनी शान्ति मिले । अतएव रोगी को रोग-शत्रु के नाश तथा आरोग्य-प्राप्ति के लिए व्यायाम अवश्य करना चाहिए ।

हेतु-विपर्यास से होनेवाली हानि ।

रोगियों की तरह जो मनुष्य सदैव कार्यों में तत्पर रहते हैं वे भी यही समझे रहते हैं कि व्यायाम करना तो पहलवानों का काम है । जिनको कुछ काम-धन्धा नहीं वे अपने मनोरञ्जन के लिए भले ही व्यायाम करें । हमें तो काम के मारे फ़ुरसत ही नहीं; हम कैसे व्यायाम करें । परन्तु ऐसी नासमझी के कारण उनका कितना नुक़सान होता है, यह वे नहीं जानते । एक स्थान पर जम कर काम करने से उनके सब अवयवों का सञ्चालन नहीं होता । और, अपने भ्रमपूर्ण विचार के कारण वे व्यायाम भी नहीं करते । फलतः वे शीघ्र ही काम करने के अयोग्य हो जाते हैं । उनको नौकरी छोड़नी पड़ती है या घर पर निकम्मा बैठना पड़ता है । पर यह भावी हानि उनके ध्यान में नहीं आती । पीछे दुःख भोगते हैं और वैद्यों तथा डाक्टरों की सहायता से नीरोग, सशक्त और कार्यक्षम होना चाहते हैं । यदि वे उचित समय पर ही अपनी भूल को समझ कर नियमित व्यायाम करें तो भविष्यत् में होनेवाले दुःख और हानि से अवश्य बच जायँ तथा आजन्म शरीर-सुख का उपभोग करें । कितने ही लोग व्यर्थ लज्जा के कारण व्यायाम नहीं करते । पर उन्हें याद रखना चाहिए कि हँसनेवाले नादान आदमी हैं । नादानों की हँसी की कुछ भी क़ीमत नहीं । जिसकी नींव पर सर्वसुखोपभोग की, सारे जीवन की, सारी शक्ति की, किम्बहुना हमारे सर्वस्व की भव्य इमारत बनाई जा रही है उस व्यायाम का आश्रय हम क्यों न ग्रहण करें ? लोगों के हँसने की परवा हमें न करनी चाहिए । नित्य नियम से व्यायाम करना ही चाहिए ।

व्यायाम न करना पाप है ।

इस विवेचन से सिद्ध है कि व्यायाम अत्यावश्यक कार्य है । प्रत्येक मनुष्य के लिए व्यायाम करना अनिवार्य्य है । व्यायाम नैसर्गिक नियम है । नैसर्गिक नियमों के उल्लङ्घन से उसका कुफल चक्खे बिना हमारा निस्तार नहीं । व्यायाम की अवहेलना करने से भी हम परमेश्वर के विशेष अपराधी होंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

व्यायाम-सेवियों को अधिक पौष्टिक पदार्थ न खाने चाहिए।

व्यायाम से अन्न-परिपाक में सहायता मिलती है। उससे शरीर सुगठित होता है। पर उत्तमोत्तम पौष्टिक अर्थात् गरिष्ठ पदार्थ परिमाण से अधिक खाने की आदत न रखनी चाहिए। इससे व्यायाम का प्रभाव शरीर पर कुछ नहीं होता। व्यायाम के परिमाण से जो कुछ खाया जायगा वह तो उसके बल से पच जायगा, पर अधिक खाये गये पदार्थ पेट में बिना पचे ही पड़े रहेंगे। अजीर्ण ही सैकड़ों रोगों की जड़ है। गरिष्ठ पदार्थ पचाने के लिए बहुत अधिक शक्ति दरकार होती है। अतएव अधिक व्यायाम करके भी लोग, बहुत खा जाने से, रोगों के पञ्जे में जकड़ जाते हैं। तोंद बढ़ जाती है, शरीर बेडौल हो जाता है, अङ्ग में वायु-विकार उत्पन्न हो जाता है, शरीर में फुरती नहीं रहती। पौष्टिक पदार्थ आवश्यकता से अधिक खाने से चरबी अधिक बढ़ने लगती है। स्निग्ध पदार्थ शरीर में सञ्चित होते रहते हैं। बड़े बड़े धनिकों के ढीले ढाले मोटे शरीर इसी के उदाहरण हैं।

व्यायाम स्वाभाविक है।

बालक जन्मते ही हाथ पैर हिलाने लगता है। हाथ पैर हिलाने से जो व्यायाम होता है उससे उसके शरीर की वृद्धि का आरम्भ होता है। यदि हम थोड़ी देर उसके हाथ पैर पकड़ रक्खें तो वह रोने लगता है। यह हरकत उसको पसन्द नहीं होती। व्यायाम और शरीर का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह इससे भले प्रकार प्रकट होता है। जन्म से ही जब व्यायाम का और हमारा सम्बन्ध है तब हमारे सज्ञान होने पर उसकी अवहेलना करना कितना अस्वाभाविक है।

अक्षर सुधारने के लिए हमें रोज़ क़लम चलानी पड़ती है अर्थात् काग़ज़ पर प्रति दिन अक्षर अङ्कित करना पड़ते हैं। इसी तरह यदि अपना शरीर नीरोग और गठीला करना हो तो अपने शरीररूपी काग़ज़ पर व्यायाम-रूपिणी लेखनी द्वारा हर रोज़ सायं प्रातः नियमपूर्वक लिखिए। तभी आप नीरोग और सुदृढ़-गात्र होंगे। पौधा लगाने के साथ ही फल नहीं मिलता। फल-प्राप्ति के लिए हमें महीनों ही नहीं, बरसों राह देखनी पड़ती है; नियमपूर्वक जल और खाद देनी पड़ती है; आस पास के तृण-दूर्वादि भी उखाड़ने पड़ते हैं। तब कहीं क्रमशः अङ्कुर, पल्लव, फूल, फलादि के दुर्लभ दर्शन होते हैं। इसके बाद हमें उनका स्वाद चखने को मिलता है। इसी तरह व्यायाम आरम्भ करने के साथ ही हमारा शरीर सुन्दर, सुडौल, हृष्ट-पुष्ट कैसे हो सकेगा? उसके लिए तो प्रतीक्षा करनी ही होगी। नियत अवधि के बाद, व्यायाम के पूर्व और उत्तर का अपना चित्र मिलाने पर ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ मालूम होगा। तभी आपको सच्चा हर्ष और लाभ होगा। किसी दिन बहुत व्यायाम करके कोई अपना बदन दर्पण में देखने लगे तो "खूब घी पीकर रूप देखने के सदृश" वह केवल हँसी का पात्र होगा। अतएव आलस्य छोड़कर निश्चयपूर्वक कार्य्य आरम्भ करना चाहिए और धीरज धारण कर सुफल की प्रतीक्षा करनी चाहिए। बड़े बड़े काम धीरे धीरे और बहुत समय में ही सिद्ध होते हैं।

व्यायाम का व्यसन।

व्यायाम नियत समय पर ही करना चाहिए। मन में आप भावना कर लीजिए कि मुझे व्यायाम का व्यसन है। अफ़ीम खानेवालों को यदि समय पर किसी दिन अफ़ीम न मिले तो वे बेचैन हो जाते हैं। जिस दिन आप व्यायाम न करें, यही स्थिति उस दिन आपकी हो जानी चाहिए। अर्थात् व्यायाम का

समय होते ही आप के पैर आप ही आप व्यायाम-शाला की तरफ़ बढ़ने चाहिए। व्यायाम के अतिरिक्त दूसरा विचार ही उस समय मन में पैदा न होना चाहिए। समस्त चित्त-वृत्तियाँ व्यायाम-शाला की ओर ही लग जानी चाहिए। तब आप सोचिए कि मैं अब व्यायाम का पक्का सेवक हो गया। व्यायाम के समय जब आप की चित्त-वृत्ति दूसरी तरफ़ बिलकुल न जायगी और व्यायाम नियमपूर्वक होगा तभी व्यायाम से पूर्वोक्त लाभ आपको प्राप्त होंगे।

शारीरिक शास्त्र क्या कहता है ?

नियम-निष्ठा का पाठ हमें पढ़ाने की आवश्यकता नहीं। हमारे धर्म्म-शास्त्र की आज्ञा से स्नान, सन्ध्या, अर्चा इत्यादि नित्य-कर्म हमको नियम-पूर्वक करने ही पड़ते हैं। इससे नियम-निष्ठा के आदी हम पहले ही से हैं। हमारे शास्त्रों में स्थान स्थान पर नियम-निष्ठा पर ज़ोर दिया गया है। शरीर-शास्त्र में तो नियम-निष्ठा का बड़ा ही माहात्म्य है।

व्यायाम का अभ्यास हो गया या नहीं, इसकी परीक्षा।

जब तक व्यायाम का अभ्यास न हो जाय नियम-पूर्वक कसरत जारी रखनी चाहिए। जब व्यायाम करने की वृत्ति सदा क़ायम रहे तब समझिए कि अब पूरा अभ्यास हो गया। अन्यथा अभ्यास को कच्चा ही समझना चाहिए। व्यायाम का व्यसन लग जाने के लिए उसका शौक़ रखने की आवश्यकता है। और शौक़ पूरा करने के लिए उस क्रिया का जारी रखना आवश्यक है। मनुष्य के लिए जिस तरह निद्रा आवश्यक है उसी तरह व्यायाम को अनिवार्य समझना चाहिए। एक दिन नींद न आने पर जो स्थिति मनुष्य की हो जाती है वही स्थिति व्यायाम के व्यसन की होनी चाहिए। व्यायाम की उपेक्षा करना बेडौल शरीर, दुर्बलता और व्याधि का, अपने घर में, मानो आतिथ्य करना है तथा मन और शरीर को मानो चन्द्र-सूर्य्य के ग्रहण के सदृश क्षीण करना है।

व्यायाम का समय।

व्यायाम करने के लिए प्रातःकाल और सायङ्काल अच्छे माने जाते हैं। परन्तु प्रातःकाल सर्वोत्तम है। क्योंकि उस समय सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य रहता है। वायु शुद्ध और शीतल होती है। शीतल वायु के स्पर्श से अङ्गों की उष्णता के बाहर निकलने में बाधा नहीं होती। परन्तु इसके विपरीत करने से शरीर की गरमी भीतर ही रह जाती है, जो बहुत हानि करती है। रात में विश्राम मिल जाने से प्रभात में मन प्रसन्न रहता है। व्यायाम ही क्या, किसी भी अच्छे काम के लिए प्रातःकाल ही सर्वथा उत्तम और उपयुक्त है। प्रातःकाल में जितना काम, थोड़े समय में, सुगमता से अच्छा हो सकता है उतना दूसरे काल में, अधिक समय लगाने पर भी, वैसा नहीं होता।

व्यायाम किस समय न करना चाहिए।

भोजन के उपरान्त व्यायाम न करना चाहिए। उस समय पाचन-क्रिया तेज़ी से होती रहती है। फलतः रक्त का प्रवाह अधिक परिमाण में उदर की तरफ़ जाता है। उस समय व्यायाम करने से रक्त का प्रवाह ज़ियादह ज़ोर से सारे शरीर में शुरू हो जाता है। इससे पाचन-क्रिया मन्द हो जाती है। पाचन-क्रिया के मन्द होने पर शरीर में रोग उत्पन्न होने लगते हैं और व्यायाम से जो लाभ होता है वह न होकर उलटी हानि होती है। अतएव भोजनोत्तर व्यायाम न करना चाहिए। सामान्यतया भोजन और व्यायाम के बीच ४ घन्टे का अन्तर होना चाहिए। भूख लगने पर व्यायाम करना उचित नहीं। उस समय शरीर शिथिल रहता है। ऐसे समय व्यायाम

करने से अधिक कमज़ोरी आती है, जिससे शरीर की स्वाभाविक वृत्ति बिगड़ जाती है। अतएव थोड़ा सा कलेवा करके विश्राम करना चाहिए, फिर व्यायाम में लगना चाहिए। भोजनोत्तर सोना भी न चाहिए; क्योंकि इससे पाचन-क्रिया में विघ्न पड़ता है और अजीर्ण हो जाता है।

व्यायाम के बाद तत्काल खाना पीना अच्छा नहीं।

जिस तरह भोजनोत्तर व्यायाम करना अच्छा नहीं उसी तरह व्यायाम के पश्चात् तत्काल भोजन करना अथवा दूध और शर्बत आदि पीना भी अच्छा नहीं। ऐसा करने से एक ही समय दोनों क्रियाओं का व्यापार आरम्भ हो जाता है। फलतः एक भी पूरा नहीं होता, दोनों अपूर्ण रह जाते हैं। अतएव वे शरीर को हानि ही पहुँचाते हैं। व्यायाम के अनन्तर गले में खुश्की मालूम हो तो शीतल जल से कुल्ला कर लेना चाहिए। फिर आध घण्टे के बाद दूध या शरबत पीना चाहिए।

व्यायाम ही तारक और व्यायाम ही मारक है।

बीमारी के कारण जो मनुष्य बहुत अशक्त हो जाते हैं उन्हें व्यायाम न करना चाहिए। अशक्ति के कारण शरीर में व्यायाम की गरमी अधिक बढ़ती है। वह शरीर के लिए अहितकर है। अपनी शक्ति के अनुसार ही व्यायाम करना चाहिए। उतना ही व्यायाम लाभ-कर है जितने से शरीर में फुरती बढ़ती हो। जैसे अधिक भोजन से अजीर्ण होता है वैसे ही शक्ति से अधिक व्यायाम करने से व्यायाम भी बीमारी का कारण हो जाता है। व्यायाम और औषध में कोई भेद नहीं। अतएव विवेक-पूर्वक उनका उपयोग करना चाहिए। नहीं तो बड़ी हानि होती है। जिस व्यायाम से शरीर को कुछ भी श्रम नहीं पड़ता वह निरुपयोगी है। मन को एकाग्र करके यथेष्ट व्यायाम करने से परिणाम अच्छा होता है। आनन्द-पूर्वक शक्ति के अनुसार व्यायाम करने पर ही उसका अच्छा परिणाम होता है। व्यायाम करते समय इस बात का अणुमात्र भी विचार मन में न आना चाहिए कि कहाँ क्या हो रहा है। उचित, नियमित, निश्चयपूर्वक एकाग्र मन से व्यायाम करने से शरीर के अवयव सुन्दर और हड्डियाँ मज़बूत होती हैं। रक्त-सञ्चालन अच्छी तरह होने लगता है। तभी समझना चाहिए कि शरीर में मल नहीं रहा।

मालिश।

व्यायाम करने के पहले मालिश करनी चाहिए। तत्पश्चात् व्यायाम। मालिश स्वतन्त्र विषय है। अतएव तद्विषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके मालिश करनी चाहिए। व्यायाम से थकावट आजाने पर गरम पानी से स्नान कर लेना चाहिए। इससे थकावट दूर होजाती है और शरीर हलका हो जाता है।

उपसंहार।

कहने का तात्पर्य यही है कि व्यायाम का अवलम्बन करके रोगों से अपना पिण्ड छुड़ा लीजिए। नियम-पूर्वक व्यायाम के द्वारा आरोग्य-प्राप्ति कीजिए। खाने-पीने की वस्तुयें उचित मात्रा में सेवन कीजिए। व्यायाम साक्षात् सञ्जीवनी है। उसके प्रसाद से आप आरोग्यवान् होंगे। आरोग्य से बढ़ कर कोई सुख संसार में नहीं। उत्तम सन्तति, असाधारण शक्ति, विद्या-प्राप्ति, उत्साह, साहस आदि आरोग्य पर ही अवलम्बित हैं। शिक्षित-अशिक्षित, रोगी-नीरोगी, सशक्त-अशक्त, बाल-बालिका, स्त्री-पुरुष, तरुण-वृद्ध, सब को आरोग्य की आवश्यकता है। आरोग्य नियमित व्यायाम से ही प्राप्त हो सकता है। अतएव बिना कौड़ी-पैसा ख़र्च किये ही यह व्यायामरूपी अमृत पीकर आप अपना कल्याण क्यों नहीं कर लेते। तन्दुरुस्ती हज़ार न्यामत। स्वास्थ्यहीन मनुष्य

को यह स्वर्गोपम संसार साक्षात् नरक के तुल्य हो जाता है। उसे अपना शरीर भारभूत होजाता है। स्वास्थ्यरहित जीवन से उकता कर वह मृत्यु को निमन्त्रण दिया करता है। इस दयनीय स्थिति से बचने की इच्छा हो तो व्यायाम का आश्रय ग्रहण कीजिए। फिर देखिए, आप कैसे नित नूतन बलशाली होते हैं।

जी० वाई० माणिकराव

कवि और उसका चरित

वि-शब्द बड़े महत्त्व का है। कवि का आसन बहुत ऊँचा है। बड़े बड़े राज-राजेश्वरों की भी पहुँच वहाँ तक नहीं। इसका कारण यह है कि कवि ईश्वरीय-विभूति-सम्पन्न होते हैं। इसी लिए लोग उन्हें पूज्य दृष्टि से देखते हैं और उनकी रचनायें संसार की स्थायी सम्पत्ति समझी जाती हैं। इन रचनाओं में सर्वत्र प्रतिभा की प्रभावशालिनी रश्मियों का समावेश रहता है। इस कारण वे मनुष्य की हृदयकलिका को खिला कर उसके अन्तर-तम-प्रदेश को प्रकाशित करने की शक्ति रखती हैं।

अच्छा तो कवियों के व्यक्ति-गत चरित कैसे होते हैं? क्या वे सदैव ही अनुकरण-योग्य होते हैं? क्या साधारण लोग उनका अनुकरण करके लाभ ही लाभ उठा सकते हैं? आज कल शिक्षित लोगों में—विशेष करके उन नवयुवकों में जिन्हें कविता से प्रेम है और जो कुछ तुकबन्दी करने का भी यत्न किया करते हैं—कवियों के चरित के अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है। कवियों का महत्त्व देखते यदि लोगों में उनकी नक़ल करने का उत्साह उत्पन्न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यदि वे नीर-क्षीर-विवेक का अनुसरण करते तो शिकायत की जगह न थी। पर ऐसा करना तो दूर रहा, वे प्रायः कवियों के दोषों ही को अपनाने का यत्न करते हैं। इस कारण यदि उन पर कोई दोषारोपण करता है तो वे अपने आदर-भाजन कवि का हवाला दे कर ऐसा भाव व्यक्त करते हैं जिससे जाना जाता है कि वे अपने इस अन्यथाचरण से अपनी गौरव-वृद्धि समझते हैं। ऐसे नवयुवकों में से अधिकांश में कवि-जन-सुलभ प्रतिभा तो नहीं, किन्तु कवि कहलाने की उत्कट अभिलाषा मात्र पाई जाती है। उनकी प्रवृत्ति स्वभाव से ही अनुकरण-शील होती है। किन्तु कुछ तो मनुष्यों के गुण की अपेक्षा अवगुण की ओर प्रथम ध्यान देने की प्रवृत्ति, कुछ इन नवयुवकों की बुद्धि की अपरिपक्वता के कारण ग्राह्याग्राह्य-विषयक निर्णय-शक्ति की कमी, और सब से अधिक इनके हठाचरण इस विषय में हानि-कर सिद्ध होते हैं।

पहले हमारे देश में जीवन-चरित लिखने की ओर ध्यान न दिया जाता था। अतएव बड़े बड़े आदमियों के आचरण-सम्बन्धी गुण-दोष उनके साथ ही साथ दुनिया से उठ जाते थे। इससे परवर्ती काल के लोगों को उनका ज्ञान ही न हो सकता था। किन्तु अब यह बात नहीं है। पश्चिम के सम्बन्ध ने अन्यान्य विषयों की तरह इस विषय पर भी अपना प्रभाव डाला है। अब यहाँ भी प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुरुषों के चरित लिख कर सुरक्षित रखने की प्रथा चल पड़ी है। यथार्थ में कवियों की रचनाओं के पूरे पूरे आस्वादन के लिए उनका चरित जानना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि कवि की रचना का विशेष सम्बन्ध उसके जीवन की घटनाओं से ही रहता है। घटनायें उसके हृदय के भावों का विजृम्भण होती हैं और ये भाव जब हृदय में नहीं समाते तभी कविता के रूप में बाहर निकल पड़ते हैं। कभी कभी तो इन कविता-रूपी प्लेटों पर कवि-भावों के फोटो ऐसे साफ़ उतर आते हैं कि उन्हें देख कर उसके जीवन की वे घटनायें, जिनके कारण वे लिखी गई थीं, सहज ही में अनुमान कर ली जाती हैं। जीवन-चरित के ऐसे ही लाभों को देख कर अब उनका लिखना आवश्यक समझा जाता है। किन्तु इन जीवन-चरितों में चरित-नायक के गुणों के साथ साथ दोषों का भी वर्णन रहता है, क्योंकि इसके बिना चरित अधूरा समझा जाता है। इन दोषों का उल्लेख ही कवि कहलाने के इच्छारूपी रोग से ग्रस्त हमारे कई अनुकरण-प्रिय नवयुवकों के आचरण का मूल-कारण है। इस बात को ध्यान में रख कर जब हम अपने पूर्ववर्ती कवियों के चरित प्राप्य न

होने के दुःख-पूर्ण विषय पर विचार करते हैं तब हमें एक प्रकार सन्तोष ही होता है। सम्भव है, उनमें से बहुतों के चरित सदोष रहे हों। हमारा विश्वास है कि हमारे अनुकरण-प्रिय लोग उनसे लाभ उठाने में कभी न चूकते।

सच बात तो यह है कि बड़ों के दोषों के अनुकरण से बड़ी हानि पहुँच सकती है। उनका अनुकरण करने में छोटे आदमी अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं, चाहे उससे उन्हें लाभ हो चाहे हानि। पर यह उनकी भूल है। कवियों के चरित का अनुकरण करने में लोगों को विचार से काम लेना चाहिए। कवियों में स्वभाव से ही कुछ ऐसी बातें पाई जाती हैं जो साधारण लोगों के लिए अत्यन्त हानिकर हैं। यह दोष उनका नहीं, उनकी प्रतिभा का है। स्मरण रखना चाहिए कि कवि बनने के लिए विद्वत्ता नहीं, प्रतिभा चाहिए। प्रतिभा के साथ साथ जिनमें विद्वत्ता भी पाई जाती है, ऐसे कवि, जहाँ तक हो सकता है, बुरी बातों से दूर रहने का यत्न करते हैं। क्योंकि उनकी विद्वत्ता कार्य्याकार्य्य विषयों का निर्णय करने में उनको सहायता पहुँचाती है। पर यह काम प्रतिभा से नहीं हो सकता। उसका काम सिर्फ़ नये नये विचार, नई नई कल्पनायें, सुझाना ही है, और कुछ नहीं। अतएव जिन कवियों में प्रतिभा तो पूरी पूरी पाई जाती है, पर विचार-शक्ति का अभाव रहता है, उनके चरित में दोष भी स्थान प्राप्त कर लेते हैं। योरप के विद्वानों का कथन है कि प्रतिभाशाली पुरुषों और पागलों में बहुत कुछ समानता है। अतः पागलों के कार्य्यों के समान प्रतिभाशालियों के भी कुछ कार्य्य अविचार-पूर्ण हुआ करते हैं।

प्रतिभावानों में विचार-शक्ति की हीनता ही नहीं, एक प्रकार का हठ भी पाया जाता है, जिसके कारण वे हानि-लाभ अथवा उचितानुचित की उपेक्षा करके जो जी में आया उसे ही कर डालते हैं। मेघनाद-वध नामक बँगला-काव्य के कवि मधुसूदन दत्त के अन्य-धर्म्मग्रहण का कारण उनकी विचार-शक्ति की हीनता अथवा हठ के सिवा और कुछ न था। माता-पिता ने विवाह के लिए एक सुन्दर और गुणवती कन्या ठीक की। पर इसकी ख़बर लगते ही मधुसूदन एक गौराङ्ग रमणी के पाणि-ग्रहण की लालसा से झट क्रिश्चियन हो गये। उन्हें अपने हिन्दूधर्म्म को तिलाञ्जलि देते हुए कुछ भी दुःख न हुआ। पुत्र-वधू के मुख-दर्शन की उत्कण्ठा से उत्कण्ठित माता-पिता की कामना-वेलि पर वज्रपात करते उन्हें दया भी न आई। मधुसूदन की माता उनके विधर्म्मी होने का समाचार पाकर मूर्च्छित हो गईं और कई दिनों तक बिना अन्न-जल-ग्रहण किये संज्ञा-शून्य पड़ी रहीं। पर मधुसूदन को अपनी कृति पर ज़रा भी परिताप न हुआ। मेघनाद-वध का कवि इतना निष्ठुर आचरण भी कर सकता है, इसका अनुमान तक नहीं किया जा सकता। पर, यह दोष कवि की स्वाभाविक दुष्प्रवृत्ति का फल था।

इन बातों के सिवा कवियों में प्रायः आमोद-प्रियता, विलासिता, उदारता, व्ययशीलता, असंयत-चित्तता, अभिमान, बेपरवाही आदि अनेक दुर्गुण पाये जाते हैं। इनका अनुकरण साधारण लोगों के लिए अतीव हानिकारक है। अपने इन दोषों के कारण कवियों को स्वयं भी बड़ी बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। इन विपत्तियों के साथ बराबर मुठभेड़ करते हुए उन्हें अपनी जीवन-सीमा के पार खदेड़ने में वे जिस बेपरवाही से काम लेते हैं उसे हम गुण और अवगुण दोनों कह सकते हैं।

कवियों के आमोद-प्रिय और विलासी होने के कई कारण हो सकते हैं। कविता की उत्पत्ति का कारण मन की उमङ्ग है। एक लेखक कहता है—"सब लोग अपने जीवन में एक बार ज़रूर कवि हो जाते हैं। यौवनारम्भ में प्रायः सभी के मन में उमङ्गें उठा करती हैं। इन उमङ्गों को युवक भाव, चेष्टा, कार्य और भाषा द्वारा प्रकट करता है। इस उमङ्ग-प्राकट्य का ही नाम कविता है।" कवियों के हृदय में ये उमङ्गें विशेष रूप से पाई जाती हैं; वहाँ उनका निवास स्थायी होता है। अब यदि हम आमोद-प्रियता और विलासिता के मूल कारण का अनुसन्धान करते हैं तो हमें जान पड़ता है कि उनका भी कारण मन की उमङ्ग ही है। कविता और आमोद-प्रियता के मूल कारणों की यह एकता ही कवियों की विलासिता का मुख्य हेतु जान पड़ती है।

इसका दूसरा कारण कवियों की उत्कट रूप-लालसा भी है। रूप अथवा सौन्दर्य का उपभोग करते हुए कवि अपने विचारों को सदैव पवित्रता-पूर्ण ही बनाये रखता है, यह

नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा कहना अस्वाभाविक होगा। सौन्दर्य का उपभोग अवश्य ही भले और बुरे दोनों मार्गों से किया जा सकता है। पर उमङ्गों की प्रबलता-पूर्ण प्रारम्भिक अवस्था में कवियों को इसका विशेष ख़याल नहीं रहता। विलासिता और सौन्दर्य का यह सम्बन्ध स्वाभाविक है। कवियों को अपनी इस आमोद-प्रियता से कुछ लाभ भी होते हैं। इससे उनकी प्रतिभा का स्फुरण होता है और उन्हें कविता लिखने में उत्तेजना मिलती है। कभी कभी, कारण विशेष से, कवि के हृदय में विलासिता और कुरुचि-पूर्ण रूप-लालसा से घृणा भी हो जाती है और उसकी प्रतिभा का प्रवाह सहसा किसी और ही दिशा की ओर बहने लगता है। कौन कह सकता है कि गुसाईं तुलसीदास जी को यदि विलासिता से अचानक घृणा न हुई होती तो वे वैराग्य की ओर झुकते और रामायण जैसा आदर्श काव्य लिख सकते। रूप के नशे ने सूरदास जी को भी ख़ूब छकाया। एक रमणी के रूप-लावण्य-दर्शन से वे ऐसे मुग्ध हुए कि उन्हें अपने विचारों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखना कठिन हो गया। यदि इस घटना से सूरदास को ग्लानि न हुई होती तो आज हम उनके काव्य-सागर में प्रेम और भक्ति की अद्भुत लहरें देख सकते या नहीं, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता।

कवियों की आमोद-प्रियता शृङ्गार-सूचक सामग्री का सेवन, अपव्यय, मद्यपान आदि अनेक भयङ्कर दुर्गुणों का कारण होती है। ऊपर जिन अवगुणों का उल्लेख हुआ है वे सभी कवियों में पाये जाते हैं, यह बात नहीं। पर यह सत्य है कि अधिकांश कवि आमोद-प्रिय ज़रूर होते हैं। उनके स्वास्थ्य पर इसका बुरा असर पड़ता है। बाबू हरिश्चन्द्र यक्ष्मारोग से पीड़ित होकर अल्पावस्था में ही काल-कवलित हो गये। उसका कारण शायद उनकी विलासिता ही हो। कवियों के इन दुर्गुणों के उदाहरण ढूँढ़ने से बहुत मिल सकते हैं। हरिश्चन्द्र बाबू का इत्र के दीवे जलाना, पैसे को पानी की तरह बहाना नहीं तो क्या है? उसी तरह माइकेल मधुसूदन दत्त का एक एक अशर्फ़ी दे कर बाल कटाना उनके अपव्यय का ख़ासा उदाहरण है। माइकेल कभी कभी कहा करते थे—"बिना चालीस हज़ार रुपये के एक भद्र पुरुष का निर्वाह वर्ष भर कैसे हो सकता है?" यही हाल अँगरेज़-कवि गोल्डस्मिथ का भी था। उसके विषय में मेकाले का कथन है—"लार्ड क्लाइव हिन्दुस्तान से जो द्रव्य लाये थे, गोल्डस्मिथ के लिए वह भी काफ़ी न होता।" इन कवियों की आमोद-प्रियता और अपव्यय की अनेक कथायें सुनी जाती हैं, जिनका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है। उनकी इस अपरिणाम-दर्शिता का फल यही होता है कि वे ऋण में डूब जाते हैं और उनको द्रव्याभाव के कारण भूखों तक मरना पड़ता है। हरिश्चन्द्र की अन्त में यह दशा हो गई कि उनकी चिट्ठियाँ बिना टिकिटों के हफ़्तों मेज़ पर पड़ी रह जाती थीं। माइकेल को, निर्धनावस्था में, एक बार बड़े घर की भी हवा खानी पड़ी थी। गोल्डस्मिथ को The best begging letter-writer (भीख माँगनेवाला उत्तम पत्र-लेखक) कहलाना पड़ा था। ऋण-दाताओं के तक़ाज़ों से वे नाकोंदम रहते हैं। कहते हैं, महाजनों से ही तङ्ग आकर माइकेल ने, मानसिक यन्त्रणा से बचने के लिए, शराब पीना शुरू किया था।

इस प्रकार कवियों का जीवन इन आमोदप्रियता, अति-उदारता, अपव्यय आदि दुर्गुणों के कारण शान्ति-हीन हो जाता है। कवियों के ऐसे आचरण का अनुकरण करनेवालों को सावधान रहना चाहिए।

कवियों की रुचि प्रायः मादक पदार्थों के सेवन की ओर भी हो जाया करती है। इसका कारण यही है कि उनके सेवन से कवियों की स्वाभाविक उमङ्गों को उत्तेजना मिलती है। बाबू हरिश्चन्द्र के पिता, जो एक अच्छे कवि थे, भङ्ग बहुत पीते थे। उर्दू के प्रसिद्ध कवि ग़ालिब शराब के बड़े भक्त थे। यूरप के तो अधिकांश कवियों में ये बुरी लतें पाई जाती हैं। लैम्ब, टामसन, एडिसन आदि बड़े शराबी थे। कोलरिज को अधिक मद्य पीने ही के कारण अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा था।

कवियों के ऐसे भीषण दुर्गुणों का अनुकरण करके भी क्या कोई लाभ उठा सकता है?

प्रायः कवियों का स्वभाव उग्र और असहनशील होता है। उनमें कुछ औद्धत्य भी पाया जाता है। ये बातें अन्य लोगों के लिए कदापि अनुकरण-योग्य नहीं।

सुप्रसिद्ध गुजराती कवि दयाराम, जिन्हें लोग गुजरात का बायरन कहते हैं, स्वभाव के बड़े घमण्डी और उद्धत थे। उनके औद्धत्य के कितने ही उदाहरण प्रसिद्ध हैं। अँगरेज़ी कवि पोप का स्वभाव इतना असहनशील था कि उसे अपने विरुद्ध मतवाले समालोचकों की समालोचना सहन न होती थी। उसने एक काव्य में उनकी पूरी पूरी ख़बर लेकर आवश्यकता से अधिक वैर का बदला निकाला है। ऐसी और भी कई हानिकर बातें हैं जो कवियों के आचरण में प्रायः पाई जाती हैं। कुछ प्रकृत कवियों की छात्रावस्था पर ध्यान देने से मालूम होता है कि उनका जी पढ़ने लिखने में, जैसा चाहिए वैसा, नहीं लगता। अतएव वे प्रायः पाठ्य विषयों की अवहेलना किया करते हैं। गणित, भूगोल आदि कुछ विषय तो उन्हें ऐसे कर्कश जान पड़ते हैं कि उन पर उनका ध्यान जमता ही नहीं; वे उन्हें पढ़ते पढ़ते उकता जाते हैं। क्योंकि उनकी स्वतन्त्रता-प्रिय प्रतिभा उन विषयों की शृङ्खला लाद कर क़ैद में रहना नहीं चाहती। वह यथेच्छ भ्रमण करना पसन्द करती है। इसके सिवा वह उत्पादिनी-शक्ति-विशिष्ट भी होती है। अतएव ग्रहण करने की अपेक्षा उत्पादन करने की ओर उसकी प्रवृत्ति अधिक रहती है। कवियों की रुचि स्वभाव से ही ललित विषयों की ओर होती है, जिसके कारण तर्क-पूर्ण जटिल और कर्कश विषय उन्हें अच्छे नहीं लगते। अब यदि उनकी छात्रावस्था के वृत्तान्त पढ़ कर कोई साधारण विद्यार्थी उनका अनुकरण करे—अपनी पाठ्य पुस्तकों के अध्ययन की ओर ध्यान न दे—तो इसका परिणाम कितना भयङ्कर होगा?

कवियों के दुर्गुणों का यह हाल पढ़ कर शायद कुछ लोगों के हृदय में उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाय। पर ऐसे लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि कवियों में गुण भी ऐसे पाये जाते हैं जिनका वर्णन यदि यहाँ पर किया जाय तो ये दोष उनके आगे बिलकुल ही क्षुद्र ज्ञात होंगे। सहृदयता, परदुःख-कातरता, परोपकारिता, सहानुभूति, प्रेम, दया, करुणा, विचारों की उच्चता और पवित्रता आदि, कहाँ तक कहें, ऐसे अनेक सद्‌गुण हैं जो कवियों के हृदय में आश्रय पाते हैं। फिर, सभी कवियों में उक्त प्रकार के दोष पाये ही जाते हैं, यह बात भी नहीं। नियमों के अपवाद भी तो होते हैं। कुछ कवियों के आचरण पर उनके जीवन की घटनाओं का भी प्रभाव पड़ता है और उनका चरित कुछ का कुछ हो जाता है। कालिदास के चरित के विषय में जो बातें प्रचलित हैं उनका प्रतिवाद करके कुछ लोग यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि वे अवश्य ही सच्चरित्र थे। पर हम इस प्रतिवाद की कोई आवश्यकता नहीं समझते। उनकी चरित-हीनता की कहानियाँ सच्ची हों या झूठी, उनसे कालिदास की महत्ता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता। उन्होंने अपने काव्यों में चरित्रों के जो आदर्श दिखाये हैं वे ऐसे प्रभावोत्पादक हैं कि उन्हें पढ़ कर पाठक का चित्त उच्चता के शिखर पर पहुँच जाता है। उसे कवि के व्यक्तिगत चरित की ओर फिर कर देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। महाकवियों की यही विशेषता है। वे ख़ुद चाहे जैसे हों, वे दूसरों को सदा उच्च बनाने का ही यत्न करते हैं। आप यदि एक साधारण चरितहीन व्यक्ति के आचरण की तुलना इससे करेंगे तो कवियों की महत्ता का अवश्य पता लग जायगा। बाबू हरिश्चन्द्र की रचनाओं ने हिन्दी-भाषा-भाषियों का कितना कल्याण किया है। कवि अपने स्वभाव से विवश होकर कुछ दुराचरणों में प्रवृत्त तो हो जाते हैं, पर उनके दुःख-मय परिणामों का अनुभव करके वे लोगों को उनसे सावधान ही करते हैं। उनके लिए इस प्रकार का अनुभव आवश्यक भी कहा जा सकता है। सम्भव है, बिना आत्मगत अनुभव के दुर्गुणों के भयङ्कर परिणामों के ज्यों के त्यों चित्र खींच कर लोगों के हृदय में उनके प्रति घृणा उत्पन्न कराने में वे पूरी सफलता प्राप्त न कर सकते।

कहा जाता है कि एक चरित्र-हीन व्यक्ति यदि दूसरे को सच्चरित्र बनने का उपदेश दे तो उसके कहने का कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। पर यह बात साधारण लोगों के लिए ही अधिकतर है—कवियों के लिए नहीं। कवियों में एक विशेष प्रकार की शक्ति होती है। उनकी उक्तियों में बल होता है। वे लोगों पर जादू का सा असर डालती हैं। क्या हम कवियों की कृतियों से संसार का महदुपकार होते नित्य नहीं देखते?

कालिदास की रचनाओं के पात्रों के आदर्श चरित्र तथा उनमें कही गई सच्चरित्रता-सूचक उक्तियों का हवाला दे कर यदि कोई कहे कि एक चरित्र-हीन पुरुष के लिए चरित्र का ऐसा आदर्श खड़ा करना कभी सम्भव नहीं हो सकता तो यह बात ठीक नहीं। कवि में साधारण मनुष्यों की अपेक्षा कितनी

ही विलक्षणतायें पाई जाती हैं। जिस विषय, जिस अवस्था, जिस गुण का वर्णन उसे अभीष्ट होता है उसका वर्णन वह ज्यों का त्यों कर सकता है। पर ऐसा करने के लिए उसे अपने हृदय से ज़रूर उत्तेजना मिलनी चाहिए। कारण यह है कि उस में वर्णनीय विषय के साथ तादात्म्य प्राप्त करने का दैवी गुण होता है। यह गुण कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना कोई कवि नहीं हो सकता। कवि इस गुण को माँ के पेट से लेकर आता है। जब किसी विषय या चरित्र से उसका तादात्म्य हो जाता है तब उसे अपने व्यक्ति-गत चरित्र अथवा गुण दोष का ध्यान ही नहीं रहता। यही नहीं, वह अपने पार्श्ववर्त्ती संसार को भूल सा जाता है और एक अन्य लोक में विचरण करने लगता है।

कहने का मतलब यह नहीं कि कालिदास चरित्र-हीन थे और वे इसी से अपने पात्रों का चरित्र उज्ज्वल बनाने में समर्थ हुए। हम सिर्फ़ यही कहना चाहते हैं कि कालिदास में यदि कवि-जन-सुलभ अनेक स्वर्गीय गुणों के साथ दो चार दुर्गुण भी रहे हों तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं।

संसार में ऐसा कोई नहीं जो बिलकुल ही निर्दोष हो। इस अवस्था में मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे दोषों पर दृष्टि न दे कर गुणों को ही अपनाने का यत्न करें। हम कवियों की रचनायें पढ़ कर जितना लाभ उठा सकते हैं उतना उनके व्यक्तिगत चरित्र पर ध्यान देने से नहीं उठा सकते। कवियों के चरित्र-पाठ से और लाभों के सिवा मनोरञ्जन भी होता है। उनका प्रत्येक कार्य विलक्षणता-पूर्ण हुआ करता है।

अन्त में हम अपने अनुकरण-प्रेमी नवयुवक बन्धुओं से प्रार्थना करते हैं कि वे कवियों के उपदेशों को ईश्वरीय आदेश समझ कर ग्रहण करें, पर उनके कार्यों की लीक पर चलने के पहले ज़रा सोच लें। बड़ों में यदि दोष होते हैं तो उनमें गुण भी पाये जाते हैं। इस दशा में साधारण लोगों का प्रत्येक बात में उनका अनुकरण करना कदापि ठीक नहीं। आप कवियों के गुणों का अनुकरण कीजिए, दोषों का न कीजिए।

—मुकुटधर

स्वर्ग में नरक।

गया जब देशनायक देवपुर में,
भरा था हर्ष उसके दिव्य उर में।
उसे थी चाह सुर-सुख भोगने की,
त्रिविध दुख की प्रगति को रोकने की ॥१॥

लगा वह देखने शोभा वहाँ की,
उसे उपमा दिलाऊँ मैं कहाँ की।
मनों छवि ने वहीं पर जन्म पाया;
मनों उसको स्वयं विधि ने बनाया ॥२॥

स्फटिक-मणि सी जहां की सन्मही थी,
जहाँ पर दुग्ध की सरिता बही थी।
फली थीं कल्पतरु की वाटिकायें;
सुधा-जल से भरी थीं वापिकायें ॥३॥

कनक-मन्दिर बने थे सब किसी के,
वहाँ रिपु हों भला क्यों कब किसी के?
जरा से हीन नारी और नर थे,
सुखी थे सर्वदा ही सब अमर थे ॥४॥

किसी के चित्त में चिन्ता नहीं थी,
न भय की भावना भ्रम से कहीं थी।
नहीं थी चाह की चर्चा कहीं पर,
सुखों की इति हुई मानो वहीं पर ॥५॥

यदपि वह स्वर्ग लख कर खूब फूला,
तदपि उसको न भारतवर्ष भूला।
जिसे निज देश में श्रद्धा नहीं है,
विपद पशु है वही, पामर वही है ॥६॥

जिसे दृढ़ हो गई है देश-पूजा,
उसे रुचता न कोई देव दूजा।
उसे अपवर्ग-सुख भी कुछ नहीं है,
उसे सुख-मूल है तो देश ही है ॥७॥

लगा वह स्वर्ग में रहने निरन्तर,
लगा पर दुःख भी सहने निरन्तर।
नरक से कम न था वह स्थान उसको,
न भूला क्योंकि जन्म-स्थान उसको ॥८॥

कनक-गृह में कुसुम-शय्या लगी थी,
वहीं पर अप्सरायें रस-पगी थीं।

विमन हो देशनायक सो रहा था,
हृदय को हाथ से वह खो रहा था ॥९॥
सिसकता था उसासें खींचता था,
मनी मन भीखता था, चीखता था।
मनों सर्वस्व उस का खो गया था,
मनों मघवा अकिञ्चन हो गया था ॥१०॥
भरे थे अश्रु से हा नेत्र उसके,
मनों तन पर पड़े थे वेत्र उसके।
कभी लेकर जभांई ऐंठता था,
कभी—हा राम—कह उठ बैठता था ॥११॥
कभी—हा देश भारत—कह रहा था;
मनों वह दास्य के दुख सह रहा था।
मनों उसकी मनोगति स्थिर नहीं थी,
कहीं वह था, सुमति उसकी कहीं थी ॥१२॥
मनों वह देखता था स्वप्न जाग्रत,
मनों वह कर रहा था दैशिक व्रत।
उसे जब जन्म-जगती याद आई,
प्रबल पीड़ा हुई उसकी सवाई ॥१३॥
लगा वह गद्गद स्वर बोलने तब,
मनोगत भाव को भी खोलने तब—
अरे भारत दुलारा प्राण-प्यारा!
छुटा तू हाय कैसे नेत्र-तारा ॥१४॥
कहूँ यदि स्वर्ग को तेरे बराबर,
बड़ा अन्याय होगा तो सरासर।
तुझे कुलदेव अपना मैं कहूँगा;
नहीं परदेश में दुख को सहूँगा ॥१५॥
यहाँ की अप्सरायें सुन्दरी हों;
निरी गोरी गुणों से भी भरी हों।
मुझे तो देश-ललनायें भली हैं,
भ्रमर मैं, वे कमल-वर की कली हैं ॥१६॥
यदपि मिलती यहाँ मुझको सुधा है,
तदपि तव वारि आगे वह सुधा है।
यहीं प्रिय हो यहाँ की कल्पलतिका,
मुझे प्रिय हो स्वदेशी सोमलतिका ॥१७॥
कनक-मन्दिर जड़े रत्नों यहाँ के;
सदृश हैं झोंपड़े तेरे वहाँ के।
तदपि मन क्यों न इनसे रीझता है,
स्वगृह को खोजता है, खीझता है ॥१८॥
यहाँ के खीर-खोये हानिकर हैं
परम प्रिय शाक तेरे रस-निकर हैं।
अरे भारत! दिखादे रूप अपना,
मुझे तू क्यों हुआ है हाय सपना! ॥१९॥
यहाँ की देवतायें स्वार्थ-रत हैं,
मिले जिनसे उन्हों में ये निरत हैं।
सदा ये खा रही हैं हाथ तेरे,
तदपि मद कर रही हैं साथ तेरे ॥२०॥
सुकृत का फल कहूँ या पाप का फल,
यहाँ पर पा रहा हूँ दुःख प्रति पल।
समय वह कब मिलेगा हाय मुझको,
दृगों से देख लूँगा देश तुझको ॥२१॥
परों में प्रीति होती क्रूर की है,
सुहावन ढोल लगती दूर की है।
खुली है पोल आने पर यहाँ की,
भली है भूमि तेरी सी कहाँ की? ॥२२॥
हुआ है भूमिसुत सा हाल मेरा,
यहाँ पर मैं बना हूँ दास तेरा।
नरक-दुख स्वर्ग में भी मिल रहा है,
गरल-गुल मानसर में खिल रहा है ॥२३॥
लुभाता है न नन्दनवन मुझे यह,
हृदय में है बना मधुवन सदा वह।
न काशी सी कभी अमरावती है,
न सुखदा है, न कुछ शोभावती है ॥२४॥
तरसते देव हैं तेरे लिए सब,
जँचेगा तू नहीं भारत किसे कब?।
मही का तू बना है शीश-भूषण,
जगत-पूषण, मिला तुझमें न दूषण ॥२५॥
करे यदि ईश फिर भी जन्म मेरा,
बना सेवक रहूँ मैं हिन्द तेरा।
करे वह पशु, मनुज या कीट मुझको,
पड़े पर छोड़ना पलभर न तुझको ॥२६॥
चहे मरुभूमि हो या उर्वरा हो,
स्वजननी किन्तु भारत की धरा हो।

मिले मथुरा, अयोध्या और काशी ,
सखा मेरे वहीं के हों निवासी ॥२७॥
मुझे करनी पड़े निज धेनु-सेवा ,
चहें सत्तू मिले या मिष्ट मेवा ।
जपूँ मैं हिन्द, हिन्दू और हिन्दी ,
उन्हीं पर बुद्धि मेरी हो मिलिन्दी ॥२८॥
कभी पर-हाथ का लट्टू न होऊँ ,
खुशामद में नहीं निज जन्म खोऊँ ।
रहूँ होता निछावर देश ऊपर ,
रहे मम शीश ऊपर नित्य भू पर ॥२९॥
न चाहूँ स्वर्ग या अपवर्ग को मैं
तजूँ क्यों देश अपने वर्ग को मैं ?
मिलूँगा मैं तुझे चाहे कभी हो ,
परों की क्यों मुझे चाहें कभी हों ? ॥३०॥

—रामचरित उपाध्याय ।

विज्ञान की उपयोगिता ।

पिछले सौ वर्षों में विज्ञान ने अपूर्व उन्नति की है। भिन्न भिन्न प्रकार के कितने ही वैज्ञानिक आविष्कार हुए, जिनका प्रभाव संसार के सभी देशों पर पड़ा। इन आविष्कारों के प्रभाव से हमारी सभ्यता, चाल-ढाल, पारस्परिक बर्ताव आदि सभी सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक बातों में परिवर्तन हो गया। भाफ़ की रेलगाड़ी, बिजली की ट्राम, पेट्रोल की मोटर, वायुयान, तार, बेतार के तार और टेलिफ़ोन द्वारा संसार के भिन्न भिन्न देशों के मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ सा होगया है। इन वैज्ञानिक आविष्कारों ने हमारे लिए अनेक सुख-साधन पैदा कर दिये हैं; हमारे जीवन को सुखमय बना दिया है। छापे की कलों के अकेले आविष्कार ने हमारे जीवन को कितना आनन्दमय बना दिया है। इस समाचारपत्रों और पुस्तकों द्वारा घर बैठे हम अपने पूर्व पुरुषों के विचारों को पढ़ कर कितना सुख प्राप्त कर रहे हैं और दूर देशों के आधुनिक विद्वानों के विचारों का ज्ञान कितनी सरलता से प्राप्त कर लेते हैं। सहज ही दूर दूर से आकर भिन्न देश के विद्वान् एक स्थान पर एकत्र हो सकते हैं और उनके विचार, लेखों द्वारा, हज़ारों कोस दूर पहुँच सकते हैं। जिन देशों ने विज्ञान को अपनाया है वे शक्तिशाली बन कर उन्नत हो गये हैं; जिस देश और जाति ने उसका तिरस्कार किया है, वही नीचे गिर कर दूसरों के पैरों से कुचली जारही है।

विज्ञान के दो विभाग किये गये हैं—(१) विशुद्ध विज्ञान (Pure Sciences) और (२) अमली विज्ञान (Applied Sciences)

विशुद्ध विज्ञान में निम्न-लिखित विषय सम्मिलित हैं—

(१) गणित जिसके द्वारा संख्या, रेखा, पृष्ठतल, आयतन इत्यादि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

(२) वे विषय जो जड़ पदार्थों की उत्पत्ति, आकार, गुण इत्यादि का ज्ञान कराते हैं; जैसे भूगर्भ-विद्या, प्रस्तर-विद्या, रसायन-विद्या, पदार्थ-विद्या, खनि-विद्या, भूगोल और गणित-ज्योतिष।

(३) वे विषय जो चेतन पदार्थों के नियम, आकार और उनके जीवन के रहस्य बताते हैं; जैसे वृक्ष-विद्या, पशु-विद्या, कीट-पतङ्ग-विद्या, शारीरिक-विद्या आदि।

(४) सामाजिक विषय; जैसे राजनैतिक अर्थ-शास्त्र, समाज-रचना, दर्शनशास्त्र, इतिहास, स्वभाव-विज्ञान, राजनीति, न्याय-शास्त्र, शिक्षा और धर्म।

अमली विज्ञान में निम्न-लिखित विषय सम्मिलित हैं—

(१) वे विषय जो चेतन पदार्थों की वृद्धि और स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखते हैं; जैसे वैद्यक, शल्य-शास्त्र, दन्त-चिकित्सा, स्वास्थ्य-विद्या, खेती, पुष्पोत्पादन और फलोत्पादन-विद्या।

(२) वे विषय जो शक्ति और जड़ पदार्थों के आकार-प्रकार में परिवर्तन करने की शिक्षा देते हैं; जैसे भिन्न भिन्न प्रकार की इन्जीनियरी।

(३) व्यापारिक संस्थायें, कला-कौशल, बैङ्क, बीमा इत्यादि अर्थ-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले विषय।

विशुद्ध विज्ञान और अमली विज्ञान में अन्तर बतलाना कभी कभी कठिन हो जाता है।

अर्थ-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञान को छोड़ कर अन्य विशुद्ध विज्ञान लाभ-हानि से कोई वास्ता नहीं रखते। उनके उपासक उपयोगिता तथा धन-सम्बन्धिनी बातों की ओर घृणा से देखते हैं। किन्तु इन्जीनियरी इत्यादि अमली विज्ञान धन के आय-व्यय से घना सम्बन्ध रखते हैं। इन्जीनियर तो विज्ञानवेत्ताओं की श्रेणी में सबसे अधिक अमली मनुष्य हैं। विशुद्ध विज्ञान को मनुष्य के सुख और उपयोग के योग्य बनाना इन्जीनियर का काम है।

भूगर्भ-विद्या के जाननेवाले इसी बात को जानने में अपना जीवन विताया करते हैं कि पृथ्वी की बनावट कैसी है। किन्तु इनके अनुसन्धान के आधार पर इन्जीनियर बड़ी बड़ी खानें खोद कर, उनसे अमूल्य और सर्वोपयोगी धातु निकाल कर, सर्व-साधारण के लिए सुलभ कर देते हैं। भूगर्भ-विद्या के ज्ञान द्वारा बड़े बड़े विकट पर्वतों में सुरङ्गें खोदी जाती हैं, रेलें बनाई जाती हैं, बड़ी बड़ी इमारतों की नीव डाली जाती हैं, खानें खोदी जाती हैं, कुवें और नहरें तैयार की जाती हैं। अन्य भी कितने ही उपयोगी काम सफलतापूर्वक करने के लिए इस विद्या के जानने की बड़ी आवश्यकता पड़ती है।

रसायन-विद्या मनुष्य के लिए बड़े काम की है। उसके ज्ञान की बदौलत कितने ही प्रकार की नई नई धातुओं का प्रचार हुआ है; मनुष्य को दुःख देनेवाले कितने ही रोगों का नाश करनेवाली ओष-धियाँ बनी हैं। चूने में एक ख़ास प्रकार की मिट्टी और पानी मिला कर बड़ा ही मज़बूत पदार्थ, सीमेन्ट, बनाया गया है। नगरों में हमारे पीने का पानी किस प्रकार रसायन-द्वारा विशुद्ध किया जाता है, यह पाठकों में से बहुत लोग जानते होंगे। इसके अति-रिक्त और भी सैकड़ों प्रकार से हमारे प्रति दिन के जीवन में रसायनें काम आती हैं।

प्रस्तर-विद्या जानने से पत्थर की मिलावट का ज्ञान प्राप्त होता है। पत्थर में लोहे का कुछ अंश मिला होने से, वायु लगने पर, उसका रङ्ग काला हो जाता है। ऐसे पत्थर से बना हुआ मकान कम-ज़ोर और भद्दा होता है। इस कारण इस विद्या का ज्ञान होने से इन्जीनियर को बहुत लाभ होता है।

गणित भी हमारे बड़े काम का शास्त्र है। बिना उसके ज्ञान के हमारा निस्तार संसार में नहीं। वह तो अन्य भी अनेक विद्याओं का आधार है। इस विद्या के ज्ञान के बिना इन्जीनियर अपना काम नहीं कर सकता।

पदार्थ-विज्ञान की बदौलत हमें प्रकृति के कितने ही अद्भुत नियमों का पता लगता है। प्राकृतिक नियमों का ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य के सुख-साधन बढ़ जाते हैं; प्रकृति की अद्भुत शक्तियों का पता लग जाता है। चुम्बक की शक्ति, पदार्थों का पर-स्पर चिपिटना और खींचना, प्रवाही और धूम-मय वस्तुओं का भार, दबाव तथा बढ़ाव और सञ्चलन आदि के नियम, रोशनी, ध्वनि तथा बिजली की शक्ति आदि असंख्य आश्चर्य-जनक बातों का हाल इस विद्या द्वारा मालूम करके हम अपने को तथा दूसरों को भी कितना लाभ पहुँचा सकते हैं।

खनिज-विद्या का ज्ञान प्राप्त करके हम भूतल से निकलनेवाली कितनी ही धातुओं तथा अन्य पदार्थों के गुण-दोष जान सकते हैं।

भूगोल के ज्ञान से हमें संसार के भिन्न भिन्न भागों का पता लगता है और कहाँ कौन सी चीज़ बहुतायत से उत्पन्न होती है, यह मालूम होजाता है।

बिना इस विद्या के पूर्ण ज्ञान के कोई भी व्यापारी पूरी पूरी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। इन्जीनियर इसी विद्या के ज्ञान की कृपा से पृथ्वी की नाप कर सकता है।

गणित-ज्योतिष के ज्ञान द्वारा ही बड़े बड़े जहाज़ एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच सकते हैं। कौन सा नक्षत्र कहाँ पर है, यह जाने बिना कोई भी मल्लाह अपना जहाज़ अपने अभीष्ट स्थान तक नहीं ले जा सकता। पृथ्वी की नाप में भी ध्रुव तारे का सहारा लिया जाता है।

प्राणि-विद्या के आधार पर डाक्टरों ने असाध्य बीमारियों को अच्छा करने के उपाय निकाले हैं। इस विद्या के आविष्कारों द्वारा लाखों मनुष्यों के जीवन की रक्षा होती है। इसी के द्वारा यह पता भी लगाया गया है कि कौन सी बीमारी का कीड़ा कैसा होता है और उसके नाश करने की विधि कौन सी है। इसी की बदौलत हैज़ा, मौसमी बुख़ार तथा प्लेग से छुटकारा पाने के उपाय जाने गये हैं। यूरप तथा अमेरिका में नगरों के गन्दे मल-मूत्र इत्यादि को नदी के पानी में नहीं मिलने देते। कीड़ों को मार कर उसका गन्दापन निकाल देते हैं। इस प्रकार इन देशों में स्वास्थ्य की रक्षा की जाती है। इस विद्या ने आधुनिक समय में बड़ी उन्नति की है। इसके सहारे सफ़ाई का इञ्जीनियर (Sanitary Engineer) हमारे स्वास्थ्य की रक्षा करता है।

वनस्पति-विद्या जानने से हमें भिन्न भिन्न प्रकार की लकड़ियों के गुण-दोष का ज्ञान होता है, जिससे हम जान सकते हैं कि किस लकड़ी को किस काम में लाना चाहिए। पौधों और वृक्षों की परीक्षा करके इस विद्या का जाननेवाला उस पृथ्वी का पूरा पूरा हाल जान सकता है जहाँ वे सब वृक्ष और पौधे पैदा होते हैं।

अर्थ-शास्त्र वह विज्ञान है, बिना जिसके जाने हमारा सांसारिक काम ठीक ठीक चलना कठिन हो जाता है। प्रत्येक प्रकार के व्यापार की सफलता के लिए यह परमावश्यक है कि अर्थ-शास्त्र का अच्छा ज्ञान हो। इसी विद्या के ज्ञान बिना हमारे देश के व्यवसाय की अवनति हुई है। जब हम इस विज्ञान में निष्णात हो जायँगे तभी हमारे व्यापार की यथेष्ट वृद्धि होगी।

न्याय-शास्त्र का जानना भी बहुत लाभदायक है। घर से निकल कर बाहर पैर रखने के लिए भी हमें अपने देश के न्याय के ज्ञान की आवश्यकता है। व्यापारी के लिए अपने देश तथा विदेश के न्याय-ज्ञान की बड़ी ही ज़रूरत रहती है। भिन्न भिन्न देशों में व्यापार के प्रतिबन्धक कौन से कारण हैं और उनमें कैसे कैसे कर हैं, इन बातों के जानने की आवश्यकता सभी व्यापारियों को पड़ती है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक नेताओं को भी भिन्न भिन्न देशों के न्याय-ज्ञान की बड़ी आवश्यकता होती है।

सारांश यह कि विज्ञान के भिन्न भिन्न विभाग हमारे जीवन को सफल करने के लिए बड़े ही उपयोगी हैं। आधुनिक समय में कोई भी जाति या देश विज्ञान से विमुख होकर अच्छी हालत में नहीं रह सकता। जाति की उन्नति विज्ञान के ज्ञान पर अवलम्बित है।

विज्ञान के पूर्ण प्रचार के लिए यह आवश्यक है कि वह देश की भाषा द्वारा जनता को सिखाया जाय। विज्ञान की उच्च शिक्षा के लिए विदेशी भाषा का सहारा लेना पड़ता है, इसमें सन्देह नहीं। इँगलेंड के विश्वविद्यालयों में भी विज्ञान की उच्च शिक्षा जर्मनी और फ़्रांस की भाषाओं के सहारे दी जाती है। किन्तु जनता में उसके प्रचार के लिए मातृ-भाषा के अवलम्ब के बिना काम नहीं चल सकता।

जगन्नाथ खन्ना

रघुवंश में वर्णित राजा दिलीप के आख्यान का मूल।

संसार में जितने पदार्थ, जितने कला-कौशल, जितनी कल्पनायें, जितने आविष्कार दृष्टिगोचर होते हैं उनमें से अधिकांश की सत्ता अवश्यमेव किसी न किसी आधार पर—किसी न किसी मूल पर—ही अवलम्बित रहती है। यही बात काव्यरचना के विषय में भी कही जा सकती है। क्योंकि कवियों की कवित्व-शक्ति भी, किसी न किसी आधार पर ही स्थित होकर, नवीन नवीन भावों, कल्पनाओं और अलङ्कारों के रूप में परिणत होती हुई, "अपारे खलु संसारे कविरेव प्रजापतिः। यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते" के अनुसार इस अनन्त विश्व को अनन्त परिवर्तनों में परिवर्तित करके, अनन्त चित्र विचित्र साँचों में ढाल देती है, भावुक सहृदयों के हृदय-पटलों पर अनन्त भाव-पूर्ण अनन्त प्रकार के चित्रों को अङ्कित कर देती है, क्षुद्र से क्षुद्र भी भावों और चेष्टाओं में एक अद्भुत ऐन्द्रजालिक शक्ति का आविर्भाव कर देती है। यही कारण है जो एक ही राम अथवा कृष्ण के चरित के आधार पर भिन्न भिन्न सरणियां, भिन्न भिन्न भाव, भिन्न भिन्न चमत्कार और भिन्न भिन्न प्रकार के सैकड़ों काव्यों और नाटकों की सृष्टि हो गई है।

हमारे प्राचीन समालोचक महाकवि राजशेखर और क्षेमेन्द्र ने भी क्रमशः अपनी "काव्यमीमांसा" और "औचित्यविचारचर्चा" में यही सोच कर कवियों को छायोपजीवी आदि विभागों में विभक्त किया है। कहा है—

> छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी।
> भवेदथ प्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः॥

काव्यों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि भुवनोपजीव्य कोटि को छोड़ कर प्रायः सम्पूर्ण कवियों ने, किसी न किसी अंश में, अपने पूर्ववर्ती अथवा समान-कालीन किसी दूसरे कवि की छाया अथवा आधार लेकर ही अपनी प्रतिभा का प्रसार किया है। जैसे—माघ ने भारवि के किरातार्जुनीय की सरणी का अवलम्बन करके माघ-काव्य रचा है; बाण ने कथासरित्सागर ५९ तरङ्गस्थ मकरन्दिकोपाख्यान के आधार पर कादम्बरी की रचना की है, इत्यादि। परन्तु भुवनोपजीव्य कोटि के कवि केवल वाल्मीकि और व्यास दो ही हैं। क्योंकि समस्त कवियों ने कथांश या वर्णनांश में सर्वत्र बहुधा इन्हीं की छाया ग्रहण की है। कवियों की जितनी उत्तमोत्तम कल्पनायें और भाव हैं उनमें से अधिकांश कल्पनायें और भाव श्रीव्यास के अष्टादश पुराण, तत्रापि विशेषतः महाभारत, और वाल्मीकिजी का रामायण, इन्हीं प्रख्यात सर्वप्रसविता कल्पवृक्षों के प्रसव हैं। लिखा है—

> इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
> उदयं प्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥

जैसे समस्त कवियों ने अपने अपने काव्य और नाटक रामायण, महाभारत अथवा अन्य पुराणादि के आख्यानों के आधार पर लिखे हैं वैसे ही कविकुलगुरु कालिदास ने भी कुमारसम्भव, रघुवंश, शकुन्तला आदि काव्यों और नाटकों की रचना क्रमशः शिवपुराण, रामायण, महाभारत आदि प्रबन्धों के आधार पर की है। परन्तु रघुवंश के आदि में वर्णित राजा दिलीप का वृत्तान्त रामायण-महाभारतादि में उपलब्ध नहीं। कविकुलगुरु ने अपने काव्य के प्रारम्भ को रसमय, अद्भुत, परमोपदेशपूर्ण, परमचित्ताकर्षक बनाने के लिए बड़ी बुद्धिमत्ता से राजा दिलीप के चरित्र का सन्निवेश आदि में किया है। इस मनोहर चरित्र का मूल पद्मपुराण है। इस पुराण के उत्तरखण्ड के २०२ और २०३ अध्यायों में राजा दिलीप का चरित्र वर्णित है। महाकवि कालिदास ने इन्हीं दो अध्यायों के आधार पर रघुवंश के आरम्भिक दो सर्गों में राजा दिलीप के चरित्र का चित्रण बड़ी ख़ूबी से किया है। और इसमें भी विशेषता यह कि कवि ने केवल आख्यान का आधार ही लिया हो सो बात नहीं, किन्तु पद्मपुराण के श्लोकों की अविकल छाया और कहीं कहीं वही पद, वही अलङ्कार, वही बन्ध-प्रकार भी ग्रहण कर लिया है। इस बात के कुछ उदाहरण लीजिए—

पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय २०२ में लिखा है कि राजा दिलीप ने अपना राज्यकार्य्य आप्त मन्त्रियों को सौंप कर, स्वयं अपनी पट्टमहिषी सुदक्षिणा के साथ, पुत्र न होने का कारण और उपाय जानने के लिए, कुलगुरु वसिष्ठ के आश्रम को प्रस्थान किया। उस प्रकरण का वर्णन इस प्रकार लिखा है—

अथ प्रजासृजं देवं पूजयित्वाऽऽश्रमे गुरोः ।
पुत्रकामौ मतस्याते दम्पती तौ शुभेऽहनि ॥ श्लो० १७ ॥

कालिदास ने भी रघुवंश के प्रथम सर्ग में समानरूप से ही इस प्रसङ्ग का वर्णन किया है। देखिए—

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥ ३५ ॥

आश्रम पहुँचने पर दिलीप के विषय में पद्मपुराण में लिखा है—

स ववन्दे गुरोः पादौ महिषी सा च तत्स्त्रियः
आशिषा गुरुरप्येनं युयोजाऽरुन्धती च ताम् ॥

इस पर कालिदास लिखते हैं—

तयोर्जगृहतुः पादौ राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ ५७ ॥

आगे भी देखिए। राजा दिलीप के सन्तान न होने का कारण समाधिद्वारा जान कर वसिष्ठजी ने बतलाया कि एक दिन राजा दिलीप सुदक्षिणा के ऋतुस्नाता होने के कारण शीघ्रतापूर्वक इन्द्रसभा से आ रहा था। उसने मार्ग में कामधेनु को प्रणाम नहीं किया। उसी के शाप से राजा के सन्तति नहीं हुई। इस प्रकरण का वर्णन पद्मपुराण में इस प्रकार किया गया है—

त्वं पुरा राजशार्दूल संसेव्यसुरनायकम् ॥ ४७ ॥
स्नातामिमां वधूं स्मृत्वा चलितो निजमन्दिरम् ॥
गच्छतस्त्वरया तात सन्तानोत्कण्ठितस्य ते ॥ ४८ ॥
आसीत् सुरतरोर्मूले कामधेनुः स्थिता पथि ।
उत्पादिता त्वया तस्याः पूज्याङ्घ्रिरजसोऽतिरुट् ॥ ४५ ॥
प्रदक्षिणनमस्कारसदाचारमकुर्वता ।
साऽगपत्त्वामतिक्रोधात् पुत्रो नोत्पत्स्यते तव ।
मम सन्तानशुश्रूषां यावत्त्वं न करिष्यसि ॥ ४६ ॥

रघुवंश में यही बात इस प्रकार लिखी गई है—

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रतियास्यतः ।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ ४५ ॥
धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥ ७६ ॥
अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥ ७७ ॥

इस प्रकार पुत्र न होने का कारण और होने का उपाय अपनी अग्निहोत्र-धेनु नन्दिनी की आराधना आदि बताने के अनन्तर, वसिष्ठ ने राजा को शयन करने की आज्ञा दी। यहीं पर पद्मपुराण के अध्याय २०२ और रघुवंश के प्रथम सर्ग की समाप्ति होती है। समाप्ति के श्लोकों की भी समता देखिए—

तथेति लघुवादिने नृपतये स्नुपायै च स चपागयनहेतवे सदुटजं ददौ तापसः ।
स तत्र सह भार्यया समधिशय्य दर्भास्तृतां महीमगमयन्निशां नियतमानसो
विश्पतिः ॥ ५८ ॥ (पद्मपुराण)

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥
रघुवंश, श्लो० ९५

अब पद्मपुराण के अध्याय २०३ और रघुवंश के द्वितीय सर्ग में श्लोकसाम्य देखिए—

अथोपसि नराधीशः पूजितां कुसुमादिभिः ।
महिष्या नन्दिनीं धेनुं नीत्वाऽरण्यं जगाम सः ।
प० पु०, अ० २०३, श्लो० १

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ रघुवंश, स० २, श्लो० १

आगे वन में गाय चराते हुए राजा दिलीप की चर्या का वर्णन इस प्रकार है—

स च राजा मृदुग्रासैर्दंशापनयनेन च
कण्डूयनैः कामधेनुं गुरोरेवनसेवत ॥ प० पु०, श्लो० ४

इधर कालिदास भी इसी प्रकार लिखते हैं—

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्या धेनोः समाराधनतत्परोऽभूत् ॥
× × × रघु०, स० २, श्लो० ५

...खादन्तीमनुशष्पादि सोऽपि मूलाद्यभक्षयन् ।
तरुच्छायामुपासीनामनु सोऽप्युपविष्टवान् ॥२॥
पिबन्तीमनुपानीयं राजापि सलिलं पपौ ।
गच्छन्तीमनु तां देवीं छायेव नृपतिर्ययौ ॥३॥ पद्मपुराण
× × ×

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥ रघु०, स २, श्लो० ६

यहाँ पर देखिए पद्मपुराण के श्लोक की छाया के साथ हमारे कविकुल-गुरु ने छाया की उपमा को भी ग्रहण कर लिया है।

इस क्रम से यम, नियम और आचार के अनुसार भक्तिपूर्वक धेनु की सेवा करते हुए राजा के इक्कीस दिन बीत गये। बाईसवें दिन गाय ने राजा की भक्ति की परीक्षा करने की इच्छा से हिमालय की कन्दरा में प्रवेश किया। वहाँ उसने अपनी माया से एक भयङ्कर सिंह प्रकट कर दिया। वह नन्दिनी पर आक्रमण करके उसे मारने को उद्यत हुआ। अपनी सेव्य गाय को इस प्रकार अकस्मात् सिंह से

आक्रान्त हुई देख कर राजा ने सिंह को मारने के लिए बायें हाथ से धनुष उठाया। फिर दाहने हाथ से तरकस से बाण निकालने लगा। किन्तु हाथ तरकस पर चिपक कर ऐसा स्तम्भित होगया कि राजा बलपूर्वक भी उसे सीधा न कर सका। अब तो राजा के विस्मय का पारावार न रहा। गाय की करुणाभरी कातरदृष्टि से दया, सिंह की उद्दण्डता से क्रोध और अपनी विश्वविजयिनी शक्ति के एकदम प्रतिरुद्ध हो जाने से विस्मय और दीनता के भावों ने राजा के वज्र-कठोर, सागर-गम्भीर हृदय में एक विचित्र प्रकार की खलबली से मिली हुई स्तब्धता उत्पन्न कर दी। इस समय की राजा की दशा का परिचय कविकुलगुरु ने "भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः" कह कर बहुत ही स्पष्टतापूर्वक बड़ी गम्भीरता से कराया है। सिंह ने भी राजा को विस्मित करते हुए मनुष्य-वाणी द्वारा अपना परिचय दिया। वह बोला—राजन्! इतना परिश्रम और विस्मय करने की कोई बात नहीं। मैं शिव का गण हूँ। सामने देवदारु का वृक्ष देखिए। इसे शिव जी ने अपना पुत्र बनाया है और उद्दण्ड हस्तियों से इसकी रक्षा करने के लिए मुझे इस कन्दरा में नियुक्त किया है। मुझे आज्ञा दी है कि जो प्राणी इस कन्दरा में आवेगा वह तुम्हारा आहार होगा। यह गाय; जो स्वयं यहाँ आगई है, इस लिए मेरा आहार है। इस प्रकरण के भी एक दो श्लोक सुनिए—

अथ भूमिपतेस्तस्य भावजिज्ञासया तु सा।
विवेश निर्भयस्वान्ता सशष्पां हिमवद्गुहाम्।
प० पु०, श्लो० ११॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश॥ २६॥ रघुवंश

× × × ×

तादृशं नृपमालोक्य जगाद स मृगाधिपः।
नरवाचा भृशं भूयो विस्मयं प्रापयन्निदम्॥ १९॥
पद्मपुराण।

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्।
विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः॥३३॥
रघुवंश

× × × ×

त्वं जानीहि मां शम्भोर्गणं कुम्भोदराभिधम्।
यतो मत्पृष्ठमारुह्य वृषमारोहति प्रभुः॥
प० पुराण।

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम्॥ ३५॥
रघुवंश

पाठकों को इन उदाहरणों से अच्छी तरह विदित हो गया होगा कि रघुवंश में वर्णित राजा दिलीप के आख्यान का मूल क्या है और किस प्रकार उसकी अविकल छाया रघुवंश में ली गई है। इसलिए अब अधिक विस्तार करना व्यर्थ है। पद्मपुराण का २०३ अध्याय और रघुवंश का द्वितीय सर्ग भी समाप्त होने को है। इसलिए अब एक और उदाहरण देकर यह लेख भी समाप्त किया जाता है।

जिस समय सिंह के साथ वादविवाद—प्रश्नोत्तर—हो चुका उस समय राजा दिलीप गाय के बदले अपना शरीर देने को उद्यत हुआ। शस्त्र त्याग कर वह पृथ्वी पर लेट गया और प्रतीक्षा करने लगा कि कब सिंह मुझ पर आक्रमण करता है। इतने में सिंह के प्रखर-नखर-रञ्जित पञ्जों के स्थान में राजा के शरीर पर आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई और नन्दिनी ने विस्मयाक्रान्त राजा को समझाया कि मुनि के प्रभाव से साक्षात् यमराज भी मुझ पर आक्रमण नहीं कर सकता; अन्य क्षुद्र जन्तुओं का तो कहना ही क्या है। तुम विस्मित न हो। केवल तुम्हारे भाव की परीक्षा करने के लिए मैंने यह माया रची थी। यह कह कर नन्दिनी ने राजा को अभिलषित वर देकर उसके परिश्रम को सफल किया। इसका वर्णन पद्मपुराण में इस प्रकार है—

तदग्रेऽवाङ्मुखो राजा न्यपतद् धर्मकोविदः॥ ३८॥
तस्य प्रतीक्षमाणस्य सिंहपातं सुदुःसहम्।
पपातोपरि पुष्पाणां वृष्टिर्मुक्ता सुरेश्वरैः॥ ३९॥
पुत्रोत्तिष्ठेति वचनं श्रुत्वा राजा स उत्थितः।
जननीमिव तां धेनुं ददर्श न मृगाधिपम्॥ ४०॥
तं विस्मितमुवाचेदं नन्दिनी नृपसत्तमम्।
मायया सिंहरूपिण्या मयासि त्वं परीक्षितः॥ ४१॥
मुनिप्रभावान् मां राजन् गृहीतुं न क्षमोऽन्तकः।
मनसाऽपि कुतोऽन्येषां तद्ग्रहे शक्तिरङ्गिनाम्॥ ४२॥
स्वशरीरस्य दानेन त्वं मां रक्षितुमुद्यतः।
अतस्तेऽहं प्रसन्नाऽस्मि वृणीष्व वरमीप्सितम्॥ ४३॥

अब देखिए रघुवंश में भी यही भाव, यही अलङ्कार और इसी प्रकार का वर्णन है—

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता॥ ६०॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थित: सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रत: प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ ६१ ॥
तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभु: प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्रा: ॥ ६२ ॥
भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥ ६३ ॥

रामचन्द्र शास्त्री

हवाई नाव ।

१—क्या तू जग से ऊब, अमरपुर को जाती है ?
और भक्ति में डूब, परम-पद भी पाती है ?
अथवा जग का पाप, देखने को उड़ती है ?
कभी कभी चुपचाप, इसी से तू मुड़ती है ?

२—या भारत का कष्ट, देखने को निकली है ?
अथवा करने नष्ट, उसे तू निडर चली है ?
क्या तुझको यह देश, वहाँ से यों दिखता है ।
जनता में आवेश, आदि का नहीं पता है ?

३—या तू यह उपदेश, मनुष्यों को देती है—
देखो, क्या क्या भेष, बुद्धि नर की लेती है !
अथवा यह अव्यर्थ, उन्हें देती है शिक्षा—
होकर उच्च समर्थ, माँगते हो क्यों भिक्षा ?

४—नभ में तुझे विलोक, याद पुष्पक आता है ;
पर है भारी शोक, नहीं वह दिखलाता है !
पूर्व-वास निज छोड़, गया क्या वह पश्चिम में ?
तुझसे नाता जोड़, बसा आतप तज हिम में ?

५—अद्भुत तेरे काम, देख माथा है ठनका—
अन्तरिक्ष में धाम, रचेगी अब तू जनका !
तब तो यह नर-लोक, एक दिन होगा खाली ;
फिर न रहेगी रोक, न महलों में रखवाली !

६—तब यद्यपि सुनसान, यहाँ होगो धरणी पै ;
तो भी तू अभिमान, करेगी निज करणी पै !
नाम प्राप्त हो जाय, नाश सबका हो चाहे ;
इसी भाव से हाय ! हुआ लय मानव का है !

७—पाया उच्च निवास, अधर तूने निज बल से ;
पर है क्या यह आस, न बिचलेगी इस थल से ?
जहाँ नहीं आधार, वहाँ तू क्या ठहरेगी ?
बिगड़ेगा जो तार, धरा पै सीस धरेगी !

कामताप्रसाद गुरु

प्राचीन भारत में भवन-निर्माण

प्राचीन काल के अद्भुत भवन—आज कल के पाँच या छः मंज़िले मकान देख कर जनता विस्मित हो जाती है । कलकत्ते या बम्बई में १० मंज़िले मकान भी नहीं । फिर भी वे प्रासादों के नगर (Cities of Palaces) पुकारे जाते हैं । देहली में राय पिथोरा की लाट या क़ुतुबमीनार की उँचाई केवल २३८ फ़ुट है । उसे देख कर विदेशी तथा स्वदेशी लोग बनानेवालों की कारीगरी की प्रशंसा के पुल बाँधते हैं । किन्तु भारतीय भाई ही अपने प्राचीन भारत की उन्नति को भूले हुए हैं । उन्हें धर्मपुत्र युधिष्ठिर के मयभवन का अद्भुत वर्णन विस्मृत हो जाता है । वे वाल्मीकि-रामायण में वर्णित अयोध्या तथा लङ्का के भवनों के वर्णन को कवि की कपोल-कल्पना कह कर टाल देते हैं । ऐतिहासिक काल को लीजिए । पाटलिपुत्र में महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रासाद की बात को भी लोग भुला देते हैं। उनको यह ज्ञात नहीं कि यद्यपि वह राजभवन लकड़ी का बना हुआ था, तथापि वह सौन्दर्य की सीमा का उल्लङ्घन करनेवाला था । उस समय के अन्य सभ्य देशों में भी—ईरान तथा यूनान में भी—ऐसा उत्तम भवन न था । महल के स्तम्भों पर सोने के पत्र चढ़े थे । उन पर अङ्गूर की लताओं के चित्र और मनोहर पक्षियों की रजत-मूर्तियाँ खुदी हुई थीं । पूर्वोक्त भवन एक बड़े उद्यान में था, जिसमें सुन्दर वृक्ष और लहलहाती हुई लतायें अपूर्व शोभा दे रही थीं । नानाविध रङ्ग-विरङ्ग मछलियाँ तथा अनेक प्रकार के जलचर उसके सरोवरों को शोभायमान कर रहे थे ।

बौद्धकाल के भवन—जब हम बौद्ध-भवनों पर दृष्टि डालते हैं तब उनकी स्मृति भी हमें चकित किये बिना नहीं रहती । बौद्ध-कालीन विहार, चैत्य, लाटें, स्तूप तथा स्तूपों के चारों ओर अद्भुत नक्क़ाशी से युक्त पत्थर के जँगले—इनमें से हर एक अपनी अपनी विशेषता में एक दूसरे से बढ़ कर था । उन पर बड़ी ही उत्तम चित्रकारी थी । इन चित्रकारियों के अपूर्व तथा अनुपम दृश्य अन्य देशों में बहुत कम मिलते हैं । इन दृश्यों से योरप के भी चित्रकार मुग्ध और चकित होते रहे हैं । अब तक भी ऐसे मन्दिर मौजूद हैं जिनमें

एक हज़ार स्तम्भ हैं। योरप के लेखकों ने इन मन्दिरों को स्तम्भों का वन (Forest of Pillars) बताया है।

वैदिक-काल के भवन—विचित्र बात तो यह है कि जो लोग वेद को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानते हैं और उन्हें असभ्य कृषकों के गीत या मनोविनोद के भजन कहते हैं वे भी भूल जाते हैं कि उन्हीं वेदों में भवन-निर्माण के अत्यन्त उन्नत नमूनों का वर्णन है। ऋग्वेद २·४१·५ में सहस्र स्थूणोंवाले मकान का उल्लेख है। लिखा है कि प्रजा का द्रोही न होकर राजा तथा मन्त्री दृढ़, उत्तम तथा हज़ार स्तम्भोंवाले भवन में रहें। "सहस्रस्थूण आसाते"—यह वाक्य ही सूर्य के प्रकाश के समान प्रत्यक्ष किंवा स्वतः प्रमाण है।

पत्थर तथा लोहे के नगर—यजुर्वेद और ऋग्वेद में भी लिखा है—जुवे आदि व्यसनों से रहित राजा, विद्या आदि शुभ गुणों के दान के लिए, पत्थरों के सैकड़ों नगर बनवावे। लोहे के भी सैकड़ों नगरों का वर्णन है—ऋग्वेद ७. ८५. १,२. २०. ८, १. ५८. ८ देखिए। लिखा है—हे तेजस्वी राजन्! आप बहुत दृढ़ लोहे के बने हुए बड़े बड़े पुरों से हमारी रक्षा कीजिए। हे सेनापते! आप निडर होकर, हम प्रजाजनों की रक्षा के लिए, बड़े बड़े सौ भुजाओं-वाले लोहे के बने हुए नगरों के सदृश हो जाइए।

तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि। ७. ३. ७
पूर्भवा शतभुजिः। ऋग्वेद ७.१५.१४.।

१२५ मञ्ज़िले मकान—भारतीयों की अद्भुत शिल्पकारी के नमूनों का वर्णन शुक्रनीति से भी ज्ञात होता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि पाँच या छः मञ्ज़िलों-वाले मकान देख कर भी लोग विस्मित होते हैं। किन्तु जब वे अमरीका के ४० मञ्ज़िले मकानों का हाल सुनते हैं तब उनके कौतूहल की सीमा नहीं रहती। परन्तु हमारे पूर्वज इन ४० मञ्ज़िले मकानों को भी तुच्छ समझते थे। इस विषय में शुक्राचार्य जी के शब्द ध्यान से पढ़ने योग्य हैं*—यथाशक्ति एक मञ्ज़िल से लेकर १२५ मञ्ज़िलों तक के महल बनावे। उन में आठ कोण हों और वे पद्म-पुष्प के सदृश हों। उन के चारों ओर मण्डप हों और चारों दिशाओं में शालायें हों। जिस महल में १००० स्तम्भ हों उसे उत्तम समझना चाहिए। अन्य महल साधारण या नीच होते हैं।

१६ प्रकार के मन्दिर—मेरु आदि सोलह प्रकार के मन्दिरों को अत्यन्त मनोहर, गोल दायरे के आकारवाले, या चौकोन या किसी अन्य आकारवाले बनावे। उन में मण्डप, प्राकार और गोपुर के समूह हों। चौड़ाई से उँचाई दो या तीन गुनी हो। उन में विचित्र और सुरम्य मूर्तियाँ हों, जिन के पादों से जल निकल रहा हो।

जिस मन्दिर में एक हज़ार शिखर, १२५ मञ्ज़िलें, १००० हाथ की उँचाई और १००० हाथ की चौड़ाई हो उस मन्दिर को मेरु कहते हैं। अन्य १५ प्रकार के मन्दिरों के नाम, नाप, शिखर-संख्या आदि इस प्रकार है—

	शिखर	मञ्ज़िल	उँचाई	चौड़ाई
मेरु	१०००	१२५	१००० हाथ	१००० हाथ
मन्दर	८७५	११०	८७५	८७५
अन्नमाली	७६६	९६	७६६	७६६
द्युमणि	६७०	८४	६७०	६७०
चन्द्रशेखर	५८६	७४	५८६	५८६
माल्यवान	५१३	६५	५१३	५१३
पारियात्र	४४९	५७	४४९	४४९
रत्नशीर्ष	३९३	५०	३९३	३९३
धातुमान्	३४४	४४	३४४	३४४
पद्मकोश	३०१	३९	३०१	३०१
पुष्पहास	२६३	३४	२६३	२६३
श्रीकर	२३०	३०	२३०	२३०
स्वस्तिक	२०१	२६	२०१	२०१
महापद्म	१७६	२१	१७६	१७६
पद्मकूट	१५४	१९	१५४	१५४
विजय	१३५	१७	१३५	१३५

इस प्रकार, शुक्राचार्य के अनुसार, जो सब से छोटा और साधारण मन्दिर है उस में भी १३५ शिखर होने चाहिए। वह २०२ फुट ऊँचा और उतना ही चौड़ा हो। उस में १७ मञ्ज़िलें होनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि कुतुबमीनार की उँचाई २३८ फुट है। पर उस के ऊपरी खण्ड पर चढ़ा हुआ मनुष्य भूमि पर स्थित नर-नारियों को अतीव छोटा देख पड़ता है। वह पह-

* शुक्रनीति ४·४·१३१ तथा ४·४·६४-६९।

चाना भी नहीं जा सकता। हमारी प्राचीन सभ्यता का यह हाल था कि उस समय १२४० फुट ऊँचे भवनों, अर्थात् कुतुबमीनार से भी छः गुने ऊँचे मन्दिरों, के बनाये जाने का वर्णन मिलता है। उन पर नर-नारी, बालक-वृद्ध, कैसे चढ़ते रहे होंगे? उन के बनाने में कितना धन व्यय होता रहा होगा? कितनी शिल्पकारी की आवश्यकता होती रही होगी? कितने कुशाग्रबुद्धि इञ्जीनियर ऐसे मन्दिर बनाते रहे होंगे? इन सब प्रश्नों का विचार पाठक स्वयंही कर सकते हैं।

सारांश यह कि अति प्राचीन काल से ले कर हिन्दुओं की अवनति के समय तक भारत में भवन-निर्माण-कला इतनी उच्चतम दशा में रही है कि आज कल के महल या प्रासाद उस समय के महलों के मुक़ाबले में कोई चीज़ ही नहीं। अब भी योरपवाले भारत से प्राकृतिक सभ्यता का सबक़ सीख सकते हैं। विज्ञान में हमारे पूर्वजों ने भी पर्याप्त उन्नति की थी। इस दशा में पश्चिमी सभ्यता पर मुग्ध हो कर अपनी प्राचीन सभ्यता को न भूल जाना चाहिए।

प्रोफ़ेसर बालकृष्ण, एम० ए०

विविध विषय।

१—एक बहुमूल्य पुस्तक।

श्रीयुत नारायण भवानराव पावगी पूने में रहते हैं। आपका पता है—सदाशिव पेठ, घर नम्बर ७७३। पहले आप पहले दरजे के रेज़िडेण्ट मैजिस्ट्रेट थे। यह बात आप अपनी पुस्तकों के मुख-पृष्ठ पर छाप दिया करते हैं। सेवा-वृत्ति से निवृत्त हो कर आप केवल ग्रन्थ-रचना में प्रवृत्त हैं। आपकी दो एक पुस्तकों का परिचय सरस्वती में दिया जा चुका है। आपकी एक पुस्तक के आधार पर, कुछ समय हुआ, एक लेख भी सरस्वती में निकल चुका है। उसका सम्बन्ध प्राचीन भारतवर्ष से था। पावगी जी भारत की पुरानी बातों की अच्छी जानकारी रखते हैं। भारत के प्राचीन साहित्य-सागर में आपने खूब ग़ोते लगाये हैं। यद्यपि पुरातत्त्व-विषयक सामयिक पुस्तकों में आपके लेख देखने में नहीं आते, तथापि आपके ग्रन्थ इस बात की गवाही दे रहे हैं कि आप इन विषयों का बहुत अच्छा ज्ञान रखते हैं। आप की ग्रन्थ-रचना अँगरेज़ी भाषा में भी होती है और मराठी भाषा में भी। मराठी में तो आपने बड़े बड़े दस बारह ग्रन्थ लिख डाले हैं। वे सभी प्रायः ऐतिहासिक हैं और बड़े महत्त्व के हैं। और विषयों पर भी आपने पुस्तकें लिखी हैं। इससे सूचित है कि आप विद्या-व्यासङ्ग और पुस्तक-प्रणयन में ही अपने समय का सद्व्यय करते हैं।

पावगी जी की एक नई पुस्तक की एक कापी हमें प्राप्त हुई है। वह अँगरेज़ी में है। उसका नाम है—Self-Government in India, Vedic and Post-Vedic. पुस्तक पर सुन्दर जिल्द है। छपाई और काग़ज़ उत्तम है। पृष्ठ-संख्या ६०० के लगभग है। पर मूल्य है केवल ३ रुपये। आप ही को लिखने से यह पुस्तक मिलती है।

पावगी महाशय की यह पुस्तक अच्छे मौक़े पर निकली है। इसका विषय है, स्वराज्य। इस विषय पर और भी कई पुस्तकें निकल चुकी हैं। उनमें से माडर्नरिव्यू के आफ़िस से निकली हुई पुस्तकें औरों से अधिक महत्त्व रखती हैं। उनमें अखण्डनीय युक्तियों और प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि भारत स्वराज्य पाने का पूरा हक़ रखता है। वह इसका सर्वथा पात्र है। स्वराज्य पाने के लिए जिस योग्यता की ज़रूरत होती है वह उसमें विद्यमान है। विरोधियों की दलीलें असार हैं; उनमें स्वार्थ और भ्रम की ही मात्रा अधिक है। पावगी जी ने अपनी प्रस्तुत पुस्तक में इस तरह की बातें तो लिखी ही हैं, इनके सिवा आपने और भी बहुत कुछ लिखा है। कुछ लोग कहते हैं कि भारत स्वराज्य-प्राप्ति की योग्यता नहीं रखता। अगर उसे स्वराज्य दिया जाय तो थोड़ा थोड़ा करके—छोटी छोटी क़िस्तों में—देना चाहिए। स्वराज्य के लिए भारतवर्ष की भूमि उपयुक्त नहीं। राज्य-शासन का यह ढंग यहां कभी अस्तित्व ही में न था। यह तो पश्चिमी देशों की ही उपज है। गौराङ्ग ही इसके जन्मदाता हैं। इन लोगों में से विदेशी ही अधिक हैं। पर कुछ स्वदेशी भी हैं। इन स्वदेशियों को अपने घर की ख़बर ही नहीं। ये बेचारे अँगरेज़ी-साहित्य के ही रँग में रँगे हैं। संस्कृत-साहित्य के परिचय से ये बिलकुल ही कोरे हैं। अतएव इनकी ऐसी

धारणा बहुत बड़े परिताप की बात है। विदेशियों में कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्होंने बहुत समय इस देश में बिताया है, जिन्हें भारत के विषय में ज्ञान-सम्पादन के अनेक मार्ग उन्मुक्त रहे हैं, ज़रा से ही परिश्रम से जो अपने अज्ञान को दूर कर सकते थे। पर वे भी, इस विषय में, बहुधा बे-पर की उड़ाते हैं। इन सब महाशयों के अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए पावगी जी की यह पुस्तक मशाल का काम देनेवाली है। उन्होंने इस बात के अनन्त प्रमाण दिये हैं कि वैदिक-काल में भी यहाँ स्वराज्य-सूचक संस्थायें थीं। पहले वे धार्म्मिक विषयों का ही निरूपण और निर्णय करती थीं। पीछे से धीरे धीरे सामाजिक और राजनैतिक बातों पर भी वे विचार करने लगीं। आरम्भ में ये जन-संस्थायें विदथ कहाती थीं। शनैः शनैः ग्राम्य समितियाँ और प्रान्तिक या दैशिक सभायें भी स्थापित हो गईं। उनका विकाश होता गया। सर्वसम्मति या बहु-सम्मति से सब काम होने लगे। लोकमत का महत्त्व बढ़ा। प्रजा को यह अधिकार हो गया कि दुष्ट राजा को वह राज्यच्युत कर सके। वैदिक से पौराणिक काल में विशेषता हुई। उससे भी अधिक विशेषता बौद्ध-काल में हुई। उसके बाद भी ये संस्थायें जारी रहीं। गुप्त काल के अनन्तर भी—यहाँ तक कि ईसा की दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी तक—ये सब अस्तित्व में थीं। चोल और केरल देश ही में नहीं, पेशवाओं के राज्य में भी राज्यशासन प्रजा के प्रतिनिधियों और राजा के अमात्यों की सलाह से होता रहा है। ग्राम-पञ्चायतें उन्हीं पुरानी संस्थाओं के टूटे फूटे अथवा नामनिःशेष चिन्ह हैं। मुसलमानों के शासनारम्भ से इन का ह्रास होने लगा। धीरे धीरे इन का अस्तित्व ही लुप्त हो गया। तथापि आज कल भी कितने ही देशी राज्यों में ऐसे कौंसिल, सभायें या संस्थायें हैं जहाँ सारा काम प्रजा के प्रतिनिधियों ही की सलाह से होता है। वहीं क्यों, अँगरेज़ी राज्य में भी कभी कभी ऐसा होता है कि ज़िले के प्रायः सभी प्रधान अफ़सर हिन्दुस्तानी होते हैं। इस दशा में भारतवासियों को स्वराज्य पाने के अयोग्य ठहराना सूर्य्य को शीतल कहना है।

पावगी जी ने अपनी पुस्तक में इन सब विषयों पर जो बहस की है, बड़ी योग्यता से, सुन्दर और सरल भाषा में, की है। प्रत्येक नवीन उक्ति की पोषकता के प्रमाण भी दिये हैं। ये प्रमाण वेदों से, महाभारत से, रामायण से, शिला-लेखों और ताम्रपत्रों आदि से ही नहीं, बड़े बड़े पश्चिमी विद्वानों और इतिहास-लेखकों के ग्रन्थों से भी दिये हैं। इन प्रमाणों का जैसा उपयोग आपने किया है और उनसे जैसा अर्थ निकाला है उस पर कुछ कहना हमारा काम नहीं। वह हमारे अधिकार के बाहर की बात है। जो लोग इन विषयों, इन ग्रन्थों और इन लेखों के तत्त्वज्ञ हैं वही इस तरह का विचार करने के योग्य हैं। हम तो केवल इतना ही कह सकते हैं कि सरसरी तौर पर पढ़ने और स्थूल दृष्टि से देखने से हमें तो इन प्रमाणों और अवतरणों के अर्थ में खींचातानी की गई नहीं जान पड़ती।

हमारी प्रार्थना है कि जो लोग अँगरेज़ी पढ़ कर समझ सकते हैं वे इस पुस्तक का अवश्य अवलोकन करें। इसके अवलोकन से उनके हृदय में स्वदेश, स्वधर्म और स्वजाति के विषय में श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हुए और बढ़े बिना न रहेगी। पुस्तक हिन्दी में अनुवाद की जाने योग्य है। कार्य्यतत्पर और उद्योगी पुस्तक-प्रकाशकों को शीघ्रता करनी चाहिए।

२—ग्रेट-ब्रिटन और अमेरिका के सिपाहियों के लिए सुभीते।

प्राणिमात्र को अपने प्राण सबसे अधिक प्यारे हैं। प्राण-भय उपस्थित होते ही कीट-पतङ्ग तक अपनी रक्षा का उपाय यथाशक्ति करते हैं। जब तक शरीर है तभी तक सब कुछ है। शरीर ही नहीं, तो इन्द्रासन की प्राप्ति भी किस काम की। जो लोग अपने प्राण हथेली पर रख कर तोपों, मशीन-गनों, बम के गोलों आदि को कुछ नहीं समझते—रण-क्षेत्र में निर्भय विचरण करते हैं—उनके स्वार्थ-त्याग की सीमा नहीं। उनके इस कार्य्य का यथेष्ट बदला दिया ही नहीं जा सकता। क्योंकि मर जाने पर फिर सजीव कर देना किसी के वश की बात नहीं। विषाक्त गैस से अन्धे हो जाने पर दृष्टिदान करने की शक्ति न किसी विद्या में है, न किसी विज्ञान में, न किसी राजा में। यही समझ कर वर्तमान युद्ध के सैनिकों और उनके कुटुम्बियों के लिए अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटन ने बड़े बड़े सुभीते कर दिये हैं। इन सुभीतों की दिन पर दिन वृद्धि की जा रही है। तरह तरह के प्रलोभनों

और पुरस्कारों के द्वारा सैन्य-सङ्ख्या बढ़ाई जा रही है। जब से यह युद्ध छिड़ा इँगलेंड ने अपने सिपाहियों की तनख्वाहें तो बढ़ा ही दी हैं; उनके कुटुम्बियों अर्थात् आश्रितों के लिए अलौंस—मासिक ख़र्च—भी मुक़र्रर कर दिया है। जल और थल, दोनों प्रकार की सेनाओं के सैनिकों की आमदनी पर "टिकस" भी कम कर दिया है। कुछ समय से उसने एक बात और भी की है। जो रँगरूट भर्ती होते हैं उन्हें थोड़ी थोड़ी ज़मीन भी दी जायगी। यह नियम इँगलेंड, स्काटलैंड और वेल्स ही के लिए नहीं, आयरलैंड के लिए भी है। शायद पेन्शन के नियमों में भी परिवर्तन करके और भी अधिक उदारता दिखाई गई है। इस सम्बन्ध में अमेरिका के संयुक्त-राज्य तो इँगलेंड से भी आगे बढ़ गये हैं। इन राज्यों की गवर्नमेंट ने आक्टोबर १९१७ में एक नया क़ानून बना दिया है। उसके अनुसार सब तरह के सैनिकों के कुटुम्बियों के लिए अच्छे अलौंस की योजना हो गई है। जो लोग लड़ाई में काम आ जाते हैं या जिनका अङ्ग-भङ्ग हो जाता है उनके और उनके आश्रितों के लिए भोजन-वस्त्र का यथेष्ट प्रबन्ध किया जाता है। इसके सिवा एक बात और भी की गई है। जो सैनिक इन सुभीतों को भी काफ़ी न समझें वे अपनी ज़िन्दगी का बीमा करा सकते हैं। बीमे की शर्तें बड़ी अच्छी रक्खी गई हैं। थोड़ा ही "प्रीमियम" देने से अधिक रुपया पाने की शर्त पर बीमा किया जा सकता है। तदनुसार मार्च १९१८ तक १५ लाख सैनिक बीमा करा चुके थे और बीमे की रक़म ४० अरब रुपये तक पहुँच चुकी थी! याद रहे, इन सैनिकों की तनख्वाहें भी बढ़ाई गई हैं। अब इन लोगों की तनख़्वाहों का औसत बहुत करके १००) महीना पड़ता है। यह साधारण सैनिकों की बात है, उहदेदारों की नहीं। इतनी अधिक तनख़्वाह और किसी देश के सैनिकों को नहीं मिलती। गवर्नमेंट का कहना है कि जब ये लोग अपनी जान को भी ख़तरे में डाल कर रण-भूमि में जाते हैं तब इनके और इनके बाल-बच्चों के लिए हर तरह के सुभीते करना हमारा कर्तव्य है। यदि किसी का पुत्र लड़ाई में मारा जाय तो उसे वह पुत्र लौटा देना हमारे वश की बात नहीं। पर जो आराम रुपया ख़र्च करने से पहुँचाया जा सकता है वह ज़रूर हमारे वश की बात है। इससे, रुपये की कमी के कारण, हम किसी को तकलीफ़ न पहुँचने देंगे। ऐसी उदार गवर्नमेंट की सेना में लोग ख़ुशी ख़ुशी भरती होंगे और बहादुरी से लड़ेंगे, इसमें क्या सन्देह?

३—वर्तमान युद्ध में निरत नर-सङ्ख्या।

शान्ति और कलह का जोड़ा है। इनका कभी तिरोभाव नहीं होता। जहाँ शान्ति रहती है वहीं कभी न कभी कलह भी होता है। देशों के विषय में ही यह बात नहीं, प्रान्तों, नगरों और घरों का भी यही हाल है। कोई घर ऐसा न मिलेगा जहाँ कभी न कभी कलह न हुआ हो। कुछ घर तो ऐसे भी मिलेंगे जहाँ कलह का ही दौरदौरा रहता है। शान्ति-स्थापना की चेष्टायें तो पहले भी हुई हैं, और अब भी हो रही हैं, आगे भी होंगी; पर सफलता असम्भव सी जान पड़ती है। जान पड़ता है, शान्ति और कलह के युग्म का सार्वकालिक वियोग विधाता ने लिखा ही नहीं।

प्रकृति का यह नियम सा है कि शान्ति का राज्य कहीं भी सदा नहीं रहता। जितने युद्ध आज तक हुए हैं वे सब बहुत करके प्रकृति के ही नियमों के सुपरिणाम या दुष्परिणाम थे। प्रकृति के इन नियमों की लीलाओं में भेद यदि कुछ पाया जाता है तो काल-सम्बन्धी पाया जाता है। कभी तो शान्ति-विग्रह का विजृम्भण चिरकाल तक होता है कभी अल्प ही काल तक। इसके भी कारण हो सकते हैं। पर उन कारणों का पता लगाना तत्त्वज्ञानियों और इतिहास-वेत्ताओं का काम है। आज चार साल से जो युद्ध हो रहा है वह हर बात में भूतपूर्व युद्धों से बढ़ कर है। युद्ध के नये नये उपकरणों के लिहाज़ से, सेना-समुदाय के लिहाज़ से, व्यापकता के लिहाज़ से, युद्ध-रत देशों की सङ्ख्या के लिहाज़ से, स्थान-विशेष—जल-स्थल और आकाश—के लिहाज़ से, चाहे जिस दृष्टि से आप देखें, यह युद्ध अपनी उपमा नहीं रखता। देखिए, कितने देश इस युद्ध में लिप्त हैं और उनकी जन-संख्या कितनी है—

(क) जो १९ राज्य जर्मनी के विरुद्ध लड़ रहे हैं उनकी जन-संख्या है	१,३७,०२,२५,०००
(ख) जिन ११ राज्यों ने जर्मनी से अपना सम्बन्ध छिन्न कर दिया है उनकी जन-संख्या है	२,१८,७०,०००

इस प्रकार इन ३० राज्यों की जन-संख्या हुई	१,३९,२०,९५,०००
(ग) जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, टरकी और बलगेरिया की जन-सङ्ख्या है	१५,६५,७२,०००
(घ) रह गये छोटे छोटे १९ तटस्थ राज्य, जिनकी जन-संख्या है	१४,३९,६१,०००
कुल ५३ राज्यों अर्थात् सारी दुनिया की जन-संख्या हुई	१,६९,२६,२८,०००

अब देखिए १ अरब ६९ करोड़ जन-संख्या में से ग्रेटब्रिटन और उसके साथी १८ राज्यों की जन-संख्या १ अरब ३७ करोड़ है। वह सभी जर्मनी के प्रतिकूल है। उधर जर्मनी और उसके सहयोगी राज्यों की मनुष्य-संख्या कोई पैने सोलह करोड़ है। यह एक तरफ़ है और वह दूसरी तरफ़। रह गई केवल १७ करोड़ जनता। उसमें से भी २ करोड़ से अधिक मनुष्य जर्मनी आदि से लड़ते तो नहीं, पर लड़ने के लिए तुले हुए अवश्य हैं। इस प्रकार सारी दुनिया की आबादी का कोई ९/१० अंश परस्पर मारकाट में रत है। यह इसलिए कि निर्बलों की रक्षा हो और दुनिया से अन्याय तथा अत्याचार निर्मूल हो जाय! अपने देश को भी हमें इस "दुनिया" के भीतर ही समझना चाहिए।

४—प्राचीन भारत में स्थानिक स्वराज्य।

डाक्टर आर० के० मुकरजी ने बङ्गलोर की एक सभा के जलसे में इस विषय पर एक सुन्दर निबन्ध पढ़ा। उसमें आपने यह दिखाया कि आज कल के स्थानिक स्वराज्य की अपेक्षा प्राचीन काल में यहाँ स्थानिक ग्राम-सम्बन्धिनी और म्युनीसिपल-शासन-सम्बन्धिनी व्यवस्था बहुत अच्छी थी। ऐसी संस्थायें सब तरह स्वतन्त्र थीं। म्युनिसिपैलिटियों का नाम प्राचीन काल में "समूह" था। उस समय की म्युनिसिपैलिटियों का काम केवल लोगों की भौतिक उन्नति अर्थात् आरोग्य-रक्षा, पानी पहुँचाना आदि ही न था, किन्तु उनके सार्वजनिक और आध्यात्मिक जीवन के हितसाधन में भी वे तत्पर रहती थीं। सार्वजनिक सभायें होती थीं। धार्मिक कार्य्यों के लिए मन्दिरों का प्रबन्ध किया जाता था। अकाल और दुर्दिन में ही केवल दीन दुखियों की सहायता न की जाती थी; यों भी उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध किया जाता था। भिखारियों की अन्त्येष्टि-क्रिया तक की जाती और भूखों को शिक्षा दी जाती थी। अशक्तों, अन्धों, लँगड़ों और बीमार आदमियों की रक्षा का भी प्रबन्ध था।

दक्षिणी भारत में कुछ ऐसे शिलालेख मिले हैं जिनसे जाना जाता है कि सिँचाई करना म्युनिसिपल्टी का एक अङ्ग माना जाता था। देहातियों का यह कर्त्तव्य था कि वे आबपाशी के तालाबों और नहरों की निगरानी करें—उनमें मिट्टी न जमा होने दें, और टूट जाने पर उनकी मरम्मत करावें। ऐसे भी प्रमाण मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि दक्षिणी भारत में आठवीं नवीं सदी के भी पहले आबपाशी के अच्छे ज़रिये थे। जब कभी तालाब बिगड़ जाते थे अथवा कोई दैवी आपत्ति आ जाती थी तब लोग चन्दा करके तालाबों की मरम्मत करते थे। तालाब, कुवे, बावलियाँ आदि आबपाशी के साधन तैयार करना उस ज़माने में लोगों का धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था। ऐसा करने से लोग परलोक में सुख पाने के अधिकारी समझे जाते थे। तालाबों की मरम्मत आदि के लिए लोग दान भी देते थे और वह रक़म उसी काम में लगाई जाती थी। जहाँ रुपये पैसे का अभाव होता था वहाँ गाँववाले स्वयं काम करते थे।

प्रायः सब जगह ग्राम-पञ्चायतें स्थापित थीं। सफ़ाई का ख़याल रक्खा जाता था। लोग वादविवाद और चर्चा करने में स्वतन्त्र थे। पेचीदा मामलों का फ़ैसिला करने के लिए ख़ास पञ्च मुक़र्रर किये जाते थे। बुद्ध-काल में तो शासन और न्याय के कितने हीं काम सार्वजनिक सभाओं में हुआ करते थे। उनमें क्या युवा और क्या वृद्ध सभी योग देते थे। वैदिक समय में भी लोग एक जगह एकत्र होकर सामाजिक तथा अन्य सामान्य विषयों पर चर्चा करते थे। गाँवों में मठ, धर्म्मशालायें और मदरसे थे। कुछ गाँवों में तो अस्पताल और भोजनगृह या अन्न-छत्र भी थे।

इस वर्णन से मालूम होता है कि प्राचीन से प्राचीन समय में भी भारतवासी कितने सभ्य, कितने कर्त्तव्य-तत्पर और कितने प्रबन्ध-पटु थे। जिस स्वराज्य के लिए हम आकाश-पाताल एक कर रहे हैं वह, अनेक अंशों में, हमें वैदिक काल में भी प्राप्त था।

५—मूँगफली की खली की रोटी।

मूँगफली इस देश में—विशेष करके दक्षिण में—बहुत होती है। वह बड़े काम की चीज़ है। उसके लिए अच्छी ज़मीन दरकार नहीं। बलुई ज़मीन में भी वह ख़ूब होती है। मिहनत भी बहुत नहीं माँगती। हमने अपनी बगिया में दस पाँच दाने योंही छींट दिये। बिना तरद्दुद के ही वह ख़ूब हुई। उसकी खेती से काश्तकार बहुत लाभ उठा सकते हैं। उनके लिए मार्गदर्शक चाहिए। नई चीज़ बोते वे डरते हैं। किसी को बोते देखें और उससे फ़ायदा होता है, यह मालूम हो गया तो वे भी बोने लगे। महकमे ज़िरात के कर्म्मचारियों को चाहिए कि वे इसकी खेती का प्रबन्ध करें। होती तो यह चीज़ इतनी आसानी से है, पर इसकी फ़सल से एक अच्छी रक़म काश्तकार के पल्ले पड़ सकती है। मूँगफली के दाने खाने के काम तो आते ही हैं। इसके दानों से तेल भी निकलता है। वह तेल भी ऐसा वैसा नहीं होता। वह घी में खप सकता है। उसका हज़ारों मन तेल घी की तरह खाने के काम आता है। पश्चिमी देशों में तो इस तेल से और भी अनेक चीज़ें तैयार की जाती हैं। वह दवाओं के भी काम आता है। उसकी खली जानवरों को खिलाई जाती है और कोई ३) मन बिकती है। उससे खाद का भी काम लिया जाता है। पर अब रासायनिक परीक्षा से मालूम हुआ है कि यह खली मनुष्य के भी खाने योग्य है। जीवन-रक्षा और शरीर-पोषण के लिए जिन रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता है उनकी अच्छी मात्रा उसमें विद्यमान है। इसका ज्ञान जर्मनी के रासायनिक शास्त्रियों को बहुत पहले ही हो चुका है। वहाँ इस खली से खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते हैं। आज कल, इस महँगी के समय में, तो वह और भी अधिक खाने के काम आती है। उसके इस गुण के सम्बन्ध में बम्बई की गवर्नमेंट ने भी अब एक इश्तिहार जारी किया है। उसमें उसने लिखा है कि मूँगफली की खली पौष्टिक चीज़ है। वह जल्द हज़म हो जाती है। पीस छान कर उसका आटा बनाया जा सकता है। इस आटे से तैयार किये गये बिसकुट उम्दा होते हैं। उसकी रोटियाँ भी खाने लायक़ होती हैं। यदि इस खली के तीन पाव आटे में पाव भर गेहूँ का आटा मिला दिया जाय तो रोटियाँ और भी स्वादिष्ट, पाचक और रोचक हो जाती हैं। इस दशा में मूँगफली की खेती के अधिक प्रचार से काश्तकारों को, और उनके द्वारा सारे देश को, बहुत लाभ पहुँच सकता है। मूँगफली के दाने, उसके तेल और उसकी खली की माँग विदेशों में भी बहुत है। इस कारण इन चीज़ों का चालान भी यहाँ से ख़ूब हो सकता है।

६—निकल-धातु का काग़ज़।

सभ्यताभिमानी सभी देशों में काग़ज़ भी, भोज्य पदार्थों के सदृश, नित्य काम में आनेवाली चीज़ है। उसके बिना पढ़े लिखे आदमियों का काम एक दिन भी नहीं चल सकता। काग़ज़ बनाने के सैकड़ों कारख़ाने खुले हुए हैं और करोड़ों रुपये के काग़ज़ का कारोबार होता है। नई नई चीज़ों से काग़ज़ बनाने की तरकीबें निकलती चली जा रही हैं। चीथड़े, घास, बाँस आदि के पर्व्वतप्राय ढेर काग़ज़ के रूप में परिवर्तित हो रहे हैं। फिर भी माँग पूरी नहीं होती। युद्ध के कारण, आज कल, काग़ज़ के दाम कई गुने अधिक हो गये हैं। फिर भी विशेष विशेष प्रकार का काग़ज़ नहीं मिलता। जो काग़ज़ आज तक बना है वह सभी अग्नि-स्पर्श से जल और जल-स्पर्श से गल सकता है। अनेक वैज्ञानिक इन दोषों को दूर करने की फ़िक्र में, बहुत समय से, व्यस्त हैं। पर अब तक किसी को सफलता नहीं हुई। अब ज्ञात हुआ है कि अमेरिका के आविष्कार-कुबेर एडिसन साहब ने इस समस्या को हल कर लिया है। उन्होंने ईसपात, ताँबे और निकल का काग़ज़ बना डाला है। इन धातुओं के बने हुए काग़ज़ से वे सब काम हो सकते हैं जो साधारण काग़ज़ से होने चाहिए। यद्यपि वे इन तीनों धातुओं से काग़ज़ तैयार कर सकते हैं, तथापि इस काम के लिए उन्होंने निकल को अधिक पसन्द किया है। निकल वही धातु है जिसकी इकन्नी इस देश में प्रचलित है। व्यापारियों और व्यवसायियों को दिखाने के लिए उन्होंने निकल के काग़ज़ के तख़्ते बना कर अपनी रसायनशाला में रख दिये हैं। प्रत्येक तख़्ता पाँच वर्ग-फुट का है। डेढ़ मिनट में ऐसा एक तख़्ता बन सकता है। पर जिस समय इसका कारख़ाना खोला जायगा उस समय बहुत लम्बे तख़्ते क्या बेलन से बनाये जायँगे। वे काट कर मनमाने आकार के कर लिये जायँगे। यह काग़ज़ बहुत पतला बनाया जा सकेगा। एक

इञ्च मोटी चीज़ को फाड़ कर यदि उसके २० हज़ार टुकड़े किये जायँ और उसके एक टुकड़े को मुटाई जितनी हो उतनी मुटाई तक का काग़ज़ बन सकेगा। इस बारीकी—इस पतलेपन—का कहीं ठिकाना है। यह काग़ज़ जल्द जलेगा भी नहीं और पानी से गलेगा भी नहीं। ख़ूब चिकना और सुन्दर होगा। हज़ारों पृष्ठ की पुस्तक जेब के भीतर रक्खी जा सकेगी। बहुत सम्भव है, कुछ ही समय बाद, इस काग़ज़ के दर्शन हों।

७—माइसोर में दो नये महत्त्वपूर्ण कार्य्य।

देशी-रियासतों में माइसोर ख़ूब उन्नति कर रहा है। रियासत की उन्नति के प्रायः सभी अङ्गों पर वहाँ की सरकार की समान दृष्टि है। जो काम करने में और लोग हिचकते हैं, माइसोर-महाराज उन्हें बेधड़क कर दिखाते हैं। अभी उन्होंने अपने राज्य में न्याय और शासन-विभाग अलग अलग कर-देने की व्यवस्था की है। प्रजा के हित, न्याय की रक्षा और शासन-विषयक सुभीते की दृष्टि से महाराजा साहब का यह काम सर्वथा अभिनन्दनीय है।

दूसरी अनुकरणीय व्यवस्था आपने यह की है कि छापेख़ानों और अख़बारों के क़ानून की कड़ाई कम कर दी है। यदि किसी पत्रसम्पादक या पत्र-सञ्चालक आदि का कोई कार्य्य वहाँ की सरकार की दृष्टि में आक्षेपयोग्य जँचा तो पहले उससे कैफ़ियत तलब की जाती है; अपने बचाव के लिए उसे मौक़ा दिया जाता है। एकदम सज़ा नहीं ठोंक दी जाती। न्यायदान का यही सब से अच्छा और समुचित मार्ग है।

८—रूस के पदच्युत ज़ार की हत्या।

रूस में जो यह सर्वग्रासी विद्रोह फैल रहा है उसका परोक्ष कारण वहाँ के ज़ार कोही बहुत लोग समझ रहे हैं। यदि रूस के शाहंशाह ज़ार में स्वभाव की दृढ़ता, राजनीतिज्ञता, समय-ज्ञान, शत्रु-मित्र की पहचान होती तो न उस देश पर ही विपत्ति आती, न जर्मनी की ही दाल गलती और न ज़ार को ही अपने प्राण खोने पड़ते। ज़ार बड़े ही अव्यवस्थितचित्त निकले। उन्होंने बदलते हुए समय के चिन्ह नहीं पहचाने, उन्होंने जर्मनों की कूटनीति और भेद-भाव की चालें नहीं समझीं, उन्होंने अपने और अपने देश के शुभचिन्तकों की मन्त्रणाओं पर ध्यान नहीं दिया। इसी से रूस पर जर्मनी की कुटिल-नीति को विजय-प्राप्ति हुई। रूस का बहुतसा अंश कट कर, कुछ प्रत्यक्ष और कुछ परोक्षरीति से, जर्मनी की सत्ता का ग्रास हो गया। देश में दो दल हो गये। एक ने ज़ार को पदच्युत करके, एक दूरवर्ती स्थान में, सकुटुम्ब क़ैद कर दिया। देश में नाममात्र के लिए प्रजा-सत्ताक राज्य की स्थापना हुई। इस स्थापना की जड़ में रूस के शत्रु जर्मनी के ही अन्न से पुष्ट कुछ लोग थे। उन्होंने रूस के साथ ख़ूब विश्वासघात किया। यह रहस्य खुल जाने पर एक और विद्रोही दल उठ खड़ा हुआ। उसने अपना अधिकार बढ़ाना आरम्भ कर दिया। उसके भी बहुत से अनुयायी हो गये। उसने पहले दलवालों की क़ैद से ज़ार को छुड़ा कर फिर उन्हें अपना नायक बनाना चाहा। यह देख कर पहले दल ने सोचा कि इस झगड़े की ज़ड़ ज़ारही हैं। इससे इस जड़ को ही काट डालना चाहिए। फल यह हुआ कि यूराल प्रान्त के कौंसिल की आज्ञा से १६ जूलाई १९१८ को ज़ार की जान ले ली गई। अफ़सोस! समग्र रूस के शहंशाह की यह गति!

ज़ार का नाम था निकलस, दूसरे। जन्म मई १८६८ ईसवी में हुआ था। इनके पिता ने इनको समुचित शिक्षा दिलाई थी। पर स्वभाव दुरतिक्रम होता है। उस शिक्षा से भी इनकी स्वाभाविक हीनतायें दूर न हुईं। देशदर्शन भी उन्होंने ख़ूब किये थे। युवराज की दशा में ये विदेशयात्रा के लिए निकले। आस्ट्रिया, ग्रीस, भारत, चीन, जापान की इन्होंने ख़ूब सैर की। पिता के मरने पर इन्हें रूस का सिंहासन मिला। पहले तो इन्होंने पूर्ववत् जनैकसत्तात्मक प्रणाली से राज्य करने की घोषणा की। पर कुछ कालोपरान्त संसार का, और विशेष करके रूस की जनता का, रँग ढँग देख कर अपने उस सङ्कल्प को इन्होंने ढीला कर दिया। इन्होंने प्रजा के प्रतिनिधियों की एक सभा, डूमा नामक, स्थापित की। सलाहकार और मन्त्री अच्छे न मिलने के कारण वह कई दफ़े टूटी और फिर से बनी। पर उसकी स्थिति नाम मात्र को ही रही। उसका काम केवल बातें करना और राय देना रहा। काम करने की शक्ति उसे यथेष्ट नहीं दी गई। इससे असन्तोष की वृद्धि होती गई। अन्त में परिणाम बड़ा ही भयङ्कर हुआ। जर्मनी की स्वार्थपरता और कुटिलता

ने उसकी भयङ्करता को और भी बढ़ा दिया। अब तो वहाँ विद्रोह और अशान्ति की आग की लपटें उठ रही हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स और जापान उस पर पानी डालने का उपक्रम कर रहे हैं। आशा है, इस काम में वे सफल-मनोरथ होंगे।

९—कुछ फ़ौजी बातें।

गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, से एक छपा हुआ पर्चा हिन्दी में आया है। उसका नाम है—सिपाही की ज़िन्दगी। इस परचे में लिखा है कि जो रँगरूट फ़ौज में भरती होते हैं वे भरती होने के साथ ही लड़ाई पर नहीं भेज दिये जाते। उन्हें कई महीने यहीं क़वायद-परेड सिखाई जाती है। फिर यदि वे समुद्र पार कहीं भेजे जाते हैं तो पहले उनसे रास्तों और कमसरियट के सामान वग़ैरह की निगरानी का काम लिया जाता है। वक्त आने पर जो लोग लड़ाई के मैदान में भेजे जाते हैं उनमें से भी बहुत ही कम मारे जाते हैं। बीमारी से भी बहुत ही कम मरते हैं। फ़ौज में मरने और मारे जाने का उतना ही डर रहता है जितना कि घर पर जूड़ी-बुख़ार और प्लेग-हैज़े वग़ैरह से रहता है। फ़ौज में सिपाहियों के बीमार होने या घायल होने पर उनकी सेवा-शुश्रूषा और दवा-पानी का बड़ा अच्छा प्रबन्ध रहता है। खाने-पीने और कपड़े-लत्ते की ज़रा भी तकलीफ़ नहीं होती। उन्हें सब तरह का आराम दिया जाता है। रुपया भी वे लोग ख़ूब पैदा करते हैं। इस दशा में गवर्नमेंट का कहना है कि रँगरूट बनने में किसी को ज़रा भी आगा पीछा न करना चाहिए। जो लोग यह कहते हैं कि भरती होते ही रँगरूट लड़ाई पर भेज दिये जाते हैं और उनमें से बहुत लोग मारे जाते हैं, वह बिलकुल झूठ है। यही इस परचे का सार है।

दूसरी बात भी सुनिए। अभी हाल में गवर्नमेंट ने हिन्दुस्तानियों को जो थोड़े से उहदे फ़ौज में देने का निश्चय किया है उसकी काररवाई उसने शुरू कर दी है। उन पदों के उम्मेदवारों की प्रवेश-परीक्षा १६ सितंबर १८ के लगभग शिमले में होगी। जो लोग चुने जायँगे वे १५ नवंबर १८ के इधर उधर विलायत के लिए प्रस्थान कर जायँगे। वहाँ जनवरी १९१९ के आरम्भ में वे सैंडर्स्ट के बड़े फ़ौजी कालेज में भरती होकर युद्ध-विद्या सीखने लगेंगे। यह तो उन उम्मेदवारों की बात हुई जिन्हें मुस्तक़िल तौर पर फ़ौज में ऊँचे पद मिलेंगे। युद्ध-काल तक के लिए ही जिन्हें ये पद दिये जायँगे उन्हें विलायत जाना न पड़ेगा। उनको इन्दौर के डाली-कालेज में ही सेना-सञ्चालन और युद्ध-कौशल सिखाया जायगा। इन लोगों की प्रवेश-परीक्षा जनवरी १९१९ में किसी समय होगी। निश्चय होने पर इन्हें बता दिया जायगा कि किन किन विषयों में तुम्हारी परीक्षा ली जायगी। मगर सरकार इस काम को शीघ्र ही शुरू कर देना चाहती है। इस कारण वह जनवरी के पहले भी कुछ उम्मेदवार ले लेगी। जिनके पास राजकुमार-कालेजों की, स्कूललीविंग, मैट्रिकुलेशन या और ऊँची परीक्षाओं के सारटिफ़िकट होंगे उनकी अरज़ियां आने पर सरकार जिनको पसन्द करेगी उनकी मौखिक परीक्षा लेगी। यह परीक्षा भी शिमले में १९ अगस्त के लगभग होगी। शिमला जाने आने का ख़र्च सरकार देगी। जो लोग परीक्षा में पास हो जायँगे और चुन लिये जायँगे वे पूर्वोक्त डाली-कालेज में शिक्षा-प्राप्ति के लिए भेज दिये जायँगे। विलायत और इन्दौर में शिक्षा पाये हुए हिन्दुस्तानी अफ़सरों को वही तनख़्वाह और भत्ता वग़ैरह मिलेगा जो अँगरेज़ अफ़सरों को मिलता है।

तीसरी बात हिन्दुस्तानी फ़ौज की वेतन-वृद्धि से सम्बन्ध रखती है। देहली—कानफ़रन्स में गवर्नमेंट ने कहा था कि देशी फ़ौज का वेतन बढ़ा देने का विचार हो रहा है। यह विचार हो गया, सिफ़ारिश भी कर दी गई और मंजूरी भी विलायत से आ गई। अब जो सरकारी घोषणा निकली है उससे मालूम हुआ कि वेतन-वृद्धि सदा के लिए न होगी। पर फ़ौजी जवानों और अफ़सरों को इनाम के तौर पर कुछ रुपया अधिक दिया जायगा। यह इनाम तभी तक मिलेगा जब तक युद्ध जारी रहेगा। अभी जो रँगरूट भरती होते हैं उन्हें १०) तत्काल मिल जाते हैं। डाक्टरी जांच हो जाने पर उन्हें ४०) और मिलते हैं। इस तरह उन्हें ५०) इनाम मिलता है। अब रँगरूट सिपाहियों को इस ५०) के सिवा १५) और मिलेंगे। इसके सिवा हर छठे महीने उन्हें २४) और भी इनाम के तौर पर मिला करेंगे। सो जब तक लड़ाई रहेगी तब तक मानो उन्हें ४) महीने के हिसाब से अधिक तनख़्वाह मिलेगी। यह बात सिपाहियों और सवारों की है। जमादारों और रिसाईदारों को ३०) तथा सूबेदारों, रिसालदारों और इनसे भी ऊँचे दरजेवालों को ६०) मिलेंगे।

यह तरक़्क़ी १ जून १९१८ से हुई समझी जायगी। अब भी यदि लोग हँसी-खुशी से रँगरूटों में न भरती हों तो उनका दुर्भाग्य।

ख़च्चरों की गाड़ियों वग़ैरह के गाड़ीवानों तथा कमसरियट-बाज़ार के मुलाज़िमों को भी हर छठे महीने १२) इनाम मिलेगा। सो ये लोग भी मज़े में रहेंगे। ख़तरा बहुत ही कम और आमदनी इतनी। और चाहिए क्या?

पुस्तक-परिचय।

१—संस्कृत-पाठ्य-पुस्तकम्—स्कूलों में जो पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उनके विषय में, कुछ समय से, गवर्नमेंट ने एक नई नीति का अवलम्बन किया है। लेखकों से वह पुस्तकें लिखाती है। जब वे लोग अपनी अपनी लिखी पुस्तकें भेज देते हैं तब गवर्नमेंट उनमें से अपनी पसन्द की पुस्तकें चुन लेती है और लेखकों को निर्दिष्ट पुरस्कार देकर पुस्तकों का कापी-राइट खुद ले लेती है। फिर पसन्द की हुई पुस्तकों के प्रकाशन और बिक्री का काम वह किसी प्रेस या प्रकाशक को दे देती है। प्रस्तुत पुस्तक इसी तरह की है। यह संस्कृत की रीडर है। इसके तीन भाग हैं। पहला भाग छठे, दूसरा सातवें और तीसरा आठवें दरजे के लिए है। दाम प्रत्येक का यथाक्रम ४½, ६½ और ६ आने है। इन तीनों भागों का प्रकाशन प्रयाग के इंडियन प्रेस ने किया है। छपाई इन पुस्तकों की बड़ी सुन्दर और साफ़-सुथरी है। काग़ज़ चिकना और मोटा है। तीनों भाग सचित्र हैं। अब तक अँगरेज़ी-स्कूलों में संस्कृत पढ़ाने का ढँग अच्छा न था। प्रणाली पुरानी थी। इन पुस्तकों की रचना में नई प्रणाली से काम लिया गया है। जिस प्रणाली का प्रयोग अँगरेज़ी और हिन्दी-रीडरों में किया जाता है उसी का इसमें भी किया गया है। अर्थात् पहले ही से व्याकरण के झमेले में न डाल कर विद्यार्थियों को छोटे छोटे वाक्यों और वाक्य-समूहों के द्वारा संस्कृत भाषा सिखाने की चेष्टा की गई है। प्राकृतिक ढँग भी यही है। इन तीनों भागों में जो पाठावलि है वह विचारपूर्वक चुनी गई है। अन्यान्य बातों के सिवा शिक्षार्थियों की योग्यता और वर्द्धिष्णु भाषा-ज्ञान का ख़याल रक्खा गया है। तीसरे भाग में महाराज अशोक, गोपाल-कृष्ण गोखले और बीरबल के जीवन-चरित हैं। रामायण से उद्धृत रामाभिषेक और महाभारत से उद्धृत नकुलोपाख्यान नामक सरल पद्य-पाठ भी हैं। प्रत्येक भाग के अन्त में व्याकरण की भी मोटी मोटी बातें लिख दी गई हैं। सरलता के लिहाज़ से ये बातें विशेष करके चक्रों (नक़्शों) द्वारा बताई गई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन नई पुस्तकों की बदौलत अब नवें दरजे से नीचे के दरजों के विद्यार्थियों को संस्कृत सीखने में बहुत सुभीता होगा। सुनते हैं, पढ़ाई जाने के लिए ये पुस्तकें स्कूलों में जारी भी हो गई हैं।

❋

२—श्रीसमयसार-टीका—जैन-समाज में कुछ समय से लिखने पढ़ने की ख़ूब चर्चा हो रही है। इस विषय में यह समाज दिन पर दिन उन्नति कर रहा है। यह उन्नति विशेष कर के धार्म्मिक ग्रन्थों के परिशीलन और प्रकाशन से सम्बन्ध रखती है। और विषयों की पुस्तकों के प्रकाशन की ओर भी इस समाज की प्रवृत्ति कुछ कुछ बढ़ रही है, पर अधिक नहीं। जैनों में अनेक ग्रन्थकार हो गये हैं। उन्होंने धार्म्मिक विषयों के सिवा अन्य विषयों के भी ग्रन्थ लिखे हैं, और ऐसे ग्रन्थों में से अनेक ग्रन्थ बड़े मोल के हैं। इस समाज के पत्र-सम्पादकों और प्रकाशकों का ध्यान ऐसे ग्रन्थों की ओर कुछ अधिक जाना चाहिए। क्योंकि सर्वोपयोगी अथवा बहुजनोपयोगी ग्रन्थों के प्रचार से लोक-हित होने की अधिक सम्भावना है। यह ज़माना अपने ही समाज के भीतर विचरण करने और उसी के पुराने धार्म्मिक विचारों को फिर से जागृत या विशद करने ही का नहीं। कुछ दूर इसके आगे भी बढ़ जाने का है। यह हमें इसलिए लिखना पड़ा कि हमें बहुधा, समालोचना के लिए, इस समाज के प्रकाशकों से पुरानी धार्म्मिक या साम्प्रदायिक पुस्तकों के ही व्याख्यान, विवरण, टिप्पण और अनुवाद आदि अधिक मिलते हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी इसी कक्षा की है। ऐसी पुस्तकों में निबद्ध विचारों और सिद्धान्तों की समालोचना तो भला हम क्या कर सकेंगे, हमारा जी तो इनके विषयों का परिचय देते भी घबरा उठता है। बात यह है कि हम इस मत या धर्म्म के सिद्धान्तों से अच्छी तरह परिचित नहीं और हमारा विश्वास है कि जैनियों में भी कुछ इने गिने लोगों को

छोड़ कर और सभी, जिनमें अन्य धर्म्मवालों को भी समझना चाहिए,—हमारी ही कक्षा के होंगे।

इस पुस्तक का आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या कोई ३५० और मूल्य २॥) है। साधारण जिल्द चढ़ी हुई है। छपाई और काग़ज़ मामूली है। जैनियों में कुन्दकुन्दाचार्य नाम के एक महात्मा हो गये हैं। उनको हुए कोई अट्ठारह उन्नीस सौ वर्ष हुए। उनकी रची हुई समयसार नाम की एक पुस्तक, प्राकृत भाषा में, है। पुस्तक गाथा-नामक पद्य में है। इस गाथामयी पुस्तक का तात्पर्य जयसेन स्वामी नाम के एक पण्डित ने संस्कृत में लिखा है। उसी के आधार पर श्रीयुत शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी ने इसकी हिन्दी-टीका की है। ऊपर प्राकृत-गाथा दी है, उसके नीचे उसका "संस्कृतार्थ", फिर गाथा का सामान्यार्थ, तदनन्तर शब्दार्थ और विशेषार्थ। संस्कृतार्थ को जो हमने यत्र तत्र देखा तो वह हमें गाथा की प्राकृत का संस्कृत रूप मात्र मालूम हुआ, उसका अर्थ नहीं। नहीं मालूम ब्रह्मचारीजी ने उसे "संस्कृतार्थ" क्या समझ कर कहा है। यह संस्कृतार्थ जयसेन स्वामी का ही किया हुआ है, या ब्रह्मचारीजी की कृपा का फल है, इसका उल्लेख हमें इस पुस्तक की भूमिका में कहीं नहीं मिला। अनुमान से हमें तो यही मालूम होता है कि यह प्राचीन गाथाओं की संस्कृतच्छाया है और जयसेन स्वामी या किसी और पुराने पण्डित की रचना है। पुस्तक में ११ अधिकार और एक प्रारम्भिक 'पीठिका" है। जीव, अजीव, कर्त्ता-कर्म्म, पुण्य-पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, सर्व-विशुद्ध-ज्ञान और समयसार-चूलिका—यही ११ विषय एक एक अधिकार में वर्णित हैं। हम तो इसके संवर, आश्रव और निर्जरा आदि कितने ही पारिभाषिक शब्दों का ठीक ठीक अर्थ तक नहीं जानते। इस दशा में हम पुस्तक के सम्बन्ध में भला-बुरा कुछ नहीं कह सकते। जिन्हें इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करना हो वे इस पुस्तक को पढ़ कर प्राप्त करें। हमें एक बात अवश्य कहनी है। वह यह है—

बम्बई, सूरत और अहमदाबाद में बैठ कर अन्य-भाषा-भाषी जो सज्जन हिन्दी लिखते हैं उनकी हिन्दी में यदि त्रुटियाँ हों तो मार्जनीय हैं। ऐसे महाशयों की हिन्दी-प्रीति प्रशंसनीय है। उनकी बदौलत हिन्दी का प्रचार अन्य प्रान्तों में भी होता है। पर जब प्रतिष्ठित लेखक अण्ड बण्ड हिन्दी लिखते हैं तब अवश्य खेद होता है। एक तो अभी हिन्दी की सर्वसम्मत कोई शैली ही नहीं। उसके प्रान्त के ही लेखक उसकी बहुधा दुर्दशा करते हैं। कुछ अहङ्कार-मूर्ति महात्माओं ने तो पूरा ग़दर सा मचा रक्खा है। वे कहते हैं कि यदि वे किसी शब्द को दस तरह से लिखें तो उनके वे सभी रूप शुद्ध माने जायँ! हिन्दी के लिए इससे बढ़ कर दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है। तथापि यह सब होते हुए भी, प्रतिष्ठित लेखकों को इसका ख़याल तो अवश्य ही होना चाहिए कि जो कुछ वे लिखते हैं, दूसरों को समझाने या बताने के लिए ही लिखते हैं। और, लिखी हुई बात तभी अधिक लोगों की समझ में आ सकती है जब वह ख़ूब सरल और बोलचाल की भाषा में लिखी जाय। कहीं मराठी ढँग, कहीं गुजराती ढँग, कहीं साधारण बुद्धि-विरुद्ध बातें जिस हिन्दी में हों उसे, यदि असल मतलब समझ में आजाय तो भी, अधिकांश लोग कभी पसन्द न करेंगे। परिताप की बात है कि इस टीका-ग्रन्थ के लेखक "जैनधर्म्म-भूषण" ब्रह्मचारीजी की हिन्दी अच्छी नहीं। वे 'जैनमित्र" नामक समाचारपत्र के सम्पादक हैं। अतएव वे अच्छी भाषा का न सही, तो सरल, व्याकरण-सम्मत और बामुहावरा भाषा का—महत्त्व तो ज़रूर ही समझते होंगे। यदि उनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं, या यदि वे सुन्दर और सरल हिन्दी नहीं लिख सकते तो किसी और से ही वे अपने लेखों की भाषा का—विशेष कर ऐसी पुस्तकों की भाषा का जो और प्रान्तों में भी पढ़ी जा सकती है—संशोधन क्यों नहीं करा लेते। आप की हिन्दी का नमूना दिखाने के लिए हम आपकी भूमिका से कुछ वाक्य नीचे नक़ल करते हैं—

> इस भाषा करने में हमने अति साहस किया है। यह काम न्याय और व्याकरण के विद्वानों का था पर हमारे समान विद्वत्तारहित व्यक्ति का न था। तौ भी आत्मप्रेमवश जो यह साहस किया है उस पर विद्वज्जन हास्य न करके कृपादृष्टि द्वारा इसे अवलोकन करेंगे और जहां कोई भूल मालूम पड़े उसे अवश्य सूचित करेंगे। क्योंकि मुझ जैसे अति अल्प ज्ञानी द्वारा भी भूलें होजाना संभव है।

यह अत्यन्त शिथिल भाषा का अच्छा नमूना है। यही बात और तरह बड़ी अच्छी हिन्दी में लिखी जा सकती थी। ख़ैर शैली का विचार जाने दीजिए। "इस" और "भाषा" शब्दों के बीच एक "की" दरकार है। दूसरे वाक्य में "पर" शब्द व्यर्थ है। "तौ" का इम्ला ही ग़लत है; वह "तो"

होना चाहिए। अन्तिम वाक्य का उत्तरांश तो सचमुच ही "हास्य"-जनक होगया है। भूलें हो जाना तो प्रकाण्ड पण्डितों से भी सम्भव है, अति अल्पज्ञानियों से हो जाना तो कुछ बात ही नहीं। फिर "भी" अव्यय की क्या सार्थकता ?

ख़ैर। आशा है, ब्रह्मचारीजी इस टीका-टिप्पणी के लिए हमें क्षमा करेंगे।

पुस्तक मिलने का पता—जैनमित्र आफ़िस, सूरत।

※

३—A Guide to Sanchi.—यह पुस्तक अँगरेज़ी में है। बड़ी सुन्दर छपी है। मनोहर जिल्द बँधी हुई है। गवर्नमेंट आव् इंडिया के ख़र्च से प्रकाशित हुई है। आरकियोलाजिकल (पुरातत्त्व) महकमे के डाइरेक्टर-जनरल, सर जान मार्शल, की लिखी हुई है। दाम २॥) है। भोपाल की रियासत में, भिलसा के पास, एक छोटी सी पहाड़ी है। पास ही साँची नाम का एक छोटा सा गाँव है। पहाड़ी के ऊपर कितने ही प्राचीन स्तूप और मन्दिरों के भग्नावशेष हैं। वे २३ सौ वर्ष से लेकर हज़ार ग्यारह सौ वर्ष तक के पुराने हैं। किसी समय भिलसा (प्राचीन विदिशा) बड़ी उन्नत दशा में था। वह अत्यन्त समृद्धि-शाली नगर था। उस समय बौद्ध-धर्म बड़ी ऊर्जित अवस्था में था। बौद्ध भिक्षु नगर के बाहर एकान्त स्थान में रहना पसन्द करते थे। उन्हीं के लिए ये प्राचीन स्तूप आदि निर्म्मित हुए थे। स्वयं अशोक ने स्तूप और स्तम्भ-निर्म्माण में सहायता की थी। कितने ही अन्य नरेशों, धनी वैश्यों और धार्म्मिक जनों ने भी, समय समय पर, वहाँ स्तूप, चैत्य, विहार और मन्दिर बनवाये थे। उन्हीं के टूटे फूटे अंश वहाँ अब तक विद्यमान हैं। इनमें से कुछ तो भूगर्भ में गड़ गये थे और कुछ जङ्गलों के भीतर छिप गये थे। कुछ सदा के लिए नष्ट-भ्रष्ट हो गये। भूमितल पर कुछ ही रह गये। गवर्नमेंट की कृपा से जङ्गल साफ़ हुआ, रास्ते बनाये गये और कितने ही स्तूप खोद निकाले गये। पर इस इतने प्रयत्न से उन पुरानी इमारतों का यथेष्ट उद्धार न हुआ। हाल में बेगम साहबा, भूपाल, का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने बहुत सा रुपया ख़र्च करने का निश्चय किया और सर जान मार्शल के हाथ में उन प्राचीन इमारतों के उद्धार का काम सौंपा। सर मार्शल ने अपनी निगरानी में बहुत समय तक खोद खाद का काम कराया। टूटे फूटे अंशों को एकत्र किया, नये नये रास्ते बनाये, ज़मीन के भीतर गड़े हुए कई स्तूप और मन्दिर बाहर निकाले। उन्हें साफ़ स्वच्छ करके देखने लायक़ बनाया। तितर बितर पड़े हुए टुकड़ों को यथास्थान रख कर उन्हें नाश होने से बचाया। इस प्रकार बहुत ख़र्च और बड़े श्रम से उन्होंने इस प्राचीन ऐतिहासिक स्थान की रक्षा की। इन्हीं सब बातों का वर्णन उन्होंने इस पुस्तक में किया है। इसमें कितने ही सुन्दर सुन्दर चित्र देकर भिन्न भिन्न इमारतों, उनके स्तम्भों तथा उनके अन्यान्य अंशों की कारीगरी के नमूने सर्वसाधारण को देखने के लिए सुलभ कर दिये हैं। आज तक साँची के विषय में छोटी छोटी कई पुस्तकें और कई लेख निकल चुके हैं। कई अन्य ग्रन्थों में भी उनका उल्लेख है। पर इन सब लेखों में लेखकों से कितने ही भ्रम हो गये हैं। सर जान मार्शल ने अपनी इस पुस्तक में उनका निरसन कर दिया है। साँची के स्तूप भारतवर्ष की प्राचीन कीर्ति की उड्डीयमान पताकायें हैं। उनकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर के भूपाल की बेगम साहबा ने बड़े पुण्य का काम किया है और सर जान मार्शल ने उनका ऐतिहासिक वर्णन प्रकाशित करके अपने को भारतवासियों की कृतज्ञता का पात्र बनाया है। इतिहास-प्रेमियों और प्राचीन भारत का कीर्तिगान सुन कर सन्तुष्ट होनेवाले महाशयों को यह पुस्तक अवश्य देखनी चाहिए और हो सके तो साँची की यात्रा करके वहाँ की पुरानी इमारतों के दर्शन से नेत्र भी सफल करना चाहिए।

※

४—श्रीमध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति की पुस्तकें—इन्दोर में इस नाम की एक जन-संस्था है। उसने कुछ समय से हिन्दी-पुस्तक-प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया है। महाराजा होलकर जैसे मराठी-साहित्य की उन्नति के लिए धन दान करते हैं वैसे ही हिन्दी-साहित्य की भी उन्नति के लिए। विशेष कर उन्हीं की सहायता से यह समिति कई पुस्तकें प्रकाशित कर चुकी है। उनका परिचय सरस्वती में दिया जा चुका है। इसके द्वारा प्रकाशित और भी ६ पुस्तकें

की एक एक कापी हमें प्राप्त हुई है । यह सभी पुस्तकें इस समिति के मन्त्री को लिखने से मिलती हैं । आकार सब का एक सा—मझोला—है । छपाई साफ़-सुथरी और काग़ज़ अच्छा है । इनका संक्षिप्त परिचय सुनिए—**आरोग्यप्रदीप** । इसकी पृष्ठ-संख्या १४८, और मूल्य १० आने है । राय साहब डाक्टर सरजूप्रसाद तिवारी, असिस्टेंट सर्जन, और पण्डित अम्बालाल दाधीच, एल० एम० पी०, ने मिल कर इसे लिखा है । इसका विषय सर्वथा इसके नामानुकूल है । शरीर में जितने प्रधान प्रधान अवयव हैं उनकी बनावट, उनके कार्य्य, उनकी रक्षा और उनकी रुग्णता आदि का वर्णन सरल भाषा में करके भोजन, व्यायाम, स्नान, विवाह, शिशु-संरक्षा, स्वच्छता आदि का विवेचन इसमें किया गया है । छूतवाले कुछ रोगों से बचने के उपाय और आघातों की प्रारम्भिक चिकित्सा पर भी दो अध्याय लिखे गये हैं । इसके सिवा और भी कितनीही जानने योग्य बातें इसमें हैं । कई रङ्गीन चित्र देकर शारीरिक अवयवों की बनावट और क्रिया-कलाप का विषय समझाया गया है । पुस्तक बहुत अच्छी है । दूसरी पुस्तक का नाम है—**स्वास्थ्य** । इस ४८ सफ़े की पुस्तक का मूल्य २½ आने है । इसे राय साहब डाक्टर सरजूप्रसाद त्रिपाठी ने अकेले ही लिखा है । इसमें स्वास्थ्य रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली मोटी मोटी बातें, थोड़े में, समझाई गई हैं । सफ़ाई, वायु, जल, प्रकाश, भोजन-पान, वस्तु, व्यायाम और विश्राम आदि इसके विषय-विभाग हैं । यह पुस्तक लड़कों के लिए है । अतएव उन्हीं के योग्य भाषा में स्वास्थ्य के साधारण सिद्धान्तों की शिक्षा दी गई है । इसमें एक विशेष बात यह बताई गई है कि नाक ही नहीं, मुँह और त्वचा भी "साँस लेने की बाहरी इन्द्रियाँ हैं" । तीसरी पुस्तक का नाम है—**इन्दौर-राज्य का इतिहास** । इसमें १०० सफ़े हैं ; मूल्य है ६ आने । दूसरी पुस्तक के लेखक, डाक्टर साहब ही, इसके भी प्रणेता हैं । जब से इन्दौर-राज्य की नींव पड़ी तब से आज तक का इतिहास इस पुस्तक में है । वह है तो संक्षिप्त, क्योंकि होलकर की रियासत की पाठशालाओं के लिए इस की रचना हुई है, पर सभी नरेशों के शासन-काल की प्रधान प्रधान घटनाओं का उल्लेख आ गया है । दो एक को छोड़ कर और सभी नरेशों के सुन्दर हाफ़-टोन चित्र भी दिये गये हैं । राज्य का विस्तार, पैदावार, आमदनी, आबादी आदि विषय भी नहीं छूटने पाये । चौथी पुस्तक है—**बालोपदेश** । इसमें कोई ४० सफ़े हैं । मूल्य है २ आने । पण्डित कन्हैयालाल उपाध्याय ने इसे, छोटे छोटे लड़कों के लिए, लिखा है । इसमें स्वामि-सेवा, सदाचार, सदालाप, विद्याभ्यास आदि पर छोटे छोटे पाठ हैं । पाँचवीं पुस्तक है—**सदुपदेश** । इसकी पृष्ठ-संख्या ६० और मूल्य २½ आने है । पूर्वनिर्दिष्ट उपाध्यायजी ही इसके भी लेखक हैं । जिस उद्देश से चौथी पुस्तक लिखी गई है उसी उद्देश से यह भी लिखी गई है । वह छोटे छोटे बच्चों के लिए है, यह कुछ बड़े बच्चों के लिए । इसीसे इसके विषय-विवेचन में कुछ विशेषता रक्खी गई है । पाठ भी कुछ बड़े हैं और भाषा भी उन्नत है । इसके शब्द-प्रयोग (जैसे, 'मनोर्थ') कहीं कहीं खटकते हैं । वाक्य भी कहीं कहीं आक्षेपयोग्य हैं । छठी पुस्तक का नाम है—**नारीनवरत्न** । इसे मुन्शी देवीप्रसादजी मुन्सिफ़ ने अपनी निज की हिन्दी में निजही के ढङ्ग पर लिखा है । पृष्ठ-संख्या २८ है और मूल्य १ आना । नौ प्रकार के सदुपदेश रूपी रत्नों का यह हार मुन्शीजी ने तैयार तो किया है, लड़कियों के 'प्रोहित' जी की सहायता से लड़कियों ही के लिए, पर लड़कियाँ ही आगे चल कर नारियाँ हो जाती हैं । इस कारण आपने नाम इसका नारी-नवरत्न रक्खा है । नौ रत्नों का यह कण्ठा सचमुच ही कण्ठ में सदा धारण किये जाने योग्य है ।

※

५—**कैसर**—इसका आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या १०० और मूल्य १० आने है । इस पर कपड़े की पतली जिल्द है । आरम्भ में "जर्मन बादशाह दुसरा कैसर विलियम" का एक चित्र है । मूल पुस्तक मराठी में है । उसके लेखक की भूमिका के कुछ अंश का अनुवाद इस प्रकार है—"कुएं का मेंढक जिस प्रकार अपने कुएं को ही सारा संसार समझता है उसी प्रकार भारतवर्ष के मेंढकों को भी अभी तक यही मालूम होता था कि भारतवर्ष ही सारा संसार है; और इसके अतिरिक्त अन्य संसार के साथ हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । परन्तु वर्तमान महायुद्ध के कारण यह स्थिति बदलने लगी है ।" मराठी-लेखक का नाम है—"पं० हरि-रघुनाथ भागवत, बी० ए०" । इन भागवतजी की असल इबारत के इस अंश का यह अनुवाद यदि ठीक है तो हमें

आप से कुछ कहना है। कहना यही है कि पहले तो आपका यह साम्य ही ठीक नहीं। कुवे में मेढक रह सकते हैं, पर भारत के जिन मेढकों से आपका मतलब है वे कुवेंवाले मेढकों के भाई-बन्द नहीं। वे तो मनुष्य मेढक हैं। पर आप मनुष्य लिखना ही भूल गये। फिर सारे भारतवासियों को कूप-मण्डूक बनाना और यह कहना कि युद्ध के पहले वे भारत के सिवा अन्य संसार (?) से अपना कुछ भी सम्बन्ध न समझते थे सचाई का सर्वनाश करना है। ख़ैर। कैसर का यह छोटा सा चरित लिख कर उनके जीवन की अनेक मोटी मोटी बातों से हमारा परिचय करा दिया यह आपने बड़ी कृपा की—विशेष करके इसलिए कि उनके जीवन की कुछ घटनाओं का सम्बन्ध वर्तमान युद्ध से भी है। भागवत जी की मराठी पुस्तक का यह अनुवाद पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी: का किया हुआ है और "आप्टेकर और मंडली, पूना" को लिखने से मिलता है। पुस्तक विक्रम-संवत् १९७४ की छपी हुई है।

※

६—पद्यपारिजात—आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या ६०, मूल्य ४ आने, लेखक पण्डित भगवानदीन पाठक, मिलने का पता—पाठक-पुस्तकमाला-कार्य्यालय, ४ जानसेनगंज, प्रयाग। इस पुस्तक में पाठक जी की फुटकर कविताओं का संग्रह है। कवितायें भिन्न भिन्न विषयों की हैं। देश-दशा, मातृभूमि, वर्तमान युद्ध, सामाजिक दृश्य आदि कितने ही सामयिक विषयों पर भी पद्य-रचना है। देखने लायक़ है। पद्य-प्रणेता की रुचि मार्जित और विचार उदार हैं।

७—महानुभाव सुक़रात का जीवन-वृत्तान्त—इसका आकार मध्यम, पृष्ठ-संख्या ४८, छपाई साफ़, काग़ज़ अच्छा और मूल्य ४ आने है। बाबू दुर्गाप्रसाद वर्म्मा ने इसे लिखा है। "साहित्य-भंडार-कार्य्यालय", १३ सप्तसागर, बनारस से यह वृत्तान्त मिलता है। इसमें ग्रीस के नामी तत्त्ववेत्ता महात्मा सुक़रात का संक्षिप्त चरित, अन्य कई पुस्तकों के आधार पर, लिखा गया है। उसके सद्विचारों की अच्छी बानगी इसमें देखने को मिलती है। सुक़रात के पुनर्जन्म-विषयक विचारों का समावेश भी इसमें है। पुस्तक अच्छी है।

× ×
×

नीचे जिन पुस्तकों के नाम दिये जाते हैं वे भी पहुँच गई हैं। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवाद—

१—नारीधर्मशिक्षकः (प्रथमभागः)—लेखक, सेठ फिरायालाल वैद्य, मुलतान।

२—कविता-कलाप—रचनार, चांपशी विट्ठलदास उद्देशी, कलकत्ता।

३—नवीन गुजरात—लेखक, श्रीयुत हीरालाल त्रीभोनदास पारेख, बी० ए०, अहमदाबाद।

४—श्रीप्रेमपत्रिका—प्रकाशक, बाबू दीपचन्द मोहता, कलकत्ता।

५—दादाभाई नवरोजी—लेखक, पण्डित प्रयागदत्त शुक्ल, नागपुर।

६—अज-विलाप—प्रकाशक, शारदा-पुस्तकालय, काशी।

७—हिन्दी-डायरेक्टरी—प्रकाशक, नागरी-प्रचारिणी सभा, बुलन्दशहर।

८—पुरवार-वैश्य-दर्पण, भाग १—लेखक, बाबू मातादीन गुप्त, कालपी।

९—کیول گیان حصہ اول—प्रकाशक, आत्मानन्द-जैन-टैक्ट सोसायटी, अम्बाला।

चित्र-परिचय।

(१)

कृष्णाभिसारिका।

इस संख्या के रङ्गीन चित्र के नाम से ही साहित्यसेवी पाठकों को इसके विषय का यथेष्ट ज्ञान हो जायगा। अतएव इस सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है, टेहरी (गढ़वाल) के कुँवर विचित्रशाह को धन्यवाद देने की, जिनकी उदारता से किसी प्राचीन चित्रकार का निर्म्मित यह सुन्दर चित्र हमें प्राप्त हुआ है।

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad.

कर्मवीर गान्धी के, सचित्र

महत्त्व-पूर्ण लेख और व्याख्यान।

लीजिए, जिस पुस्तक की महीनों से माँग थी, जिसे देखने के लिए लोग लालायित हो रहे थे, वह निकल गयी। बाहर भीतर सब तरह से पुस्तक देखने और संग्रह करने योग्य है। इसमें गान्धी जी के उन लेखों और व्याख्यानों का संग्रह किया गया है जिन्हें पढ़ने के लिए लोग तरस २ कर रह गये थे, पर, कितने ही रुपये खर्च कर भी पढ़ने को न पा सकते थे। इसमें उनके निम्नलिखित व्याख्यान हैं:—सत्याग्रह का सिद्धान्त और उसका अभ्यास, गान्धीजी की अपनी लिखी हुई तीन बार की जेल की कहानी, अफ्रिका से विदाई, सत्याग्रह आश्रम, आर्थिक उन्नति बनाम नैतिक उन्नति, रेल के तीसरे दर्जे की यात्री के कष्ट-कथा, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी का वह व्याख्यान जिसे मिसेज बिसेंट ने बीचहीमें रोक दिया था, और जिस पर सारे हिन्दुस्तान में हलचल मच गयी थी, जाति और जातीय विद्यार्थियों को उपदेश, गुजरात राजनैतिक सभा, चम्पारन, स्वदेशी, अछूत जातियों का प्रश्न, मिल मज़दूरों की हड़ताल पर उपवास का कारण, लाट साहब को पत्र, राष्ट्रभाषा-सम्मेलन लखनऊ, राष्ट्रभाषा-सम्मेलन कलकत्ता, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इन्दौर है। इसके साथ ही प्रेमचन्द जीका लिखा हुआ गान्धी-गुणानुवाद है। यह सोने में सुगन्ध है। पुस्तक बढ़िया ऐंटिक कागज पर बड़ी सफाई से छपी है। गान्धीजीका और उनकी धर्मपत्नी का एक उत्तम चित्र है। इतनी उत्तम पुस्तक का मूल्य केवल १।). बढ़िया दो रंग के रेशमी कपड़े की सुन्दर सुनहले अक्षरों वाली जिल्द चाहिए तो १॥।) खर्च कीजिए।

अन्य नई उपयोगी पुस्तकें

अन्तःकरण का सुधार	।)	आयर्लैंड का इतिहास	१॥।=)
आचार-प्रबन्ध	१)	मेरा व्यापक शिक्षक	१।=)
आदर्श जीवन	१)	म० शेखसादी	।=)
आरोग्यदिग्दर्शन (क० गान्धी)	॥≡)	जमसेदजी नसरवानजी ताता	।)
आत्माशिक्षण	१)	विवेक-वचनावली	≡)
उपवासचिकित्सा	॥।)	ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली	=)
एकाग्रता दिव्य शक्ति	१)	ज्योतिषशास्त्र (आर्ट पेपर पर ४६ चित्रयुक्त)	॥)
पारिवारिक प्रबन्ध	१)		
मानवजीवन	१।=)	नेत्रोन्मीलन नाटक	।≡)
मुक्तिमार्ग	।=)	सप्तसरोज	॥)
फ़ाहियान और ह्वेनसंग की यात्रा	१।)	सचित्र ऐतिहासिक लेख	।=)
आर्य सभ्यता का इतिहास ४ भाग (आर.सी.दत्त)	४)	शिक्षासुधार	॥)

बड़ा और नया सूचीपत्र छप रहा है। मुफ़्त मिलेगा।

पता—हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी, १२६ हरिसनरोड, कलकत्ता।

गङ्गा-पुस्तकमाला

[१०८ ग्रंथ-रत्नों का संग्रह]

में कैसे कैसे उत्तमोत्तम ग्रन्थ निकल रहे हैं, यह किसी भी हिन्दी-प्रेमी से छिपा नहीं। इसके लेखक हिन्दी के नामी नामी विद्वान् हैं। छपाई-सफ़ाई की दृष्टि से भी इसके ग्रन्थ लासानी होते हैं। ॥) प्रवेश-फ़ी जमा कराकर स्थायी ग्राहक [इस समय इसके ७०० ग्राहक बन चुके हैं। ३०० स्थायी ग्राहकों की और ज़रूरत है जिनसे सितंबर के अंत तक प्रवेश-शुल्क भी केवल ।) लेंगे] हो जानेवाले सज्जन इसके सब ग्रन्थ १५) सैकड़ा कमीशन पर पाते हैं। कृपया नाम लिखाकर हिन्दी-साहित्य-वृद्धि के इस पुनीत कार्य में हमारे सहायक हूजिए—

१—हृदय-तरङ्ग—यू० पी० और सी० पी० के शिक्षा-विभाग से स्वीकृत। तृतीयावृत्ति छप रही है। जिल्ददार ।=)॥; सादी ।)

२—किशोरावस्था—हिन्दी में अपने ढंग का पहला ग्रन्थ; नवयुवकों का एक मात्र सखा। जि० ॥≡); सा० ॥)

३—खाँजहाँ—कविवर पण्डित रूपनारायणजी पांडेय रचित ऐतिहासिक नाटक। द्वितीयावृत्ति छप रही है। सजिल्द १=); सादी ॥।=)

माला के नए ग्रंथ

४—भूकम्प—ख्यातनामा लेखक बा० रामचन्द्र वर्मा प्रणीत। अपने विषय का पहला अनमोल ग्रन्थ-रत्न। १५ चित्रों से विभूषित। मूल्य लगभग १।=)

५—मूर्ख-मण्डली—बँगला के सर्वश्रेष्ठ नाटककार श्री-द्विजेन्द्रलाल राय के सुप्रसिद्ध प्रहसन 'त्र्यहस्पर्श' के आधार पर प्रसिद्ध लेखक पं० रूपनारायण पाण्डेय रचित। मूल्य लगभग ॥।)

६—आत्मार्पण—सरस्वती के सुकवि बा० द्वारकाप्रसाद गुप्त लिखित ऐतिहासिक खंड काव्य। कविता बड़ी ही सरस और हृदयग्राही है। इसका कुछ अंश 'सरस्वती' में निकल भी चुका है। शीघ्र तैयार हो जायगा। मूल्य लगभग ॥=)

और और पुस्तकें

७—सुख तथा सफलता—महात्मा जेम्स ऐलन की एक बढ़िया पुस्तक का अनुवाद। जि० ।-); सादी ≡)

८—सुघड़ चमेली—लड़कियों के लिये एक अमूल्य पुस्तक। दूसरी बार। तीन चित्र सहित। मू० =) मात्र

९—भगिनी-भूषण—बा० गोपालनारायण सेन सिंह बी० ए० ने इसमें बालिकाओं के लाभार्थ ४ गल्पें लिखी हैं। मू० =)

१०—पत्राञ्जलि—इस स्त्रियोपयोगी पुस्तक का प्रत्येक गृहस्थ को संग्रह करना चाहिए। मू० ॥)

नोट—स्थायी ग्राहकों को हम नवलकिशोर प्रेस, हिन्दी-ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, गौरव-ग्रंथमाला-कार्यालय, विज्ञान-परिषद, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) आदि की पुस्तकें -) रुपया कमीशन पर देते हैं। अतएव शीघ्र ग्राहक बनकर फ़ायदा उठाइए।

पता—श्रीत्रिलोकनाथ भार्गव बी० ए०
गङ्गा-पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।

हर्बर्ट स्पेन्सर की ज्ञेय-मीमांसा ।

यह पुस्तक लाला कन्नोमल एम० ए० की लिखी हुई है। सरल भाषा में, सब के समझने योग्य, लिखी गई है। मूल्य केवल ।) चार आने।

हर्बर्ट स्पेन्सर की अज्ञेय-मीमांसा ।

इस कठिन विषय को भी लेखक ने बहुत सरल भाषा में समझाया है। यह मीमांसा देखने योग्य है। मूल्य ।) चार आने।

सुखमार्ग ।

इस पुस्तक का जैसा नाम है वैसा ही गुण भी है। जो लोग दुखी हैं, सुख की खोज में दिन रात सिर पटकते रहते हैं उनको यह पुस्तक ज़रूर पढ़नी चाहिए। मूल्य केवल ।) चार आने।

उपदेश-कुसुम ।

यह गुलिस्ताँ के आठवें बाब का हिन्दी-अनुवाद है। पढ़ने लायक़ और शिक्षादायक है। मूल्य =) दो आने।

योगवासिष्ठ-सार ।

वैराग्य और मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण ।

योगवासिष्ठ ग्रन्थ की महिमा किसी हिन्दू से छिपी नहीं है। इस ग्रन्थ में श्रीरामचन्द्रजी और गुरु वसिष्ठजी का उपदेशमय संवाद है। उसी का सार रूप यह ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित किया गया है जिससे हिन्दी जानने वाले भी इस ग्रन्थ को पढ़ कर धर्म, ज्ञान और वैराग्यविषयक उत्तम शिक्षाओं से लाभ उठा सकें। मूल्य केवल ॥=) दस आने।

ऋद्धि

जो लोग भाग्य के भरोसे रह कर दरिद्रता का दुःख झेलते हुए भी ऋद्धि-प्राप्ति के लिए कुछ उद्योग नहीं करते उनके लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। इस पुस्तक में उदाहरण के लिए उन अनेक उद्योगशील, निष्ठावान् कर्मवीरों की संक्षिप्त जीवनी दी गई है जो स्वावलम्बन-पूर्वक व्यवसाय कर के अपनी दरिद्रता दूर कर करोड़-पति हो गये हैं। इतनी बढ़िया पुस्तक का मूल्य सजिल्द होने पर भी केवल १।) एक रुपया चार आने।

प्रकृति ।

यह पुस्तक पण्डित रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी, एम० ए० की बँगला 'प्रकृति' का हिन्दी-अनुवाद है। बँगला में इस पुस्तक की बहुत प्रतिष्ठा है। विषय वैज्ञानिक है। हिन्दी में यह पुस्तक अपने ढंग की एक ही है। इस पुस्तक को पढ़ कर हिन्दी जानने वालों का विज्ञान-सम्बन्धी अनेक बातों से परिचय हो जायगा। इसमें सौर जगत् की उत्पत्ति, आकाश-तरंग, पृथिवी की आयु, मृत्यु, आर्यजाति, परमाणु, प्रलय आदि, १४ विषयों पर बड़ी उत्तमता से निबन्ध लिखे गये हैं। आशा है, हिन्दी-प्रेमी इस पुस्तक को मँगा कर विशेष चाव के साथ पढ़ेंगे और अनेक लाभ उठावेंगे। मूल्य १) एक रुपया।

चिकित्सा

क्षय-रोग ।

(अनुवादक—पण्डित बालकृष्ण शर्म्मा)

जर्मनी के बड़े बड़े डाक्टरों और विद्वानों ने एक सभा की थी जिसमें क्षय-रोग से बचने के उपायों पर कितने ही निबन्ध पढ़े गये थे। सर्वोत्तम निबन्ध पर पारितोषिक भी दिया गया था। उसी निबन्ध का अनुवाद अब तक कोई २२ भाषाओं में हो चुका है। यह पुस्तक भी उसी का अनुवाद है। इसमें बताये गये उपायों के द्वारा अब फ़ी सदी ७५ रोगियों को आराम होने लगा है। पुस्तक बड़े काम की है। मूल्य ।=) छः आने।

गवर्नमेन्ट हिन्द सीग़ा ख़ज़ाना

इश्तिहार नम्बर १२५० (एफ़)—मुक़ाम शिमला मुअर्रख़ा ११ मई सन् १६१८ ई०

हिसाबात व ख़ज़ाना

क़र्ज़ा सरकारी

मुल्क हिन्द का दूसरा लड़ाई का क़र्ज़ा

कुल नक़द चन्दे जो वसूल होंगे आला हज़रत मलिक मुअज़्ज़म क़ैसर हिन्द की गवर्नमेन्ट को मुल्क हिन्द की दस करोड़ पौन्ड की रक़म इमदाद के एक हिस्से के तौर पर लड़ाई के काम के वास्ते दिये जायँगे।

जारी किया जाना

५½ रु० सैकड़ा सालाना सूदवाले सन् १६२१ ई० के वार बान्ड का जिन के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा।

जो १५ सितम्बर सन् १६२१ ई० को सौ रुपये में १०० रुपये के हिसाब से क़ाबिल अदा होंगे।

५½ रु० सैकड़ा सालाना सूदवाले सन् १६२३ ई० के वार बान्ड का जिन के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा।

जो १५ सितम्बर सन् १६२३ ई० को सौ रुपये में १०० रुपये के हिसाब से क़ाबिल अदा होंगे।

५½ रु० सैकड़ा सालाना सूदवाले सन् १६२५ ई० के वार बान्ड का जिनके सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा।

जो १५ सितम्बर सन् १६२५ ई० को सौ रुपये में १०३ रुपये के हिसाब से क़ाबिल अदा होंगे।

५½ रु० सैकड़ा सालाना सूदवाले १६२८ ई० के वार बान्ड का जिन के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा।

जो १५ सितम्बर सन् १६२८ ई० को सौ रुपये में १०५ रुपये के हिसाब से क़ाबिल अदा होंगे।

और

डाकख़ाने के ५ साल वाले कैश सार्टिफ़िकट (सार्टिफ़िकट ज़र नक़द) का

जिन के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा।

असल और सूद की किफ़ालत गवर्नमेन्ट हिन्द के माल व मता और आमदनी से होगी।

सन् १६२१, १६२३, १६२५ और १६२८ ई० वाले वार बान्ड

जारी किये जाने के वक़्त की क़ीमत—१०० रुपया बाबत हर १०० रुपये के जिसके लिये दरख़्वास्त दी जाय॥

सूद—५½ रुपया सैकड़ा सालाना जो हर शशमाही पर यानी १५ मार्च और १५ सितम्बर को क़ाबिल अदा होगा॥

ख़रीदारी की तारीख़ से १४ सितम्बर सन् १६१८ ई० तक का सूद बान्ड की ख़रीदारी के वक़्त पेशगी अदा कर दिया जायगा।

उन बान्ड पर जो डाकख़ाने के ज़रिये से १४ सितम्बर सन् १६१८ ई० के बाद ख़रीद किये जायँ ख़रीदारी की तारीख़ से १४ मार्च सन् १६१६ ई० तक का सूद ख़रीदारी के वक़्त पेशगी अदा कर दिया जायगा।

ख़ास हक़ूक़—गवर्नमेन्ट हिन्द के जारी किये हुए किसी दूसरे ज़ियादा मियाद वाले आयन्दा के क़र्ज़े में—उसका शरह सूद ख़्वाह कुछ ही हो—सन् १९२१ ई० व १९२३ ई० व १९२५ ई० व १९२८ ई० वाले वार बान्ड अपने जारी रहने के ज़माने में पूरी मालियत मुन्दर्जा बान्ड पर बतौर ज़र नक़्द मंज़ूर किये जायँगे ॥

सन् १९२१ ई० व १९२३ ई० व १९२५ ई० व १९२८ ई० के वार बान्ड के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा लेकिन यह तजवीज़ करने में कि दूसरी आमदनी पर किस शरह से इन्कम टेक्स लगाया जाय उसका शुमार होगा और उस पर सुपर टेक्स लग सकेगा ॥

किफ़ालतनामों की क़िस्में—वार बान्ड (क) इन्स्क्राइब्ड स्टाक सार्टिफ़िकट की क़िस्म या (ख) प्रामिसरी नोट की क़िस्म के जारी किये जायँगे। अगर ख़्वाहिश की जायगी तो यह बान्ड बाद में बेयरर बान्ड से जब बेयरर बान्ड मिल सकेंगे बिला क़ीमत तबदील किये जायँगे ॥

अगर ख़रीदार यह बयान न करेगा कि वह किसी ख़ास क़िस्म को पसन्द करता है तो वार बान्ड इन्स्क्राइब्ड स्टाक सार्टिफ़िकट की क़िस्म के दिये जायँगे ॥

इस ग़रज़ से कि देर न हो पहले पहल प्रामिसरी नोट के अलाहिदा क़ितआत जितने कम मुमकिन होंगे दिये जायंगे मगर बाद में उन के बदले उतनी मालियत के क़ितआत जिन के लिये दरख़्वास्त की जाय बग़ैर कुछ लेने के दिये जायंगे। एक ही स्टाक सार्टिफ़िकट कुल रक़म मतलूबा की बाबत दिया जायगा।

बंकों और सरकारी दफ़्तरों में प्रामिसरी नोट की क़िस्म के बान्ड की ख़रीदारी

१—प्रामिसरी नोट की क़िस्म के १०० रुपया या इससे ज़ियादा ऐसी और रक़म की मालियत मुन्दर्जा के वार-बान्ड जो सौ पर पूरी तक़सीम हो सकती हो ३ जून सन् १९१८ ई० से १४ सितम्बर सन् १९१८ ई० तक उस रक़म के अदा करने पर ख़रीदे जा सकते हैं जो उन की बाबत् वाजिबुल अदा हो—

(क) बंक आफ़ बंगाल और बंक आफ़ बम्बई और बंक आफ़ मदरास के सदर दफ़्तरों में या किसी ब्रांच आफ़िस में जो हिन्दुस्तान के अन्दर हो बग़ैर बाज़ाब्ता दरख़्वास्त देने के और

(ख) कन्ट्रोलर करन्सी कलकत्ता के या किसी एकौण्टन्ट जनरल या कन्ट्रोलर के दफ़्तर में या किसी सरकारी ख़ज़ाना या ख़ज़ाना मातहत में दरख़्वास्त देकर ॥

दरख़्वास्तें नमूना मशमूला [नमूना (क)] के मुताबिक़ या किसी ऐसे और नमूने के मुताबिक़ हो सकती हैं जिस में बान्ड मतलूबा की रक़म और क़िस्म और ख़रीदार का पूरा नाम और पता और उस ख़ज़ाने का नाम जहां से वह सूद वसूल करना चाहता हो साफ़ साफ़ दर्ज हो ॥

सरकारी दफ़्तरों और बंकों में इन्स-क्राइब्ड स्टाक की क़िस्म वाले बान्ड की ख़रीदारी

२—इन्स्क्राइब्ड स्टाक क़िस्म के १०० रुपया या इससे ज़ियादा ऐसी और रक़म की मालियत मुन्दर्जा के वार बान्ड जो सौ पर पूरी तक़सीम हो सकती हो ३ जून सन् १९१८ ई० से १४ सितम्बर सन् १९१८ ई० तक रक़म वाजिबुल वसूल अदा किये जाने और दरख़्वास्त दिये जाने पर बराहरास्त पब्लिक डेट आफ़िस मुक़ाम कलकत्ता से या नीचे लिखे हुए दफ़्तरों में से किसी दफ़्तर के ज़रिये से मिल सकते हैं—

(क) कन्ट्रोलर करन्सी कलकत्ता या किसी एकौन्टन्ट जनरल या कन्ट्रोलर का दफ़्तर।

(ख) बंक आफ़ बंगाल या बंक आफ़ बम्बई या बंक आफ़ मदरास का सदर दफ़्तर या कोई ब्रांच आफ़िस जो हिन्दुस्तान के अन्दर हो।

(ग) कोई सरकारी ख़ज़ाना या ख़ज़ाना मातहत ॥

दरख़्वास्तें नमूना मशमूला [नमूना (क)] के मुताबिक़ या किसी ऐसे और नमूने के मुताबिक़ हो सकती हैं जिसमें बान्ड मतलूबा की रक़म और क़िस्म और दरख़्वास्त देने वाले का पूरा नाम और पता और उस ख़ज़ाने का नाम जहां वह सूद वसूल करना चाहता हो साफ़ साफ़ दर्ज हो ॥

डाकख़ान[ा] से बान्ड [की] ख़रीदारी

३—इन्स्क्राइब्ड स्टाक या प्रामिसरी नोट की क़िस्म के २५ रुपया या इस से ज़ियादा ऐसी और रक़म की मालियत मुन्दर्जा के वार बान्ड जो २५ पर पूरी तक़सीम हो सकती हो, ज़ियादा से ज़ियादा १०००० रुपये तक के, रक़म वाजिबुल वसूल अदा किये जाने पर और किसी ऐसे डाकख़ाने में दरख़्वास्त देकर जिसमें सेविंग बंक का काम होता हो ३ जून सन् १९१८ ई० से २१ दिसम्बर सन् १९१८ ई० तक ख़रीदे जा सकते हैं ॥

दरख़्वास्तें नमूना मशमूला [नमूना (ख)] के मुताबिक़ या किसी ऐसे और नमूने के मुताबिक़ हो सकती हैं जिसमें बान्ड मतलूबा की रक़म और क़िस्म और दरख़्वास्त देने वाले का पूरा नाम और पता और उस ख़ज़ाने का नाम जहां वह सूद वसूल करना चाहता हो साफ़ साफ़ दर्ज हो ॥

जायज़ होगा कि अगर ख़्वाहिश की जाय तो जो बान्ड डाकख़ाने के ज़रिये से ख़रीद किये जायँ वह एकौन्टन्ट जनरल डाकख़ाना व टेलिग्राफ़ की तहवील में छोड़ दिये जायँ ॥

रुपये का दिया जा[ना]

४—रुपया या तो नक़द या बज़रिये चेक के अदा किया जा सकता है । अगर बान्ड बंक के ज़रिये से ख़रीदे गये हों तो हेड आफ़िस में ख़रीदारी की सूरत में प्रेज़िडेन्सी बंक के सेक्रेटरी और ट्रेज़रर के हक़ में चेक जारी होने चाहियें और प्रज़िडेन्सी बंक की किसी ब्राञ्च में ख़रीदारी की सूरत में प्रेज़िडेन्सी बंक के एजन्ट के हक़ में जारी होने चाहियें । अगर बान्ड किसी सरकारी दफ़्तर या डाकख़ाने में ख़रीदे जायँ तो चेक उस ओहदेदार के हक़ में जारी होने चाहियें जिस के पास दरख़्वास्त पेश की गई हो ॥

डाकख़ानों में रुपया इस तरह भी दिया जा सकता है कि दरख़्वास्त देने वाला उन रक़मों को वापस लेले जो उस के नाम पोस्ट आफ़िस सेविंग बंक में जमा हों ॥

प्रेज़िडेन्सी बंकों के सदर दफ़्तरों में रुपया इण्डियन ट्रेज़री बिलों की शक्ल में भी दिया जा सकता है और यह बतौर ज़र नक़द मुन्दर्जा क़ीमत पर बाद मिनहाई डिस्कौन्ट के लिये जायँगे जिस का शुमार मियाद बिल के उस हिस्से पर जो गुज़रा न हो ४ रुपया सैकड़ा सालाना की शरह से किया जायगा ।

दलाल[ी]

५—मुसल्लमा बैङ्करों और ब्रोकरों को उन रक़मों पर जो नक़द या चेक की शक्ल में वार बान्ड की ख़रीदारी के लिये उन की मार्फ़त दाख़िल हों प्रेज़िडेन्सी बङ्क ⅛ रुपया सैकड़ा दलाली देंगे ॥

मुसल्लमा बैङ्करों और ब्रोकरों को वार बान्ड की उन दरख़्वास्तों पर जिन पर उनकी मुहर हो और जो कन्ट्रोलर करन्सी के पास या किसी एकौन्टन्ट जनरल या कन्ट्रोलर के पास या किसी सरकारी ख़ज़ाना या ख़ज़ाना मातहत में भेजी जायँ ⅛ रुपया सैकड़ा दलाली दिया जायगा ॥

मुसल्लमा बैङ्करों और ब्रोकरों को उन रक़मों पर जो इन्डियन ट्रेज़री बिल की शक्ल में वार बान्ड की ख़रीदारी के लिये उन की मार्फ़त दाख़िल हों प्रेज़िडेन्सी बङ्क 1/16 रुपया सैकड़ा दलाली देंगे ॥

डाकख़ाने के ५ साल वाले कैश सार्टिफ़िकट

(सार्टिफ़िकट ज़र नक़द)

(इन के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा)

१० रु० और २० रु० और ५० रु० और १०० रु० और ५०० रु० के

इनका रुपया जारी होने के वक़्त से ५ साल गुज़रने पर क़ाबिल अदा होगा

जारी किये जाने के वक़्त की क़ीमत

७ रुपया १२ आना और १५ रुपया ८ आना और ३८ रुपया १२ आना और

७७ रुपया ८ आना और ३८७ रुपया ८ आना

६—डाकख़ाने के ५ साल वाले कैश सार्टिफ़िकट हर वक़्त हर ऐसे डाकख़ाने में ख़रीदे जा सकते हैं जहां सेविङ्ग बङ्क का काम होता हो मगर एक शख़्स ज़ियादा से ज़ियादा १०००० रुपये की मालियत के सार्टिफ़िकट ख़रीद सकता है ॥

७—इन सार्टिफ़िकटों का रुपया उस डाकख़ाने से जहां से वह जारी किये गये हों ५ साल की मियाद के अन्दर (भी) हर वक़्त उन शरहों से मिल सकता है जो किसी हालत में उस रक़म से कम न होंगी जो सार्टिफ़िकट के लिये शुरू में अदा की गई हो । यह और दूसरे हालात हर डाकख़ाने से मालूम किये जा सकते हैं ॥

(दस्तख़त) एच० एफ़० हावर्ड
सेक्रेटरी गवर्नमेन्ट हिन्द

१०४

नमूना (क)

नमूना जो उस सूरत में इस्तेमाल किया जायगा जब सरकारी दफ़्तर के ज़रिये से ख़रीद की जाय

मैं / हम ——————————————————————

इस दरख़्वास्त के साथ —————————————————— रुपया

इस ग़रज़ से पेश करता हूं / करते हैं कि इसी क़ीमत के सन् १९२१ / १९२३ / १९२६ / १९५८ ई० वाले वार बान्ड मेरे / हमारे नाम प्रामिसरी नोट / स्टाक सार्टिफ़िकट की क़िस्म के जारी किये जायं और सूद मुक़ाम ——————— में वाजिबुल अदा हो ॥

दस्तख़त ——————————————

नाम ——————————————

तारीख़ ——————— पता ——————————————

नमूना (ख)

नमूना जो उस सूरत में इस्तेमाल किया जायगा जब डाकख़ाने से ख़रीद की जाय

मैं / हम —————————————— अपनी सेविङ्ग बङ्क की पासबुक या पास बुकें (ताकि मेरे / हमारे हिसाब में से जो ——————————————

रुपया

—————————————— डाकख़ाने में है मुबलिग़ —————— रुपया निकाल लिया जाय) इस ग़रज़ से पेश करता हूं / करते हैं

कि इसी क़ीमत के सन् १९२१ / १९२३ / १९२६ / १९२८ ई० वाले वार बान्ड प्रामिसरी नोट / स्टाक सार्टिफ़िकट की क़िस्म के जारी किये जायं

मुझको / हमको हवाला कर दिये जायं

और ——————————————

एकौन्टन्ट जनरल डाकख़ाना व टेलिग्राफ़ की तहवील में रक्खे जायं ॥

२—उस का सूद—

(१) ख़ज़ाना —————————— में अदा किया जाय ।

(२) मेरे हिसाब सेविङ्ग बङ्क नम्बर —————————— में जमा किया जाय जो

डाकख़ाना —————— में है ॥

(३) ऐसे हिसाब सेविङ्ग बङ्क में जमा किया जाय जो मेरे नाम से डाक-ख़ाना —————— में खोला जाय ॥

दस्तख़त ——————————————

पूरा नाम ——————————————

पता ——————————————

तारीख़ ——————————

(यह इन्दिराज डाकख़ाना करेगा)

डाकख़ाने में पेश किये जाने की तारीख़

हेड आफ़िस की मुहर

रजिस्टर नम्बर

(यह वह पोस्टमास्टर लिखेगा जिस को दरख़्वास्त दी जाय)

(यह हेड पोस्टमास्टर लिखेगा)

लड़ाई का क़र्ज़ा

स्क्रिप (यानी एक क़िस्म का सार्टिफ़िकट क़र्ज़ा) के दिये जाने का बन्दोबस्त

मुक़ाम शिमला—११ मई सन् १९१८ ई०

नीचे लिखा हुआ सरकारी एलान आज यहाँ जारी किया गया है—

चूंकि हिन्दुस्तान के सन् १९१७—१८ ई० के लड़ाई के क़र्ज़े का स्क्रिप देर में मिलने की निस्बत बहुत सी शिकायतें हुईं इस लिये गवर्नमेन्ट हिन्द ने इस ग़रज़ से कि आयन्दा इस तरह की शिकायतों की कोई वजह बाक़ी न रहे एक बिलकुल नया तरीक़ा इख़्तियार करने के मुताल्लिक़ ग़ौर किया है । उस तरीक़े के मुताबिक़ जो अब तक जारी था सरकारी क़र्ज़े में क़र्ज़ा देनेवालों को लाज़िम था कि हर सूरत में एक बा-क़ायदा दरख़्वास्त मय उस ज़र नक़द के दें जो उस क़र्ज़े की मद में देने के लिये पेश किया जाय । उसके बदले में रुपया देने वाले को मंज़ूर किये हुये क़र्ज़े की चिट्ठी या मंज़ूर किये हुए क़र्ज़े का सार्टफ़िकट दिया जाता था और यह बाद में उसको पब्लिक डेट आफ़िस (दफ़्तर क़र्ज़ा सरकारी) को रवाना करना पड़ता था और उस के बदले में उस को असली स्क्रिप मिलता था जो ख़रीद किये हुये किफ़ालतनामे की जगह होता था । यह मामूली ज़ाब्ते की कारवाइयां अगरचि ऐसे क़र्ज़ों के लिये जो ज़ियादा भारी रक़मों के न थे मुनासिब साबित हुईं लेकिन पिछले साल के भारी क़र्ज़े के मुताल्लिक़ जिस में हज़ारों आदमियों ने रुपया दिया काफ़ी तौर पर कार आमद न हुईं ।

उस तरीक़े के मुताबिक़ जो अब इख़्तियार किया जायगा यह कारवाइयाँ बिलकुल नहीं की जायंगी । प्रेज़िडेन्सी बंकों की मार्फ़त क़र्ज़ा ख़रीदने वाले ज़रूरी रक़म बज़रिये चेक या करन्सी नोटों या ज़र नक़द के अदा करने पर फ़ौरन अपना स्क्रिप उस जगह जहां रुपया दिया जाता है पा सकेंगे । इस के साथ ही उन को रुपया अदा करने की तारीख़ से १५ सितम्बर सन् १९१८ ई० तक का सूद पेशगी मिलेगा ॥

सरकारी ख़ज़ानों और कन्ट्रोलर करन्सी व एकौन्टन्ट जनरलों के दफ़्तरों में ऊपर लिखे हुए तरीक़े के मुताबिक़ पूरे तौर से अमल न किया जा सकेगा ताहम पहला तरीक़ा बहुत सादा बना दिया जायगा । ऐसा बन्दोबस्त कर दिया गया है कि एकौन्टन्ट जनरलों के पास प्रामिसरी नोट की क़िस्म के स्क्रिप दरख़्वास्त देने वालों के हक़ में इबारत ज़रूरी दर्ज करने के लिये तैयार रहेंगे और और इस वास्ते मंज़ूर किये हुए क़र्ज़ेचिट्ठियां नहीं दी जायँगीं । इन दफ़्तरों और ख़ज़ानों से लड़ाई का क़र्ज़ा ख़रीदने वालों के लिये उस रक़म के देने पर जो उन से मिलनी चाहिये सिर्फ़ यह ज़रूरी होगा कि अपना नाम व पता और उस लड़ाई के क़र्ज़े की जो वह ख़रीदना चाहते हैं रक़म और क़िस्म और उस ख़ज़ाने का नाम जिससे वह

...ते हैं कि सूद उन को दिया जाय, तहरीर के ज़रिये से बयान करें। इस के बाद एकौन्टन्ट जनरल स्क्रिप (अगर दरख़्वास्त ख़ज़ाने की मार्फ़त दी गई हो तो ख़ज़ाने की मार्फ़त) मय सूद पेशगी के जैसा ऊपर दर्ज है देगा। गवर्नमेंट हिन्द को उम्मैद है कि उस रुपये की बाबत भी जो इस क़र्ज़े में ख़ज़ाने की मार्फ़त दिया जाय चन्दा देने वाले को उस का स्क्रिप मिलने में क़रीब एक हफ़्ते से ज़ियादा देर न होगी॥

ऊपर लिखा हुआ बन्दोबस्त उन सूरतों के मुताल्लिक़ है जिन में चन्दा देने वाला अपना स्क्रिप प्रामिसरी नोटों की शक्ल में चाहे। जिन सूरतों में वह यह पसन्द करे कि जो काग़ज़ उस को दिया जाय वह इन्सक्राइब्ड स्टाक की शक्ल में हो उन में पबलिक डेट अफ़िस (दफ़तर क़र्ज़ा सरकारी) सार्टिफ़िकट मय सूद पेशगी बराह रास्त दरख़्वास्त देने वाले को इस वक्त देगा जब कि वह ज़रूरी रक़म मय उन हालात के जिन का ऊपर ज़िक्र है किसी ख़ज़ाने में या कन्ट्रोलर करन्सी या किसी एकौन्टन्ट जनरल के दफ़्र में या प्रेज़िडेन्सी बंकों में से किसी बंक के हेड आफ़िस या ब्रांच आफ़िस में पेश करे। यह अफ़सोस है कि बेयरर बान्ड शुरू में न मिल सकेंगे क्योंकि मौजूदा हालात में इङ्गलिस्तान से इन के यहाँ तक आने में ज़रूर ज़ियादा वक्त लगेगा। जब यह बान्ड आ जायंगे तो वह क़र्ज़ देने वाले जिनकी ऐसी ख़्वाहिश हो इन्सक्राइब्ड स्टाक या प्रामिसरी नोटों के बदले बिला ख़र्च उन को ले सकेंगे॥

लड़ाई, पूरी लड़ाई, और सिर्फ़ लड़ाई

आम तौर पर संसार में इन दिनों लड़ाई जीतने के सिवाय और कोई खास बात नहीं।

आप की आइन्दा हालत का अच्छा या बुरा होना और सारे संसार की आइन्दा हालत का अच्छा या बुरा होना इसी पर निर्भर है।

यदि आप खुद लड़ नहीं सकते तो आप लड़ाई के जीतने में लड़ाई के क़र्ज़े में रुपया देने से मदद कर सकते हैं।

यह न कहिये कि आप के पास रुपया नहीं है और आप कुछ नहीं कर सकते। हर एक आदमी चाहे मर्द हो या औरत मदद कर सकता है। बिना नये कपड़ों और नये जोड़ों और और बहुत सी चीज़ों के आप का काम चल सकता है। लड़ाई के मैदान में लड़नेवाले सिपाही अपना सभी कुछ दे रहे हैं। क्या आप कुछ भी देने के लिये तय्यार नहीं हैं ?

आप कुछ न कुछ रुपया बचा सकते हैं चाहे वह थोड़ा ही हो और एक रुपये से भी कुछ न कुछ काम चलता है।

उसी रुपये से बन्दूक़ गोले और आप के दोस्त और रिश्तेदारों के लिये जो कि लड़ाई के मैदान में हैं खाना और कपड़ा मोल लिया जा सकता है। और उन लोगों की ज़िन्दगी इन्हीं चीज़ों पर निर्भर है।

क़र्ज़े में आप के रुपया देने से और यदि ज़्यादा नहीं तो ७ रु० १२ आने के पोस्ट आफ़िस कैश सार्टिफ़िकट ख़रीदने ही से एक आदमी की जान बच सकती है।

याद रखिये कि यह ज़ुल्म और इन्सानी रहमदिली के दरमियान और आज़ादी और ग़ुलामी के दरमियान अख़ीर बड़ी लड़ाई है।

क्या आप कुछ भी नहीं करना चाहते हैं ?

अख़बारों के लिये सरकारी इत्तलाअ़ ॥

शरायत मुन्दरजा पैराग्राफ़ ३५ इश्तिहार गवर्नमेन्ट हिन्द सीग़ा ख़ज़ाना नम्बर ३८० (एफ) मवरख़ा १ मार्च १९१७ के बमूजिब फ़िल हाल मालिकान पोस्ट आफ़िस कैश सार्टीफ़िकेट को पेश्तर इस से कि वह किसी दूसरे पोस्ट आफ़िस से अपने सार्टीफ़िकेटों की क़ीमत हासिल कर सकें उस पोस्ट आफ़िस में जहां से इन्हों ने सार्टीफ़िकेट मज़कूर ख़रीद किये हों एक दरख़्वास्त देनी पड़ती है और नीज़ उस डाकख़ाने के पोस्ट मास्टर से जहां उन्हों ने सार्टीफ़िकेट ख़रीद किये हों यह वजह बयान करनी पड़ती है कि दूसरे डाकख़ाने से उनकी क़ीमत क्यों मतलूब है। गवर्नमेन्ट हिन्द ने यह फ़ैसला कर लिया है कि यह क़यूद जो उनकी दानिस्त में आम लोगों को तकलीफ़देह साबित हुई हैं मनसूख़ करदी जावें और आयन्दा मालिक पोस्ट आफ़िस कैश सार्टीफ़िकेट बग़ैर इस के कि वह उस डाकख़ाने में जहां से सार्टीफ़िकेट मज़कूर ख़रीद किया गया है इस क़िस्म की इजाज़त हासिल करने के लिये दरख़्वास्त दे या यह वजूह बयान करे कि क्यों वह उसकी क़ीमत किसी और जगह से चाहता है उसकी क़ीमत किसी ऐसे डाकख़ाने से हासिल कर सकेगा जहां सेविंग बैंक का काम होता है ॥

मुक़ाम शिमला :

ता० १० जून १९१८.

कम्यूनीक (इत्तिला)

बनारस के आनरेबिल राजा मोतीचन्द साहिब सी० आई० ई० ने अपनी फ़ैयाज़ी से जो मशहूर है और अक्सर ज़ाहिर होती रहती है अपना यह इरादा ज़ाहिर किया है कि वह एक विधवा आश्रम (बेवा ख़ाना) में जो उन्होंने हाल में बनारस में खोला है संयुक्त देश के मक़तूल सिपाहियों की उन सब विधवाओं की अपने सर्फ़ से पर्वरिश करेंगे जो उसमें जाना और रहना चाहें, चाहे वह तेदाद में कितनी ही हों और उन की जाति व मज़हब कुछ ही हो। ज़ाहिर है कि जैसा कि इस विधवा आश्रम के बानी राजा साहिब ने अपना ख़याल ज़ाहिर किया है इस क़ाबिल तारीफ़ काम की वजह से उन लोगों के दिलों को फ़िक्र से नजात मिलेगी जो आयन्दा भरती होना चाहें और इस बात का इतमीनान व यक़ीन हो जायगा कि अगर कोई मुसीबत उन पर आयेगी तो उन की बीवियों की ख़बरगीरी होगी और वह बेचारगी और बे सरो सामानी की हालत में छोड़ी न जायँगी ॥

आप के उस रुपये से क्या क्या नफ़ा होगा जो आप सरकारी दूसरे लड़ाई के क़र्ज़े में जमा करेंगे

ख़ुद आप को तो यह नफ़ा होगा कि हर सौ रुपये के बदले जो आप क़र्ज़े में जमा करेंगे सरकार आप को सौ रुपया सन् १९२१ ई०. या सन् १९२३ ई० में अदा करेगी और अलावा इस के ५ रुपया ८ आना सूद सालाना उस मुद्दत की बाबत देगी जो इस दरमियान में गुज़रेगी या आप को १०३ रुपया सन् १९२५ ई० में या १०५ रुपया सन् १९२८ ई० में और ५ रुपया ८ आना सालाना सूद इस दरमियानी मुद्दत की बाबत देगी। और आप का रुपया जो इस क़र्ज़े में जमा किया जायगा पूरे तौर पर महफ़ूज़ रहेगा ॥

आप के इस मुल्क हिन्द के हम-वतनों को यह नफ़ा होगा कि जो रुपया लड़ाई के क़र्ज़े में जमा किया जायगा उस में का हर एक रुपया यानी वह सब का सब मुल्क हिन्द में ख़र्च किया जायगा और इस तरह उस से मुल्क हिन्द के किसानों और और ऐसे अशख़ास को जो कोई चीज़ें पैदा करते या बनाते हैं सरीही तौर पर फ़ायदा पहुंचेगा ॥

आप के उन देसी भाइयों को जो मैदान जंग में हैं यह नफ़ा होगा कि जो रुपया लड़ाई के क़र्ज़े में जमा किया जायगा उस के हर एक रुपये से आप के उन देसी भाइयों के सही सलामत रहने और आराम पाने के सामान में अफ़ज़ाइश होगी जो लड़ाई के मैदान में मौजूद हैं ॥

मुल्क हिन्द और तमाम सल्तनत अँग्रेज़ी के नफ़े की निस्बत यह समझना चाहिये कि जो रुपया लड़ाई के कर्ज़े में जमा किया जायगा उस का हर एक रुपया दुश्मन पर एक गोली चलने का काम देगा और इस तरह उस रुपये से आप के घर और ख़ानदान की हिफ़ाज़त बढ़ेगी ॥

अगर आप की आमदनी कम हो तो अपना रुपया बचाने और बढ़ाने की कोशिश कीजिये और ७ रुपये १२ आने में १० रुपये का डाकख़ाने का सार्टिफ़िकट ख़रीद लीजिये जिस का रुपया जारी होने के बाद ५ साल में क़ाबिल अदा होता है। अगर आप को ज़्यादा मक़दूर हो तो लड़ाई के बान्ड १०० रुपये वाले ख़रीद लीजिये। वार बान्ड के लिये बंक बंगाल या किसी ख़ज़ाना सरकारी में या पोस्ट आफ़िस सार्टिफ़िकट ज़र नक़द या वार बान्ड के लिये किसी ऐसे पोस्ट आफ़िस (डाकख़ाना) में दरख़्वास्त दी जानी चाहिये जिसमें सेविंग बंक का काम होता हो।

कुछ वजूह इस बात की कि आप को कर्ज़े जंग में रुपया क्यों देना चाहिये

इन्तिख़ाब स्पीच आली जनाब नवाब गवर्नर जनरल बहादुर मुअर्रख़ा २२ मार्च सन् १९१८ ई०

१—लड़ाई के मुताल्लिक़ इस बात की बेहद ज़रूरत है कि इस क़र्ज़े के मिल जाने के लिये पूरी कोशिश की जाय। क्योंकि लड़ाई में फ़तह पाने की ग़रज़ से हम को तोपें और गोले और रैफ़ल और टैंक और हवाई जहाज़ और (मामूली) जहाज़ और उमदा खाना और कपड़ा उन लोगों के वास्ते जो हमारे लिये लड़ रहे हैं और बहुत सी और चीज़ें दरकार हैं। पस फ़तह का हासिल होना इस बात पर मुनहसिर है कि रुपया जिससे यह सब चीज़ें ख़रीद की जा सकती हैं इफ़रात से मिले और यह आप का काम है कि रुपया मुहैया करें ॥

२—"यह कुल रुपया हिन्द में गेहूं और चावल और जूट और रुई और बूट (जूतें) और ख़ेमें वग़ैरा की ख़रीदारी में सर्फ़ किया जायगा ताकि हमारी फ़ौजों के पास ज़रूरी सामान पहुंचता रहे"। पस इस तरह उससे हिन्द के काश्तकारों और माल तैयार करने वाले कारख़ानों को नफ़ा पहुंचेगा ॥

३—"यह कुल रुपया सरीहन इसी काम में ख़र्च होता है कि लड़ाई कामयाबी के साथ जारी रक्खी जाय और (इस तरह) सल्तनत की मदद की जाय"। आप सरकारी क़र्ज़े में रुपया जमा करने से सरीहन् लड़ाई के फ़तह करने में मदद करते हैं और यह बात आप और किसी तरह नहीं कर सकते यह समझिये कि एक रुपया क़र्ज़े में जमा करना आप के लिये ऐसा है जैसा कि एक गोली का दुशमन पर चलाना ॥

४—"अगर यहां हिन्द में क़र्ज़ा मिलने में कामयाबी होगी तो उसका नतीजा यह होगा कि उसका सूद यहां के लोगों को मिलेगा बजाय इस के कि बड़ी बड़ी रक़में उस रुपये के सूद की बाबत देनी पड़ें जिसका अदा करना उस दस करोड़ (पौन्ड) की रक़म में से अभी तक बाक़ी है जो पिछले साल (हिन्दुस्तान से लड़ाई के ख़र्च के लिये) पेश की गई है। और नीज़ यह फ़ायदा होगा कि यहां पर ज़्यादा टैक्स लगाने की ज़रूरत न होगी" ॥

....

आप पर फ़र्ज़ है कि जो लोग मैदान जंग में आप के लिये लड़ रहे हैं उन की मदद करें। अपने उन रिश्तेदारों और दोस्तों और पड़ोसियों का ख़याल कीजिये जो लड़ाई पर गये हैं। उन की मदद करना आप पर फ़र्ज़ है। उन लोगों के

बड़े काम के मुक़ाबिले में जो लड़ रहे हैं ऐसे रुपये का जो आप बचा सकें गवर्नमेन्ट को क़र्ज़ दे देना बहुत ज़रा सी बात है। वह तो आप के लिये सब कुछ दे रहे हैं क्या आप इसका कुछ भी बदला न देंगे और उन के लिये कुछ न करेंगे ॥

अलावा इसके अपने रुपये को नफ़े पर लगाने का इससे बिहतर और ज़्यादा महफ़ूज़ कोई और ज़रिया आप को दुनिया भर में हासिल नहीं हो सकता। आप से यह नहीं कहा जाता कि चन्दा दीजिये बल्कि आप से रुपया क़र्ज़ मांगा जाता है और वह भी इस शर्त पर कि आप को सैकड़ा पर ५½ रुपया सालाना सूद भी मिलेगा और उस पर इन्कम टेक्स कुछ न देना होगा और सरकार अँग्रेज़ी इस बात की ज़िम्मेदारी करती है कि वह इस क़र्ज़ का एक एक पैसा आप को वापस देगी ॥

आप सौ रुपया या उससे ज़्यादा के वार बान्ड ख़रीद कर सकते हैं और गवर्नमेंट आपका क़र्ज़ ३ या ५ या ७ या १० साल में अदा कर देगी और उस के अलावा ५½ रुपया सैकड़ा सालाना सूद भी देगी। या अगर आप चाहें तो अपने वार बान्ड (चाहे जितने हों) हर वक़्त (दूसरों के हाथ) फ़रोख़्त कर सकते हैं। अगर आप के पास सिर्फ़ थोड़ा ही रुपया हो तो आप ७ रुपया १२ आना वाला पोस्ट आफ़िस सार्टिफ़िकट ख़रीद कर सकते हैं और फिर ५ बरस में उस के बदले आप को दस रुपये मिल जायंगे। या अगर आप १५ रुपया ८ आना का पोस्ट आफ़िस सार्टिफ़िकट लेंगे तो आप को २० रुपये मिलेंगे और इसी हिसाब से जितने ज़्यादा रुपये का सार्टिफ़िकट होगा उतना ही ज़्यादा रुपया उस के बदले मिलेगा ॥

याद रखिये कि जो रुपया आप इस क़र्ज़े में जमा करेंगे वह जाल व फ़रेब और चोर बदमाश और आग से जलने और खुश्कसाली में उठ जाने (सब बलाओं) से बिलकुल बचा रहेगा और सरकार न तो कभी दिवालिया होती है और न कभी ऐसा होता है कि वह अपने ज़िम्मे का क़र्ज़ा अदा न करे ॥

मुल्क हिन्द का दूसरा लड़ाई का क़र्ज़ा

कुल नक़द चन्दे जो वसूल होंगे आला हज़रत मलिक मुअज़्ज़म क़ैसर हिन्द की गवर्नमेन्ट को मुल्क हिन्द की दस करोड़ पौन्ड की रक़म इमदाद के एक हिस्से के तौर पर लड़ाई के काम के वास्ते दिये जायँगे।

जारी किया जाना

५½ रु० सैकड़ा सालाना सूद वाले सन् १९२१ ई० के वार बान्ड का जिन के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा

जो १५ सितम्बर सन् १९२१ ई० को सौ रुपये में १०० रुपये के हिसाब से क़ाबिल अदा होंगे।

५½ रु० सैकड़ा सालाना सूद वाले सन् १९२३ ई० के वार बान्ड का जिन के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा

जो १५ सितम्बर सन् १९२३ ई० को सौ रुपये में १०० रुपये के हिसाब से क़ाबिल अदा होंगे।

५½ रु० सैकड़ा सालाना सूद वाले सन् १९२५ ई० के वार बान्ड का जिन के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा

जो १५ सितम्बर सन् १९२५ ई० को सौ रुपये में १०३ रुपये के हिसाब से क़ाबिल अदा होंगे।

५½ रु० सैकड़ा सालाना सूद वाले सन् १९२८ ई० के वार बान्ड का जिनके सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा

जो १५ सितम्बर सन् १९२८ ई० को सौ रुपये में १०५ रुपये के हिसाब से क़ाबिल अदा होंगे।

और

डाकख़ाने के ५ साल वाले कैश सार्टिफ़िकट (सार्टिफ़िकट ज़र नक़द) का जिन के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा

१०४

वार बान्ड

किफ़ालतनामों की क़िस्में—वार बान्ड (क) इन्सक्राइब्ड स्टाक सार्टिफ़िकट की क़िस्म या (ख) प्रामिसरी नोट की क़िस्म के जारी किये जायँगे जो अगर ख़्वाहिश की जायगी तो बाद में बेयरर बान्ड से जब बेयरर बान्ड मिल सकेंगे बिला क़ीमत तबदील किये जायँगे ॥

वार बान्ड किस तरह हासिल हो सकते हैं

वार बान्ड इन्सक्राइब्ड स्टाक की शकल में या बतौर प्रामिसरी नोट के १०० रुपये और इस से ज़्यादा ऐसी और रक़म की मालियत मुन्दर्जा के जो सौ पर पूरी तक़सीम हो सकती हो ३ जून सन् १९१८ ई० से १४ सितम्बर सन् १९१८ ई० तक रक़म वाजिबुल वसूल—

(क) बंगाल बंक की किसी ब्राञ्च (शाख़) में जो हिन्दुस्तान में हो

(ख) किसी एकौन्टन्ट जनरल या कन्ट्रोलर के दफ़्तर में

(ग) किसी सरकारी ख़ज़ाना या ख़ज़ाना मातहत में

अदा करने पर ख़रीदे जा सकते हैं ।

या

२५ रुपये या इस से ज़ियादा ऐसी और रक़म की मालियत मुन्दर्जा के जो २५ पर पूरी तक़सीम हो सकती हो ज़ियादा से ज़ियादा १०००० रुपये तक के किसी ऐसे डाकख़ाने में--जिस में सेविंग बङ्क का काम होता हो रक़म वाजिबुल वसूल अदा कर के और दरख़्वास्त देकर ३ जून सन् १९१८ ई० से २१ दिसम्बर सन् १९१८ ई० तक ख़रीदे जा सकते हैं ॥

वार बान्ड के लिये दरख़्वास्तें किसी ऐसे नमूने के मुताबिक़ हो सकती हैं जिसमें बान्ड मतलूबा की रक़म और क़िस्म और दरख़्वास्त देने वाले का पूरा नाम और पता और उस ख़ज़ाने का नाम जहां वह सूद वसूल करना चाहता हो साफ़ साफ़ दर्ज हो ॥

रुपया या तो नक़द या बज़रिये चेक के अदा किया जा सकता है ॥

सूद—५½ रुपया सैकड़ा सालाना जो हर शशमाही पर यानी १५ मार्च और १५ सितम्बर को क़ाबिल अदा होगा ॥

ख़रीदारी की तारीख़ से १४ सितम्बर सन् १९१८ ई० तक का सूद बान्ड की ख़रीदारी के वक़्त पेशगी अदा कर दिया जायगा ॥

उन बान्ड पर जो डाकख़ाने के ज़रिये से १४ सितम्बर सन् १९१८ ई० के बाद ख़रीद किये जायँ ख़रीदारी की तारीख़ से १४ मार्च सन् १९१९ ई० तक का सूद ख़रीदारी के वक़्त पेशगी अदा कर दिया जायगा ॥

डाकख़ाने के ५ साल वाले कैश सार्टिफ़िकट

(सार्टिफ़िकट ज़र नक़द)

(इन के सूद पर इन्कम टेक्स नहीं लिया जायगा)

१० रु० और २० रु० और ५० रु० और १०० रु० और ५०० रु० के

इनका रुपया जारी होने के वक़्त से ५ साल गुज़रने पर क़ाबिल अदा होगा

जारी किये जाने के वक़्त की क़ीमत

७ रुपया १२ आना और १५ रुपया ८ आना और ३८ रुपया १२ आने और

७७ रुपया ८ आना और३८७ रुपया ८ आना

हर वक़्त हर ऐसे डाकख़ाने में ख़रीदे जा सकते हैं जहां सेविङ्ग बङ्क का काम होता हो मगर एक शख़्स ज़ियादा से ज़ियादा १०००० रुपये की मालियत के सार्टिफ़िकट ख़रीद सकता है । इन सार्टिफ़िकटों का रुपया हर डाकख़ाने से ५ साल की मियाद के अन्दर (भी) हर वक़्त उन शरहों से मिल सकता है जो किसी हालत में उस रक़म से कम न होंगी जो सार्टिफ़िकट के लिये शुरू में अदा की गई हो । पूरे हालात हर डाकख़ाने से मालूम किये जा सकते हैं ॥

यहां के लोगों के अपने पास रुपया जमा रखने से जरमनी वालों को किस तरह मदद मिलती है।

इस वक्त में हिन्दुस्तान और इङ्गिलिस्तान और इत्तिहादी सलतनतों की फ़ौजें हिन्दुस्तान के दुशमन से बचा रही हैं। अगर यह दुशमन कामियाब होगा तो वह इस मुल्क के लोगों को लूट लेगा और उन पर जुल्म करेगा। इस वजह से हर ख़ैरख़्वाह मुल्क हिन्दुस्तानी पर यह बात फ़र्ज़ है कि अगर वह खुद इस लायक़ न हो कि मैदान जङ्ग में जाकर लड़ाई में शरीक़ हो तो इतना तो ज़रूर करे कि जो और बहादुर सिपाही उस के वास्ते लड़ रहे हैं उन की हर तरह जहां तक उस की कोशिश से हो सके मदद करे। लेकिन यह निहायत ताज्जुब की बात बिल्कुल सही है कि आज हिन्दुस्तान में ऐसे लोग भी मौजूद हैं जो बजाय इस के कि (सरकार अंग्रेज़ों को) लड़ाई में फ़तह हासिल होने की ग़रज़ से मदद दें, (अंग्रेज़ी) फ़ौज की कोशिशों को इस क़दर रोकते हैं कि उन का यह काम दुशमन को मदद देने की हद तक पहुंच जाता है। क्या इस में कुछ शक हो सकता है कि कोई शख़्स भी अपने दिल से इस बात पर राज़ी न होगा कि खुद अपने मुल्क के बहादुर सिपायों को नुक़सान पहुंचाये और उन की तकलीफ़ बढ़ाये। ग़ालिबन् इस में कुछ शक नहीं हो सकता और फिर भी वह लोग जो लड़ाई के ज़माने में रुपया इस तरह जमा रखना चाहते हैं कि उस को ज़मीन में दफ़न करदें या उस को सन्दूक़ में बन्द करके रक्खें या उस को गला कर उसका ज़ेवर बनवालें, वह खुद अपने मुल्क को बल्कि उन सब मुल्कों को जो आदमियों की आज़ादी के लिये लड़ रहे हैं बहुत सख़्त नुक़सान पहुंचा रहे हैं। और वह कोतह-अन्देश लोग भी जो चांदी के ज़ेवर ख़रीदते हैं अपने इस फ़ेल से चांदी गलाने की तरफ़ दूसरों को रग़बत दिलाते हैं और इस ख़राब तरीक़े की ताईद करते हैं, क्योंकि जो चांदी इन ज़ेवरों के लिये दरकार होती है वह आज कल किसी और तरीक़ों से हासिल नहीं हो सकती॥

पस सवाल यह है कि इस रुपया जमा करने के तरीक़े से मुल्क हिन्दुस्तान को ऐसा नुक़सान किस तरह पहुंचता है॥

जब रुपये हिन्दुस्तान में जमा के तौर पर घरों में (किसी तरीक़ा मज़कूरा बाला से) रख लिये जाते हैं तो गवर्नमेंट को उन के एवज़ में नये रुपये बनवाकर इस गरज़ से जारी करने की ज़रूरत होती है कि मुल्क में लोगों के कारोबार जारी रहें और उन में किसी क़िस्म का हर्ज व ख़लल न हो। नये रुपये बनाने के लिये ख़्वाहमख़्वाह चांदी की ज़रूरत होती है और चांदी दूसरे मुल्कों में ख़रीदनी पड़ती है और इस तरह उस को समुन्दर के रास्ते से बहुत दूर लाना होता है और उस के इस तरह लाने में भी बहुत ज़्यादा ख़र्च होता है। पिछले दो बर्सों में गवर्नमेंट को बहुत ज़्यादा यानी ५० करोड़ नये रुपये इस ग़रज़ से मजबूरन बनाने पड़े कि वह उन रुपयों के एवज़ में जारी किये जायँ जो कोतह-अन्देश लोगों ने अपने पास रख लिये हैं॥

इस के अलावा अब गवर्नमेन्ट को इस बात की ज़रूरत साबित हुई कि इसका इन्तिज़ाम करे कि हमारे बड़े दोस्त और इत्तिहादी रफ़ीक़ मुल्क अमरीका से और ज़्यादा चांदी मंगवाई जाय ताकि गवर्नमेन्ट ५० करोड़ रुपये और बनवा सके। चुनांचि इस में से बहुत सी चांदी अमरीका से रवाना हो चुकी है और हिन्दुस्तान की राह में है और बाक़ी भी थोड़े अर्से के बाद हिन्दुस्तान को भेजी जायगी॥

यह बात बहुत लिहाज़ के क़ाबिल है कि चांदी की इस ख़रीदारी से बहुत नुक़सान होता है क्योंकि इस का नतीजा यह होता है कि इस मुल्क को अपनी दौलत सिर्फ़ धात के बदले इस मुल्क से बाहर भेजनी पड़ती है। अगर गवर्नमेन्ट हिन्द उस रुपये को जो उसने इस चांदी की ख़रीदारी में सर्फ़ किया क़र्ज़ में लगा देती तो उस को पांच करोड़ रुपया सालाना सूद का मिलता और यह ज़ायद आमदनी जो इस तरह होती हिन्दुस्तान के लोगों के नफ़े के काम में यानी या तो महसूल के कम करने में या बनिस्बत हाल के बेहतर इन्तिज़ाम तालीम या हिफ़्ज़ान सेहत में सर्फ़ होती॥

अलावा इस के जो चांदी अमरीका से आती है वह हिन्दुस्तान में ख़्वाह मख़्वाह जहाज़ों में लाई जाती है। यह अम्र हिन्दुस्तान और इत्तिहादी मुल्कों के लिये बहुत नुक़सान का बाइस है, क्योंकि इस वक्त इस की ज़रूरत है कि जो जहाज़ भी मिल सके वह या तो लड़ाई के काम में इस्तेमाल किया जाय यानी उस पर फ़ौज या (लड़ाई का) सामान भेजा जाय या उस में ऐसा सामान मसलन सूती कपड़ा और नमक लाया जाय क्योंकि यह चीज़ें अब हिन्दुस्तान में मिस्ल साबिक़

के ज़्यादा मिक़दारों में इस वजह से नहीं लाई जा सकती हैं कि जहाज़ और कामों के लिये दरकार होते हैं। इस का नतीजा यह होता है कि बनिस्बत साबिक़ के यह चीज़ें यहां कामयाब और ज़्यादा मंहगी हो जाती हैं। इस तरह रुपया घर में रख लेने से इन चीज़ों का और और ज़रूरी चीज़ों का निर्ख़ मंहगा हो जाता है ॥

बख़िलाफ़ इस के अगर मुल्क हिन्दुस्तान रुपया चांदी की ख़रीदारी में सर्फ़ न करता बल्कि वह रक़म क़र्ज़े में लगाता तो उस का सूद मिलता और अलावा इस के खुद वह रुपया सिपाहियों के लिये रफ़ल और कपड़ों और खाने की ख़रीदारी में या और ज़्यादा जहाज़ बनाने में सर्फ़ होता और जब जहाज़ ज़्यादा हो जाते तो हिन्दुस्तान में ज़रूरियात ज़िन्दगी ज़्यादा मिक़दारों में बाहर के मुल्कों से आजातीं ॥

इस के सिवा यह बात भी क़ाबिल लिहाज़ है कि चांदी के खान में से निकालने और चांदी को रेल की ट्रेनों और जहाज़ों पर लादने और ट्रेनों और जहाज़ों के चलाने के लिये आदमी दरकार होते हैं। नतीजा उस का यह होता है कि वह आदमी (जो अमरीका के रहनेवाले और हमारे इत्तिहादी हैं) ऐसे काम पर से हटा लिये जाते हैं जिस से लड़ाई में मदद मिलती॥

इस बात का ज़िक्र करना भी ज़रूरी है कि सिवाय हिन्दुस्तान के और सब मुल्कों में नोट ज़्यादा कसरत से जारी और वहां के लोगों में रायज, हो गये हैं ताकि सिक्का बनाने के लिये जो धात इस्तेमाल की जाती है उस के ख़र्च में किफ़ायत हो। सिर्फ़ हिन्दुस्तान ही ऐसा मुल्क है जिसमें बजाय नोटों के धात के सिक्के ऐसी बड़ी कसरत से जो इस वक़्त यहां पाई जाती है रायज हैं। नतीजा यह है कि इस तरीक़े पर अमल करने से और मुल्कों को बड़ा नफ़ा पहुंचता है जो इस तरह हिन्दुस्तान के नुक़सान से खुद नफ़ा उठाते हैं और अपनी दौलत बढ़ाते हैं। और इस की तो कोई वजह नहीं मालूम होती कि हिन्द के लोग रुपया घरों में जमा कर लें। यहां की गवर्नमेन्ट मुन्सिफ़ और क़वी है और बहुत से मौक़े इस बात के हासिल हैं कि जो रुपया वक़्त मौजूदा में ख़र्च के लिये दरकार न हो वह नफ़े पर लगा दिया जाय ताकि उस के मालिक को उस का सूद हासिल हो सके और इसके साथ ही और सब लोगों को भी उस से नफ़ा पहुंचे। जिस रुपये की निस्बत यह ज़रूरी समझा जाय कि थोड़े ही अर्से पहिले नोटिस देने के बाद वह मिल सके वह डाकख़ाने के सेविंग्स् बंक में जमा किया जा सकता है या उसका पोस्ट-आफ़िस कैश सार्टिफ़िकट ख़रीद किया जा सकता है। जिस रुपये की (ख़र्च के लिये) फ़ौरन ज़रूरत न हो वह वार बान्ड की ख़रीदारी में लगाया जा सकता है जिन का सूद बहुत ज़्यादा शरह से मिलता है। उस सब रुपये से जो इस तरह गवर्नमेन्ट को क़र्ज़ दिया जाता है सारे हिन्दुस्तान को भी सरीहन् नफ़ा पहुंचता है क्योंकि वह सिपाहियों के लिये हिन्दुस्तान में कपड़े और गेहूं और चावल और खाने की और चीज़ों और नीज़ जूट और रुई और खाल (चमड़े) और बूट और जूतों की ख़रीदारी में सर्फ़ किया जाता है। इस तरह एक तरफ़ तो किसान को नफ़ा पहुंचता है और दूसरी तरफ़ सारे मुल्क की दौलत और खुशहाली बढ़ती है ॥

पस साफ़ ज़ाहिर है कि रुपये को जमा करके रखना सिर्फ़ ज़रर रसां तरीक़ा नहीं है बल्कि एक कोतह-अन्देशी और हिमाक़त का तरीक़ा है ॥

मगर बवजूह माक़ूल यह यक़ीन किया जाता है कि जब यह सब वाक़िआत मालूम हो जायँगे तो यहां का रहने वाला हर ख़ैरख़्वाह मुल्क सिर्फ़ यही न करेगा कि खुद वह रुपया जमा कर रखने से बाज़ रहे बल्कि जहां तक उस के इख़्तियार में है औरों को भी इस की तर्ग़ीब देगा कि ऐसे तरीक़े को छोड़ दें जिस से उन के मुल्क के सख़्त-तरीन दुश्मन को नफ़ा पहुंचता है और मदद मिलती है ॥

नक़ल पयाम तारबर्क़ी नम्बर २१० मुअर्रख़ा २१ जून सन् १९१८ ई० जो सेक्रेटरी सेन्ट्रल पबलिसिटी बोर्ड ने मुक़ाम शिमला से संयुक्त देश के चीफ़ सेक्रेटरी के पास नैनीताल भेजा

हिज़ हाईनेस महाराजा साहिब पटियाला ने यह पयाम तारबर्क़ी १९ जून सन् १९१८ ई० को लन्दन से भेजा है। इस में उन्हों ने फ़ारेन सेक्रेटरी पटियाला से अपने वह ख़यालात ज़ाहिर किये हैं जो इंगलिस्तान में पहुंचने के बाद इस लड़ाई के मुताल्लिक़ उन के दिल में क़ायम हुए हैं। मज़मून उस पयाम तारबर्क़ी का यह है—

"हिन्दुस्तान से रवाना होने से पहिले मुझे मालूम था कि इस बड़ी जंग की आम कैफ़ियत के मुताल्लिक़ तरह तरह की अफ़वाहें सुनी जाती थीं। अब चूंकि मुझे यह फ़ख़ हासिल हुआ कि ख़ुद सारी कैफ़ियत पर नज़र करने का मौक़ा मिला, मेरा दिल चाहता है कि मैं अपने हमवतनों को भी यह बतला दूं कि बमुक़ाबले दुशमन के हमारी क्या हालत है। फ़्रांस में इत्तिहादियों ने दुशमन के पेरिस तक पहुंचने का मन्सूबा बिलकुल बेकार कर दिया और दुशमन की फ़ौज के बहुत ही ज़्यादा लोग ज़ख़मी हुए और मारे गये। अब अमरीका की फ़ौज के बहुत से आदमी पहुंच गये हैं और हर रोज़ बराबर आ रहे हैं। हमारी रिज़र्व (यानी ज़रूरत के वक़्त काम देने के लिये महफ़ूज़) फ़ौजों से जिन की तेदाद बहुत ज़्यादा है अभी काम लेने की ज़रूरत नहीं पड़ी और वह काम देने के लिये तैयार हैं। आयन्दा मुक़ाबले के लिये हमारी हालत हर तरह क़ाबिल इतमीनान है। आस्ट्रिया वालों ने इटली की बहादुर फ़ौज पर जो हमला किया था उससे आस्ट्रिया वालों को कुछ हासिल न हुआ क्योंकि तीन दिन की सख़्त लड़ाई के बाद भी आस्ट्रिया वाले गोया कुछ भी न बढ़ सके और उन की फ़ौज के बहुत से लोग गिरिफ़्तार हो गये और उन की बहुत सी तोपें छीन ली गईं॥

नम्बर ३१८४/ (डब्ल्यू)

दफ़्तर वार बोर्ड

संयुक्त देश

मक़ाम नैनीताल—मुअर्रख़ा २६ जून सन् १९१८ ई०

मिन् जानिब सेक्रेटरी

बड़ा नाज़ुक इम्तहान का वक़्त।

लगभग पन्द्रह सौ बरस के गुज़रे कि मध्य यूरप की वहशी जातियों ने अपने आस पास की सभ्य जातियों को ऐसा तबाह व ग़ारत कर दिया कि दुनियां में सैकड़ों बरस तक तबाही व मुसीबत व मुफ़लिसी व जिहालत फैली रही।

अब फिर वैसी ही आफ़त की घटा सभ्य देशों और जातियों पर छाई है। अब फिर मध्य यूरप के लुटेरे वहशियों के टिड्डीदल अकस्मात बला की तरह अपने आस पास के मुल्कों पर टूट पड़े हैं और इस ख़याल से कुश्त व ख़ून लूट मार और बेहद ज़ुलम व बिदअतें कर रहे हैं कि सारी दुनियां में अपनी धाक बांध कर और डर और दहशत का सिक्का लोगों के दिलों में बिठला कर तमाम दुनियां को अपना ग़ुलाम बना लें।

इस बला से दुनियां को बचाने के लिये ग्रेट ब्रिटन इन ज़ालिमों के मुक़ाबिले पर आ खड़ा हुआ और उस की बहादुर फ़ौजों ने जरमनी की ख़ूंख़्वार बेरहम फ़ौजों को आगे बढ़ने से रोक दिया। अब राज्य बरटानिया के और सब मुल्क और बीस से ज़्यादा दूसरे ग़ैर मुल्क इस लड़ाई में जिसका असर सारी दुनियां पर है इस इरादे से शरीक व यकदिल हुए हैं कि जिस जोखों में इस वक़्त दुनियां पड़ी है उस को टाल दें और मूज़ियों को तहस नहस कर दें।

इस बड़ी लड़ाई में आप क्या मदद कर रहे हैं। यह आफ़त हम सब से और हम में से हर एक आदमी से पुकार पुकार कर यह तक़ाज़ा कर रही है कि उस से बचने की और ज़्यादा कोशिशें और तदबीरें की जांय। जिस क़दर यह ज़रूर है कि लड़ाई के मैदान में ज़्यादा कसरत से लोग जायें उसी क़दर यह भी ज़रूर है कि लड़ाई के सामान की तयारी के कारख़ानों में और उन सब चीज़ों के मुहैया करने में पूरी तन्देही व जांफ़िशानी की जाय जिन के बग़ैर लड़ाई आख़िर तक जीत के साथ जारी नहीं रक्खी जा सकती। आदमी और जहाज़ व हथियार इन सब की और ज़्यादा कसरत से बहुत ज़रूरत है और यह बग़ैर रुपये के मुहैया नहीं किये जा सकते।

जो लोग दुशमन की भारी फ़ौजों के मुक़ाबिले में छाती अड़ा कर खड़े हो गये हैं और निहायत धीर्ज और जवांमर्दी से अपनी जगह पर डटे हुए अपनी धीरता और जांबाज़ी से वीरता दिखला रहे हैं सचमुच उन की तारीफ़ हमारे अख़्तियार व ताक़त से बाहर है। मगर लड़ाई के मुताल्लिक़ हम लोगों की जो यहां हिन्दुस्तान में मौजूद हैं ज़िम्मेदारी

उन लोगों की ज़िम्मेदारी से कुछ कम नहीं बल्कि सच यह है कि अगर ग़ौर किया जाय तो उस से बढ़ी हुई है क्योंकि हम को कम से कम यह बड़ी सहूलत हासिल है कि हम जान जाने के ख़तरे से बचे हैं।

पस हम में से हर शख़्स पर जो बात फ़र्ज़ है वह साफ़ ज़ाहिर है। हम को लाज़िम है कि अपने भर मक़दूर ज़्यादा से ज़्यादा रुपया क़रज़ दें जिस तरह वह बिला दरेग़ अपनी जानें दे रहे हैं। यह बड़ा भारी फ़र्ज़ है और कोई शख़्स भी ऐसा ग़रीब व कमज़ोर नहीं हो सकता कि इस बड़े मुशकिल काम में कुछ मदद न दे सके। एक यह काम तो हम सब कर सकते हैं और अगर हम को अपने मुल्क से मुहब्बत है तो हम पर इसका करना लाज़िम है कि जिस जिस तरह से और जहाँ तक मुमकिन हो रुपया बचायें और अपनी बचत अपने मुल्क को क़र्ज़ दें।

और हम में से हर शख़्स सिर्फ़ इसी तरह ज़ाती ख़िदमत अपने मुल्क की नहीं कर सकता कि उसको रुपया क़र्ज़ दे बल्कि हम इस तरह भी मदद दे सकते हैं कि बेकार और फ़ज़ूल रुपया ख़र्च न करें। जब हम कोई ऐसी चीज़ ख़रीदते हैं जिस की हम को बहुत ज़रूरत न हो तो उस के यह मानी होते हैं कि किसी शख़्स से ग़ैर ज़रूरी काम लिया जा रहा है। और किसी मर्द या औरत को इस बात से बाज़ रक्खा जाता है कि वह अपना वक़्त व मिहनत किसी ऐसे काम में लगाये जो लड़ाई से ताल्लुक़ रखता है। और ऐसे कामों में हर क़िस्म की रसद व सामान, ख़ुराक, हथियार, जहाज़ दाख़िल हैं और इस वक़्त सिर्फ़ यही लड़ाई के काम ज़रूरी हैं और इन के अलावा और कामों में ख़र्च करने या मसरूफ़ होने से नुक़्सान व ख़तरे का अन्देशा है।

तो क्या हमारे बेटों और भाइयों ने, जो ख़ुद लड़ाई से नफ़रत करते थे मगर जिन्होंने अपने अज़ीज़ों और दोस्तों को, अपनी बीबियों और माओं और बच्चों की, मुहब्बत में उनको ज़ुल्म से बचाने के लिये जान देने से भी दरेग़ न किया, अपना ख़ून मुफ़्त बिखेरा। क्या हमारी ग़ैरत व हिमायत यही चाहती है कि इस लड़ाई को जिस की पैरवी उनकी प्यारी जानों के बरबाद होने से धर्म की तरह हम पर लाज़िम व वाजिब हो गई है हम बग़ैर बदला लेने और पूरी फ़तह हासिल करने के छोड़ देगें। नहीं कभी नहीं हरगिज़ नहीं यक़ीनी तौर से हम सब का एक ज़बान हो कर यही जवाब है।

पस अपने इस विश्वास पर कि हक़ की मदद करना ज़रूरी है, उन लोगों की इज़्ज़त वा मुहब्बत ज़ाहिर करने की ग़रज़ से जिन्होंने इसी विश्वास से अपनी जानें दीं और यह साबित करने के लिये कि आप और ज़्यादा कोशिश का पक्का इरादा रखते हैं लाज़िम है कि आप अपना एक पैसा भी किसी ऐसे काम में जो निहायत ज़रूरी न हो ख़र्च न करें और जहाँ तक और जो कुछ होसके अपने ख़र्च से बचायें और अपनी सब बचत गवर्नमेंट को क़र्ज़ दे दें।

इस तरह इस बड़े नाज़ुक इम्तहान के वक़्त में अपने मुल्क की ख़िदमत पर आप की आमादगी साबित होगी और इसी तरह ज़ुल्म व बिदअ़त के मुक़ाबिले में हक़ का बोल बाला होगा और यही अकेली ऐसी तदबीर है जिस से हम को वाजबी और ईमानदारी की सदा रहने वाली सुलह हासिल हो सकती है।

अख़बारों वग़ैरः के लिए इत्तिला

बंक बंगाल और वार बान्ड के मुताल्लिक़ बेहूदा और ग़लत अफ़वाह

आम तौर पर लोगों को यह मालूम है कि बंगाल बंक ने उन लोगों को जो दूसरे कर्ज़ा जंग में रुपया देना चाहें रिआयती शर्तों पर रुपया क़र्ज़ दिया है और दे रहा है और यह रुपया क़िस्तों में वापस वसूल किया जाता है। यह बिल्कुल ग़लत अफ़वाह उड़ा दी गई है कि अगर कोई शख़्स जिसने (बंक से कर्ज़ ले कर) क़र्ज़ा जंग में रुपया दिया है उस रुपये की जो उसने क़र्ज़ लिया है एक क़िस्त अदा न कर सकेगा तो बंक कुल पहिली क़िस्तें ज़ब्त कर लेगा। यह बिल्कुल ग़लत है। बंक बंगाल की तजवीज़ की वाक़ई शर्तें हस्ब ज़ैल हैं—

बंक उन लोगों को जो क़र्ज़ा जंग में रुपया देना चाहें, बशर्ते कि बंक शख़्स मुताल्लिक़ को क़र्ज़ देना मुनासिब समझे, उस रुपये के ९९ फ़ी सदी की हद तक जो वह कर्ज़ा जंग में लगाना चाहते हैं रुपया क़र्ज़ देने पर आमादा है।

जो रुपया इस तरह कर्ज़ लिया जायगा वह बराबर मालियत की माहवार क़िस्तों में जिन में से हर एक की रक़म दस रुपये से पूरी २ तक़सीम हो सके दो बरस के अन्दर बंक में वापस अदा कर देना होगा। इस तजवीज़ के बमूजिब दर्ख़्वास्तें ऐसे बान्ड के लिये होनी चाहियें जो ५०० रुपये से कम का न हो।

मसलन् फ़र्ज़ कीजिये कि कोई शख़्स १००० रुपये के बान्ड के लिये दरख़्वास्त देना चाहता है वह ५० रुपया बंक को अदा कर देगा और बंक बाक़ी रक़म (६५० रुपया) अदा कर के वार बान्ड ले लेगा। इसके बाद वह शख़्स कर्ज़े का बाक़ी रुपया बंक को चालीस २ रुपये की २३ माहवार क़िस्तों में अदा करेगा और इसके बाद एक आख़िरी क़िस्त उस रक़म की जो उसके ज़िम्मे बाक़ी हो यानी ३० रुपये की और बंक का याफ़्तनी सूद अदा करेगा।

अगर क़र्ज़ा जंग में रुपया लगाने वाला शख़्स मुक़र्ररा माहवार क़िस्तें अदा न करेगा तो बंक उस रक़म बक़ाया पर जो अदा न की जायगी बंक की रायज शरह से सूद लगायेगा। मतलब यह है कि वार बान्ड की वह कुल रक़म जिसके लिये उस शख़्स ने दर्ख़्वास्त दी है उसी के नाम से उस वक़्त तक बंक में रहेगी जब तक कि वह उसे अदा करदे और उस से सिर्फ़ सूद बंक की मामूली रायज शरह से रक़म मज़कूर के उस हिस्से पर लिया जायगा जो उसने अदा नहीं किया और उसके ज़िम्मे बाक़ी है। उसका रुपया किसी हालत में ज़ब्त नहीं किया जायगा और उसका रुपया मारा नहीं जा सकता है।

यह है असली हालात बंक बंगाल की उस तजवीज़ की जिसका मन्शा यह है कि लोग वार बान्ड क़िस्तों में रुपया अदा कर के ख़रीद सकें।

नम्बर ५५४२। डब्ल्यू

दफ़्तर वार बोर्ड संयुक्त देश। मुक़ाम नैनीताल, मुवर्रख़ा ६ अगस्त सन् १६१८ ई०।

दस्तख़त बी० ए० स्टावेल
सेक्रेटरी

सोने का सिक्का हिन्दुस्तान के लिये और रुपये का जमा के तौर पर रख छोड़ना

बहुत से पिछले बरसों से हिन्दुस्तान के लिये सोने के सिक्के की ज़रूरत हुई है। चुनांचि रायलमिन्ट (शाही टकसाल) की एक शाख़ बम्बई में सावरेन का सिक्का बनाने के लिये खोली गई है मगर चूंकि सावरेन के लिये ज़रूरी ठप्पों के मिलने में देर होगी १४ जून गुज़श्ता को गवर्नमेन्ट हिन्द ने सोने की मुहर (अशर्फ़ी) के सिक्के बनाने का हुक्म सादिर किया है जो पूरे वज़न और ख़ालिस सोने के वज़न और नाप में सावरेन के मुताबिक़ होगी और मालियत में १५ रुपये के बराबर होगी। इस मुहर के ऊपर के रुख़ पर श्रीमान राजराजेश्वर के सर की तसवीर होगी और कुतबा जार्ज पन्जुम किङ्ग इम्परर (शाह जार्ज पन्जुम क़ैसर हिन्द) दर्ज होगा और नीचे के रुख़ (यानी पुश्त पर बेलदार हाशिया बना है और अलफ़ाज़ १५ रुपया और तारीख़ (यानी सिक्के का सन्) दर्ज हैं। इस सोने की मुहर के सिक्के के बनाने की वजूह यह है—

ख़ास इस वक़्त में वीट कमिश्नर (यानी गेहूं के इन्तज़ाम के कमिश्नर) पंजाब में बहुत बड़ी मिक़्दारें गेहूं की ख़रीद कर रहे हैं। चूंकि लोगों ने ना समझी से घर में जमा रख छोड़ने का तरीक़ा अख़्तियार किया इस सबब से इस साल के शुरू के महीनों में रुपयों की कमी पड़ गई। गवर्नमेन्ट हिन्द को मजबूरन बहुत ज़्यादा मिक़्दार चाँदी की अमरेका में ख़रीदनी पड़ी और वहां से इस क़दर चांदी तो आ चुकी है जो १३ करोर रुपया ढालने के लिये काफ़ी होगी और और ज़्यादा मिक़्दार जल्द ही आने वाली है। पस थोड़े ही अरसे में बहुत सा रुपया फिर चलन में आ जायगा। अभी गवर्नमेन्ट हिन्द यह मुनासिब समझती है कि जो गेहूं वह ख़रीदे उस की क़ीमत का कुछ हिस्सा सोने के सिक्कों में अदा किया जाय ताकि टकसालों में इस का मोक़ा मिले कि वहां रुपयों का ज़ख़ीरा फिर पूरा पूरा मौजूद हो जाय। यही वजह है कि गवर्नमेन्ट ने यह सोने की मुहर जारी की है। अब चूंकि सोने के सिक्के हिन्दुस्तान में बनाये जा रहे हैं और इस के अलावा नये रुपये भी बहुत ज़्यादा तादाद में बन रहे हैं इस लिये यह निहायत ज़रूरी है कि हिन्दुस्तान के लोग यह अच्छी तरह

समझ लें कि सिक्कों के जमा करके रख छोड़ने या उन को गला डालने से बहुत सख्त नुक़सान पहुँचता है और ऐसा करने से बाज़ रहें। इस की ख़ास तौर पर ज़रूरत है कि पढ़े लिखे लोग यह बात समझ लें और दूसरे लोगों को इस नुक़सान पहुंचाने वाली आदत के अख्तियार करने से बाज़ रखने की कोशिश जहां तक हो सके करें।

सेन्ट्रल पबलिसिटी बोर्ड (सदर बोर्ड इशायत) ने एक रिसाला छापा है जिसका सरनामा यह है—"रुपया जमा कर के रख छोड़ने से जर्मनी को क्योंकर मदद मिलती है"। इस रिसाले में तफ़्सील के साथ यह बयान किया गया है कि रुपया जमा कर के रख छोड़ने से हिन्दुस्तान को और इत्तहादियों को बहुत ही नुक़सान पहुंचता है। इस रिसाले में यह ज़ाहिर किया गया है कि जमा रख छोड़ने की वजह से रुपया कम हो गया और गवर्नमेन्ट हिन्द को चांदी बहुत ज़्यादा मिक़दार में अमरीका में बहुत रक़म ख़र्च कर के ख़रीदनी पड़ी और यह रक़म जो अमरीका में चली गई किस तरह हिन्दुस्तान ही में ख़र्च की जा सकती थी और जो रुपया और मिहनत इस चांदी के हिन्दुस्तान में लाने में ख़र्च हुई वह किस तरह लड़ाई के कामों में ख़र्च हो सकती थी।

जून सन् १९१७ ई० में एक्ट हिफ़ाज़त हिन्द के बमूजिब गवर्नमेन्ट ने एक क़ायदा नं० २१ (क) जारी किया जिसकी रू से सोने या चांदी के किसी रायज सिक्के के गलाने या तोड़ डालने या सिवाय बतौर सिक्का रायज के किसी और तरह पर इस्तेमाल करने की मुमानियत है। और इस हुक्म को ख़िलाफ़ वर्ज़ी की सूरत में इस क़दर मुद्दत की क़ैद की सज़ा जो तीन साल तक की हो सकती है या जुर्माने की सज़ा या दोनों सज़ायें रक्खी गई हैं।

लेकिन गवर्नमेन्ट मौसूफ़ को उम्मीद थी कि इस ग़रज़ से कि लोग इस क़ानून की पूरे तौर से तामील करें सिर्फ़ कभी कभी मुक़दमा चलाने की ज़रूरत हुआ करेगी। मगर अफ़सोस है कि बावजूद इस तंबीह के और बावजूद उस नेक मशवरा के जो दिया गया सावरेन और रुपये के गला डालने का तरीक़ा अभी तक बहुत कसरत से जारी है। पस अब गवर्नमेन्ट हिन्द मजबूरन आम इत्तला की ग़रज़ से यह एलान करती है कि अब उस की तजवीज़ यह है कि इन जुर्मों के रोकने के लिये यह कार्रवाई करे कि उन सब लोगों पर मुक़दमा चलाया जाय जिन की निसबत इन जुर्मों का करना ज़ाहिर हो। और अगर ज़रूरत होगी तो गवर्नमेन्ट हिन्द और ज़्यादा सख्त अख्तियारात इस ग़रज़ से क़ानूनन हासिल कर लेगी कि सोने और चांदी के सिक्कों के गला डालने या नाजायज़ इस्तेमाल करने को रोक दिया जाय।

लेकिन गवर्नमेन्ट हिन्द इस को बहुत बेहतर समझती है कि रिआया इस बारे में उस की मदद करे और इन सज़ाओं के देने की ज़रूरत ही वाक़ा न हो। सब पढ़े लिखे लोग यह बात अच्छी तरह जानते हैं और उस रिसाले में जिसका सरनामा यह है "रुपया जमा कर के रख छोड़ने से जर्मनी को क्योंकर मदद मिलती है" यह बात हर शख़्स पर अच्छी तरह ज़ाहिर कर दी गई है कि सिक्कों का जमा कर के रख छोड़ना या गला डालना खुद ही नुक़सान का काम है और अलावा इस के उस से हिन्दुस्तान और इत्तहादियों को बहुत नुक़सान पहुंचता है और दुश्मन को बहुत मदद मिलती है। पस लोगों को चाहिये कि बजाय रुपया जमा कर के रख छोड़ने के श्रीमान नवाब वायसराय बहादुर के उस मशवरे पर अमल करें जो जनाब ममदूह ने अपनी उस तक़रीर में दिया था जो गुज़श्ता मार्च की दूसरी तारीख़ को मुल्क हिन्द की कौंसल वाज़ा आईन व क़वानीन में इर्शाद हुई थी। जनाब मौसूफ़ ने इर्शाद फ़र्माया था कि इस नुक़सान पहुंचाने वाले रवाज के रोकने का सब से ज़्यादा सीधा तरीक़ा यह है कि रिआया का हर फ़र्द जहां तक हो सके लड़ाई के क़र्ज़े में रुपया दे। जो रुपया लड़ाई के क़र्ज़े में लगा दिया जाता है वह ज़्यादा महफ़ूज़ हो जाता है और उस से उस के मालिक को और हिन्दुस्तान को ज़्यादा नफ़ा हासिल होता है बमुक़ाबिला उस रुपये के जो जमा कर के रख छोड़ा जाय या ज़ेवर बनवाने के लिये गला डाला जाय।

SARASVATI—Reg. No. A248

भाग १६, खण्ड २] सितम्बर, १६१८ [संख्या ३. पूर्ण संख्या २२५

वार्षिक मूल्य ५)] सम्पादक { १—महावीरप्रसाद द्विवेदी
२—देवीप्रसाद शुक्ल, बी० ए० [प्रति संख्या ॥)

इंडियन प्रेस, प्रयाग, में छप कर प्रकाशित ।

लेख-सूची । पृष्ठ

चित्र-सूची ।

मानिनी ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

सरस्वती

मासिक पत्रिका।

भाग १९, खण्ड २] सितम्बर १९१८—आश्विन १९७५ [संख्या ३, पूर्ण संख्या २२५

विज्ञप्ति

यह है कि जब तक इसके प्रतिकूल प्रार्थना न की जाय तब तक सरस्वती के सम्पादन-कार्य्य से सम्बन्ध रखने-वाला पत्र-व्यवहार किसी के नाम से न किया जाय। चिट्ठियाँ, लेख, समालोचनार्थ पुस्तकें और बदले के पत्र आदि—

सरस्वती-सम्पादक

मुहल्ला कुरसवाँ

कानपुर

के पते से भेजे जायँ। किसी पर भी जुही या जुही-कलाँ न लिखा जाय। उसके बदले कुरसवाँ लिखा जाय।

सरस्वती-सम्पादक

आय का उपयोग।

निकल रही है उर से आह;
ताक रहे सब तेरी राह।

चातक खड़ा चोंच खोले है, सम्पुट खोले सीप खड़ी;
मैं अपना घट लिये खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी।

सब को है जीवन की चाह;
ताक रहे सब तेरी राह।

मैं कहता हूँ-'मैं प्यासा हूँ', चातक—'पी, पी'—रटता है;
व्यङ्ग्य मानता हूँ मैं उसको, हृदय क्षोभ से फटता है।

पर क्या वह रखता है डाह?
ताक रहे सब तेरी राह।

मैं अपनी इच्छा कहता हूँ, पर वह तुझे बुलाता है;
मुझ से अधिक उदार वही है, पर भ्रम यहाँ भुलाता है।

किसको है किसकी परवाह!
ताक रहे सब तेरी राह।

हम अपनी अपनी कहते हैं, किन्तु सीप क्या कहती है?
कुछ भी नहीं, खोल कर भी मुँह वह नीरव ही रहती है!

उसके आशय की क्या थाह?
ताक रहे सब तेरी राह।

घनश्याम, फिर भी तू सब की इच्छा पूरी करता है;
चातक-चन्चु, सीप का सम्पुट, मेरा घट भी भरता है।

सब पर तेरा दया-प्रवाह;
ताक रहे सब तेरी राह।

तेरे दया-दान का मैं ने, चातक ने भी, भोग किया;
किन्तु सीप ने उसको लेकर क्या अपूर्व उपयोग किया!

बना दिया है मुक्ता, वाह!
ताक रहे सब तेरी राह।

मैथिलीशरण गुप्त

भारत पर सिकन्दर का आक्रमण।
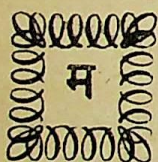
महाप्रतापी सिकन्दर का जन्म ईसा के पूर्व ३५६ में हुआ। उसके पिता का नाम फ़िलिप और माता का ओलिम्पिअस था। फ़िलिप मेसिडोनिया का राजा था, जो धीरे धीरे अपने बाहुबल से समस्त ग्रीस को जीत कर उसका सम्राट् बन बैठा था। उसका इरादा एशिया को भी जीतने का था, किन्तु "अपने मन कुछ और है कर्त्ता के कुछ और"। अकस्मात् वह एक मेसिडोनिया-निवासी के हाथ से मारा गया। अपने पिता के इस उद्देश को सिकन्दर ने, जैसा कि आगे चल कर मालूम होगा, पूरा किया। सिकन्दर को बचपन ही से सादा जीवन व्यतीत करने तथा कठोर व्यायाम करने की आदत डाली गई थी। जब वह १३ वर्ष का हुआ उस समय वह प्रसिद्ध ग्रीक फ़िलासोफ़र (दार्शनिक) अरस्तू (अरिस्टाटिल) की देखरेख में रक्खा गया। अरस्तू ही से उसने सब कुछ सीखा पढ़ा और उसी की शिक्षा का प्रभाव सिकन्दर के समस्त जीवन पर क़ायम रहा। १६ ही वर्ष की उम्र से वह पिता की देखभाल में राज्य का प्रबन्ध करने
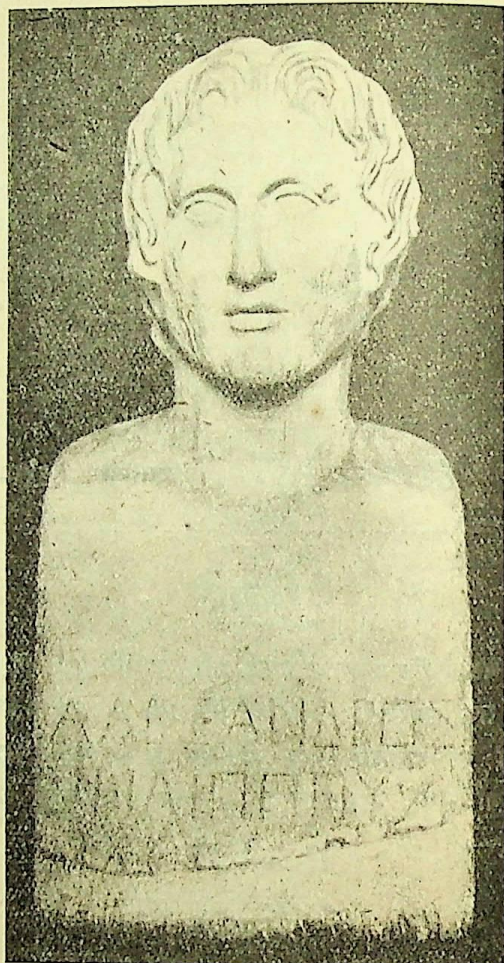
महाप्रतापी सिकन्दर।

लगा। ईसा के पूर्व ३३६ में, पिता की मृत्यु होने पर, वह ग्रीस देश के साम्राज्य-पद पर अधिरूढ़ हुआ। एक ही वर्ष में भीतरी शत्रुओं को दबा कर वह निष्कण्टक हो गया, तथा राज्य का आवश्यक प्रबन्ध करके, ईसवी सन् के पूर्व ३३४ में, उसने एशिया-विजय के लिए कूच किया। फ़ारिस, सीरिया,

इजिप्ट, फ़िनीशिया, पैलस्टाइन, बैबिलोनिआ, बैक्ट्रिआ आदि एशियाई देशों को जीतता और अपने राज्य में मिलाता हुआ वह ईसा के पूर्व ३२७ में, लगभग ५०–६० हज़ार वीर योद्धाओं के साथ, हिन्दूकुश के दर्रों को लाँघ कर सिकन्दरिया (Alexandri) नगर में आकर ठहरा। दो वर्ष पहले इस नगर को सिकन्दर ने इस लिए बसाया था कि उसे भारत पर आक्रमण करने में सहूलियत हो और सेना-सञ्चालन वहीं से किया जाय। यह नगर एक ऐसे स्थान पर बसा हुआ था जहाँ से तीन सड़कें तीन भिन्न भिन्न दर्रों को पार करती हुई भारतवर्ष को आती थीं।

उस समय काबुल और सिन्धु नदी के बीच का प्रदेश, जो आज कल का अफ़ग़ानिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त है, कई छोटी छोटी स्वतन्त्र तथा युद्धप्रिय जातियों के अधिकार में था, जो आपस में सदा लड़ा झगड़ा करती थीं। इन जातियों को जीतता तथा इनका दमन करता हुआ सिकन्दर, अपनी बड़ी सेना के साथ, सिन्धु नदी के किनारे पर आया और ईसवी सन् के पूर्व ३२६ की वसन्त-ऋतु में, अटक से १६ मील ऊपर, ओहिन्द नामक स्थान के पास, नावों के पुल द्वारा, सिन्धु नदी को पार किया। फिर उसने तक्षशिला में प्रवेश किया। तक्षशिला के राजा आँभि अथवा आँफ़िस (Ambhi or Omphis) ने सिकन्दर की शरण आकर उससे सन्धि कर ली और तन-मन-धन से उसकी सहायता करने को उद्यत हो गया। तक्षशिला के राजा की इस कायरता का कारण यह था कि उस समय अभिसार नाम के पड़ोसी राज्य से तथा एक और बड़े राज्य से, जिसका राजा पोरस, पौरव अथवा पुरुवर्ष था, आँभि की परम शत्रुता थी। इन्हीं दोनों राज्यों के ख़िलाफ़ वह सिकन्दर की मदद चाहता था और उसकी सहायता से उन दोनों को कुचलने की इच्छा रखता था। बुद्ध के समय में तक्षशिला गान्धार देश की राजधानी थी। वहाँ पर एक बड़ा भारी विश्वविद्यालय था। रावलपिण्डी ज़िले में शाहढेरी-ग्राम के पास, १०–१२ मील के घेरे में, कई ऊँचे ऊँचे टीले तथा धुस्स हैं। वहीं प्राचीन तक्षशिला नगर था। कई वर्षों से, सर जान मार्शल की अध्यक्षता में, भारतीय पुरातत्त्व-विभाग वहाँ पर खुदाई करा रहा है। इस नगर से सिकन्दर ने पोरस के पास आत्मसमर्पण करने तथा अपने ऊपर उसका आधिपत्य स्वीकार करने के लिए पैग़ाम भिजवाया। पोरस झेलम और चनाब नदियों के बीच के प्रदेश का राजा था। पोरस ने सिकन्दर को उसके दूत के हाथ बहुत ही उद्धत तथा अवज्ञापूर्ण उत्तर भिजवाया, जिससे चिढ़ कर सिकन्दर ने उसके ऊपर चढ़ाई करने के लिए सेना को आज्ञा दे दी। पोरस भी अपनी पूरी शक्ति के साथ सिकन्दर का मुक़ाबला करने के लिए तैयार बैठा था। झेलम नदी के किनारे दोनों का मुक़ाबला हुआ, जिसमें, कई कारणों से, सिकन्दर की जीत हुई और पोरस बहुत घायल होकर क़ैद कर लिया गया। सिकन्दर ने भारतवर्ष में जितनी लड़ाइयाँ लड़ीं उनमें यह लड़ाई सबसे अधिक प्रसिद्ध और गहरी थी। पोरस जब सिकन्दर के सामने लाया गया तब वह पोरस के क़द्दावर शरीर तथा उसके शिष्टाचार और सभ्यता से बहुत प्रसन्न हुआ, और उससे पूछा कि वह उसके साथ कैसा बर्ताव करे। इस पर पोरस ने कहा कि जैसा एक राजा को दूसरे राजा के साथ करना चाहिए। सिकन्दर इस उत्तर से बहुत खुश हुआ और न केवल उसे उसका राज्य ही लौटा दिया किन्तु उसे, बाद को, पञ्जाब में जीती हुई भूमि का प्रतिनिधि-शासक भी नियत कर दिया। पोरस को जीतने के बाद वह चनाब तथा रावी नदियों को पार करता और बीच के देशों को जीतता हुआ, ईसा के पूर्व ३२६ के सितम्बर महीने में, व्यासा नदी के किनारे पर अपनी सेना के साथ आया। किन्तु उसकी सेना ने व्यासा नदी के आगे बढ़ने से इनकार किया। इस

पर लाचार तथा दुखी होकर सिकन्दर ने अपनी सेना को पीछे मुड़ने के लिए आज्ञा दी।

व्यासा नदी के किनारे उस स्थान पर जहाँ तक सिकन्दर पहुँचा था और जहाँ से उसकी सेना पीछे की ओर मुड़ी थी, उसने अपनी जीत के उपलक्ष में, १२ बड़े बड़े चैत्य या चबूतरे, १२ ग्रीक देवताओं के नाम पर, बनवाये। सेना के आगे बढ़ने से इनकार करने पर वह फिर झेलम नदी पर वापस आया। वहाँ पर उसने बहुत सी नावों का संग्रह किया तथा नई नई नावें बनवाईं। यह नौ-सेना (Fleet) झेलम नदी से, ईसा के पूर्व ३२६ के अक्तूबर महीने में सिकन्दर की नौ-सेना के सेनापति नेआर्कस (Nearchos) की अध्यक्षता में, रवाना हुई और उसके बहुत से योद्धाओं को लेकर सिन्धु नदी के मुहाने पर आई। वहाँ से चल कर अरब के समुद्र से होती हुई, ईसवी सन् के पूर्व ३२४ में, फ़ारस की खाड़ी (Persian Gulf) में लङ्गर डाला। इधर सिकन्दर की नौ-सेना सिन्धु नदी के मुहाने से फ़ारिस की ओर रवाना हुई और उधर स्वयं उसने कुछ फ़ौज लेकर पश्चिमी पञ्जाब तथा सिन्धु प्रदेश को जीतने के लिए कूच किया। आती बार वह गान्धार प्रदेश तथा उत्तरी पञ्जाब को जीतता हुआ भारत में आया था। जाती बार वह दूसरे रास्ते से, पश्चिमी पञ्जाब तथा सिन्धु प्रदेश को जीतता हुआ, फ़ारिस की ओर गया।

ईसा के पूर्व ३२५ में, भारतवर्ष से रवाना होने के पहले, सिकन्दर ने अपने अफ़सरों तथा भारतीय राजाओं का एक दरबार करके उसमें पोरस को झेलम और व्यासा नदियों के बीच जीते हुए प्रदेश का शासक नियत किया तथा तक्षशिला के राजा को झेलम और सिन्धु नदियों के बीच के प्रदेश का राजा बनाया। भारतवर्ष छोड़ने के एक वर्ष बाद, ईसा के पूर्व जून ३२३ में, विश्वविजयी सिकन्दर बैबिलन (Babylon) में इस नाशमान शरीर को त्याग कर परलोकवासी हुआ। उसकी मृत्यु से भारतवर्ष में मेसिडोनियन राज्य का भी एक तरह से अन्त हो गया। चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में भारतवासियों ने उन यूनानियों को, जिन्हें सिकन्दर पञ्जाब तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त पर शासन करने के लिए छोड़ गया था, बलवा करके निकाल बाहर किया। ईसवी सन् के पूर्व ३०५ में सिकन्दर के एक सेनापति, सेल्यूकस, ने पञ्जाब और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त पर चढ़ाई करके फिर से भारतवर्ष को ग्रीक शासन के अधीन करने का प्रबल प्रयत्न किया, किन्तु उसे उलटा लेने के देने पड़ गये। चन्द्रगुप्त मौर्य्य से हार खाकर उसने चन्द्रगुप्त को अपनी लड़की तथा काबुल, क़न्धार और हिरात के प्रदेश देकर अपना पिण्ड छुड़ाया।

ईसा के पूर्व मई ३२७ में, सिकन्दर हिन्दूकुश को पार करके भारतवर्ष में आया और मई ३२४ में वह प्राचीन फ़ारिस की राजधानी सूसा को लौट गया। इन तीन वर्षों के बीच में उसने केवल १९ महीने, अर्थात् मार्च ३२६ से सितम्बर ३२५ तक, भारतवर्ष की भूमि पर बिताये। सैनिक दृष्टि से देखा जाय तो उसने इन १९ महीनों में बड़े बड़े काम किये। किन्तु सिकन्दर के आक्रमण का कोई स्थायी प्रभाव भारत पर न पड़ा। उसके जाने के बाद, तीन वर्ष के भीतर ही भीतर, उसके आक्रमण का कोई भी चिह्न भारतवर्ष में न रह गया। पञ्जाब में उसने ग्रीक उपनिवेश क़ायम किया था। अपनी जीती हुई भूमि की रक्षा के लिए वह ग्रीक सेना भी छोड़ गया था। वह सबकी सब भारतवर्ष से निकाल बाहर की गई। उपनिवेशवासी ग्रीक भी निकाल दिये गये। सिकन्दर के आक्रमण से भारतवर्ष में कोई महान् परिवर्तन नहीं हुआ। युद्ध के कारण जो हानियाँ हुई थीं वे सब, बात की

बात में, दूर हो गईं। सिकन्दर के आक्रमण के कारण भारतवर्ष, जैसा कि कुछ लोगों का विचार है, ग्रीक सभ्यता तथा आचार का गुलाम नहीं हुआ। ग्रीक सभ्यता का कोई भी प्रभाव भारतीय सभ्यता पर पड़ा हुआ नहीं मिलता। श्रौर उसका जो कुछ प्रभाव मिलता भी है तो वह सिकन्दर के आक्रमण के कारण नहीं, किन्तु बाद के इन्डो-ग्रीक तथा कुशान-वंश के राजाओं का राज्य भारत पर होने के कारण मिलता है। किसी भारतीय ग्रन्थकार ने, चाहे वह हिन्दू हो या बौद्ध अथवा जैन, सिकन्दर के नाम तथा उसके भारत-आक्रमण का निर्देश तक अपने ग्रन्थ में नहीं किया। भारतीय ग्रन्थकारों तथा लेखकों ने इस महती घटना को अपने अपने ग्रन्थों से इस तरह बरकाया जैसे कोई बात ही न हुई हो। एक बात अलबत्ते सिकन्दर के आक्रमण से हुई कि योरप का सम्बन्ध भारतवर्ष के साथ होगया। जैसे कोलम्बस की यात्रा से योरपवालों को अमेरिका का पता लगा उसी तरह सिकन्दर के भारत-आक्रमण से उन लोगों को भारतवर्ष का ज्ञान होगया। सिकन्दर के पहले योरप वालों को भारतवर्ष का विशेष ज्ञान न था। यदि सिकन्दर का आक्रमण न हुआ होता तो कदाचित् बहुत दिनों तक श्रौर भी भारतवर्ष यूरप की दृष्टि से छिपा रहता। अतएव सिकन्दर पहला यूरोपियन था जिसने भारतवर्ष को परदे से निकाल कर पाश्चात्य संसार के सामने रक्खा। उसके अफ़सरों श्रौर साथियों में कई इतिहासप्रेमी विद्वान् श्रौर लेखक भी थे, जो सिकन्दर के भारत-आक्रमण का सविस्तर इतिहास लिख गये हैं। उनसे उस समय के भारतवर्ष की स्थिति का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से सिकन्दर का आक्रमण एक महत्त्व की घटना है।

जनार्दन भट्ट।

रामचरितमानस का महत्त्व

मुझे इस लेख में रामचरितमानस के विधाता गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-चरित के विषय में कुछ नहीं कहना। उनके किसी श्रौर ग्रन्थ के विषय में विचार भी नहीं करना। संसार के कवि-समाज में तुलसीदास का ऊँचा आसन है। उनका जीवन-चरित लिखनेवालों को वही कठिनाइयाँ पड़ती हैं, जो शेक्सपियर के भक्तों को इँगलिस्तान में, होमर के भक्तों को यूनान में, श्रौर कालिदास, वाल्मीकि श्रौर कृष्ण के भक्तों को भारत में पड़ी हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि कवि के समान निःस्वार्थ जीवन संसार में किसी श्रौर का नहीं। कवियों का मन उनके शरीर से सम्बन्ध न रख कर प्रकृति के हर अंश में विचरता है श्रौर उसको जीवन प्रदान करता है। उसी जीवित प्रकृति को वे, कविता के रूप में, संसार के लिए छोड़ जाते हैं। उनके मनोभावों या उनकी वासनाओं को ढूँढ़ना हो तो उनकी कविता में ढूँढ़ो। जो महाशय उनके स्थूल शरीर के कृत्यों के विषय में खोज करते हैं, उनका वह कठिन प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय है; परन्तु उससे उनके विषय में जन-समुदाय को कुछ विशेष ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। अमुक कवि किस वर्ष पैदा हुआ, कहाँ श्रौर किससे अध्ययन किया, कौन कौन विषयों में पारदर्शिता प्राप्त की, कौन कौन पुस्तकें किस किस समय लिखीं, किस समय शरीर छोड़ा—ये सब बातें रुचिकर अवश्य मालूम होती हैं। परन्तु यदि इन बातों का सम्बन्ध कवि के जीवन से न हो तो इनमें, किसी अन्य साधारण पुरुष के जीवन-चरित की अपेक्षा कोई विशेषता न मालूम हो। कवि-चरित में जो विशेषता होती है वह उनके मानसिक जीवन से सम्बन्ध रखती है। अतएव यदि उनके विषय में हमको कुछ जानना है तो जो कुछ वे हमको दे गये हैं उसीसे सन्तोष करना चाहिए। क्या जानें उन्होंने किस लिए अपने शरीर के जीवन को हमसे छिपा रक्खा। तो फिर क्यों हम उनकी इच्छा के विरुद्ध चल कर पुराने खँडहरों को तोड़ें श्रौर उनके भौतिक शरीर को कष्ट दें। हमें चाहिए कि हम उनकी मन-स्तरङ्गों से उत्पन्न राम, हैम्लेट, ओडीसियस के सदृश वीरों को छाती से लगावें; शकुन्तला, सीता, हेलेन

के सदृश नारीरत्नों को हृदय का शृङ्गार बनावें; और उन्हीं के दिव्य स्वरूप में उनके कवियों की आत्मा के दर्शन करें।

रामचरितमानस संसार के महाकाव्यों में गिने जाने योग्य है। चीनी और जापानी भाषाओं का तो मुझे ज्ञान नहीं; परन्तु जो जो महाकाव्य रामचरित-मानस के साथ स्थान पाने योग्य हैं उनके नाम सर्वसाधारण से छिपे नहीं। प्राचीन भाषाओं में कालिदास-कृत रघुवंश, वाल्मीकीय रामायण, होमर-कृत ईलियड और वर्जिल-कृत ईनियड उच्च श्रेणी के काव्य समझे जाते हैं। आधुनिक भाषाओं में मिल्टन का पैराडाइज़ लास्ट अँगरेज़ी में, दान्ते का इनफ़र्नो (Inferno) इटेलियन में और माइकेल मधुसूदन-दत्त कृत मेघनादवध बँगला में—ये काव्य उच्च पद पाने योग्य हैं। फ़्रेञ्च और जर्मन-साहित्य में नाटकों और फुटकर कविताओं की तो भरमार है, परन्तु अच्छे महाकाव्यों का प्रायः अभाव ही सा है।

रामचरितमानस की योग्यता और स्थान का निश्चय इन्हीं पूर्व-निर्दिष्ट ग्रन्थों में से करना है। इस विषय में हमको दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—एक तो यह कि हम रामचरितमानस की तुलना महाकाव्यों ही से करेंगे। कविता का एक रूप नाटक और दूसरा आख्यान है, जिसका विस्तार बढ़ने से वह महाकाव्य नाम से उल्लिखित होता है। इस लिए नाटक की तुलना महाकाव्य से करना ठीक नहीं। दूसरी बात यह है कि हम इन ग्रन्थों के विशेष विशेष अंशों की तुलना एक दूसरे से न करेंगे। भाव तथा कवित की तुलना न तो हम करने के योग्य ही हैं, न इस छोटे से लेख में वैसा प्रयत्न करने से इन कवियों के कविता-समुद्र में इनके भाव-रत्नों का पता ही लग सकता है। हमको विचार केवल यह करना है कि पूर्वोक्त ग्रन्थों में से मनुष्य के हृदय में किसने कहाँ तक स्थान पाया है; और इसी प्रश्न के हल होने पर हम उसके महत्त्व का निर्णय कर सकेंगे।

किसी कविता का जीवन-काल इसी से स्थिर हो सकता है कि वह मनुष्य के आन्तरिक अथवा मानसिक जीवन से कहाँ तक मिलती है; कहाँ तक उससे उत्पन्न हुए भाव उसके मन से मिल जाते हैं; और कहाँ तक उसके जीवन को दूसरे ही रङ्ग में रँग देते हैं। जब तक कविताओं में यह आकर्षणी शक्ति रहती है, तभी तक वे जीवित रहती हैं; उसके पश्चात् उनका अन्तकाल आ जाता है; चाहे वे पुस्तक-रूप में जितने समय तक रहें, परन्तु मनुष्य के हृदय में उनको स्थान नहीं मिलता। बहुत सी कवितायें किसी विशेष देश या काल के लिए ही होती हैं। उनका जीवन उसी समय तक के लिए होता है और उनकी प्रचार-सीमा भी उसी देश या काल के अन्तर्गत रहती है। ऐसे कविता-रत्न थोड़े ही हैं जो सर्वत्र व्यापी हों, जो किसी देश या काल के बन्धन से न बँधे हों। ऐसे ही ग्रन्थ अमर होते हैं। ये जहाँ पहुँचते हैं वहीं मनुष्य के हृदय में स्थान पा लेते हैं; इनके जन्मदाता मानसिक जीवन के अङ्ग हो जाते हैं। ये किसी देश या काल के बन्धन से नहीं बँधे रहते।

अच्छा तो ऐसे ग्रन्थों और क्षण-भङ्गुर कविताओं के भावों में अन्तर क्या है? यही कि मनुष्य के गूढ़ से गूढ़ भावों तक उनकी पहुँच होती है। कविता के रूप में अपने भावों को मनुष्य इन्हीं अमर ग्रन्थों में पाता है, और बहुत दिन से बिछुड़े हुए मित्र एक दूसरे के गले लगते हैं।

भाषा और विषय के संयोग से महाकाव्य का जन्म होता है। भावों तक कवि चाहे जितना पहुँच गया हो; चाहे जितना अच्छा चित्र उसने उनका खींचा हो, परन्तु जिस भाषा में उसने उनको प्रकट किया है, वह यदि मनुष्य के हृदय में जीवित नहीं, यदि मनुष्य अपने प्रेम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इत्यादि को उस भाषा में प्रकट नहीं करता, तो वे भाव, उस भाषा के रूप में, उसके हृदय तक नहीं पहुँच सकते। तो मनुष्य उनको नहीं पहचान सकता। इस विचार से कि वे भाव उसके पूर्वजों के हैं कदाचित् वह उनका आदर करे। अपनी भाषा के आभरण पहना कर उनको पहचानने का प्रयत्न करे। परन्तु उसे पूर्णतया सफलता नहीं प्राप्त होती। यही कारण है कि संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं का जितना आदर है, उन पर हमारा उतना प्रेम नहीं।

इन प्राचीन भाषाओं के अधिकतर ग्रन्थों का अनुवाद प्रचलित भाषाओं में हो गया है। इससे लाभ भी अवश्य हुआ है। हम अपने पूर्वजों के साधारण विचारों को अपनी ही भाषा में समझने लगे हैं। परन्तु उनके काव्य-रस का स्वाद हम अनुवादित ग्रन्थों में नहीं पा सकते। यदि अनुवादक

भी कवि है तो काव्य का ठीक ठीक अनुवाद भी उससे नहीं हो सकता; क्योंकि एक भाषा से दूसरी भाषा में परिवर्तन करते समय वह अपने काव्य-रस की पुट उसमें अवश्य देता है। दृष्टान्त के लिए, पोप के द्वारा अनुवादित ईलियड वही चीज़ नहीं जो होमर की रचना है; अँगरेज़ी की ईलियड में कुछ और ही स्वाद है और ग्रीक के मौलिक ग्रन्थ में कुछ और ही। बेचारी संस्कृत को तो इतना भी सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ कि कालिदास के सदृश कोई योग्य कवि उनके काव्य को किसी प्रचलित भाषा में अनुवादित करता। यदि ऐसा होता भी तो उसके अनुवाद में शकुन्तला, पार्वती, दिलीप और रघु इसी शताब्दी के होते; आज से, पन्द्रह सौ वर्ष पहले के नहीं।

प्राचीन भाषाओं में लिखित काव्य वर्तमान काव्यों की समता प्रायः इसी एक कारण से नहीं कर सकते कि उनकी भाषा अब सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं। उन काव्यों का आनन्द लेने के लिए बरसों उनकी भाषा के सूखे व्याकरण को कोई रटे, तब कहीं उसे वह काव्य-रस चखने की योग्यता प्राप्त हो। पर उस समय तक उस रस के स्वाद लेने की शक्ति भी कदाचित उसमें न रहे; व्याकरण और छन्दःशास्त्र के दोषों को छोड़ कर और कुछ उसे उनमें दिखलाई ही न पड़े। इन काव्यों की तुलना हम उस काव्य से कैसे कर सकते हैं, जिसके वाक्य बालक अपनी माँ की गोद ही से सुनने लगते हैं, जिससे उद्धृत उदाहरण उनको डाँटने या मनाने के लिए काम में लाये जाते हैं, जिसकी शपथ की सहायता लेकर युवक-युवती प्रणय-पुष्टि करते हैं, और जिसके कथा-सरोवर में वृद्ध किसान कुटुम्ब सहित स्नान करके कृतकृत्य होते हैं।

भाषा ही के विचार से नहीं, कथा के विषय के भी विचार से, प्राचीन काव्य वर्तमान संसार के लिए उतने उपयोगी नहीं, जितने कि प्रचलित भाषाओं में रचित काव्य हो सकते हैं। प्राचीन काल में मानुषिक सभ्यता की बाल्यावस्था थी। उस समय के विचार सरल और शुद्ध थे; कल्पना-सृष्टि की अधिकता थी और उसका झुकाव विशेषतया मारकाट, लड़ाई-झगड़े और ज़मीन आसमान के कुलाबे मिलाने की ओर था, गार्हस्थ जीवन की शान्तिमयी घटनाओं की ओर नहीं। यही कारण है जो प्राचीन काव्यों के विषय प्रायः एक ही से हैं। प्राचीन ग्रीस में पेरिस हेलन को उड़ा ले गया। ट्रोजन-युद्ध हुआ और होमर ने उसका वर्णन ईलियड में किया। भारत में रावण सीता को हर ले गया। राम ने लङ्का जाकर उससे युद्ध किया, विजय पाई, और वाल्मीकि ने उस कथा का वर्णन कर के राम और सीता को अमर कर दिया। परन्तु वर्तमान समय में मनुष्य का अधिकांश जीवन शान्तिमय है। इसलिए उस समय के क्लेश-पूर्ण विचारों से आज कल के लोगों की सहानुभूति नहीं हो सकती। सभ्यता के विकास के साथ साथ हमारे कल्पित विचारों में भी पहले की सी तीव्रता नहीं रही। हरक्यूलीज़ की १२ कसरतों का हाल पढ़ कर बच्चे चाहे जितना आनन्द प्राप्त करें, उससे और लोगों का विशेष मनोरञ्जन नहीं हो सकता। भला बालकों और वृद्ध स्त्रियों को छोड़ कर कौन मान लेगा कि रावण के दस सिर थे, वह पर्वत के सदृश ऊँचा था, और कुम्भकर्ण छः महीने नशे में चूर सोया करता था। शाहनामे के रुस्तम महाशय भी हरक्यूलीज़ से कुछ कम नहीं। अतएव उनका जीवन-चरित भी हमारे लिए विशेष काम का नहीं।

रघुवंश का पद इन सब काव्यों से ऊँचा है। उसमें अशान्तिपूर्ण घटनायें उतनी नहीं; कल्पना शक्ति की दौड़ भी उसमें उतनी नहीं। रस के प्रवाह और उसके आस्वादन की सामग्री का तो कहना ही क्या है। यह काव्य कालिदास की प्रौढ़ावस्था-प्राप्त कवित्व-शक्ति का फल है।

अब प्रचलित भाषा के काव्यों को लीजिए। मिल्टन के पैराडायज़ लास्ट के विषय में मार्क पेटिसन साहब की शिकायत है कि उसको कालेज से निकलने के बाद अँगरेज़ लोग ही चाव से नहीं पढ़ते, औरों की कौन कहे। इसका कारण है—पैराडायज़ लास्ट का विषय मनुष्य-जीवन से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता। उसके नायकों को नेत्रहीन मिल्टन के ज्ञानचक्षु ही देख सकते थे; उनके चरित्रों का अनुभव उसी की अपूर्व धर्म्मबन्धन-ग्रस्त आत्मा कर सकती थी; और उसकी भाषा को वही समझ सकता है जिसने उसी की तरह ग्रीक और लैटिन-साहित्य का मन्थन किया हो। पैराडायज़ लास्ट के सहोदर, इनफर्नो नामक काव्य, की भी वही दशा है। वह एक अन्धे अभागे कवि का स्वप्न है। नरक के उस भयानक दृश्य को फिर भला कौन दुबारा देखने की इच्छा करेगा जिसने एक बार भी, दान्ते की तरह, उसे देखा हो?

अब रामचरितमानस को देखिए। इसकी हिन्दी भारतवर्ष के अधिकांश वासियों की मातृ-भाषा है; और वह भाषा भी इतनी सरल है कि अपढ़ ग्रामवासी भी उसे सुन कर किसी साहित्यसेवी विद्वान् से कम आनन्द नहीं उठाते। प्राचीन काल से अब तक कौन ऐसा काव्य हुआ है, जिसने इतने अधिक मनुष्यों के हृदय में स्थान पाया हो और जिसने उनके जीवन पर इतना अधिक प्रभाव डाला हो? अँगरेज़-समालोचकों का यह कहना बिलकुल ठीक है कि तुलसीदास से बढ़ कर भारतीय समाज का सुधारक कोई नहीं हुआ। ज़रा ध्यान तो दीजिए, सतलज से सोन तक, और हिमालय से विन्ध्याचल तक, तीन सौ वर्ष से, यदि प्रायः प्रत्येक गाँव में किसी भी ग्रन्थ की चर्चा रही है तो रामचरितमानस की। कोई भी ऐसा हिन्दू नहीं जो अपने बालकों को राम और सीता का आदर्श न दिखलाता हो; जिसको समय समय पर रामचरितमानस के दोहे और चौपाइयाँ याद न आ जाती हों, चाहे वह पढ़ा हो चाहे बे पढ़ा?

जिस समय अँगरेज़ी विचारों की धारा इस देश में ज़ोर से बह रही थी उस समय यह शङ्का हुई थी कि कहीं हमारे देश का यह अमूल्य रत्न उसमें डूब न जाय। विश्व-विद्यालय में उसके लिए कोई स्थान न था और नव-विचार-विभूषित हृदयों में हिन्दी-साहित्य की ओर से घृणा का बीज उग रहा था। परन्तु कुछ समय से वह धारा अपना प्रवाह बदलती हुई दिखाई पड़ती है। इस हिन्दी-रत्न को शिक्षित समाज अब आदर की दृष्टि से देखने लगा है। कुछ समय में, आशा है, इसके लिए उस समाज के हृदय में ऊँचा आसन भी सादर मिल जाय।

अच्छा, अब देखिए कि इस ग्रन्थ का क्यों इतना आदर है। समय ने बहुत से ग्रन्थों का नाश कर डाला है, परन्तु यह अभी तक मनुष्य-हृदय में विराजमान ही नहीं, दिन पर दिन उसमें अपना स्थायी घर बनाता हुआ देख पड़ता है। वाल्मीकीय रामायण भी तो है; पर उस पर इतनी श्रद्धा नहीं। रामचरितमानस पर ही क्यों?

रामचरितमानस में एक ऐसी बात है जो संसार के किसी काव्य में नहीं। उसमें तुलसीदास, ईश्वर को साधारण मनुष्य का रूप देकर उसे सांसारिक जीवन की सभी अवस्थाओं में ले गये हैं। राम आदर्श मनुष्य हैं; पर अपने कार्यों के कारण नहीं, किन्तु तुलसीदास की अनन्य भक्ति के कारण। उनमें वही गुण-दोष हैं जो मनुष्य मात्र में पाये जा सकते हैं। परन्तु तुलसीदास ने उनका वर्णन इस प्रकार किया है कि उन्हीं दोषों के कारण रामचन्द्रजी हमारे सगे हो गये हैं। यदि तुलसीदास उनमें गुण ही गुण दिखाते तो रामचरितमानस वेदान्त हो जाता। तब वह इतने आदर का पात्र न रहता। तुलसीदास के रामचन्द्र वाल्मीकि के रामचन्द्र से बिलकुल ही भिन्न हैं। पहले वे राजकुमार थे, अब तो वे मनुष्य मात्र के सगे ईश्वर हैं। हम उनमें अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं; परन्तु साथ ही साथ तुलसी हमको याद दिलाते जाते हैं कि उन्होंने हमारे और तुम्हारे ही उद्धार के लिए जन्म लिया है।

रामचरितमानस को आदि से अन्त तक पढ़ जाइए और बाल्यावस्था से ले कर वृद्धावस्था तक आनन्द लूटिए। बचपन में राम हमारे भाई हैं, कौशल्या हमारी माँ हैं, और दशरथ हमारे वृद्ध पिता हैं। दूर की यात्रा के लिए आज्ञा देते समय दशरथ उसी तरह दुखी होते हैं जिस तरह कोई वृद्ध पिता अपने पुत्र के दूर जाते समय दुखी होता है। आज्ञा मिलती है, और रामचन्द्र चले जाते हैं। हम राम के साथ धनुर्विद्या सीखते हैं, वन वन विचरते हैं, और यौवनावस्था प्राप्त होने पर किसी कुमारी के प्रेम-पाश में फँसते हैं। सीता के दर्शन होने पर रामचन्द्र-लक्ष्मण का वार्तालाप कैसा भाव-पूर्ण और कैसे स्वर्गीय प्रेम का उदाहरण है। वाल्मीकि से तुलना कर देखिए। हम तो कहते हैं कि कालिदास की भी पहुँच वहाँ तक नहीं है। सीता तुलसीदास ही की नहीं, जगत् की जननी हैं। तुलसीदास रामचरितमानस की नायिका के चरण-सेवक हैं। कहिए क्या किसी और कवि ने भी अपने काव्य की नायिका को इतना उच्च पद दिया है? कालिदास शकुन्तला को अपने हृदय में रखते हैं, परन्तु तुलसीदास सीता के चरण-कमलों पर मस्तक रख कर जगत्पिता रामचन्द्र के साथ उनके प्रणय का वर्णन करते हैं। फिर क्यों न ऐसे वर्णन को बालक से लेकर बूढ़े तक उसी चाव से पढ़ें और प्रेमोद्रेक से उसी तरह गद्गद् हो जायँ जिस तरह सबसे पहले तुलसीदास हुए थे।

परन्तु गार्हस्थ्य जीवन कण्टकमय है। क्या तुलसीदास

इसका अनुभव न कर चुके थे? बहू को घर आये अधिक दिन न हुए थे कि वह सौतेली सास के ईर्षा-बाण का निशाना बनी। राम को वनवास की आज्ञा हो गई।

कौन ऐसा कठोर-हृदय होगा जो इस वर्णन को पढ़ कर न पसीज उठे? न मालूम कितने सन्तान-शोक-सन्तप्त हृदयों को राम ने आकर सान्त्वना दी होगी—

> बरष चारि दस विपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।
> आय पाँय पुनि देखिहौं मन जनि करसि मलान॥

उखड़े हुए हृदय-वृक्ष में फिर आशा-पल्लव निकलने लगते हैं और जीवन के सब कार्य फिर ज्यों के त्यों चलने लगते हैं।

रामचन्द्र की वन-यात्रा का तथा अपूर्व प्राकृतिक वर्णन कविता के विचार से बहुत अच्छा है। परन्तु मानसिक चित्र खींचने में बालि को छोड़ कर और किसी के लिए तुलसीदास ने विशेष कष्ट नहीं उठाया।

लङ्का-काण्ड में युद्ध का वर्णन, पुराने ढँग पर, बड़ी योग्यता के साथ, किया गया है; परन्तु मन्दोदरी के चित्र को छोड़ कर और सब चित्र असम्भव से मालूम पड़ते हैं। मानसिक चित्र खींचने में तुलसीदास ने जितनी योग्यता बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड में दिखाई है उतनी और किसी काण्ड में नहीं। उत्तरकाण्ड बालकों तथा युवकों की भी समझ में अच्छी तरह नहीं आ सकता। फिर ज्ञान का वर्णन भी त्यागी मनुष्यों ही के लिए है। मालूम होता है, तुलसीदास लङ्काकाण्ड समाप्त करते करते थक गये थे। इससे वे उत्तर-काण्ड को किसी तरह घसीट ले गये हैं।

परन्तु, चाहे जहाँ देखिए, तुलसीदास राम के प्रेम में मग्न हैं। सेवा करने के लिए वे कहीं निषाद हो जाते हैं और कहीं हनूमान का अवतार ले लेते हैं।

यदि अगाध भक्ति के कहीं भी उदाहरण देखने हों तो उन दृश्यों में देखिए जहाँ तुलसीदास भक्ति की भिक्षा माँगते हैं। निषाद कहता है—

> पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
> मोहि राम राउर आन दसरथ सपथ सब सांची कहौं॥
> बरु तीर मारहु लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
> तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥

हनूमानजी कहते हैं—

> एक मन्द मैं मोह बस कीश हृदय अज्ञान।
> पुनि प्रभु मोहिं बिसारेहु, दीनबन्धु भगवान॥

फिर वे बन्दर के रूप में सेवा के बदले क्या माँगते हैं—

> नाथ भक्ति तव सब सुखदायिनि। देहु कृपा करि सो अनपायनि।

और यदि आपकी सेवा के बदले प्रेम-भिक्षा ही माँगनी हो तो महादेवजी सिफ़ारिश करने के लिए आ जाते हैं—

> उमाराम स्वभाव जिन जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

इसी भक्ति-भाव के आधिक्य को देख कर कुछ अँगरेज़-समालोचकों ने यहाँ तक कह डाला है कि रामचरितमानस के भक्ति-भाव-विषयक उद्देश में ईसाई मत की बहुत कुछ छाया है। मैं इस विषय में कोई राय नहीं दे सकता। समता बहुत कुछ है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि राम, यीशु, कृष्ण, और बुद्ध के सदृश किसी और आत्मा ने मनुष्य के हृदय में उतनी जगह नहीं पाई।

बुद्ध के समय से प्रेम और सच्चे गार्हस्थ्य जीवन की शिक्षा भारतवर्ष के सुधारक देते चले आरहे हैं; परन्तु जितना अधिक सुधार तुलसीदास ने किया है उतना और किसी से नहीं बन पड़ा। उनकी ललित लेखनी ने बौद्ध भिक्षुकों और पादरियों की आवश्यकता ही न रक्खी। सुनिए, सुनाइए और तदनुसार सुधार कीजिए।

इस हिन्दी-साहित्य की गुदड़ी के लाल को यदि आपने अभी तक नहीं पहचाना, तो आशा है, इस छोटे से और त्रुटिमय लेख से आपका ध्यान उधर जायगा और किसी विद्वान् के गवेषणा-पूर्ण लेख-द्वारा इस अपूर्व रत्न के महत्व की अच्छी तरह परख होगी॥

कालिदास कपूर

पत्र।

सुप्रसिद्ध हिन्दी-हितैषी, पण्डितवर श्रीयुत महावीर-प्रसाद द्विवेदी, सरस्वती-सम्पादक महोदयेषु—

महाशय,

इधर कुछ दिनों से निस्सन्देह भारत का यह भावी सौभाग्य-सूचक लक्षण दृष्टिगोचर होरहा है कि विश्व-विद्यालयों के बी० ए०, एम० ए० आदि उपाधिधारी सुयोग्य भारत-सन्तानों में भी

कुछ लोग अँगरेज़ी का मोह छोड़ मातृ-भाषा हिन्दी में केवल लेख लिख कर ही निश्चिन्त नहीं हो बैठे हैं वरुक साहित्य-सम्मेलन जैसी संस्था के प्रवर्त्तित परीक्षणों के भी परीक्षक ग्रैार अति प्राचीन हिन्दी-काव्यों के प्रकाशक पदवी से विभूषित भी हो रहे हैं। निस्सन्देह यह जागृति भारत के भावी कल्याण की सूचक है। जब तक अधिकांश सुशिक्षित भारत-हितैषी मातृभाषा हिन्दी में ही उच्च शिक्षा का चलन ग्राम ग्राम ग्रैार नगर नगर में पूर्णतया न चला देंगे तब तक भारत की जैसी चाहिए वैसी सर्वाङ्गीण उन्नति शीघ्रता से न हो सकेगी।

दुःख केवल इस विषय का है कि अब तक हिन्दी की शिक्षा के यथोचित सुधार का प्रयत्न भी ठीक ठीक नहीं किया जाता ग्रैार इसके प्राचीन साहित्य की रक्षा ग्रैार उच्च शिक्षा का मार्ग भी अबतक अवरुद्ध ही है। सुप्रसिद्ध 'चन्द' महाकवि-कृत 'पृथ्वीराजरासो' इस समय हिन्दी का सब से पुराना महाकाव्य माना जाता है। यद्यपि महाकवि चन्द बरदाई से पहले के कवियों के नाम ग्रैार उनके रचित ग्रन्थों का उल्लेख जहाँ तहाँ दिखता है सही, परन्तु भारत के दुर्भाग्य से वे ग्रन्थ सर्वथा दुष्प्राप्य ग्रैार अलभ्य ही अब तक हैं। भविष्य में भी उनके उद्धार की आशा नहीं दिखती।

जिस समय काशी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' विद्यानुरागी, बहुदर्शी, वृद्ध, हिन्दी के हितैषी विद्वद्वर पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पंडयाजी की सम्पादकता ग्रैार साथ ही बाबू राधाकृष्णदास तथा बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० महाशयों की सहकारिता से महाकवि चन्द के उक्त सब से पुराने हिन्दी महाकाव्य को प्रकाशित करने लगी थी उस समय विशेष आनन्द के सहित पूरी आशा थी कि निस्सन्देह अब इस महाकाव्य का सर्वाङ्ग-सुन्दर संस्करण छप जायगा, परन्तु थोड़े ही दिनों बाद बिना मेघ के वज्रपातसा दुःखदाई हृदय-विदारक कुदृश्य आँखों के आगे आया कि अकस्मात् पंड्याजी भी स्वर्गवासी होगये ग्रैार बाबू राधाकृष्णदास को भी कराल काल ने कवलित कर लिया। इस असामयिक दुर्घटना से इस पुस्तक के मुद्रण में बड़ा भारी दैवी विघ्न आ अड़ा ग्रैार विद्वद्वर पंड्याजी के गवेषणा-पूर्ण तथा विशेष परिश्रम से सम्पादित टिप्पणों का भी उनके साथ ही अन्त होगया।

महाकवि चन्द के इस अति प्राचीन महाकाव्य की पाठान्तरों ग्रैार क्षेपकों से अति शोचनीय दुर्दशा अति प्राचीनकाल से ही होती आती है। महात्मा तुलसीदासजी की अपूर्व कृति रामायण जैसे भारत भर में घर घर फैले हुए सुपरिचित ग्रन्थ की ही जब कि अनुमान ४०० वर्षों के अन्दर ही क्षेपकों ग्रैार पाठान्तरों के मारे अनिर्वचनीय दुर्दशा हुई दिखती है तो विक्रम की बारहवीं शताब्दी के लिखे अधिकांश प्राकृत शब्दों की पुरानी अवोध्य हिन्दी के महाकाव्य की अपढ़ कुपढ़ वा पण्डितंमन्यों के किये इस सुदीर्घकाल में कैसी कैसी ग्रैार कितनी अधिक दुर्दशा सम्भावित है, विचारशील मात्र स्वयं विचार सकते हैं। आज चन्द कवि के महाकाव्य को समझनेवालों का प्रायः अभावसा ही है। पाठान्तरों ग्रैार क्षेपकों की भरमार से तो अनेकों विद्वानों को इस महाकाव्य के सम्बन्ध में ऐसी धारणा दृढ़ होगई है कि महाराज पृथ्वीराज के समय का रचित यह ग्रन्थ ही नहीं है। स्वर्गीय पंड्याजी के 'उपसंहारिणी टिप्पण' के १७८ वें पृष्ठ में दो कवित्त ग्रैार एक दोहा उद्धृत किया गया है। मेवाड़राज्य के अधीश बड़े श्रीअमरसिंहजी (चित्रकोट रान अमरेश नृप) राणाजी के आज्ञानुसार सं० १६५३ से १६७६ के बीच में सङ्ग्रहीत पृथ्वीराजरासो के संग्रहकर्ता किसी कक्का नामक कवि की यह रचना है—

"मिली पंकज गनउदधि,
करत कागद कातरती।

कोटि कवी काज लह
कमल कीटकते करती।
हितिथि संख्या गुनित
कहै कक्काकवि पाने
इह श्रम लेखनहार
भेद भेदै सोई जानै
इन कष्ट ग्रन्थ पूरन करिय
जन बझा दुष नां लहय
पालिये जतन पुस्तक पवित्र
लिषि लेषक विनती करिय

गुन मनिथन रस पोइ
चन्द कवि नय कर दिद्दिय
छन्द गुनीतें तुट्टि
मंद कवि भिन भिन किद्धिय
देस देस विष्षरिय
मेल गुन पार न पावय
उद्दिम करि मेलवत्त
आसबिन अलस आवय
चित्रकूट रान अमरेश नृप
श्रीमुख आयस दयौ
गुन वीन वीन करुणा उदधि
लषि रासौ उद्दिप कियौ

लघु दीरघ ओछा अधिक
जो कुछ अन्तर होइ
सो कविपन मुष सुद्ध तें
कहो आप बुधि सोई

बड़े अमरसिंह जी चित्रकोट रान अमरेश नृप का राज्य-समय सं० १६५२ से १६७६ तक स्थिर हो चुका है। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि १६५२ के बाद ही कक्का कवि ने परिश्रमपूर्वक चन्द के महाकाव्य का एक उत्तम शुद्ध सङ्ग्रह किया था और उस समय में ही चन्द की कविता की क्षेपक और पाठान्तरों से पूरी दुर्दशा हो चुकी थी। अनेकों पाठान्तरों में कवि के लिखित पाठ का यथार्थ निर्णय करना सहज सा काम नहीं है। इसलिए उक्त कक्का कवि के सङ्ग्रह को भी हम चन्द की यथार्थ शुद्ध रचना किसी प्रकार से भी नहीं स्वीकार कर सकते हैं।

अब तो और भी प्रायः चार सौ वर्ष के इस सुदीर्घ कालान्तर में उसकी दुर्दशा अवर्णनीय हो गई है। अशुद्ध और विकृत पाठों के कारण ही चन्द का यह महाकाव्य परम दुर्बोध्य हो गया। 'नागरी-प्रचारिणी सभा के' संस्करण द्वारा भी इस विषय में उल्लेखयोग्य संशोधन वा सुधार न हो सका !!! विशेष दुःख तो यह देख कर होता है कि 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' के लिखनेवाले वर्तमान प्रकाशकों ने प्राकृत और हिन्दी आदि व्याकरणों से सर्वथा विरुद्ध वर्ण-विन्यास इस पुस्तक में आदि से अन्त तक किया है। सिद्ध-हेमचन्द्र की अष्टाध्यायी के द्वितीय पाद का ९० वाँ सूत्र—"द्वितीय-तुर्ययोरुपरि पूर्वः" स्पष्ट रूप से विधि देता है कि वर्ग के दूसरे और चौथे वर्ण जब द्वित्व होंगे तो दूसरा पहले से और चौथा तीसरे से ही मिलेगा। संस्कृत, प्राकृत, बँगला, हिन्दी आदि भाषाओं में उक्त नियमानुसार ही वर्ण-विन्यास किया जाता है। न जाने काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने क्या समझ कर इस नियम का उल्लङ्घन किया! यदि प्राचीन पुस्तक की लिपि का अनुरूप रूप दर्शाना ही इनका दृढ़ व्रत होता तो स्वकीय कोरे दुराग्रह और हठ से ने, में, को, से, आदि विभक्ति प्रत्ययों को विलगा कर प्राचीन ग्रन्थ में मुद्रित करने से तो उस व्रत का भी पालन न हो सका! यदि हस्तलिखित प्रति के सर्वथा अशुद्ध पाठों के संशोधन का अधिकार उक्त सभा को नहीं प्राप्त था तो अपने कोरे दुराग्रह से इस संस्करण को अशुद्ध और भ्रष्ट करने का अधिकार कौन से नियमानुसार प्राप्त हो गया?

सैाभाग्य का विषय है कि स्वर्गीय पंड्याजी ने भी अर्थ करने की चेष्टा केवल प्रथम मङ्गलाचरण के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं की। परन्तु इस एक ही मङ्गलाचरण की विस्तृत टीका में इतनी और ऐसी ऐसी विचित्र भूलें हुई हैं कि जिन्हें पढ़ कर मर्म-वेदना होती है।

पत्र विशेष दीर्घ हो जाने के कारण अर्थ की असङ्गति और भूलों को दूसरे पत्र में लिखने की इच्छा है। इति शुभम्।

हिन्दी का एक
'वृद्ध सेवक'

निवेदन

'वृद्ध सेवक' जी के इस अप्रार्थित पत्र को हम ज्यों का त्यों प्रकाशित करते हैं। आप हिन्दी और संस्कृत के ही नहीं, प्राकृत-भाषाओं के भी पूरे पण्डित हैं। अतएव, इस विषय में सम्मति-दान के आप पूर्ण अधिकारी हैं। जहाँ तक हम जानते हैं, उन्होंने किसी विकार के वश हो कर यह पत्र नहीं लिखा। इस कारण उनकी सम्मति सादर विचार-योग्य है। कठिनता इतनी ही है कि चन्द के समय की पुरानी हिन्दी के जाननेवालों की बड़ी कमी है। पत्र-लेखक महाशय ऐसे कुछ जानकारों का पता बतावें तो शायद रासो के प्रकाशक उनसे सहायता लेने की चेष्टा भी करें।

सरस्वती-सम्पादक

वीराङ्गना।

(श्रीकृष्ण के प्रति रुक्मिणी)

सुनती हूँ ऋषियों से यादवेन्द्र ! तुम हो—
आप हृषीकेश, अवतीर्ण हुए लोक में
भूमि-भार हरने को—पापियों को मारके।
चाहती पदाश्रय है वन्द्य पद-पद्म वे
भीष्मक की पुत्री चिरदासी तव रुक्मिणी।
तारो हे तारक ! इस सङ्कट से उसको।
कैसे कहूँ जी की बात चरणों में देव ! मैं—
अबला-कुल-बाला हूँ, जी को कड़ा करके
हाय ! किस साहस से लज्जा भय छोड़ूँ मैं ?
आँखें मिँचती हैं, गिरी पड़ती है लेखनी,
छाती काँपती है, नहीं जानती हूँ, क्या करूँ ?
जानती नहीं हूँ कहूँ दुःख-कथा किससे ?
तुम हो दयाब्धि, सुनो, आज तुम्हें छोड़ के
और कौन ठौर है अभागिनी को लोक में ?

देख पुरुषोत्तम को स्वप्न में अभागी ने
देह-मन सौंप दिये, साक्षी कर देवों को—
वरण किया है उन देव-नर-रत्न को।
नाम नहीं ले सकती उनका—वे स्वामी हैं
और दासी नारी है; परन्तु कहूँ, सुनिए,
पञ्चमुख जपते हैं पञ्चमुख से सदा
नाम वह अमृत-समान सबके लिए।
कौन हैं वे, और किस श्रेष्ठ कुल में, कहाँ,
जन्म है उन्होंने लिया, थोड़े में सुनो प्रभो !
फूल चुन मालिन बनाती यथा माला है
गूँथूँ ऋषि-वाक्य-गाथा नाथ ! पद-छाया दो।

जन्म पुरुषोत्तम ने कारागार में लिया।
बन्दी थे उसमें पिता-माता राज-रोष से
दीनबन्धो ! जन्मे हैं कुठौर नाथ इससे ;
खान में हैं रत्न होते और मोती सीप में।
उस सुनिशा में धरा पुलकी प्रमोद से
शतशत शारदीय शशि-सदृशी छटा
छिटकी; सुगन्ध-मद-मत्त हो समीर ने
सनसन शब्द किया, दौड़ कल-नाद से
नद-नदियों ने सुसंवाद दिया सिन्धु को ;
कल्लोलित होकर सहर्ष वह गरजा।
अप्सरायें स्वर्ग में, धरा में नर-नारियाँ
नाचीं, गीत-वाद्य की तरङ्गें बहीं रङ्ग से।
चारों ओर फूल बरसाये सुर-वृन्द ने,
पाये दरिद्रों ने रत्न, मृत जन जी उठे !
जय-जयकार-पूर्ण सारा विश्व हो उठा।
जन्म के अनन्तर निशा में ही जनक ने
जाके आप नन्दन को गोपराज-गृह में

रक्खा महायत्न सह, रत्न पाके दीन ज्यों
मोद-सिन्धु में हो मग्न, मग्न हुए धन्य हो
गोकुल के गोप-दम्पती त्यों मोद-सिन्धु में।

आदर से पुत्र मान पाला गोपरानी ने
छोटे में जितनी और जैसी बाललीलायें
गोपराज ने की, उन्हें कौन कह सकता ?
कौन कह सकता है मायाविनी पूतना
शैशव में मारी किस कौशल से ? देख क्या
कालनाग कालिय पदों में पड़ा उनके ?
कौन कह सकता है कोप कर इन्द्र ने
घोर जल-वृष्टियाँ कीं जब, किस युक्ति से
गोवर्द्धन-पर्वत उठाकर सहज ही
व्रज को बचाया उस जल के प्रलय से ?
और जो जो कीर्त्तियाँ कीं, विश्व में विदित हैं।

यौवन में गोपियों के सङ्ग रसराज ने
क्रीड़ा की, भुलाया सब गोपवधूव्रज को
बाँसुरी बजाकर तमाल-तले नाच के;
विहरे प्रभु गोठों में यमुना-पुलिन में।

गोकुल में योंही कुछ काल बिता करके
अपने पिता का शत्रु मारा अरिन्दम ने।
दूर फिर सिन्धु के किनारे पुरी सुन्दरी
जाकर बसाई; भला और कितना कहूँ ?
चिन्तामणे ! चिन्ता कर देखो उन्हें चीन्हों जो,

और जो न चीन्ह सको तो मुझको आज्ञा दो
पीताम्बर ! देखूँ जो बखान सके सेविका
उस छविमाधुरी को, चित्रपट पर-सी
मूर्त्ति चिर चित्रित है वह इस चित्त में

वर्ण नव मेघ सा है, सुतनु त्रिभङ्ग है,
सिर पर मोरपंख, गुञ्जा-हार ग्रीवा में,
वंशी मृदु ओंठों पर, पीत परिधेय है।
पद-कमलों में ध्वजा-वज्राङ्कुश चिह्न हैं
योगीश्वर-मानस-सरोज, मुक्ति-धाम हैं।

जब जब देखती हूँ देव ! मैं गगन में
वारिधर बिजली का वस्त्र पहने हुए
और इन्द्रचाप रूपी मुकुट धरे हुए
अर्घ्य-पाद्य देकर, प्रणाम कर भक्ति से
पूजती हूँ और कहती हूँ, भ्रान्ति-मद से—
मेरे प्राणकान्त तोष देने मुझ दासी को
आते शून्यपथ से हैं; उड़ती है चातकी
तो मैं निन्दती हूँ उसे यदुमणि ! कोप से
नाचती मयूरी देख मारती हूँ उसको।
गर्जता है मेघ यदि, आँखें मूँद सोचती—
मैं हूँ गोपबाला, सखा यमुना-पुलिन में
मुझको पुकारते हैं मीठी वेणु-वाणी से !
कहती मयूर से हूँ—धन्य खगकुल में
है तू शिखी ! जिसका मुकुट सिर उनके
सोहता है शम्भु पद पूजते हैं जिनके।
दूँ मैं चरणों में देव ! और परिचय क्या ?

सुनो, अब दुःख कथा मन्दिर में मन के
रख वह श्याम मूर्त्ति, त्यागिनी तपस्विनी।
पूजे इष्टदेव को ज्यों निर्जन गहन में
पूजती थी नाथ को मैं, अब विधि-दोष से
चेदीश्वर राजा शिशुपाल जो कहाता है,
लोकरव सुनती हूँ हाय ! वर-वेश से
आ रहा है शीघ्र यहाँ वरने अभागी को।

हाय ! कैसी लज्जा, सोच देखो द्वारकापते !
धर्म-हीन कर्म कैसे रुक्मिणी करेगी यों ?
आप ही दिया है मन हाय ! एक जन को
दासी ने, दूसरे को—गुणनिधि ! क्षमा करो
प्राण उड़ते हैं वह बात याद आते ही !
विधि ने लिखा था यह ताप किस पाप से ?

आओ हे गदाधर ! बजाके पाञ्चजन्य को
वैनतेय वाहन पै, देव ! इस दासी में
होता यदि रूप-गुण तो मैं यह कहती—
आओ, हे मुरारि ! आओ, जाके चन्द्रलोक में
अमृत तुम्हारे वर वाहन गरुड़ ने
हरण किया था यथा, आके तुम दासी को
हर लो; परन्तु न तो रूप है, न गुण है,
कैसे सुधा-सङ्ग करूँ तुलना मैं अपनी ?
दीन हूँ मैं यादवेन्द्र ! दीनबन्धु तुम हो,
रुक्मिणी को ले उस नरोत्तम को सौंप दो
विधि ने बनाया उसे दासी कर जिसकी।

रुक्मी नाम बन्धु मेरा अतिही दुरन्त है,
चेदीपति उसका बड़ा ही प्रीति-पात्र है।
माँ के चरणों में कही जाती नहीं लाज से
तबा जले जी की देव ! चन्द्रकला आली है,
रात दिन रोती हूँ उसी का गला धरके,
भय से अकेली बैठ दोनों हम रोती हैं;
आई उन चरणों की आज मैं शरण में।
मन को बहलाती हूँ कैसे श्रीपते ! तथा
धैर्य धरती हूँ, जो सुनोगे तो कहूँगी मैं
बहती प्रवाहिणी है एक राजवन में
सादर पुकारती हूँ मान उसे यमुना।
उसके किनारे बड़े प्रेम से लगाये हैं
कितने तमाल-नीप, आवेगी तुम्हें हँसी,
पाले कुञ्ज में हैं शुकसारी, शिखीशिखिनी,
कूजती हैं कोकिलायें, गूँजते मधुप हैं,
फूलते हैं फूल, किन्तु एक प्रभु के बिना
निष्प्रभ है सारा वन, सो हे द्वारकापते !
कुञ्जविहारी से कहो शीघ्र उस कुञ्ज में
बाँसुरी बजाते हुए आवें देव ! अथवा
पहुँचा दो मुझको ही चरणों में उनके।
गायें बहुत गोठ में हैं, दासी उन सबकी
सेवा करती है स्वयं कह दो गोपाल से
आवें उस गोगृह में यादवेन्द्र ! कह दो।
गूँथ रखती हूँ फूलमाला नित्य यत्न से,
पाती हूँ पड़ा जो मोरपंख करती हूँ मैं
कितना—हा ! पागल हूँ, कहने से लाभ क्या ?
आकर उबारो मुझे, शार्ङ्गधर तुम हो।
दासी ने सुना है, किया कंसवध तुमने;
खेल से ही मारा मधु-दानव महाबली।
कौन कह सकता है गुण गुणसिन्धु के ?
कालरूप शीघ्र शिशुपाल यहाँ आता है,
उसके प्रथम आओ, नाथ ! हरो मुझको
और पहुँचा दो उनके ही पदयुगम में
सोते में जिन्होंने हरा मेरा मन हे हरे !

"मधुप"

बनाम—मुफ्त शिक्षा के शत्रु-समूह।

["इंडियन रिव्यू"--नाम का एक मासिक पत्र मदरास से निकलता है। उसके जुलाई १९१८ के अङ्क में, दिल्लगी से भरा हुआ, एक लेख निकला है। उसके लेखक हैं—सैयद मुहम्मद रऊफ़अली, बारिस्टर—एट—ला। लेख क्या, वक्तृता कल्पना-मय है। कल्पना की गई है कि यहाँ, इस देश में, एक सोसायटी है। उसका उद्देश शिक्षा-प्रचार को रोकना है। उसने एक बार एक सभा—मीटिंग—की। उसमें अपने ही से ख़याल रखनेवाले एक महाशय को सभा के सभ्यों ने सभापति बनाया। उसने सोसायटी के उद्देश की साधक एक धड़ल्ले की "स्पीच" (वक्तृता) झाड़ी। सैयद साहब के लेख में इसी स्पीच की अविकल रिपोर्ट है। उसी रिपोर्ट का हिन्दी-अनुवाद अब आप उत्कण्ठ हो कर सुनिए]

महाशयो,

आप लोगों ने अपने समाज का सर्वप्रथम सभापति बना कर जो सन्मान मुझे प्रदान किया है उसके लिए मैं अपने अन्तःकरण से आप लोगों को धन्यवाद देता हूँ। मुझसे यह बात छिपी नहीं कि आपने अपने समाज का प्रधान मुझे ही क्यों चुना ? बात यह है कि मेरे नाम के पीछे विश्वविद्यालय के पुछल्ले नहीं लगे हैं। अक्सर लोगों के नाम के पीछे अँगरेज़ी के कुछ मोटे मोटे अक्षर रहते हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि वे लोग विश्व-विद्यालय की डिग्री पाये हुए हैं। मेरे नाम के पीछे वैसे कोई भी चिन्ह न होने के कारण ही आप लोगों की दृष्टि मुझ पर पड़ी है। इसी से मैं आज इस समाज के प्रधान आसन का पद पाने का सौभाग्य प्राप्त कर रहा हूँ। जब मैं अपने जीवन के परिवर्तन-चक्र का स्मरण करता हूँ तब मेरे आनन्द की सीमा नहीं रहती। क्योंकि इसी चक्र के कारण विश्वविद्यालय-रूपी गहरे ख़न्दक में गिरने से मैं बचा रहा। मुझे इस बात का विश्वास है कि यदि मैंने विश्वविद्यालय की शिक्षा पाई होती, तो आज मुझे इस स्थान में अपनी शान बढ़ाने का मौक़ा कभी नसीब न होता। इसके सिवा, यह भी है कि आप लोगों में प्रशंसनीय एवं स्वाभाविक मूर्खता ठूँस ठूँस कर भरी हुई है। बस यही दो मुख्य कारण हैं जिनसे मैं आज आप लोगों के सामने सभापति के स्वरूप में विराजमान

हूँ। इस समाज का सभापति होने के कारण, सच पूछिए तो, मेरे कन्धों पर बड़ा भारी बोझ आ पड़ा है। वह बोझ यह है कि मुझे इस समाज के उद्देश का, जन-साधारण के सामने उपस्थित रह कर समझाना है। निःसन्देह मेरे सदृश अज्ञानी मनुष्य के लिए यह काम बहुत भारी है। हाँ, यदि मुझसे भी किसी बहुत बड़े अज्ञानी को यह कार्य्य सौंपा जाता तो वह इसे बड़ी ख़ूबी के साथ कर दिखाता। मेरा विश्वास तो यह है कि आप लोग अपनी समाज के उस उद्देश के सच्चे पृष्ठ-पोषक हैं, जिसकी सिद्धि के लिए इस समाज की स्थापना हुई है। ऐसी दशा में, आप लोग मेरी शिक्षा-सम्बन्धिनी त्रुटियों और कमज़ोरियों की ओर दृष्टिपात तक न करेंगे। अतएव मैं उत्साहित होकर अपने कार्य्य-भार को शिरोधार्य्य करता हूँ।

मेरे कार्य्य की कठिनाइयाँ इस समय कई गुना अधिक बढ़ गई हैं। क्योंकि विरोधिनी शक्तियों ने देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक बड़ा गड़बड़ मचा दिया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि देश का देश आधुनिक शिक्षा-प्रचार की वृद्धि के लिए उपयुक्त स्थान बन गया है। इस बात के पहले कि मैं उस उलझन को सुलझाना प्रारम्भ करूँ जिसे इस देश में शिक्षा के हामियों ने पैदा कर दिया है, मैं इस स्थान पर एक आवश्यक बात कह देना चाहता हूँ। हमारी समाज की तरह इस देश में एक और भी संस्था है। इन दोनों संस्थाओं का उद्देश एक ही है। इस संस्था का नाम है— जनता-अज्ञान-वर्द्धक समाज। यह उस समय से भी बहुत पहले प्रतिष्ठित हुई थी जब लार्ड मकाले ने, सन् १८३५ ईसवी में, शिक्षा-विषयक अपना प्रसिद्ध मन्तव्य लिखा था। परन्तु सन् १८५४ में सर हेनरी उड के ख़रीते के कारण इस समाज की उन्नति में बाधा पहुँची। तब से, लार्ड कर्ज़न के शासन-काल तक, उसकी स्थिति प्रशंसनीय नहीं रही। हाँ, उनके शासन-काल में इस समाज ने पुनर्जीवन के लक्षण प्रकट करना ज़रूर प्रारम्भ कर दिया। तब से यह एक समुन्नतिशील संस्था बन गई है। देश में इसके अनेक शक्तिशाली संरक्षक भी हो गये हैं। इस समाज और हमारी समाज के बीच केवल पद्धति का ही अन्तर है। हम लोग रोग की वृद्धि के आगे आड़े आने का अवसर ढूँढ़ते हैं। अर्थात् हमारी कार्य्यप्रणाली यह है कि शिक्षा की वृद्धि के लिए जो उपाय किये जाते हैं उनके समूल नष्ट करने की चेष्टा में हम लोग दत्तचित्त रहते हैं। यह तो हमारे कार्य की पद्धति हुई। अब उस समाजवालों की भी बात सुनिए। वे लोग देश की जैसी स्थिति है—मूर्खता का जैसा अखण्ड राज्य है—उसी को समुन्नत करना चाहते हैं। उनकी कार्य्य-प्रणाली का यही चरमोद्देश है। इस तरह इन दोनों संस्थाओं के प्रयत्नों का फल अन्त में एक ही हो सकता है। जनता-अज्ञान-प्रवर्द्धक समाज हमारे समाज से बहुत पहले स्थापित हुई है। अतएव हमारी समाज के सामने उसका गौरव अधिक है। इस तरह की समझ हम लोगों में न होनी चाहिए। जो आदर्श सामने रख कर इस आन्दोलन को पूर्णता प्रदान की गई है और शिक्षा की उन्नति में बाधा पहुँचाने के लिए इस समाज ने जिस संस्था का रूप धारण किया है, ये दोनों सदा से—यहाँ तक कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी, जब ज्ञानोदयरूपिणी जगद्दाहक ज्वाला प्राचीन कालीन अज्ञानता के निष्प्रभ अङ्गारों में छिपी हुई थी—मानव-जाति को जीवित किये रही हैं।

भारत के प्राचीन ऐतिहासिक उदाहरणों से हमें बहुत उत्साह मिल सकता है। उन से यह बात प्रकट होती है कि सच्चे लोकनेताओं ने, बहुत पुराने ज़माने में भी, शिक्षा के विस्तृत प्रचार से होनेवाली बुराइयों को पूर्णतया समझ लिया था।

उन्होंने ज़ोरदार, परन्तु अपूर्ण, प्रयत्न भी इस हानिकारक प्रचार को रोकने के लिए किये थे। भारतीय इतिहास का प्रत्येक पाठक यह बात अच्छी तरह जानता है कि प्राचीन काल में आर्य-जाति का सारा साहित्य संस्कृत ही में छिपा था। ब्राह्मणों ने उसका इजारा ले रक्खा था। शूद्र जाति, जो आबादी के लिहाज़ से अधिक थी, ब्राह्मणों की भाषा संस्कृत न पढ़ने पाती थी। ब्राह्मणों ने नियम बना दिया था कि शूद्रों को संस्कृत पढ़ने का अधिकार नहीं। जो शूद्र इन पण्डितों की समाज की बोली तक बोलने का साहस करेगा वह दण्ड का पात्र समझा जायगा। भाषा और कुछ नहीं, केवल मन के विचार प्रकट करने का साधन मात्र है; और हर प्रकार का ज्ञान प्रकट करने के लिए किसी न किसी भाषा की आवश्यकता होती ही है। अतएव यह बात समझने में ज़रा भी कठिनाई नहीं आ सकती कि संस्कृत का पठन-

पाठन सर्वसाधारण के लिए क्यों वर्जित रहा? सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार हो जाने से कैसे कैसे बुरे परिणाम उत्पन्न होंगे और सीधे सादे लोगों पर कितनी विपत्तियाँ आ गिरेंगी, इन सब बातों का निश्चय उस समय के सच्चे लोक-नेताओं ने अवश्य ही कर लिया था। उन्होंने शिक्षा-प्रचार की उन्नति पूर्णतया रोकने के लिए ही उस बुराई की जड़ पर कुठाराघात किया था। अतएव, शिक्षा-प्रचार का एक मात्र साधन, संस्कृत भाषा का पठन-पाठन, सर्वसाधारण के लिए निषिद्ध कर दिया गया था।

महाशयो, हर भारतीय को अपने प्राचीन इतिहास में यह बात पढ़ने से बड़ी प्रसन्नता होगी कि उसके बाप-दादे, प्राचीन काल में भी, शिक्षा-प्रचार में बाधा पहुँचाने के अत्यन्त कठिन और महत्त्व के कार्य में अगुवा थे। वे लोग अपने भाग्य ही पर सन्तुष्ट रहते थे। उनका ज़माना आज-कल की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा था। उन लोगों ने ऐसी सुख-शान्ति का उपभोग किया था जैसी इस नये युग में संसार की किसी भी जाति को नसीब नहीं हुई। इस में किसी को भी सन्देह नहीं। ये बातें इतिहास की सच्ची बातें हैं। यदि आप उनकी अप्रमेय उच्च स्थिति के कारणों पर विचार करेंगे तो निर्विवाद-रूप से इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि वे लोग अच्छी हालत में इसी लिए थे, कि वे शिक्षित न थे। वे भले इसी लिए थे, कि वे अज्ञानी थे। वे उच्च और श्रेष्ठ स्वभाववाले इसी लिए थे, कि उन्हें स्कूलों और कालेजों में शिक्षा न मिली थी। सच तो यह है कि हमारे देश के सौभाग्य का सूर्य्य उसी हिसाब से क्षीण-प्रभ पड़ने लगा, जिस हिसाब से कि शिक्षा का प्रचार जन-साधारण में बढ़ने लगा। शिक्षा-प्रचार की अपेक्षा कोई अन्य भारी आपदा उस जाति पर निस्सन्देह नहीं आ सकती जो जाति किसी समय अज्ञान के प्रसार के कारण अत्यन्त उच्च-स्थान पर विराजमान थी। किस प्रकार शिक्षा-प्रचाररूपी हंटर ने हमारी जातीय उन्नति की रीढ़ को धीरे धीरे तोड़ना प्रारम्भ कर दिया, इस बात की खोज के लिए इतिहास के पन्ने उलटने की चेष्टा मैं न करूँगा। ऐसा करने से मुझे ढेर की ढेर ऐतिहासिक सूचनाओं का हवाला देना पड़ेगा, जिस का यह परिणाम होगा कि आप लोग ज्ञानसम्पन्न हो जायँगे और यह एक ऐसी बात हो जायगी जिससे सदैव ही दूर रहना मेरा प्रथम कर्त्तव्य है। अन्यथा मैं अपनी समाज के सन्मुख विश्वासघात करने का अपराधी प्रमाणित होऊँगा।

हम लोगों में से प्रत्येक व्यक्ति का, जो इस इतने बड़े समाज का सदस्य है, यह प्रधान कर्त्तव्य है कि वह अपनी पवित्र शपथों का स्मरण करे और सब प्रकार के ज्ञान-प्रचार को बाधा पहुँचाते हुए अज्ञान-प्रसार के कार्य में दत्तचित्त रहे। जब हमारा ऐसा सदुद्देश है तब आप लोग मुझसे इस बात की आशा नहीं कर सकते कि मैं अपने कार्य-क्रम के सर्व-प्रथम सिद्धान्त से बालभर भी टस से मस हो जाऊँ। शिक्षा-प्रचार के हामियों का इतिहास जानने को कैसा ही प्रलोभन मुझे क्यों न दिया जाय मैं अपनी शक्ति भर उसका विरोध ही करूँगा। एक तो मेरा कार्य पवित्र कार्य्य है, दूसरे आज कल शिक्षा-प्रचार के हिमायती लोगों का आन्दोलन ज़ोरों पर है। ऐसी दशा में हम लोगों का यह मुख्य कर्तव्य है कि हम अपने जीवन-व्रत की पवित्रता पर सदैव दृष्टि रक्खें; अन्यथा यह संस्था भी वर्त्तमान समय के वाद-विवाद में पड़ कर ज़लील होगी; और, इस तरह, इसका वह परोपकारी सदुद्देश भी नष्ट हो जायगा, जिसे इसने भारत के असंख्य भोले भाले निवासियों के बचाव के लिए अपना आदर्श माना है। इस बात का खण्डन नहीं किया जा सकता कि शिक्षा-प्रचार के हामियों ने कम से कम एक बात में तो अवश्यही सफलता प्राप्त करली है। इन लोगों ने इन पिछले बीस वर्षों में लगातार चिल्लाहट मचा कर कुछ बड़े बड़े विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। जब से इन की इस प्रकार की जीत का झण्डा गड़ा तब से इनके पक्ष-पातियों की संख्या मुस्तैदी के साथ बढ़ी है।

ऐसी स्थिति में यदि हम लोग मौन रहेंगे और जैसा प्रवाह बह रहा है वैसा ही बहने देंगे तो समझ रखना कि शिक्षा-प्रचार की उन्नति, हम लोगों के सामने, अनुल्लङ्घनीय कठिनाइयाँ उपस्थित कर देगी। यदि हम इस समय चुप रहेंगे तो हमारा प्यारा भारतवर्ष अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के अत्यन्त गहरे खन्दक में मुँह के बल जा गिरेगा।

हाल के समाचारों से प्रकट है कि यद्यपि वह झगड़ा, जिसे हमारी उपर्युक्त सहयोगिनी संस्था ने शिक्षा-प्रचारकों के आक्रमणों का सामना करने के लिए खड़ा किया है, अपने

भिन्न भिन्न स्वरूपों में बड़ा ज़बरदस्त है और उसका सफल होना तभी सम्भव है जब जन-साधारण के शान्ति-प्रवर्त्तक उसके संरक्षक बनेंगे । यह सब कुछ है, परन्तु स्वयम्भू नेताओं की कठोर और घातक घोंघा-बसन्ती अपना प्रभाव प्रकट करने से नहीं चूकती । सदैव शिक्षा-प्रचार का ढोल पीटते रहने के कारण शिक्षा के हामियों ने ख़ास ख़ास स्थानों में अपनी बात सुननेवाले पैदा कर लिये हैं । शिक्षा के सम्बन्ध में चिल्ल-पों मचानेवालों ने लार्ड हार्डिङ्ग और लार्ड चेम्सफर्ड के सदृश वायसरायों को भी विवाद के कीचड़ में ला डाला है । यहीं तक बात रहती तो कुछ अधिक हर्ज न था । हम तो देखते हैं कि उन महानुभावों को इन लोगों के प्रति सहानुभूति भी प्रकट करनी पड़ी है । यह एक ऐसी बात हो गई है जिसे जान रखना प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य है । क्योंकि यह बात केवल हानि-कारक ही नहीं, इससे तो भविष्यत् में घोर आपदाओं के उत्पन्न होने की आशङ्कायें हैं । यदि, सौभाग्यवश, हमारी प्रान्तीय सरकारें प्राथमिक-शिक्षा-बिल के विरुद्ध वीरता-पूर्वक आड़े न आतीं तो यह बात बनी बनाई थी कि भारत-सरकार, लार्ड हार्डिङ्ग के दबाव में पड़ कर, सन् १९१२ में, स्वर्गीय मिस्टर गोखले द्वारा बजाई गई शिक्षा-भेरी के सामने सहम गई होती और व्यवस्थापक सभा उक्त बिल को क़ानून का रूप दे देती ।

महाशयो, यह बात कहते मुझे निस्सन्देह मार्मिक पीड़ा होती है कि हमारे आन्दोलन के सब से अधिक भयङ्कर, अत्यन्त क्रूर और घोर विरोधी स्वर्गीय मिस्टर गोखले थे । इधर, कुछ समय पूर्व, इन्हीं से हमारे आन्दोलन को खुले मैदान सामना करना पड़ा था । मैं स्वर्गीय मिस्टर गोखले का उतना ही भक्त हूँ जितना होने का अभिमान कोई अन्य मनुष्य कर सकता है । परन्तु यदि स्वर्गीय मिस्टर गोखले के शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों के उल्लेख का प्रयत्न मैंने दबी ज़ुबान से भी किया तो मैं अपनी इस बृहत् समाज का विश्वासघातक हो जाऊँगा । इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं कि मिस्टर गोखले महापुरुष थे । परन्तु इस बात का यह अर्थ नहीं कि उनसे भूलें नहीं हो सकती थीं अथवा उनका सर्व-साधारण कार्य्य-क्षेत्र निर्दोष ही रहा है । मैं यहाँ पर यह बात स्पष्ट किये देता हूँ कि उनके कार्यों की कोई कोई आलोचना जो इस समाज के उद्देश की दृष्टि से की जायगी उसका अर्थ यह न होगा कि हम लोगों की श्रद्धा उन पर नहीं । हमारी स्थिति एकदम दृढ़ और स्पष्ट है । इसी से हम दावे के साथ कहते हैं कि शिक्षा-प्रचार को बाधा पहुँचानेवाले जैसे पवित्र कार्य्य को नष्ट करनेवालों में स्वर्गीय मिस्टर गोखले के सदृश और कोई भी मनुष्य नहीं हुआ । यदि उन्होंने भारत से निरक्षरता दूर करने के लिए अपने हाथों में सोंटा न उठाया होता, यदि उन्होंने अनिवार्य प्रार-म्भिक शिक्षा के प्रश्न में स्वयं हाथ न डाला होता, अथवा इस मामले में यदि वे कम से कम तटस्थ ही रहते, तो हमारी समाज का कार्य्य आज निस्सन्देह अत्यन्त सरल हो गया होता और सबसे अधिक कठिनाई, जो हमारे सामने दिखलाई पड़ रही है, उसका अस्तित्व ही न रह जाता । इस समय हमारे सामने यह कठिनाई आ उपस्थित हुई है कि जनता में शिक्षा-प्रचार का महत्त्व प्रकट हो गया है और वह इस सम्बन्ध में बहुत कुछ जान चुकी है । क्या जनता से इस भाव का दूर करना सामान्य कार्य समझा जा सकता है ? हमारी आशा तब एकदम निराशा में परिणत हो जाती है जब हम इस बात का स्मरण करते हैं कि स्वर्गीय मिस्टर गोखले प्रधान-व्यवस्थापक-सभा में अनिवार्य-प्रारम्भिक-शिक्षा के क़ानून को पास करा लेने में बहुत कुछ सफल हो चुके थे । परन्तु सौभाग्यवश दीवानों का सब से बड़ा नेता उन का विरोध करने के लिए वीरतापूर्वक उनके सामने आ डटा और हमारी समाज की लाज रह गई । हमारी समाज के उद्देशों का रक्षक यह वीर पुरुष केवल हमारे धन्यवादों का ही पात्र नहीं, किन्तु स्वर्गीय मिस्टर गोखले के शिक्षा-बिल का पाण्डित्यपूर्ण विरोध करने और इस तरह बुराई की जड़ ही काट बहाने के लिए इस समाज के श्रेष्ठ पुरुषों के बीच उच्चतम स्थान पाने का अधिकारी है । अतएव नम्रतापूर्वक मैं यह प्रस्ताव उपस्थित करता हूँ कि यह महापुरुष इस समाज का प्रथम संरक्षक चुना जाय, जिससे यह समाज उसकी संरक्षा और नायकत्व में खूब ही फले फूले । (इस समय उस माननीय पुरुष-पुङ्गव को संरक्षक चुनने का प्रस्ताव सभापति द्वारा किया गया और सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ । तत्पश्चात् सभापति ने अपना व्याख्यान पुनः पढ़ना प्रारम्भ कर दिया)

महाशयो, इस शताब्दी में हमारी समाज-नौका का कर्ण-धाररूपी यह प्रथम अवतार हुआ। हमारे समादृत संरक्षक के दिमाग़ में कैसी उच्च कोटि की योग्यता ठूँस ठूँस कर भरी गई है; और, देखिए, उसका कैसा सद्व्यय हुआ है। वह हमारी भूली भटकी और निरीह जाति को सत्पथ में लगाने के लिए ख़र्च की गई है। क्या आप लोगों को स्मरण है कि उन्होंने किस योग्यता से अपने प्रतिपक्षी की दलीलों का खण्डन किया था? नहीं, तो मैं अपने अस्पष्ट और कमज़ोर शब्दों में उस तर्क-प्रणाली का दिग्दर्शन आप लोगों को कराता हूँ। आइए, हम लोग सहर्ष उस प्रणाली का रसास्वादन करें, जिसे उन्होंने स्वर्गीय मिस्टर गोखले की धूर्त्तता-पूर्ण बहस के खण्डन में प्रयुक्त किया था और उन्हें निरुत्तर करके उनकी एक एक बात की किस तरह धज्जियाँ उड़ाई थीं।

हमारे वीरवर वंशजात संरक्षक ने बड़ी ही दृढ़ता के साथ अपना पक्ष समर्थन करते हुए और उस हानिकर क़ानून के अन्यान्य दोषों का उद्घाटन करते हुए इस बात की घोषणा की थी कि यदि यह बिल क़ानून का रूप धारण कर लेगा तो समझ लीजिए कि कल्लू, लल्लू, और बल्लू सभी शिक्षित हो जायँगे और भारत में साधारण से साधारण कार्य के लिए कुली मिलना कठिन ही नहीं असम्भव हो जायगा। देखने में तो यह तर्क साधारण ही सा समझ पड़ता है। परन्तु, सच पूछिए तो, इसी साधारणता के भीतर सारा बुद्धि-कौशल छिपा बैठा है, जिसको ढूँढ़ निकालना सब का काम नहीं। यह कहने में मुझे कुछ भी सङ्कोच नहीं कि केवल इसी तर्क पर मुग्ध होकर व्यवस्थापक सभा के माननीय सदस्यों ने अपने बहुमत के बल से अन्त में उस अभागी बिल को उठा कर फेंक दिया और वह क़ानून न बन सका। इस प्रयत्न के विफल हो जाने से एक बार यह बात और भी दृढ़ हो गई कि हमारी समाज की नीव सत्यता पर डटी हुई है। इस के सिवा यह बात भी संसार में प्रकट हो गई कि भारत सार्वभौमिक स्वार्थ के साधन से कदापि पीछे नहीं रह सकता, और भविष्यत् में पुनरुज्जीवित होने के लक्षण उसमें आज भी विद्यमान हैं। स्वर्गीय मिस्टर गोखले की योग्यता रखनेवाला शत्रु भी, जो शिक्षा-प्रचार का कट्टर और दृढ़ पक्षपाती था, सदा के लिए सत्यता को दबा न सका। एक बार ज़ोर देकर उन्होंने अपने श्रोताओं से कह ही तो दिया कि अज्ञानता के अकाल को दूर बहा दीजिए। इस अवज्ञा-व्यञ्जक प्रार्थना का केवल यही अर्थ हो सकता है कि हम लोगों को अज्ञानता की बहुत अधिक आवश्यकता है और यही एक ऐसा उपाय है जिससे हमारा भारत शिक्षा-प्रचाररूपी दैत्य के चङ्गुल में पड़ने से बच सकता है।

महाशयो, अभी तक मैंने इस प्रश्न के एक ही अंश के सम्बन्ध में भाषण किया है। अब मैं उन कठिनाइयों का सामना करना चाहता हूँ जो अवनत जाति की वर्त्तमान पीढ़ी की—विशेष करके इस देश में—मौरूसी जायदाद सी हो गई हैं। देखिए तो कैसी विषमता का बीभत्स दृश्य हम लोगों के सामने है। हम देखते हैं कि जन-साधारण का एक बड़ा भाग उन बातों की, जिन्हें वह ज्ञान की कोटि के अन्दर समझता है, प्रशंसा कर रहा है; और उन बातों की घोर निन्दा कर रहा है जिन्हें वह अज्ञान की कोटि में समझता है। इन लोगों की तर्क-प्रणाली का एक नमूना मैं आप लोगों को दिखाना चाहता हूँ। वे कहते हैं कि ज्ञान एक अच्छी वस्तु है और ज्ञान-प्राप्ति का साधन शिक्षा है। अतएव शिक्षा भी एक अच्छी वस्तु है। महाशयो, देखिए तो कैसा मज़ेदार तर्क है। ऐसी दशा में क्या मेरे लिए किसी नये तर्क की अवतारणा करने की आवश्यकता नहीं? मेरी तो यह इच्छा है कि मैं आप लोगों के लाभ के विचार से इस शिक्षा-रूपी शैतान के एक एक अवयव अलग अलग काट कर रख दूँ। मैं यह बात इसलिए करना चाहता हूँ, जिसमें आप लोगों को विश्वास हो जाय कि हमारी संस्था का कार्य कितना पवित्र है। यदि आप लोगों के सन्तोष-विधानार्थ यह बात प्रमाणित कर दी जाय कि ज्ञान चाहे जिस तरह का हो वह संसार में चिरस्थायिनी बुराई का द्वार है; और भले तथा बुरे, दोनों प्रकार के नैतिक विचारों का वह विनाश करता है; तो यह बात मान लेने में आप लोगों को ज़रा भी कठिनाई न होगी कि जिस विधि से वह प्राप्त किया जाता है—अर्थात् शिक्षा, जो ज्ञानप्राप्ति का साधन है—वह भी उसी तरह मनुष्य-जाति के लिए हानिकारक है और वस्तुतः नष्ट कर देने के योग्य वस्तु है। यह प्रमाणित करने की अपेक्षा कि ज्ञान हेय है, कोई अन्य बात उतनी सरल नहीं। सुनिए।

ज्ञान शक्ति है, यह एक सूत्र विशेष है। सारा संसार इस सूत्र को सच्चा मानता है। शक्ति शब्द से वही अर्थ लिया जाता है जो बल से। बल ही स्वत्व है, यह कहावत सभी को विदित है। इससे यह भाव प्रकट होता है कि ज्ञान-जन्य बल यह बात निश्चित करता है कि स्वत्व क्या चीज़ है। नीति कहती है कि स्वत्व प्रधान है और बल उसके आगे कोई चीज़ नहीं। ऐसी दशा में वह ज्ञान, जिसके कारण शक्ति या बल की वृद्धि होती है, नैतिक दृष्टि से निस्सन्देह घृणा करने योग्य है। अब यह बात भी स्पष्ट है कि ज्ञान एक ऐसी वस्तु है जो जगत् की शान्ति में बाधा डालती है और वह भी इतनी जितनी कोई और वस्तु नहीं डाल सकती। हम लोग आज एक ऐसी भयङ्कर घटना का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं जो इसी शिक्षा का फल है। यह बात प्रत्येक व्यक्ति जानता होगा कि सारे भूमण्डल की अपेक्षा जर्मनी में शिक्षा-प्रचार का बाहुल्य है। शिक्षा के कच्चे-पक्के प्रचार ने जर्मनों को शक्ति-शाली बना दिया, जिससे मदोन्मत्त होकर उन्होंने नैतिक नियमों और मानवीय व्यवहारों का जानबूझ कर नाश कर दिया। इस समय उन लोगों ने इस तरह का आचरण धारण किया है जो पशुओं तक को घृणय है। वर्त्तमान महा-युद्ध के भीषण रक्त-प्लावन का कलङ्क शिक्षा के सिवा क्या हम किसी दूसरे के मत्थे मढ़ने का साहस कर सकेंगे? जिस तर्क की उद्भावना मैंने की है कदाचित् वह उन लोगों के ध्यान में ठीक न जँचे जिनका मस्तिष्क आधुनिक शिक्षा के विचारों के वशीभूत हो रहा है। परन्तु मुझे विश्वास है कि आप लोगों के सदृश सदस्य मेरी बलिष्ठ एवं प्रखर उद्भावनाओं का अवश्यमेव स्वागत करेंगे। क्योंकि ग्रेट-ब्रिटन के मन्त्रिमण्डल के अन्यतम मन्त्री महामति ग्रे ने ठीक ही कहा है कि जहाँ अज्ञानता सुखदात्री है वहाँ बुद्धिमान् होना मूर्खता है।

यदि आप लोग इस युग का भूतकालीन इतिहास देखें तो मालूम हो जाय कि इस जगत् के बड़े बड़े लोग यथार्थ में मूर्ख ही रहे हैं। (मेरा विचार यह नहीं कि मैं आप लोगों को इतिहास के अध्ययन का आदी बनाऊँ। मेरा उद्देश तो यह है कि आप लोग सिर्फ़ यह मान लें)। महात्मा मूसा, जिन्होंने इसराईल लोगों को धर्मोपदेश दिया, सिनाई की पहाड़ियों में बसनेवाले एक गवाँर गड़रिया थे। महात्मा ईसा फ़िलिस्तीन के एक निरक्षर यहूदी थे, जिन्होंने योरप और अमेरिका की जातियों में अपने श्रेष्ठ नैतिक विचारों को ठूँस ठूँस कर भर दिया। हज़रत मुहम्मद, जिन्होंने भिन्न भिन्न जातियों को ऐक्य के सूत्र में बाँध कर अपनी योग्यता का परिचय दिया है, किसी तरह की भी शिक्षा न पाये हुए थे। क्या प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर किसी स्कूल में पढ़ने गये थे और महामना न्यूटन ने क्या किसी कालेज में शिक्षा पाई थी? हमें इस बात का भी विश्वास नहीं कि जगद्विजयी चंगेज़ ख़ाँ हस्ताक्षर तक करना जानते थे। अतएव, महाशयो, यह बात आप लोगों के लिए अभिमान की है जो आप इस समाज के सदस्य हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति में आप इस जगत् के ऐतिहासिक व्यक्तियों के समकक्ष होने का दावा कर सकते हैं। अतः आपको आशा और आत्मविश्वास करना चाहिए। यद्यपि आप का मार्ग बड़ी बड़ी कठिनाइयों से कण्टकाकीर्ण हो रहा है, तो भी जो आदर्श आप लोगों के सामने है उसकी प्राप्ति में आप किसी न किसी दिन अवश्य समर्थ होंगे। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। यदि आप लोगों में से प्रत्येक व्यक्ति एक एक लड़के को स्कूल जाने से रोक सके तो समझ लो कि आप लोगों ने अपना उद्देश सफल कर लिया। ऐसा करने पर आप लोग अपने ही मुँह से अपनी प्रशंसा कर सकेंगे और भावी सन्तान सहानुभूति और कृतज्ञतापूर्वक आप लोगों का स्मरण करेगी।

महाशयो, मनुष्यों में शिक्षा-प्रचार रोकने से आप लोग उस कलङ्क को दूर कर देंगे जो अत्यन्त प्राचीन काल से बाबा आदम की सन्तान के माथे पर लगा चला आता है। बाबा आदम ने ज्ञान-वृक्ष के फल का भोग लगाया था। यदि हमारे बाबा आदम शैतान के प्रलोभन में पड़ कर उसके शिकार न हो जाते, यदि उनमें अपने विचारों की दृढ़ता होती और अपनी अर्द्धाङ्गिनी हव्वा की प्रार्थना यदि उन्होंने सुन ली होती और फल के खाने की कौन कहे उस वर्जित वृक्ष के पास तक न जाते, यदि उन्होंने इस बात पर ज़रा भी ध्यान दिया होता कि उस मूर्खता-पूर्ण परामर्श का कितना घोर परिणाम उनकी भावी सन्तान को भोगना पड़ेगा, तो निस्सन्देह वे और उनकी अर्द्धाङ्गिनी दोनों स्वर्ग से न निकाले जाते तथा उस के साथ ही अन्यान्य बुराइयों से भी वे बच जाते।

महाशयो, उन भयङ्कर परिणामों का गिनाना मेरा काम नहीं जो उस विषमय ज्ञान-वृक्ष से उत्पन्न हुए हैं। यह तो अब आपका काम है कि आप अपनी कल्पनाओं की डोरियाँ ढीली कर दें और थोड़ी देर के लिए विचार करें कि यदि उस ज्ञान-वृक्ष का फल न खाया गया होता तो आज हम बाबा आदम की सन्तान सुख-पूर्ण शान्ति के साम्राज्य में मौज उड़ाते। आनन्द-भोग के लिए सारे स्वर्गीय सामान प्रस्तुत रहते। हम लोग स्थान स्थान में इधर उधर भ्रमण करते हुए सब प्रकार के स्वर्गीय पदार्थों को प्राप्त करते। हमारी उस स्वत्व-पूर्ण बपौती और हमारे उस सर्व-कालीन सुखोपभोग से जिस शत्रु ने हमें वञ्चित कर दिया वह मूलोच्छेद कर देने का ही पात्र है। महाशयो, मुझे विश्वास है कि आप लोग यह बात मानने में मेरा साथ देंगे कि वह निर्दय शत्रु और कोई नहीं; वह यही शपनीय शिक्षा की वृद्धि है जो उस हानिकारक ज्ञान-वृक्ष को बढ़ाती और उसे फलने फूलने योग्य बनाती है।

देवीदत्त शुक्ल

ढाढ़स।

छतुका

सभी दिन कभी एक से हैं न होते। बहे हैं यहाँ साथ सुख दुख के सोते।
हँसे जो कभी, थे वही फूट रोते। मिले मंगते मोतियों को पिरोते।
अभी आज जो राज को था चलाता। वही कल पड़ा धूल में है दिखाता॥ १॥

कभी फर से है दिनों के न चारा। सदा ही न चमका किसी का सितारा।
बिपत से न कोई सका कर किनारा। कहाँ पर नहीं पाँव दुख ने पसारा।
हुई बेवसी दूर होनी टली कब। भला भाग से है किसी की चली कब॥ २॥

न हो जो कि बिगड़ा बना कौन ऐसा। गिरा जो न होवे उठा कौन ऐसा।
घटा जो न होवे बढ़ा कौन ऐसा। न हो जो कि उतरा चढ़ा कौन ऐसा।
सदा एक सा है किसी का न जाता। यहाँ का यही ढंग ही है दिखाता॥ ३॥

चमकते दिनों बाद रातें अँधेरी। घिरे बादलों बीच डूबी उँजेरी।
पड़ी कीच में फूलवाली चँगेरी। दहकती हुई आग की राख-ढेरी।
हमें है यही बात सब दिन बताती। सदा ही घड़ी एक सी है न आती॥ ४॥

भला फिर कुदिन के लिए हम कहें क्या। बुरी गत बिपत के लिए हम कहें क्या।
दरद औ दुखों के लिए हम कहें क्या। गये छिन सुखों के लिए हम कहें क्या।
हमें है यही एक ही बात कहना। भला है न मन मार कर बैठ रहना॥५॥

कभी अब नहीं दिन हमारे फिरेंगे। न सँभलेंगे अब हम दिनों दिन गिरेंगे।
सदा पास बादल दुखों के घिरेंगे। कभी अब न सागर बिपत का तिरेंगे।
सकेगा चमक अब न डूबा सितारा। उबर अब सकेगा न बेड़ा हमारा॥ ६॥

समझ सोच यों सोच में डूब जाना। गिरा हाथ औ पाँव जीवट गँवाना।
न जी से उमगना न हिम्मत दिखाना। अपाहिज बने काम से जी चुराना।
बहुत ही बुरी आदतें हैं हमारी। इन्हीं से बिगड़ जायगी बात सारी॥ ७॥

अगर चाँद खो सब कला फिर पलेगा। अगर बीज मिल धूल में बढ़ चलेगा।
अगर काटने बाद केला फलेगा। अगर बुझ गये पर दिया फिर बलेगा।
भला क्यों न फिर दिन फिरेंगे हमारे। चमकते मिले जब कि डूबे सितारे॥ ८॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

सफलता-रहस्य ।

लेखक—डाक्टर एल० सी० बम्मैन, डी० एस-सी० श्रो०

सभी अपने अपने उद्योग में कृतकार्य्य होने की आकाङ्क्षा रखते हैं। परन्तु ऐसे पुरुषों की संख्या अत्यल्प देख पड़ती है जो यह जानते हैं कि सफलता की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है। प्रायः देखने में आता है कि अधिक प्रयत्न और परिश्रम करने पर भी अनेक लोगों को अपने कार्य्य में साफल्य नहीं प्राप्त होता। इससे वे हताश हो कर बैठ रहते हैं और अपने भाग्य को दोषी ठहराने लगते हैं। पर क्या इससे यह अनुमान कर लेना उचित है कि ऐसे लोगों में कार्य्य-सम्पादन की क्षमता ही नहीं है? क्या वे संसार-कार्य्य के अयोग्य हैं? नहीं, ऐसा विचार ठीक नहीं। प्रकृति ने उदारतापूर्वक प्रत्येक प्राणी को इस जगत् में उसके अनुकूल कार्य्य करने योग्य बनाया है। जब जब मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुकूल काम करता है तब तब सफलता देवी सदैव उसका संवरण करती है।

प्रकृति की असीम कृपा से मनुष्य के मस्तिष्क में कई केन्द्र बने हुए हैं और मन की शक्तियाँ अपने अपने केन्द्र में सदैव सञ्चलन करती रहती हैं। इसी सञ्चलन का प्रभाव मनुष्य के कार्यों पर पड़ता है। मनुष्य के सिर में कुछ स्थान उन्नत और कुछ अवनत देख पड़ते हैं। उन्हींके द्वारा यह ज्ञात होता है कि उसमें कौन कौन मानसिक शक्तियाँ प्रबल और कौन कौन अबल हैं।

मानसिक शक्तियों के अनुकूल किया गया उद्योग उत्साहवर्द्धक और आनन्दजनक होता है। इस नियम के विपर्य्यय से परिणाम भी विपरीत होता है।

अतः **सफलता का रहस्य** यही है कि जो काम मनुष्य करे **अपनी मानसिक शक्तियों और रुचि के अनुकूल करे**। ऐसा एक भी मनुष्य नहीं जो संसार में कुछ न कुछ लाभकारी कार्य्य न कर सकता हो। और ऐसा भी कोई मनुष्य नहीं जिसके लिए संसार में एक न एक उचित स्थान न हो। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी मानसिक शक्तियों के अनुकूल स्थान ग्रहण कर ले तो सम्भवतः इस उलाहने की आवश्यकता ही न रहे कि हमें औरों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इससे अशान्ति और कलह की बहुत कम सम्भावना हो, क्योंकि जीवन के निश्चित कार्य्य में जब आनन्द प्राप्त होने लगता है तब उसके अतिरिक्त और किसी विषय की ओर मनुष्य का ध्यान कभी आकृष्ट ही नहीं होता।

सब की मानसिक शक्तियाँ एक सी नहीं होतीं। किसी में कोई शक्ति अधिक रहती है और किसी में कोई। जैसे प्रत्येक मनुष्य के रङ्ग-रूप और अङ्गों के आकार में भेद होता है उसी प्रकार मानसिक शक्तियों में भी भेद होता है। इसी सिद्धान्त को समक्ष रख कर यदि जीवन-कार्य्य सम्पादन किये जायँ तो संसार में दुःखों का तिरोभाव ही हो जाय। इस सिद्धान्त के अनुकूल अपनी समग्र शक्तियाँ किसी उद्योग में लगा देने पर सफलता अवश्य ही प्राप्त होगी।

माता-पिता अपने बच्चों के लिए मनमाने कार्य्य सोच रखते हैं और उन्हें उसी ओर प्रवृत्त कराते हैं। कोई कहता है—"मेरा बच्चा यदि विकालत पास कर ले तो बड़ी अच्छी बात हो"। कोई इस विचार में है—"यदि मेरा लड़का डाक्टर हो जाय तो खब रुपया कमाय"। इसी प्रकार की कल्पनायें माता-पिताओं के हृदयों में उठा करती हैं। वे उन्हीं कल्पनाओं को कार्य्य में परिणत करने का यथासाध्य उपाय करते रहते हैं। पर जब असफलता होने लगती है तब झट दैव को दोष देने लगते हैं। यह उनकी सर्वथा भूल है। बच्चों की प्रवृत्ति को तो वे देखते ही नहीं, उन्हें सफलता प्राप्त हो तो कैसे हो।

शरीर की पुष्टि के लिए भोजन इत्यादि के सम्बन्ध में तो बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिकों ने बड़ी बड़ी बातें लिख डाली हैं श्रौर बड़े बड़े नियम भी बना दिये हैं। अपनी प्रकृति के अनुसार भोजन करने श्रौर प्रकृति के विपरीत कुछ भी न खाने पर भी बड़ा ज़ोर दिया है। उनकी यह भी राय है कि सबके लिए एक ही प्रकार का भोजन फलप्रद होने के स्थान में साधारणतः हानिकारक होता है। पर इन विद्वज्जनों ने यह कहीं नहीं बताया कि प्रत्येक मन के लिए भी एक ही प्रकार का भोजन उचित है या नहीं। हाँ, कुछ काल से डाक्टर गाल श्रौर डाक्टर स्पर्ज़हीम इत्यादि विदेशी पण्डितों के उद्भावित विचारों की विवेचना अवश्य हो रही है। उनसे अमेरिका श्रौर इँगलेंड आदि देशों ने यथासाध्य लाभ उठाना भी आरम्भ कर दिया है। वास्तव में इन महानुभावों के विचारों से संसार का बहुत कुछ उपकार होने की सम्भावना है।

मस्तिष्क-विज्ञानवेत्ता पण्डितों का मत है कि न्यूनाधिक परिमाण में मनुष्य सभी शक्तियाँ रखता है। वह अपनी अल्प शक्तियों को उन्नति की पराकाष्ठा तक ले जा सकता है। संसार में कोई ऐसा कार्य्य नहीं है जो उससे न हो सके। हाँ समय श्रौर अवसर अवश्य चाहिए। धीरे धीरे सावधानी के साथ सभी कार्य्य हो सकते हैं। मनुष्य का भाग्य अपने ही हाथ में है। मनुष्य भाग्य के हाथ में नहीं। अमुक मनुष्य कौन कौन काम कर सकता है? उसका चरित्र कैसा है? वह सुधर सकता है या नहीं? कौन सा कार्य्य उसके लिए उपयुक्त है, कौन सा अनुपयुक्त? कैसे श्रौर कितने समय में उसकी मानसिक शक्तियाँ अपने पूर्णरूप में विकसित हो सकती हैं? संसार में उसे कैसे साफल्य प्राप्त हो सकता है? इत्यादि सभी उपयोगी बातें मस्तिष्क-विज्ञान से जानी जा सकती हैं। यह विज्ञान सार्वजनिक श्रौर सार्वभौमिक है। प्रत्येक ग्राम, नगर श्रौर देश में इसकी सहायता से कार्य्य होना चाहिए। इसके अनुसार कार्य्य होने से कदापि असफलता नहीं हो सकती।

संसार की साम्प्रतिक गति को देखते स्पष्टतापूर्वक विदित होता है कि प्राकृतिक नियमों के अनुसार कार्य्य न होने के कारण ही बड़े बड़े उपद्रव होते हैं। बड़ी बड़ी हानियाँ भी होती हैं। मस्तिष्क-विज्ञान के नियम सरल श्रौर अटल हैं। प्रत्येक जीवन-कार्य्य, विशेषतः शिक्षण-कार्य्य, में उसकी सहायता से मनुष्य चमत्कारिक लाभ उठा सकता है।

कुछ अंशों में अमेरिका ने अपनी शिक्षा-प्रणाली इसी विज्ञान के नियमानुसार सङ्गठित की है श्रौर उससे विशेष लाभ का अनुभव भी किया है। आशा है, समय पाकर, सभी देश इससे लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे।

मस्तिष्क मन की इन्द्रिय है। उसमें मन अपने कार्य्य करता रहता है। मन की अनेक शक्तियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक के लिए मस्तिष्क में स्थान निश्चित हैं। जब मन की कोई विशेष शक्ति कार्य करती है तब उसके मस्तिष्कवाले स्थान में एक प्रकार का सञ्चालन सा होने लगता है, जिससे वह कार्य्य करने की क्षमता का प्रादुर्भाव होता है। शारीरिक अथवा मानसिक कोई कार्य्य ऐसा नहीं जो इस सञ्चालन-द्वारा न होता हो। मज्जा-तन्तुओं का सम्बन्ध शरीर की सभी नसों से रहता है। मन जब कोई कार्य्य सम्पादन करना या कराना चाहता है तब पहले मज्जा-तन्तुओं में सञ्चालन उत्पन्न करता है। इस सञ्चालन से समग्र शारीरिक स्नायुयों में सञ्चालन होने लगता है। ये सञ्चालन जब रुचिकर होते हैं तब काम करने में आनन्द मिलता है श्रौर सफलता की झलक दिखाई देने लगती है। बिना हितकर सञ्चालन के सफलता श्रौर आनन्द की प्राप्ति असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। इसे ही सफलता का रहस्य समझिए। नैपोलियन

बोनापार्ट ने एक दफ़े कहा था कि संसार में कोई कार्य्य ऐसा नहीं जिसे मनुष्य न कर सकता हो। है भी यही बात। पर, हाँ, शक्ति अवश्यमेव होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में नीचे का चित्र बड़े काम का है—
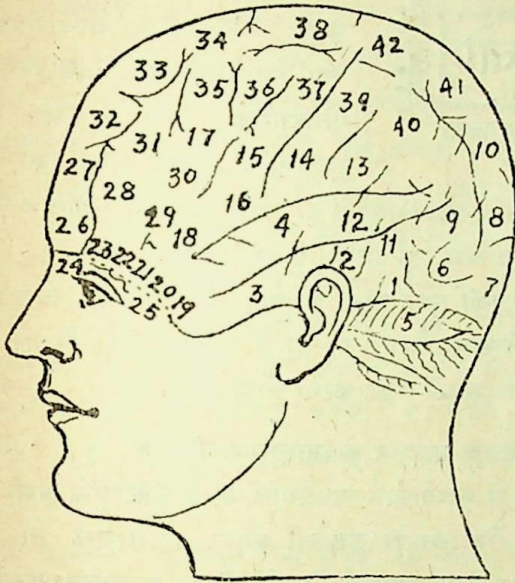
मनुष्य-मस्तिष्क।

संख्या-क्रम से इस चित्र में निम्नलिखित शक्तियों के स्थान दिखाये गये हैं—

(१) जीवन-प्रेम (२) कार्य्यपरता (३) पदार्थों से प्राप्त आनन्द का ज्ञान (४) प्राप्ति की इच्छा। इन चार शक्तियों से प्रथम पुञ्ज बना है।

(५) स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम (६) प्रेम-परायणता (७) स्नेह (८) देश-प्रेम (९) मित्रता (१०) स्थिरता। इन शक्तियों से द्वितीय पुञ्ज बना है।

(११) साहस (१२) रहस्य-रक्षा (१३) सावधानी (१४) सौन्दर्य्योपासना। यह तीसरा पुञ्ज है।

(१५) आविष्कार (१६) निर्माण-कौशल (१७) नक़ल, यह चौथा पुञ्ज है।

(१८) ध्वनि-ज्ञान (१९) अङ्क-ज्ञान (२०) किसी बात का ब्योरा जानने की उत्कण्ठा (२१) वर्णज्ञान (२२) आकर्षण-ज्ञान (२३) आकार-ज्ञान (२४) रूप-भेद (२५) सुन्दर वाणी—यह पाँचवाँ पुञ्ज है।

(२६) ध्यान (२७) तात्कालिक ज्ञान (२८) स्थान-ज्ञान (२९) काल-ज्ञान—यह छठा पुञ्ज है।

(३०) विचार-भेद-ज्ञान (३१) कारण-ज्ञान (३२) सादृश्य-ज्ञान (३३) भविष्यद्-ज्ञान—यह सातवाँ पुञ्ज है।

(३४) दया (३५) नम्र-भाव (३६) अन्ध-विश्वास (३७) आशा (३८) श्रद्धा—यह आठवाँ पुञ्ज है।

(३९) बुद्धिवाद (४०) बराबरी करने की इच्छा (४१) आत्म-सम्मान (४२) दृढ़ सङ्कल्प-शक्ति—यह नवाँ पुञ्ज है।

ये शक्तियाँ कितनी महत्त्वपूर्ण—कितनी लाभकारिणी—हैं और इनके विकास से जगत् का कितना उपकार हो सकता है, इसे विचारशील पुरुष सहज ही में समझ सकते हैं। इनका विकास नव जीवन का सञ्चार कर के जातीय प्रेम, जातीय सङ्गठन और जातीय सम्मान आदि गुण उत्पन्न करके सुख और आनन्द की इतनी सामग्री प्रस्तुत कर सकता है जिसका कुछ हिसाब नहीं। इस पवित्र भूमि की साम्प्रतिक स्थिति यही चाहती भी है। सत्यव्रत, दृढ़ सङ्कल्प, भगवत्परायण, कृपालु और कर्म्मवीर पुरुषों की ही इस समय बड़ी आवश्यकता है।

संसार में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार अवश्य ही दूसरों का आश्रित रहता है। यह अवलम्ब अनिवार्य्य है। दूकानदार, मज़दूर, वकील, बैरिष्टर, मास्टर, लेखक इत्यादि सभी एक दूसरे से कुछ न कुछ लाभ उठाते हैं। सभी एक दूसरे की सहायता पर अवलम्बित हैं। फिर क्यों

न ऐसा प्रबन्ध हो जिससे यह अनिवार्य्य सहायता अधिक फलप्रद हो सके ? इसके लिए पारस्परिक प्रेम की आवश्यकता है और यह प्रेम-भाव तब तक नहीं उत्पन्न हो सकता जब तक कि यह स्पष्टरूप से विदित न होजायगा कि संसार में, किसी न किसी प्रकार, सभी एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। जब इसका निश्चय हो जायगा तब प्रेम और सहानुभूति की अवश्यही उत्पत्ति होगी। तब अनायास ही मन में एक दूसरे को सहायता पहुँचाने की इच्छा होने लगेगी। तभी मस्तिष्क-विज्ञान भी समुचित रीति से कार्य्य में परिणत हो सकेगा।

प्रकृति सदैव उन्नतिशील है। उसकी गति की सहायता करना कल्याणकर और उसका प्रतिरोध करना हानिकर होता है। इसलिए मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि सदैव अभ्युदय और उन्नति पर ताक लगाये रहे। मस्तिष्क-विज्ञान के सिद्धान्त सफलता और आनन्ददान के सूचक हैं। उन्हें एक प्रकार का मन्त्र समझ लीजिए। उनकी सिद्धि समाज ही के हाथ में है। यह कार्य्य किसी एक व्यक्ति का नहीं। अकेले बैठ कर किसी व्यक्ति से कोई बड़ा काम न आज पर्य्यन्त हुआ है, न होगा। जब हुआ है तब सहकारिता से ही हुआ है। संसार की शोचनीय और हृदयविदारक अवस्था पुकार पुकार कर कह रही है कि अब भी चेतो, वृथा समय न नष्ट करो। सहकारिता से ही उन्नति कर सकोगे, अन्यथा नहीं। संसार की साम्प्रतिक स्थिति से यह भी ज्ञात होता है कि यथार्थ मानुषिक शक्तियाँ किस सीमा तक क्षीण होगई हैं और कौन कौन से दुर्गुण मनुष्यों में आगये हैं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर के यदि हम लोग सफलता के रहस्यों को कार्य्य में परिणत करने लगें तो सारी दुरवस्था दूर होजाय।

——

गीता-रहस्य-विवेचन।

नीति

लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक का अद्भुत ग्रन्थ, गीता-रहस्य, आध्यात्मिक ही क्या आधिभौतिक, आधिदैविक और ऐतिहासिक बातों का भी ख़ासा ख़ज़ाना है। उसके विषयों का वर्गीकरण ४ मुख्य विभागों में हो सकता है; यथा—नीति, अध्यात्म, कर्मयोग और इतिहास। इसके अलावा गीता के श्लोकों पर टिप्पणी तथा उनका अनुवाद भी है। इस लेख में उसके नीति-विषयक विचारों पर ही मैं अपने तुच्छ विचार आप लोगों के सामने प्रकट करना चाहता हूँ।

तिलक महाशय के मतानुसार गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषयों में कार्य्याकार्य-व्यवस्थिति भी है। पर मुझे अभी गीता के इस सिद्धान्त पर कुछ भी कहना नहीं। मुझे तो नीति के विषय में ग्रन्थकार के विचारों की ही आलोचना करनी है।

मूल प्रश्न यह है कि कर्तव्य क्या है तथा अकर्तव्य क्या है। जिस समय मामला पेचीदा हो जाता है उस समय यह आवश्यकता होती है कि यदि कोई व्यापक नियम होता, जिससे यह पता चल जाता कि कर्तव्य क्या है, तो बड़ा सुभीता होता। इसके लिए कुछ शास्त्र-वचन हैं; जैसे "महाजनो येन गतः स पन्थाः", "अति सर्वत्र वर्जयेत्" इत्यादि। पर यह नियम व्यापक नहीं। क्योंकि इनमें भी कभी कभी परस्पर विरोध उठ खड़े होते हैं। अतएव कोई व्यापक नियम होना चाहिए, जिससे हम भले और बुरे को अच्छी तरह पहचान सकें। इस व्यापक नियम को ढूँढ़ निकालने के लिए, ग्रन्थकार कहते हैं कि ३ मार्ग हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। उनका कथन है कि इन तीनों में आध्यात्मिक मार्ग ही श्रेष्ठ है। वही पूर्ण भी है। आधिभौतिक मार्ग भी ठीक है, पर पूर्ण नहीं। इसलिए पूर्ण-मार्ग से ही विचार करना चाहिए। पर विचार करने के प्रथम यह देख लेना चाहिए कि आधिभौतिक पण्डित इस पर किस तरह विचार करते हैं। ऐसा करने से उसके गुण-

दोष ज्ञात हो जायँगे । तब आध्यात्मिक मार्ग से विचार करके सत्यांश निर्णय करने में बहुत सुभीता होगा ।

गीता-रहस्य में यह विषय चौथे प्रकरण में आया है । ग्रन्थकार ने बतलाया है कि इस पन्थ के अनुसार विचार करनेवालों के ४ दल हैं । १ स्वार्थी, २ दूरदर्शी स्वार्थी, ३ उभयवादी अर्थात् उच्च-स्वार्थी, तथा ४ उपयोगितावादी । इस विषय का अच्छा ज्ञान तो मूल पुस्तक पढ़ने से ही हो सकता है । इस लिए हम इसका विस्तृत वर्णन न करेंगे । इनमें से ग्रन्थकार ने चौथे उपयोगितावादी दल को ही श्रेष्ठ माना है । उपयोगितावाद का सिद्धान्त यह है कि कार्य्याकार्य्य का निर्णय उसके परिणामों की ही भलाई-बुराई से करना चाहिए । और जिसके द्वारा "Greatest good of the greatest number हो, ग्रन्थकार के शब्दों में "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" हो; वही कार्य्य ठीक है । पर ग्रन्थकार कहते हैं कि यह सिद्धान्त अपूर्ण है । उन्होंने इसके प्रतिपादन में जो दलीलें दी हैं उनको मैंने ४ विभागों में विभक्त किया है । वे ये हैं—

(१) इसमें जो अधिकांश शब्द है वह ठीक नहीं । संख्या की बात ठीक नहीं ।

(२) यह निर्णय कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है, कौन और कैसे करे ?

(३) इसमें सिर्फ़ बाहरी परिणाम या फल पर ही दृष्टि रख कर निर्णय किया जाता है ।

(४) इसमें कर्ता की बुद्धि पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता ।

इस प्रकार ये चार आक्षेप उपयोगितावाद पर ग्रन्थकार ने किये हैं । इन चारों का विस्तृत वर्णन चौथे प्रकरण में है । आप लोग, इच्छा करने पर, वहीं देख सकते हैं । यहाँ पर तो इनका संक्षिप्त ही वर्णन सुनिए ।

मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार ये आक्षेप वास्तव में ठीक नहीं । इनसे उपयोगितावाद की नींव ज़रा भी कमज़ोर नहीं होती । मेरे कहने का यह तात्पर्य्य कदापि नहीं कि वह पूर्णरूप से निर्भ्रान्त ही है । नहीं, मेरा कहना यह है कि जिन दलीलों से ग्रन्थकार ने उनको भ्रान्त सिद्ध किया है वे दलीलें ठीक नहीं । अब मैं अपनी समझ के अनुसार एक एक करके इनका वर्णन करता हूँ ।

(१) संख्या की बात ठीक नहीं । इसका मतलब यह है कि किसी कार्य्य में जो अधिकांश लोगों के अधिक सुख की परख लगा दी जाती है उसमें संख्या अर्थात् "अधिकांश" का उल्लेख अनिवार्य्य न होना चाहिए । क्योंकि देखा जाता है कि कुछ बातों में यदि ४ सज्जनों को सुख होता है तो १०० दुर्जनों को दुःख । इस लिए संख्यावाले नियम के अनुसार १०० दुर्जनों के ही सुख पर दृष्टि रखनी पड़ेगी और सुक़रात आदि दार्शनिकों पर जो अत्याचार हुए हैं उनको नीति की दृष्टि से ठीक ही कहना पड़ेगा । अतएव ग्रन्थकार कहते हैं कि लोक-संख्या की न्यूनाधिकता का नित्य सम्बन्ध नीतिमत्ता के साथ नहीं हो सकता ।

इस विषय में सज्जनों और दुर्जनों की मिसाल देकर जो यह कहा गया है कि अधिकांश के साथ नीतिमत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं वह भ्रान्त है । वास्तव में यदि १०० दुर्जनों के सुख की परवा न करके ४ सज्जनों के ही सुख की परवा की जाय तो उपयोगिता-वाद की दृष्टि से यह कार्य्य बुरा न होगा । इसे उपयोगिता-वाद की दृष्टि से ग़लत समझना भूल करना है । क्योंकि उपयोगिता-वाद का यह कदापि सिद्धान्त नहीं कि तुम केवल वर्तमान समय पर ही दृष्टि रक्खो और भविष्यत् को भूल जाओ । चार सज्जनों का ऊपर ख़याल रखना अगली असंख्य पीढ़ियों का ख़याल रखना है, तथा १०० दुर्जनों का ख़याल रखना अगली असंख्य पीढ़ियों को भुला देना है । इसलिए अधिकांश लोगों का अधिक सुख ४ सज्जनों का ही भला करने में है । इससे मैं समझता हूँ कि ग्रन्थकार ने "अधिकांश" का वास्तविक अर्थ समझने के समय, चाहे पक्षपात के कारण से ही क्यों न हो, अपनी दृष्टि को थोड़ी बहुत सङ्कुचित अवश्य कर लिया है । अस्तु ।

अब दूसरी बात को लीजिए । वहाँ भी वही तत्त्व काम कर रहा है । ईसा और सुक़रात को प्राण-दण्ड देने के समय "अधिकांश" का तात्पर्य्य वर्तमान समय के ही अधिकांश से लिया गया था । इसलिए यदि देखा जाय तो यह बात निर्विवाद ही रही कि जिसमें अधिकांश लोगों का अधिक सुख हो वही करना चाहिए ।

(२) दूसरा आक्षेप जो ग्रन्थकार ने किया है वह कठिनता का है । अर्थात् वे कहते हैं कि अधिकांश का अधिक सुख किस में है, यह जानने के साधन ही नहीं हैं ।

इस पर बड़ा आश्चर्य्य होता है। समझ में नहीं आता कि इतनी रद्दी दलील को ग्रन्थकार ने अपने पक्ष के समर्थन में क्यों दिया। थोड़ी देर के लिए यदि यह बात मान भी ली जाय कि कुछ बातें ऐसी भी हैं जिनके विषय में अभी यह तै नहीं हुआ कि उनमें से अधिकांश को अधिक सुख पहुँचानेवाली कौन हैं, तो भी यह नहीं कहा जा सकता है कि वह सिद्धान्त ही ग़लत है। यह आक्षेप तो न सोच सकनेवाली अपूर्ण मनुष्य-बुद्धि पर ही हुआ। इतने ही से उस नियम को ही ग़लत समझना भ्रम है। क्योंकि जिन बातों को हम सोच सकते हैं और जिनके विषय में हम सिद्धान्त स्थिर कर सकते हैं उनमें इस नियम को हम हमेशा ठीक पाते हैं। मान लीजिए कि कोई दवा है। हमने उसको उन रोगों पर आज़माया जिनका निदान हमें अच्छी तरह ज्ञात है। अब यदि अज्ञानवश उसी को हम किसी बिना जानी बीमारी में दें और फ़ायदा न होते देख उसकी निन्दा करने लगें तो क्या वह दवा वास्तव में बुरी हो गई? ठीक यही बात इस सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

(३) तीसरे आक्षेप का सारांश यह है कि इसका निर्णय बाहरी परिणामों द्वारा ही होता है। अतः यह ठीक नहीं। इस विषय में ग्रन्थकार की दलील सुनिए—"हम लोग किसी घड़ी को ठीक ठीक समय बतलाने या न बतलाने पर अच्छी या ख़राब कहा करते हैं। पर इस नीति का उपयोग मनुष्य के कार्य्यों के सम्बन्ध में करने के पहले हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मनुष्य घड़ी के समान कोई यन्त्र नहीं। × × × × × यन्त्र और मनुष्य में यदि कोई भेद है तो इतना ही कि एक हृदय-हीन है, दूसरा हृदययुक्त। इसी लिए अज्ञान या भूल से किये गये अपराध को क़ायदे से हम क्षम्य मानते हैं।"

पर यह तर्क नहीं तर्काभास है। घड़ी का उदाहरण यहाँ पर ठीक नहीं। मुख्य प्रश्न क्या है, यह न भूलना चाहिए। ग्रन्थकार उसे इस स्थान पर भूल सा गये हैं। आप गुण की परीक्षा करते करते गुणी की परीक्षा करने लग गये हैं। प्रश्न था मनुष्य के कार्य्यों का। विचार होने लगा मनुष्य का। ऐसा न होना चाहिए। जिस प्रकार अच्छी घड़ी वही है जो ठीक समय दे, ठीक उसी प्रकार अच्छा कार्य्य भी वही है जो अधिकांश लोगों को अधिक सुख दे। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि इससे सुन्दर दूसरा व्यापक नियम हो ही नहीं सकता। क्या हृदयहीनता के कारण ही, किसी वस्तु के सम्बन्ध का जो नियम उसके अच्छे और बुरेपन की ठीक पहचान है और जो तमाम विश्व के नियमों में व्यापक है उसका व्यापकत्व नष्ट हो गया? हृदय होने से ही क्या बात ऐसी होगई, जिससे वह नियम यहाँ चरितार्थ न होगा? फिर, हम यह भी तो कह सकते हैं कि घड़ी के समान ही कार्य्य भी हृदयहीन हैं। तब फिर यह समझ में नहीं आता कि जिस मान-दण्ड से हम घड़ी की परीक्षा करते हैं उसीसे कार्य्यों की क्यों न करें? इसका सन्तोषप्रद निर्णय हमें गीता-रहस्य में नहीं मिलता।

(४) चौथे आक्षेप का सारांश यह है कि उपयोगितावाद में कर्त्ता की शुद्ध बुद्धि का ज़रा भी ध्यान नहीं रक्खा जाता। इस बात के प्रतिपादन में ग्रन्थकार ने दलील यह दी है कि "यदि किसी ग़रीब आदमी ने एक-आध धर्म-कार्य्य के लिए ४ पैसे दिये और किसी अमीर ने १००) तो दोनों में नैतिक योग्यता एक सी ही समझी जाती है। परन्तु यदि केवल अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है, इसी बाहरी साधन द्वारा विचार किया जाय तो ये दोनों दान नैतिक दृष्टि से समान योग्यता के नहीं समझे जा सकते। "अधिकांश लोगों का अधिक सुख—इस आधिभौतिक तत्त्व में जो बहुत बड़ा दोष है वह यही है कि इसमें कर्त्ता के मन या भाव का कुछ भी विचार नहीं किया जाता।"

उत्तर में मेरा निवेदन यह है कि ग़रीब और अमीर के दान की जो मिसाल दी गई उसमें दो बातें विचारणीय हैं। एक तो दानी की योग्यता। दूसरी दान की योग्यता। जब दानी की जाँच करेंगे कि उनमें कौन उत्तम है, तब उन दोनों का सामर्थ्य और उनके मन का भाव देख कर हम कह सकेंगे कि अपनी अपनी शक्ति के अनुसार दोनों ने दिया। इस प्रकार की नैतिक योग्यता बराबर ही समझी जा सकती है। पर यदि दानी को छोड़ कर केवल दान का ही विचार किया जायगा कि उन दोनों दानों में से कौन उत्तम है तब यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों ही बराबर हैं। अधिकांश लोगों के अधिक सुख-वाला नियम कार्य्यों ही के लिए है। कार्य्य जड़ हैं। मनुष्य चेतन है। अतएव वह नियम मनुष्य के लिए नहीं।

विचार कार्य्यों का किया जाता है कि कौन कार्य्य अच्छे हैं, कौन बुरे। इसका विचार नहीं किया जाता कि कौन मनुष्य अच्छे हैं और कौन बुरे। जड़ पदार्थों के नियम से चैतन्य पदार्थों को तोलना एक प्रकार का दुराग्रह है। ऊपर जिस नियम का वर्णन किया गया उसका विचार ग्रन्थकार ने नहीं किया, इसलिए यह चौथी दलील भी ठीक नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने जिन दलीलों के सहारे उपयोगिता-वाद को अपूर्ण समझा है और उसे पूर्ण करने के लिए उन्होंने, अध्यात्म विषय के गहरे विचारों में घुसने की आवश्यकता समझी है, वे दलीलें इस काम के लिए उपयुक्त नहीं। उनसे उपयोगिता-वाद के सिद्धान्त में ज़रा भी कमी नहीं सिद्ध होती। अतएव गीता-रहस्य का यह अंश यदि एकदम अमाननीय नहीं तो संशयात्मक अवश्य है। यह तो हुई संशयात्मकता की बात। अब मैं उस अंश की दलील पर विचार करूँगा जिसके बल पर इस प्रश्न को हल करने के लिए ग्रन्थकार अध्यात्म-विषय के गहन विचारों में घुसे हैं।

उपयोगितावाद का सिद्धान्त मान लेने के बाद एक प्रश्न यह हो सकता है कि स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ क्यों श्रेष्ठ है? हम क्यों स्वार्थ त्याग करें? इसका आधि-भौतिक उत्तर यह है कि मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति ऐसी ही है। जिस प्रकार छोटी छोटी जातियों से मनुष्य विकसित हुआ है उसी प्रकार, साथ ही साथ, ये भाव भी विकसित हुए हैं। बहुत दिनों के बाद मनुष्य के वे भाव उसके स्वभाव के अंश हो गये हैं। यह आधिभौतिक उत्तर तिलक महाशय को मान्य है। इसे वे किस प्रकार अध्यात्म विषय की ओर ले जाना चाहते हैं यह उनके नीचे लिखे गये कथन से स्पष्ट हो जायगा।

वे कहते हैं—"अच्छा, अब यदि छोटे छोटे कीड़ों से लेकर मनुष्य तक की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई श्रेणियों को देखें तो एक और भी प्रश्न उठता है। वह यह कि क्या मनुष्यों में केवल परोपकारवृत्ति का ही उत्कर्ष हुआ है? या उसके साथ ही न्याय-बुद्धि, दया, उदारता, दूर-दृष्टि, तर्क, शूरता, धृति, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह आदि अनेक अन्य सात्विक गुणों की भी वृद्धि हुई है? अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में प्रायः सभी सद्गुणों का उत्कर्ष हुआ है। इन सात्विक गुणों के समूह को ही मनुष्यत्व कहना चाहिए। अतएव परोपकार की अपेक्षा हम मनुष्यत्व को ही श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसी अवस्था में किसी धर्म की योग्यता, अयोग्यता या नीति-मत्ता का निर्णय करने के लिए उस कर्म की परीक्षा केवल परोपकार की ही दृष्टि से नहीं की जा सकती। उस कर्म की परीक्षा केवल मनुष्यत्व की दृष्टि से, अर्थात् मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा जिन जिन गुणों का उत्कर्ष हुआ है उन सब को ध्यान में रख कर, की जानी चाहिए। × × × यदि एक बार यह व्यापक दृष्टि स्वीकार करली जाय तो अधिकांश लोगों का अधिक सुख उस दृष्टि का एक अत्यन्त छोटा भाग हो जायगा। × × × × तब तो धर्म-अधर्म के निर्णय के लिए मनुष्यत्व ही का विचार करना आवश्यक होगा। और जब हम इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगेंगे कि मनुष्यत्व या मनुष्य का यथार्थ स्वरूप क्या है, तब हमारे मन में—आत्मा वा अरे दृष्टव्यः—का विषय आपही आप उपस्थित हो जायगा"।

अब मैं इस युक्तिवाद पर अपने कुछ विचार प्रकट करता हूँ। प्रथम तो मुझे यही कहना है कि यह प्रश्न—अर्थात् पदार्थ की उपपत्ति का प्रश्न—उपयोगितावाद के सिद्धान्त को अपूर्ण मान कर तो किया ही नहीं गया। यह तो मनुष्य के उस भाव का द्योतक है जिसे जिज्ञासा कहते हैं। ऐसी दशा में यह न भूलना चाहिए कि यह उपयोगितावाद को स्वीकार कर लेने के बाद हुआ है। विचार इस बात का करना है कि ग्रन्थकार जिसे मनुष्यत्व कहते हैं वह क्या इस योग्य है कि उससे कार्य्याकार्य्य का निर्णय किया जा सके? मेरे विचार से वह इस योग्य नहीं। क्योंकि ऐसा करने से भी आपस में विरोध होने का भय है। कर्मजिज्ञासा नामक प्रकरण में ग्रन्थकार ने स्वयं ही इस बात को इस कार्य्य के अयोग्य ठहराया है। परन्तु ऊपर के वाक्य पढ़ कर कोई भी यह नहीं कह सकता है कि ग्रन्थकार की यही राय होगी। कारण यह है कि दोनों में परस्पर विरोध है। इस परस्पर विरोध को देख कर आश्चर्य्य हुए बिना नहीं रहता।

अब यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि इनसे कर्माकर्म का निर्णय हो जायगा तो भी यह समझ में नहीं आता कि "न्याय, बुद्धि, दया, उदारता, दूरदृष्टि, तर्क, शूरता,

धृति, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह इत्यादि" के साथ आत्मा के आध्यात्मिक विवेचन का क्या सम्बन्ध है? क्योंकि जिस प्रकार परार्थ का सम्बन्ध बाहरी परिणामों से है उसी प्रकार इन वृत्तियों का भी सम्बन्ध बाहरी परिणामों से है। इस विषय में मत-भेद होगा, इसकी कम आशा है। जब इनका भी सम्बन्ध बाहरी परिणामों से है तब यह कहना कहाँ का न्याय है कि इसके निर्णय के लिए हमें "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" की फ़िक्र करनी पड़ेगी। क्योंकि उस आध्यात्मिक विवेचन का सम्बन्ध बाहरी परिणामों से नहीं है। इस लिए यदि हमें उन वृत्तियों के विवेचन की आवश्यकता भी पड़ेगी तो हमें उसके साथ आध्यात्मिक विवेचन की आवश्यकता पड़ने की नहीं। फिर आप ही कहिए कि इन बातों के होते हुए भी यह कैसे कहा जा सकता है कि इसके लिए आध्यात्म-सागर में घुसना ठीक है।

एक बात का उल्लेख मुझे और करना है। वह यह कि ग्रन्थकार कहीं पर तो यह कहते हैं कि यह उपयोगिता-वाद आध्यात्मिक पन्थ को स्वीकार है और कहीं उसके खण्डन में इस प्रकार की युक्तियाँ देते हैं जिनसे साबित होता है कि उनका उद्देश उपयोगितावाद को पूर्णतया उड़ा देने का है। उद्देश केवल एकाङ्ग पर आक्षेप करने का ही नहीं। ये दलीलें ज़रा पक्षपात को छूती हुई मालूम होती हैं।

गीता-रहस्य में इसी जगह नीति का अंश समाप्त होता है। इसके आगे आधिदैविक मार्गवालों पर आक्षेप है। उसका खण्डन करके फिर वही "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" शुरू हो गया है। आधिदैविक खण्ड के इस अंश का प्रति-पादन युक्तिसङ्गत मालूम होता है जिसमें उसका खण्डन है।

सम्भव ही नहीं निश्चित है कि इसमें मुझसे बहुत सी भूलें हुई होंगी। आशा है, बाल-चापल्य समझ कर ग्रन्थ-कार मुझे क्षमा करेंगे।

मुक्तिनारायण सुकुल

(जयपुर)

ब्रज के पहाड़ी स्थान

(१) कामवन।

मवन मथुरा से कोई ३९ मील है। गोवर्द्धन से डीग होकर वहाँ जाते हैं। कामवन कामसेन राजा का बसाया हुआ है। उनका बनवाया एक जीर्ण-शीर्ण क़िला भी वहाँ है। कामेश्वर महादेव का जो मन्दिर वहाँ है उसकी स्थापना भी उन्होंने की थी। वल्लभ-कुल के गोसाइयों का एक घराना वहाँ भी बस गया है। उनके आराध्य देव श्रीगोकुलचन्द्र हैं। वहाँ के देहात में, विशेष करके वैष्णव-मन्दिरों में, उनका मन्दिर कम प्रसिद्ध नहीं। पूर्वोक्त मन्दिर में स्थापित देवमूर्ति पहले गोकुल में थी। मुसलमानों के अत्याचार के भय से भक्त जन उसे जयपुर ले गये थे। बहुत समय तक वह वहीं रही। पूजन-अर्चन के लिए राज्य से काफ़ी रक़म मिलती थी। पर इस पन्थ के कुछ सिद्धान्त महाराजा को जँचे नहीं। उनकी श्रद्धा कम हो गई। तब पूजाधिकारी गोसाईं उक्त मूर्ति को कामवन ले आये। तब से वहीं है। गोसाईं भी वहीं आबाद हो गये। उनकी बदौलत कामवन की रौनक़ बढ़ गई है।

वृन्दावन की वृन्दादेवी की मूर्ति पहले एक शिखरदार मन्दिर में स्थापित थी। यह मन्दिर पुराने गोविन्द-मन्दिर के बायें तरफ़ है। सुना है, वह देवि-मूर्ति भी अब कामवन में ही विराजमान है। कामेश्वरी देवी का भी एक मन्दिर वहाँ है।

लोग उस तरफ़ कामवन को प्रायः "कामा" कहते हैं।

जान पड़ता है, नन्द का व्रज कुछ दिनों तक कामवन में था। इसी से वहाँ के कुछ स्थान श्रीव्रज-राज-कुमार की बाल-लीला के स्मारक कहे जाते हैं।

वराह-पुराणान्तर्गत मथुरा-माहात्म्य में कामवन जाने और वहाँ के विमल-कुण्ड में स्नान करने का बड़ा माहात्म्य लिखा है। कामवन के प्रसिद्ध मन्दिर और पवित्र स्थान ये हैं—

दशावतार की मूर्ति, धर्म्मरायजी का मन्दिर, पञ्चतीर्थ, मनोकामनातीर्थ, चक्रतीर्थ, महोदधि-तीर्थ, नन्द-वट, धर्मकुण्ड, विमल-कुण्ड, यशोदा-कुण्ड, लङ्काकुण्ड, पद्म-कुण्ड, लुकलुक-कुण्ड, सुरभी-कुण्ड, वाराह-कुण्ड और मानसी-कुण्ड।

सुनते हैं, जहाँ पर कृष्णभगवान् ने रामलीला का मेला लगाया और सेतु बाँधा था वहाँ पर लङ्का-कुण्ड है और जहाँ पर नन्द-उपनन्द भगवान् को गोद में लेकर बैठा करते थे वहाँ नन्द-वट है। उनके नाम पर एक कूप—नन्द-कूप—भी है। अघासुर की गुफा और लुकलुक-कन्दरा यात्रियों को विशेष रूप से दिखलाई जाती हैं। लड़कपन में जब कृष्ण आँखमिचौनी खेलते थे तब इसी कन्दरा के भीतर लुक रहा करते थे और, कहते हैं, साथियों को छकाने के लिए गुफा के भीतर ही भीतर पर्व्वत पर प्रकट हो जाया करते थे।

कामवन में एक शिला है। उसका नाम है—"खिसलबी शिला"। श्रीकृष्ण उस पर से खिसला करते थे। चित्र-विचित्र नाम की एक शिला और भी है। वह ग्रीष्म-ऋतु में फूल बिछा कर बैठने की जगह है। एक स्थान भोजन करने का भी है। उसे भोजन-थाली कहते हैं। वह एक पत्थर है, जो थाली की तरह खुदा हुआ है। एक चरण-पहाड़ी है, जिस पर चरण-चिह्न हैं। सुनहरा की कदम्ब-खण्डी, हिंडोले का स्थान, रासमण्डल का चबूतरा और कुञ्ज में जलशय्या आदि स्थान भी देखने योग्य हैं।

भोजन-थाली, कामवन।

कामवन से थोड़ी ही दूर पर आदि-बदरी है। यह पहाड़ी स्थान है। बिलकुल जङ्गल में है। कामवन होकर वहाँ जाने में सुगमता होती है। उसके आसपास कोई आबादी नहीं। आदि-बदरी कई पहाड़ियों के बीच में है। बहुत रमणीक स्थान है। वर्षा ऋतु में वहाँ की प्राकृतिक शोभा बड़ी सुहावनी लगती है। एकान्त-वास की इच्छा रखनेवाले विरक्त जनों के लिए यह स्थान बहुत अच्छा है। वहाँ पर एक मन्दिर परमानन्द भगवान् का है। कहते हैं, वहाँ से इन्द्र एक बार श्रीकृष्ण की गायें चुरा ले गये थे। उसी घटना की याद दिलानेवाले इन्द्र-कूप और इन्द्र-कुण्ड भी वहाँ हैं।

(२) नन्दगाँव।

नन्दगाँव एक पहाड़ी पर बसा है। मथुरा से वह १४ कोस और बरसाने से २१/२ कोस है। नन्दगाँव की नौबत बरसाने में और बरसाने की नन्दगाँव में सुनाई देती है। नन्दगाँव का प्राचीन नाम नन्दीश्वरग्राम है। पुराणों में नन्दगाँव के पहाड़ का नाम नन्दीश्वर है। व्रज के तीन प्रसिद्ध पर्वत—गोवर्द्धन, नन्दीश्वर और बरसाना—त्रिदेव के नाम से विख्यात हैं। मालूम होता है, तीनों पहाड़ों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीन देवताओं की उपासना होती थी। तभी तो गोवर्द्धन विष्णु का, नन्दीश्वर महादेव का और बरसाना ब्रह्मा का पहाड़ कहा जाता है।

यह वही नन्दगाँव है जहाँ श्रीकृष्ण के पालक-पोषक पिता श्रीनन्दराय जी रहते थे। पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर नन्दराय जी का मन्दिर है। प्रायः इसी मन्दिर के ढँग पर आज कल व्रज में देवालय बनते हैं। १७५० ई० के लगभग यह बना था। इस में एक ओर सेजमहल और दूसरी ओर रसोईघर है। आगे जगमोहन है। मन्दिर दो शिखरों का है। ऊँची चहार-दीवारी से घिरा हुआ है। कोनों पर बुर्ज हैं। घेरे के कारण मन्दिर दूर से ख़ूब बड़ा मालूम होता है।

दूसरा प्रसिद्ध मन्दिर श्रीयशोदानन्दन जी का है। बनावट दोनों की प्रायः एक सी है। बने भी दोनों एक ही समय के लगभग मालूम होते हैं।

आबादी के भीतर भी छोटे छोटे कई मन्दिर हैं। यथा—श्रीनृसिंहजी, श्रीगिरिधारीजी, श्रीराधा-मोहनजी, श्रीगोपीनाथजी और श्रीनृत्यगोपालजी के मन्दिर।

पहाड़ी के नीचे एक चतुष्कोण घेरे के भीतर सिलसिलेवार कई इमारतें हैं। उनमें दुकानें हैं और मुसाफ़िरों के ठहरने के लिए स्थान भी है।

यहाँ से कुछ ही दूर पर पावन-सरोवर है। व्रज के चार प्रसिद्ध सरोवरों में इस की भी गिनती है। कहते हैं, श्रीकृष्ण अपनी गायों को इसी में पानी पिलाया करते थे। इसी लिए इस को पान-सरोवर भी कहते हैं। शेष तीन सरोवर ये हैं—

(१) गोवर्द्धन के पास परसौली गाँव में चन्द्र-सरोवर; (२) बरसाने के पास गाज़ीपुर में प्रेम-सरोवर और (३) माट के पास मानसरोवर।

१७४७ ईसवी में बर्दवान की एक रानी ने पान-सरोवर को पक्का बँधा दिया था। वह निर्मल जल से भरा रहता है। घाट सुन्दर हैं। बनावट जहाज़ के आकार की है। घाट पर विहारीजी का एक मन्दिर है। उस के दरवाज़े पर एक शिला-लेख खुदा हुआ है। वह इस प्रकार है।

"श्री राधागोविन्द, श्री गदाधर चैतन्य, श्री पावन सरोवर कुण्ड श्री मती रानी राजेश्वरी, राजा कीर्ति चन्द की माता श्री राजा तिलोक चन्द जी की दादी जी राज सूबे बङ्गाल बर्दवान श्री सनातन रूप की जगः में बनाई।"

इस लेख का संवत् १८०५ है।

कहते हैं, नन्दगाँव में ५६ तीर्थ (कुण्ड) हैं। पर अब सब का पता नहीं लगता।

नन्दगाँव की आबादी का तर्ज़ देहाती है। वह ढालू भूमि पर बसा हुआ है। कुछ पक्की इमारतें भी हैं। रूपराम कटारे की इमारत उल्लेखयोग्य है।

पर अब यहाँ के मालिक हैं—लाला बाबू के उत्तराधिकारी। वे कलकत्ते में रहते हैं। नन्दगाँव का पहाड़ कटवा कर उन्होंने विरक्त साधुओं को क्षुब्ध किया था; पर लोगों की प्रार्थना पर सरकार ने इस घटना को सीमाबद्ध कर दिया।
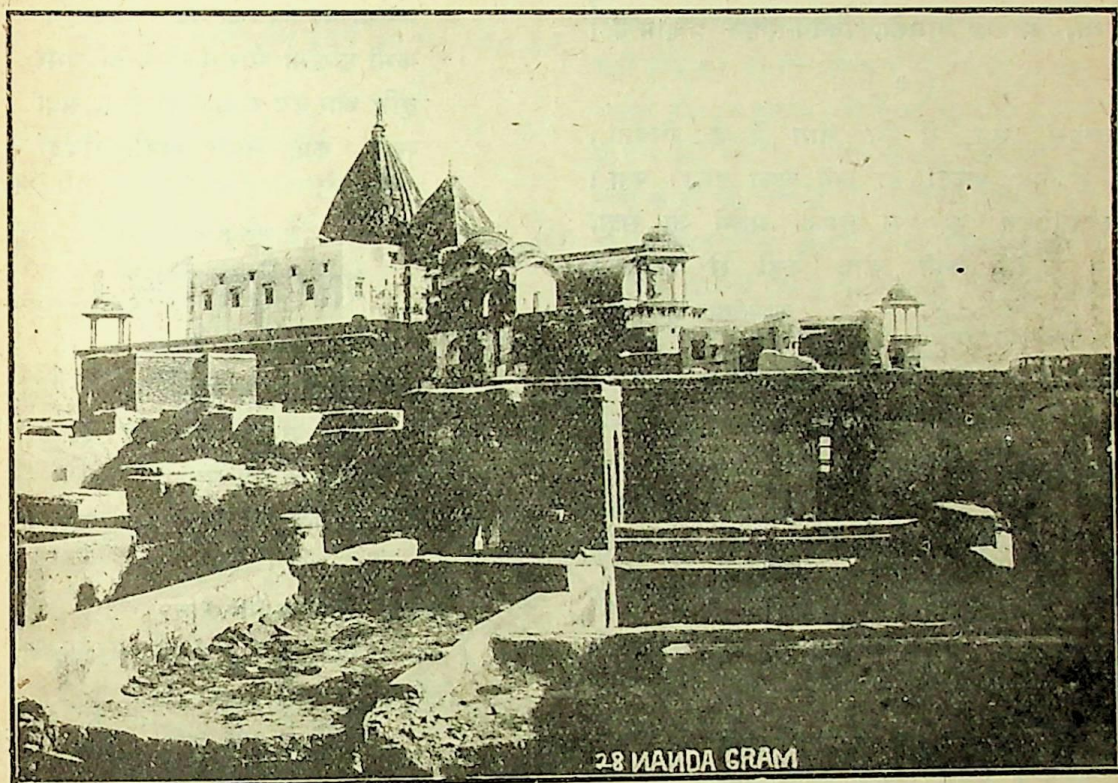
नन्दग्राम।

बस्ती के मन्दिरों में मनसा-देवी का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है। गाँव के पास एक जगह कदम्ब के बहुत से पेड़ । लोग उसे ऊधो जी का क्यार कहते हैं।

नन्दगाँव का रक़बा ५,२७३ एकड़ और माल-गुज़ारी ५, ६२२) है। पुजारियों के पास एक सनद है। वह शाह आलम के समय की है। उस के द्वारा परमानन्द और रामकिशन पुजारियों को समूचा मौज़ा बख़्शा गया है।

यहाँ के कई प्राचीन मन्दिर औरङ्गज़ेब ने तोड़-फोड़ डाले थे। उन की मरम्मत हो गई है।

[अगलो संख्या में समाप्य]

"व्रजवासी"

हिन्दी-षोडश-नाम।

(१)

तुम हिन्दवी,[१] भाषा[२] तुम्हीं हो, खड़ी बोली,[३] रेखता;[४]
भारत तुम्हीं को राष्ट्र-भाषा[५]-रूप से है देखता

हिन्दी[6] तुम्हीं हो और उर्दू,[7] फिर तुम्हीं हो नागरी[8];
माता तुम्हीं हो शुद्ध[9] हिन्दी, उच्च[10] हिन्दी आगरी।

(२)

तुम साधु भाषा,[11] ठेठ हिन्दी,[12] आर्यभाषा[13] हो तुम्हीं;
अति मिष्ट व्रज-भाषा[14] तुम्हीं हो, धर्म-आशा हो तुम्हीं।
हिन्दूस्तानी,[15] बोलचाली,[16] भी तुम्हारे नाम हैं;
दो बार माँ, साष्टाङ्ग तुमको, विनय-सहित प्रणाम हैं।

(३)

यद्यपि तुम्हारे रूप में औ नाम में है भिन्नता,
पर मूल में तुम एकही हो लग चुका इसका पता।
रख ध्यान मौलिक रूप पर तुमको भजेंगे जो सदा,
उन पर न आवेगी कभी कोई कहीं से आपदा।

कामताप्रसाद गुरु

——

चन्द्र।

१

हुआ पूर्व में उदय मनोहर चन्द है
उसे देख बढ़ता मन में आनन्द है
अनुपम-छटा-निधान चित्त है मोहता
नभो-देश में बाल-खिलौना सोहता

२

फैल गई भू पर चाँदी सी चाँदनी
छाई है सर्वत्र धवल शोभा घनी
क्या वह उछला गेंद मनोज्ञ प्रकाश का?
या भूषण है विमल नील आकाश का?

३

या हीरे का पुष्प प्रफुल्लित गोल है?
सुन्दर-शीतल-किरण-युक्त अनमोल है
जो उसमें कालिमा दीखती है भली
वह मानों पीती मधु है अलि-मण्डली

४

सरिता-तट पर, बालू पर, जलधार में
नलिन-निवासों में वन-कुञ्ज-कछार में
खेल रही है भुवनमोहिनी चाँदनी
नयन जुड़ाते हैं निहार सुखमा घनी

५

अन्धकार क्या हुआ? पता कुछ है नहीं
तरु-पत्तों की ओट छिपा होगा कहीं
सच है, तेज-निधान नृपति होता जहाँ
दुख दरिद्र अन्याय नहीं रहते वहाँ

६

क्रमशः बढ़ कर फिर घटता है चन्द्रमा
कभी पूर्णिमा और कभी होती अमा
वृद्धि और क्षय साथ सभी के हैं सदा
रहता कोई नहीं एकसा सर्वदा।

रामनरेश त्रिपाठी

——

शारदीय मेघ।

(१)

रवि महीतल-तप्त हुए वहाँ?
कि रवि से यह भूमि तपी यहाँ?
जब यही मन में भ्रम था भरा
निरख के दिवसेश-वसुन्धरा॥

(२)

पवन-पावक में न विभेद था,
सब कहीं जब आतप-खेद था।
दिशि-वधू सब रेणु-मलीन थीं,
विटप, गुल्म, लता छवि-हीन थीं॥

(३)

पशु, विहङ्ग तथा नर त्रस्त थे,
विषम ग्रीष्म-दवानल-ग्रस्त थे॥
सुलभ था जल हाय! नहीं कहीं।
मछलियाँ जब थीं दुख पारहीं॥

(४)

तब दया मन में करते हुए,
गरजते दुख को हरते हुए।
गगन में प्रकटे फिरते हुए,
सघन हो घन जो घिरते हुए॥

(५)

जगत को नव-जीवन दे दिया,
कठिन-आतप-दुःख मिटा दिया।

हरित भूतल सर्व बना दिया,
विभव की महिमा दिखला दिया ॥

(६)

अब वही घनश्याम यथार्थ ही—
कर विसर्जन वित्त परार्थ ही।
गगन में लखिए लसते हुए,
कृपण-जीवन को हँसते हुए ॥

(७)

न अपना यश गा कर गर्जते,
न नित व्यर्थ मदोद्धत तर्जते।
सुकृत-सम्पति से कमनीय हैं,
शरद्-वारिद ही नमनीय हैं ॥

(८)

विपद में उपकारक सर्वथा,
तपन-ताप-विदारक सर्वथा।
वर जलाशय के समुदाय से,
कर लिया जल-संग्रह न्याय से ॥

प्रेमदास वैष्णव

विविध विषय।

१—कालिदास के विषय में एक नई खोज।

कालिदास के विषय में एक नई खोज हुई है। इस खोज का वर्णन एक महाशय ने अपने एक लेख में किया है। उनका नाम है—शिवराम महादेव परांजपे, एम० ए०। आपके लेख का आशय, थोड़े में, सुन लीजिए—

कालिदास ने मेघदूत में मेघ को जो मार्ग बताया है वह टेढ़ा मेढ़ा है। रामगिरि कहीं मध्यप्रदेश में है। वहाँ से अलका अथवा कैलाश जाने के लिए सीधा मार्ग जबलपुर, प्रयाग, अयोध्या वग़ैरह से था। बड़े बड़े पर्वतों और नदियों का उल्लङ्घन करना मेघ के लिए सहज बात है। अतएव राह की कठिनता के कारण कालिदास ने मेघ को टेढ़े मार्ग से जाने को कहा, यह दलील कुछ अर्थ नहीं रखती। फिर क्यों उन्होंने अमरकण्टक, मालदेश, चित्रकूट, भिलसा, देवगिरि, उज्जयिनी, अवन्ती, चम्बल आदि के मार्ग से उसे जाने की सलाह दी? क्यों बार बार यह कहा कि विदिशा (भिलसा) को ज़रूर देखते जाना, उज्जयिनी की ज़रूर सैर कर लेना, महाकाल के ज़रूर दर्शन करना? क्यों यह कहा कि इस टेढ़ी मेढ़ी और दूर की राह से जाने में फेर तो ज़रूर पड़ेगा, पर इसकी परवा न करना? नेत्रों का साफल्य इसी राह से जाने में है। क्यों विदिशा और उज्जयिनी के तथा उनके आस-पास के स्थानों, पर्वतों और नदियों आदि का वर्णन उन्होंने इतना विस्तृत और इतना सुन्दर किया? क्यों ६०० मील के सीधे मार्ग से मेघ को न भेज कर १२०० मील के टेढ़े मार्ग से उन्होंने उसे अलका भेजा? इसका एक मात्र कारण यही हो सकता है कि कालिदास इस टेढ़े मार्ग से परिचित थे। भिलसा और उज्जयिनी के प्रान्त में या तो वे उत्पन्न हुए थे या वहाँ चिरकाल तक रहे थे। यदि ऐसा न होता तो वे इन स्थानों आदि का वर्णन उतना अच्छा न कर सकते और न इस राह से मेघ को वे अलकापुरी भेजते ही। अतएव जान पड़ता है, वही प्रान्त कालिदास की जन्म-भूमि थी। अथवा वे उससे विशेष जानकार अवश्य ही थे। इसके और भी प्रमाण मिलते हैं। पूर्वोक्त प्रमाण तो भौगोलिक है। अब ऐतिहासिक प्रमाण भी सुनिए।

जिस विदिशा का वर्णन कालिदास ने मेघदूत में किया है उसी विदिशा का वर्णन उन्होंने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक में भी किया है। दोनों में लिखा है कि विदिशा वेत्रवती (बेतवा) नदी के तट पर है। यह सर्वथा सच है। जो अग्निमित्र राजा पूर्वोक्त नाटक का नायक है वह कल्पित व्यक्ति नहीं। वह ऐतिहासिक है। इतिहास से सिद्ध है कि यह राजा ईसवी सन् के पूर्व दूसरी सदी में विद्यमान था। वह सुङ्गवंश का था। विदिशा उसकी राजधानी थी। पौराणिक वंशावली में भी पुष्पमित्र और वसुमित्र आदि के साथ उसका नाम मिलता है। अपने नाटक में कालिदास ने इस राजा के समय की छोटी छोटी बातों तक का उल्लेख किया है। ये बातें न किसी इतिहास में हैं, न किसी पुराण में, न किसी और ही ग्रन्थ में। अतएव अनुमान से यही मालूम होता

है कि कालिदास कहीं उसी प्रान्त के निवासी थे और यदि वे अग्निमित्र के शासन-समय में ही विद्यमान न थे तो उसके सौ ही पचास वर्ष बाद ज़रूर हुए होंगे। वे अग्निमित्र के बाद उसी समय हुए होंगे जब लोगों को अग्निमित्र के शासन-समय की छोटी छोटी बातों तक का स्मरण बना रहा होगा। सब बातों की बात यह कि कालिदास ईसवी सन् के पूर्व दूसरी सदी में नहीं, तो पहली सदी में ज़रूर विद्यमान रहे होंगे। यह वही ईसा के पूर्व ५६ वर्षवाली बात हुई। अर्थात् कालिदास विक्रमादित्य के समय में थे।

यही इस नई खोज का सारांश है। देखना है, कालिदास को गुप्त-नरेशों के शासन-समय में—अर्थात् ईसा की चौथी-पाँचवीं सदी में—उत्पन्न बतानेवाले खोजक विद्वान् इस पर क्या कहते हैं।

२—कालिदास का समय।

विद्वज्जन कालिदास का समय निर्णय करने में अब तक बराबर व्यस्त हैं। अब उन लोगों की संख्या अधिक हो गई है जो कालिदास को ईसवी सन् के पहले हुआ मानते हैं। ये लोग मानते ही नहीं, अपने इस अनुमान की पुष्टि में प्रमाण भी देते हैं। इस तरह के कितने ही अनुमानों का उल्लेख सरस्वती में, समय समय पर, हो चुका है। आज एक और महाशय के भी अनुमान की बात सुन लीजिए। आप का नाम है—पण्डित रामचन्द्र विनायक पटवर्धन, बी० ए०, एल-एल० बी०। आप का एक लेख "चित्र-मय-जगत्" में, कुछ दिन हुए, निकला है। उसके कुछ अंश का आशय यह है—

मेघदूत के (१) आषाढस्य प्रथमदिवसे (२) प्रत्यासन्ने नभसि और (३) शापान्तो मे भुजगशयनात्—इन तीन श्लोकों में आषाढारम्भ, नभोमास और देवोत्थानी एकादशी का उल्लेख है। इनके आधार पर आपने ज्योतिषिक गणना की है। यह गणना अधिकांश पाठकों की समझ में न आवेगी, इस कारण इसे हम छोड़े देते हैं। पटवर्धन जी का निगमन यह है कि मेघदूत की रचना के समय सूर्य्य जब पुष्य नक्षत्र के प्रथम चरण में होता था तब नभोमास अर्थात् सायन-कर्क-संक्रान्ति(Summer Solastice) का आरम्भ होता था। पर अब वह आर्द्रारम्भ में होता है। अर्थात् नभोमास अब २८°–३१° अंश पीछे हट कर होता है। इससे आपने गणित करके यह दिखाया है कि वर्तमान स्थिति को उपस्थित होने के लिए १८०० वर्ष चाहिए। मतलब यह कि कालिदास को हुए कम से कम इतने वर्ष ज़रूर हुए। रघुवंश के चौथे सर्ग में एक श्लोक है—प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः। इसके आधार पर भी गणित करके आपने प्रायः यही बात सिद्ध की है।

३—संस्कृत, प्राकृत और मराठी।

पूने के श्रीयुत नारायण भवानराव पावगी ने मराठी भाषा में भारतीय साम्राज्य नाम की जो ग्रन्थमाला लिखी है उसकी ग्यारहवीं जिल्द में प्राकृत और मराठी भाषाओं का इतिहास है। इस पुस्तक में कोई ४५० पृष्ठ हैं। उनमें से प्रारम्भिक १२० पृष्ठों में प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति आदि का अच्छा विवेचन है। इस विवेचन के आगे के भागों में मराठी भाषा का इतिहास है। अतएव उसके अवलोकन से उसी भाषा के सम्बन्ध की बातें अवगत हो सकती हैं। पर पहले के १२० पृष्ठों में प्राकृत और संस्कृत से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी अनेक ऐतिहासिक बातों का वर्णन है जिनका जानना मराठी के सिवा और देशी भाषायें बोलनेवालों के लिए भी आवश्यक है। पुस्तक के इस अंश में लेखक ने बड़े श्रम और बड़ी खोज से प्राकृत भाषाओं के उद्गम आदि पर अपने विचार प्रकट किये हैं। इस विषय पर आज तक जिन पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने विचार किया है उनकी सम्मतियों का उल्लेख भी लेखक ने किया है और उनके लेखों से अवतरण भी दिये हैं। डाक्टर भाण्डारकर के विचार लेखक के विचारों से बहुधा मिलते हैं। उनके तथा और भी कई एक माननीय लेखकों के विचारों की आलोचना करने पर लेखक ने इस पुस्तक में अपने विचारों का जो निष्कर्ष निकाला है उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

जिस संस्कृत को हम लोग आज कल मृत भाषा समझते हैं वह किसी समय आर्य्यों की बोलचाल की भाषा थी। वेदों के ज़माने में वैदिक संस्कृत का नाम था "वाक्"। पाणिनि के ज़माने में उसी ने "भाषा" नाम पाया। वाल्मीकि-रामायण के ज़माने में वही "संस्कृत" कहाई। इस संस्कृत से जो भाषायें उत्पन्न हुईं वे प्राकृत कहाईं। अर्थात् मूल भाषा हुई संस्कृत। प्राकृत भाषायें हुईं उसकी कन्यायें—

संस्कृतभाषायाः प्रकृतेरुत्पन्नत्वात् प्राकृतम्

हेमचन्द्र ने अपने मागधी-व्याकरण में भी यही लिखा है—

प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवम् । तत आगतं वा प्राकृतम् ।

आरम्भ में वैदिक संस्कृत ही बोली जाती थी। धीरे धीरे उसमें, देश-कालानुसार, परिवर्तन होने लगा। प्रचार बढ़ते बढ़ते कुछ विद्वानों ने प्राचीन भाषा को अलङ्कृत करना शुरू किया। उसे वे विशेष ललित और सुन्दर बनाने लगे। इस प्रकार, क्रम क्रम से, संस्कार होते होते, यह भाषा वैदिक भाषा से कुछ भिन्न हो गई। तभी से आर्य्यों की आदि-भाषा के लौकिक और वैदिक ये दो भेद हो गये। संस्कृत तो व्याकरण के नियमों से नियन्त्रित हो गई। पर लोगों की ज़बान में व्याकरणरूपी ताला नहीं लगाया जा सका। इस कारण वे उसे मनमाने ढँग से बोलते रहे। फल यह हुआ कि भाषा-विज्ञान के प्राकृतिक नियमों के अनुसार, कालान्तर में, प्रत्येक प्रान्त की भाषा में कुछ न कुछ भेद हो गया। यह भेद या परिवर्तन आज से कोई तीन चार हज़ार वर्ष पूर्व हुआ। तभी से प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति हुई समझिए। आर्य्यों का जो समुदाय मथुरा के आसपास, शूरसेन देश में, रहा उसकी भाषा का नाम पड़ा शौरसेनी। मगध देशवालों की भाषा मागधी और महाराष्ट्रवालों की महाराष्ट्री कहाई। इनके भी, पीछे से, कई अवान्तर भेद हो गये। कुछ लोगों का ख़याल है कि पाली भाषा मागधी से भी पुरानी है। पर पुस्तक-लेखक ने अपनी दलीलों से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि मागधी ही का नाम पाली है। बौद्ध धर्म्म का प्रचार लङ्का में होने पर वहाँ मागधी भाषा ने पाली नाम ग्रहण किया। तथापि, इस विषय में मतभेद है। इसका निश्चय प्राकृत भाषाओं के ज्ञाता ही करेंगे। हम तो केवल लेखक महाशय के मत का उल्लेख मात्र किये देते हैं। आपकी राय है कि प्राकृत भाषाओं में महाराष्ट्री ही प्रधान है। किसी समय प्राकृत कहने से महाराष्ट्री ही का बोध होता था। वर्तमान मराठी इसी महाराष्ट्री प्राकृत की दुहिता है। कुछ विद्वानों की राय है कि सन् ईसवी के कोई ६०० वर्ष पहले तक भारत में बोलचाल की भाषा संस्कृत थी। इसके बाद वह अपभ्रष्ट होने लगी। तभी प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति हुई। अशोक के समय में इन भाषाओं का उपयोग लिखने-पढ़ने में भी होने लगा। यह बात सन् ईसवी के कोई तीन सौ वर्ष पहले हुई। इस हिसाब से महाराष्ट्री प्राकृत तो बहुत पुरानी है। पर उसकी बेटी मराठी को पैदा हुए अभी कोई एक ही हज़ार वर्ष हुए। क्योंकि इस भाषा के पहले कवि मुकुन्दराज का समय १००० ईसवी के लगभग माना जाता है।

४—एक बहुमूल्य पुस्तक।

गवर्नमेंट आव् इंडिया की आज्ञा से बम्बई के गवर्नमेंट प्रेस ने एक बहुमूल्य पुस्तक की एक कापी भेजने की कृपा की है। इसका सम्बन्ध पुरातत्त्व–महकमे से है। इसका आकार बड़ा, जिल्द बड़ी मज़बूत और सुन्दर, छपाई मनोहारिणी और काग़ज़ मोटा और चिकना है। मूल्य इसका ४१ रुपया है। इसके वर्णनात्मक भाग की पृष्ठ-संख्या १३२ है। इसमें बीजापुर और बीजापुर की प्राचीन इमारतों का ऐतिहासिक वर्णन है। साथही बीजापुर के आदिलशाही बादशाहों का संक्षिप्त चरित भी है। इस पुस्तक का अधिकांश चित्रमय है। सब मिला कर बड़े बड़े ११८ चित्रपट (Plates) हैं। लेखान्तर्गत छोटे छोटे चित्र भी कितने ही हैं। एक एक बड़े चित्रपट के अन्तर्गत भी अनेक चित्र हैं। कई चित्र रङ्गीन हैं। पूरी इमारतों के चित्रों के सिवा उनके भिन्न भिन्न अंशों—खम्भों, छतों, मीनारों और बेलबूटों आदि—के भी बहुत से चित्र हैं। इसमें बीजापुर की पुरानी तोपों, बन्दूकों, सिक्कों के सिवा कुछ शाही सनदों की भी प्रतिलिपियाँ हैं। वहाँ जितने लेख खुदे हुए पाये गये हैं उनके अनुवाद भी ऐतिहासिक वर्णन में दिये गये हैं। बीजापुर की पुरानी इमारतों में मसजिदें, मक़बरे और महल ही अधिक हैं। पर उनमें से कुछ इमारतें बड़े ही महत्त्व की हैं। उनकी कारीगरी प्रशंसनीय है। ये सब इमारतें कोई चार सौ व र्ष की पुरानी हैं। यदि पुरातत्त्व-विभाग इनकी रक्षा का प्रबन्ध न करता और इनका यह सचित्र विवरण न प्रकाशित करता तो अब तक ये नष्टप्रायही हो जातीं। क्योंकि कोई १०० वर्ष पहले, जब इनकी ओर सरकारी कर्म्मचारियों का ध्यान गया था, तभी ये उल्लुओं, चिमगादड़ों और गीदड़ों की बस्तियाँ होगई थीं। अब इनकी रक्षा और स्वच्छता का पूरा पूरा प्रबन्ध है। आशा है, ये बहुत काल तक बीजापुर के आदिलशाही शाहों और अन्य अनेक अमीरों के अस्तित्व और प्रभुत्व की याद दिलाती रहेंगी।

५—वेदों में क्या है।

सदाशिवपेठ, पूने, के श्रीयुत नारायण भवानराव पावगी बड़े ज़बरदस्त लिखनेवाले हैं। उनकी एक अँगरेज़ी-पुस्तक पर एक नोट सरस्वती में, अभी हाल ही में, निकल चुका है। आपने अँगरेज़ी और मराठी, दोनों भाषाओं में पुस्तक-रचना की है और बराबर करते जारहे हैं। भारतीय साम्राज्य नाम की एक पुस्तक-माला आप मराठी में निकाल रहे हैं। उसकी दस बारह जिल्दें आज तक निकल चुकी हैं। किसी में आर्यों के देश का वर्णन है। किसी में उनके बुद्धि-वैभव का वर्णन है। किसी में उनके इतिहास और भूगोल का वर्णन है। किसी में उनके शास्त्रों और कलाओं का वर्णन है। किसी में उनकी शासन-पद्धति आदि का वर्णन है। आपकी पुस्तकें देखने से मालूम होता है कि प्राचीन भारत और उसकी सभ्यता आदि पर आपकी निःसीम श्रद्धा है। आप की यह श्रद्धा यदा कदा औचित्य की सीमा से भी आगे बढ़ गई सी जान पड़ती है—यहाँ तक कि वह श्रद्धा अन्धभक्ति की परिभाषा के भीतर आजाती है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि आपने प्राचीन भारत के सम्बन्ध के साहित्य का खूब मनन किया है। उस मनन का जो फल, पुस्तक-रचना के रूप में, आप अपने देशवासियों को सुलभ करा रहे हैं, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। अपनी वस्तु की अन्धभक्ति भी बुरी नहीं। आपकी पूर्वोक्त पुस्तक-मालिका की दसवीं जिल्द में संस्कृत-भाषा का इतिहास है। उसकी क़ीमत २॥) है। इसके आगे ग्यारहवीं जिल्द में आपने प्राकृत और मराठी भाषा का भी इतिहास लिखा है। उसकी भी क़ीमत इतनी ही है। आपके लिखे हुए संस्कृत-भाषा के इतिहास के मुख्य मुख्य स्थलों को हमने पढ़ देखा। आपने उन स्थलों में जो विचार व्यक्त किये हैं बहुत संक्षिप्त और बहुत स्थूल हैं। इन विषयों में विद्वानों की खोज जारी है। नई नई बातें मालूम होती जा रही हैं। इस कारण पावगीजी के विचारों में कहीं कहीं पर संशोधन की आवश्यकता मालूम होती है। तथापि आपके प्रचण्ड परिश्रम और स्तुत्य उद्योग की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

संस्कृत-भाषा के इतिहास में पावगीजी ने संस्कृत के श्रेष्ठत्व और प्राचीनत्व पर ख़ूब विचार किया है। आपकी राय है कि वैदिक काल में इस भाषा का नाम वाक् था। पाणिनि के समय में वह "भाषा" कहाती थी। धीरे धीरे उसमें फरक़ पड़ता गया। इस तरह कुछ कालोपरान्त वैदिक भाषा और व्यावहारिक भाषा में विशेष भेद हो गया। वैदिक भाषा तो वही रही, व्यावहारिक भाषा पर जिलो चढ़ता गया। इस कारण वह चमकती और मनोहर होती गई। तब उसे लोग संस्कृत कहने लगे।

वेदों के विषय में आपकी सम्मतियों का सार सुनिए—

नौ दस हज़ार वर्ष पहले हमारे पूर्वज किस तरह बात चीत करते थे; उनके मनोव्यापार कैसे थे; उनकी धर्म्मरचना और सामाजिक स्थिति कैसी थी—इन्हीं सब बातों का वर्णन वेदों में है। वेदों से ऐहिक, व्यावहारिक और नैतिक ज्ञान ज़रूरही होता है। वेद प्राचीन इतिहास की अमूल्य खान अथवा विशाल दर्पण हैं। प्राचीन इतिहास के, पुराने आचार-विचारों के, लोकोत्तर शिक्षण-पद्धति के जैसे सच्चे चित्र वेदों में हैं वैसे भूमण्डल के किसी भी देश के किसी ग्रन्थ में नहीं। मानवी कुटुम्ब की मूल स्थिति का, अथ से इति पर्यन्त, वर्णन वेदों ही में है। हमारे पूर्वज आर्य्यों ने कहाँ पर वेदगान्त गाये और कैसे कैसे वे स्थलान्तर करते गये, इन बातों का दिग्दर्शन भी वेदों में है। नाक्षत्रिक प्रमाणों से मालूम होता है कि वेदों को बने आज कोई १५ हज़ार वर्ष हुए।

वेदों के विषय में—उनमें क्या लिखा है और उनका प्रादुर्भाव हुए कितना समय हुआ, इस विषय में—आप पावगीजी के मनन और मन्थन का निष्कर्ष सुन चुके। दस या पन्द्रह हज़ार वर्ष पहले वेद प्रकट किसने किये अथवा प्राचीन आर्य्यों की रीति-भाँतियों, कला-कौशलों, आचार-विचारों, मनोव्यापारों और धार्म्मिक संस्कारों आदि का वर्णन किसने किया, इस पर भी आपकी राय सुन लीजिए। आप लिखते हैं—

"हम वेदों को परमपूज्य मानते हैं। वे अपौरुषेय हैं। अर्थात् उनका कर्ता मनुष्य नहीं, ईश्वर है। इस बात को हम हृदय से सच समझते हैं"।

सो आपने अपने वेद-व्यासङ्ग, विस्तृत विचार और विमल विवेक से यही निष्कर्ष निकाला कि प्राचीन आर्य्यों के घर-बाहर की बातों का वर्णन ईश्वर ने ही वेदों में किया है और इस घटना को हुए कम से कम नौ, दस या पन्द्रह हज़ार वर्ष हुए।

६—श्रीमद्भागवत में साहित्य-चमत्कार।

साहित्य-सागर में कभी कभी अपूर्व चमत्कार दृष्टिगोचर होते हैं। श्रीमद्भागवत का एक चमत्कार देखिए—

इस पुराण के दशम स्कन्ध के इकतीसवें अध्याय में जो श्लोक हैं उनके प्रथम और द्वितीय चरण में दूसरा वर्ण प्रायः सर्वत्र एकही है। किसी किसी श्लोक के तो चारों चरणों का दूसरा अक्षर वही है। यह बात अनायास हो गई है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि केवल छठे श्लोक के चौथे चरण, तेरहवें के प्रथम-चतुर्थ चरण, पन्द्रहवें के चौथे चरण और उन्नीसवें के उत्तरार्ध ही में यह नियम-भङ्ग हुआ है। इसका कारण अज्ञात है।

यहाँ पर उदाहरण-स्वरूप सिर्फ ४ श्लोक लिखे जाते हैं—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः, श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥
शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ ते शुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥
विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद्वर्षमारुताद्वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद्विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥
न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

अनियम का अर्धश्लोक भी देख लीजिए—

कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्।

इसके अनन्तर इसी स्कन्ध के पैंतीसवें अध्याय में, आदि-अन्त के दो श्लोकों को छोड़ कर, अन्य श्लोकों के प्रथमाक्षर में एकता है। पहले—दूसरे और तीसरे—चौथे चरण का पहला वर्ण एकही है। मात्राओं में अलबत्ते भिन्नता है। केवल पाँच छः श्लोकों में इस नियम का अपवाद है, अन्यत्र नहीं। एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि नियम भङ्गवाले चरणों में 'क' वर्ण की जगह 'ग' वर्ण ही आया है। यथा—

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो, गोपगोधनवृतो यमुनायाम्॥

वर्णों की एकता देखने के लिए नीचे के दो श्लोक अवलोकन कीजिए—

मणिधरः क्वचिदागणयन् गा, मालया दयितगन्धतुलस्याः।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे, प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र॥
क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः, कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो, गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः॥

प्रेमदास वैष्णव

७—महाभारत में प्राचीन कथायें।

सी० वी० वैद्य नाम के एक महाराष्ट्र-विद्वान् ने संक्षिप्त रामायण और संक्षिप्त भारत नाम की दो पुस्तकें लिखी हैं। उनमें उन्हों ने इन दोनों ग्रन्थों की मूल आख्यायिकायें मात्र ले ली हैं; और अंश सब छोड़ दिया है। फर्गुसन-कालेज-मैगेज़ीन के दिसम्बर १९१७ के अङ्क में एक लेख निकला है। उससे मालूम हुआ कि होलमान नाम के एक जर्मन पण्डित भी इसी तरह महाभारत की काँट छाँट कर रहे हैं। उसकी मूल आख्यायिकायें लेकर उन्हीं का अनुवाद वे जर्मन भाषा के पद्य में करेंगे और शायद करना आरम्भ भी कर दिया हो। इस तरह कटते छँटते कहीं महाभारत का असली रूप ही किसी दिन लुप्त या दुष्प्राप्य न हो जाय। डर इतनाही है। काट-छाँट का काम करनेवाले ये पुराण-पण्डित एक और बात भी कर रहे हैं। वे यह दिखाने की चेष्टा कर रहे हैं कि महाभारत में जो अनेकानेक आख्यायिकायें या ऐतिहासिक कथायें हैं वे महाभारत से भी बहुत पहले की हैं। उनमें पीछे के ग्रन्थकारों और पुराण-प्रणेताओं ने मनमाना फेरफार कर डाला है। कुछ कथाओं का उद्गम-स्थान ये लोग वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में बताते हैं। इनकी यह भी राय है कि जल-प्रलय-सम्बन्धिनी मनु और मछली आदि की कथायें दूसरे देशों के भी प्राचीन इतिहासों में मिलती हैं। अतएव ये एक मात्र भारतीय आर्यों ही की सम्पत्ति नहीं। पर इसका क्या सबूत कि और लोगों ने इन कथाओं को हमारे ही पूर्वजों से नहीं सीखा? कितनी ही आख्यायिकायें जैनों और बौद्धों के साहित्य में भी तो न्यूनाधिक रूप में मिलती हैं।

महाभारत में वैदिक समय की कथाओं या ऐतिहासिक वार्ताओं की प्राप्ति कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। महाभारत तो पञ्चम वेद के नाम से प्रसिद्ध है। जिस तरह कथासरित्सागर में उस समय तक सुनी गई कहानियाँ शामिल हैं उसी तरह महाभारत की रचना के समय तक प्रसिद्ध हुई आख्यायिकायें भी प्रसङ्गानुरूप उसमें उद्धृत हैं। रुरु और च्यवन, कद्रू और विनता, नल नैषध और यम, उद्दालक आरुणि और नचिकेता आदि के उपाख्यान सब वैदिक हैं। वे महाभारत में कथाप्रसङ्ग से आये हैं। जिस

कारण से जिस कथा का उद्धरण हुआ है उसे अच्छी तरह हृदयङ्गम कराने—उससे अभीष्ट शिक्षा देने—के लिए उसमें फेरफार किये गये हैं। पर यह ब्राह्मणों की स्वार्थ-सिद्धि का फल नहीं। किसी पुरानी बात को अपने समय के अनुकूल घटा बढ़ा कर कहना और उससे कोई विशेष शिक्षा-दायक परिणाम निकालना दूषणीय नहीं। इस तरह की बातें तो अब भी होती हैं और सभी देशों में होती हैं। शुरू शुरू में यह कथा ऐसी थी, अमुक अमुक ने इसे इस प्रकार तोड़ मरोड़ कर इसका रूपान्तर कर दिया, इस प्रकार का दोषारोप तो कोई किसी पर करता नहीं। जब आप ऐसे उपाख्यानों को केवल क़िस्सा या कहानी मानते हैं तब वह अवश्य ही कपोलकल्पना मात्र हुई। उसके घट बढ़ जाने से किसी की क्या हानि? यदि न्यूनाधिक्य करने से कोई कार्य्य-सिद्धि होती हो तो ऐसे काम को प्रशंनीय ही समझना चाहिए, निन्दनीय नहीं।

८—सरकार की पसन्द के पत्र।

समाचारपत्र सभ्य संसार की एक बहुत बड़ी चीज़ है। और अनेक आवश्यक चीज़ों के सदृश समाचारपत्र पढ़ना भी पढ़े लिखे लोगों का दैनिक कार्य्य हो गया है। अच्छे पत्र भलाई और बुरे पत्र बुराई करने की बहुत बड़ी शक्ति रखते हैं। जन-समुदाय का मत जानने के लिए समाचारपत्रों से बढ़ कर और कोई साधन नहीं। देश की गवर्नमेंट पर उनका बड़ा असर पड़ता है। उनकी बदौलत उसे जनता के हृद्गत भाव मालूम होते हैं। अतएव उसका कर्तव्य है कि वह सभी पक्षों, दलों और विषयों के समाचारपत्रों को ले, देखे और उनमें जो बातें विचारणीय हों उन पर विचार करे। २४ जूलाई १९१८ को इस प्रान्त के क़ानूनी कौंसिल की एक बैठक लखनऊ में हुई। उसमें माननीय पण्डित गोकर्णनाथ मिश्र ने पूछा कि गवर्नमेंट किन किन अख़बारों की कितनी कितनी कापियाँ ख़रीदती है। उत्तर में ओ-डोनल साहब ने अख़बारों के नाम और उनकी कापियों की संख्या बता दी। वह इस प्रकार है—

नाम	कापियों की संख्या
१—पायनियर	१
२—इंडियन फारेस्टर	२
३—इंडियन डेली टेलिग्राफ़	१
४—कैपिटल	१
५—ऐडवोकेट	१
६—लीडर	३
७—इंडियन एमिग्रांट	१ (मुफ़्त)
८—बङ्गाल की एशियाटिक सोसायटी का जर्नल और उसकी कारवाई	१
९—अमृत बाज़ार-पत्रिका	१ (मुफ़्त)
१०—बङ्गाल का को-आपरेटिव जर्नल	१
११—इंडियन एम्बुलेन्स गैज़ट	१
१२—बङ्गाल पास्ट ऐंड प्रेज़ेंट	१
१३—बम्बई का को-आपरेटिव जर्नल	१
१४—सरवेंट आव् इंडिया	१
१५—इंडियन ऐंटिक्वरी	१५
१६—इलाहाबाद ला जर्नल	६६
१७—ज़माना, कानपुर	२००
१८—मशरिक़, गोरखपुर	१००
१९—फ़ौज़ी अख़बार, लाहोर	१२२५
२०—अवध अख़बार, लखनऊ	१००
२१—मुख़बिरे आलम, मुरादाबाद	१००
२२—ज़ुल क़ारनेन, बदायूँ	५०
२३—यल क़िबला, मक्का	२०

नम्बर १ से १६ तक के पत्र अँगरेज़ी में, १७ से २२ तक के उर्दू में और २३ नंबर का शायद अरबी में निकलता है। नम्बर १९ की सवा बारह सौ और नम्बर २३ की २० कापियों का लिया जाना कोई बड़ी बात नहीं। उनकी ज़रूरत है। अरब का हाल जानना और अपने मुलाज़िमों तथा अन्य लोगों को फ़ौज की सच्ची ख़बरें सुनाना सरकार का बहुत बड़ा कर्तव्य है। बड़ी बात, और बहुत बड़ी ख़ुशी की बात—तो यह है कि सरकार उर्दू के और भी ५ पत्रों को पढ़ने लायक़ समझती है और उनकी सौ सौ दो दो सौ कापियाँ लेकर शायद स्कूलों में बाँटती या अपने मुलाज़िमों को पढ़ने के लिए देती है, जिसमें और लोग भी इन अख़बारों के अनमोल लेखों और सुखद सम्मतियों से लाभ उठावें। इन प्रान्तों में हिन्दी भाषा ही का अधिक प्रचार है—हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के जाननेवाले ही अधिक हैं। इस भाषा और इस लिपि में

अख़बार और मासिक पुस्तकें भी बहुत निकलती हैं। उनमें से किसी किसी की ग्राहक-संख्या हज़ारों है। इससे सूचित है कि लोग इन्हें अच्छा समझते हैं; इसी से वे इन्हें मोल लेते और पढ़ते हैं। पर गवर्नमेंट इनमें से एक को भी लेना ज़रूरी नहीं समझती। वह शायद इन सभी को रद्दी समझती है। अथवा कुछ को रद्दी और कुछ को, रुचि-भिन्नता के कारण, अपाठ्य समझती है। सरकार के दरबार से हिन्दी-पत्रों के बहिष्कार का और क्या कारण हो सकता है?

९—अध्यापकों के लिए एक नई परीक्षा।

सरस्वती की किसी पिछली संख्या में एक नोट निकल चुका है। उसमें लिखा जा चुका है कि हिन्दी और उर्दू में अध्यापकों की योग्यता की जाँच करने के लिए गवर्नमेंट एक नई परीक्षा जारी करना चाहती है। उसे जारी करने का निश्चय हो गया। डाइरेक्टर आव् पबलिक इन्स्ट्रक्शन के एक सरकुलर से मालूम हुआ कि यह परीक्षा अब हर साल हुआ करेगी। इसका नाम होगा—हिन्दी और उर्दू की उच्च परीक्षा। पहली परीक्षा एप्रिल १९१९ में होगी। जिन लोगों ने किसी स्कूल में कम से कम दो वर्ष अध्यापन-कार्य्य किया होगा वही इस परीक्षा में शामिल हो सकेंगे। इन लोगों को ५) फ़ीस देनी पड़ेगी और अपने ज़िले के डिपटी इन्सपेक्टर को पहले से लिख देना पड़ेगा कि हम इस परीक्षा में शामिल होना चाहते हैं। परीक्षा सरकारी नार्मल स्कूलों में होगी। कम से कम ४० फ़ी सदी नंबर पाने पर उम्मेदवार पास समझे जायँगे; जो लोग ६० फ़ी सदी या इससे भी अधिक नंबर पावेंगे वे पहले दरजे में पास किये जायँगे; जो इससे कम—४० फ़ी सदी तक—पावेंगे वे दूसरे दरजे में। परीक्षा इन विषयों में होगी—

(१) गद्य

(२) पद्य

(३) रचना अर्थात् निबन्ध लिखना

(४) हिन्दीवालों के लिए संस्कृत और उर्दूवालों के लिए फ़ारसी भाषा।

इस परीक्षा के लिए निर्दिष्ट हुई पाठ्य पुस्तकों की नामावली नीचे दी जाती है—

हिन्दी वालों के लिए

[गद्य-भाग]

१—आदर्श जीवन—रामचन्द्र शुक्ल का

२—हिन्दी भाषा की उत्पत्ति—म० प्र० द्विवेदी की

३—मृच्छकटिक-भाषा—लाला सीताराम का

[पद्य-भाग]

१—कवितावली रामायण—तुलसीदास की

२—बिहारी की सतसई—६०० नंबर के दोहे से अन्त तक

३—रहिमन-शतक

४—छन्दः-प्रभाकर—जगन्नाथप्रसाद का

[गद्यपद्यात्मक]

१—कबीरवचनावली—अयोध्यासिंह उपाध्याय की

[निबन्ध-रचना]

१—कोई पुस्तक निर्दिष्ट नहीं

[संस्कृत]

१—ऋजु-व्याकरण, भाग १ और २, आदित्यराम भट्टाचार्य का

उर्दूवालों के लिए

[गद्य भाग]

१—फ़िसान-ए-अजायब—लेखक, अलीबेग

२—उर्दू-ए-मुअल्ला, लेखक, ग़ालिब

३—दरबारे-अकबरी के कुछ अंश, लेखक, आज़ाद

४—यादगारे-ग़ालिब, लेखक, हाली

[पद्य-भाग]

१ से ५ तक—मीर, सौदा, आतिश, अनीस और ग़ालिब के दीवाना से संग्रह। इस संग्रह की सूचना पीछे से दी जायगी। अभी यह निश्चय नहीं कि इनमें से किसका कौन अंश लिया जायगा।

६—मसनवी मीरहसन

[निबन्ध-रचना]

१—कोई पुस्तक निर्दिष्ट नहीं

[फ़ारसी]

१—गुलिस्तां के कुछ अंशों का संग्रह। किन अंशों का, इसकी सूचना फिर दी जायगी।

२—सिफ़ावतुल मसादिर

बस। इन विषयों और पुस्तकों को पढ़ कर जो अध्यापक पास हो जायँगे उन्हें सार्टीफिकट मिल जायँगे; उनके नाम सरकारी गैज़ट में छप जायँगे; और सरकार समझेगी कि इन लोगों ने हिन्दी-उर्दू का ऊँचा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

१०—मुसल्मानों का उर्दू-प्रेम।

एप्रिल १९१७ में बम्बई की गवर्नमेंट ने अपना एक मन्तव्य प्रकाशित किया। उसमें उसने लिखा कि कुछ विशेष विशेष स्थितियों को छोड़ कर मुसल्मानों के लड़कों को पूर्ववत् स्थानीय भाषाओं के द्वारा ही प्रारम्भिक शिक्षा दी जाय और उर्दू पढ़ना न पढ़ना उनकी इच्छा पर अवलम्बित रहे। अर्थात् जहाँ मराठी बोली जाती हो वहाँ मराठी के द्वारा, जहाँ गुजराती बोली जाती हो वहाँ गुजराती के द्वारा, जहाँ कनारी बोली जाती हो वहाँ कनारी के द्वारा शिक्षा दी जाय। यदि मुसल्मानों के लड़के चाहें तो उर्दू भी पढ़ सकें। पर यह बात ऐच्छिक रहे। इस पर बहुत हो हल्ला मचा। तब गवर्नर साहब ने मुख्य मुख्य मुसल्मान-नेताओं को सलाह के लिए बुलाया। इस सलाह का नतीजा यह हुआ कि गवर्नमेंट ने अपना पहला निश्चय या हुक्म रद कर दिया। अब उसने एक नया ही आज्ञापत्र निकाला है। उसमें लिखा है कि अब मुसल्मानों से पूछ लिया जाया करे कि भाई, तुम अपने लड़कों को उर्दू के द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा दिलाना चाहते हो या अपने प्रान्त या ज़िले में प्रचलित अन्य भाषा के द्वारा। फिर यह देखा जाय कि मुसल्मानों के लड़कों की संख्या काफ़ी है या नहीं। अगर काफ़ी हो तो उनके लिए अलग मदरसे खोल दिये जायँ और उनमें उसी भाषा के द्वारा लड़कों को शिक्षा दी जाय जिसे मुसल्मान पसन्द करें। अगर मुसल्मानों के लड़कों की संख्या काफ़ी न हो तो उनके लिए अलग मदरसे न खुलें। इस दशा में लड़कों के अभिभावकों से पूछा जाय कि किस भाषा के द्वारा तुम्हारे लड़कों को शिक्षा दी जाय। बहुमत जिस भाषा के पक्ष में हो वही उच्चासन पावे।

जिन मदरसों में उर्दू की प्रधानता रहे उनमें उस प्रान्त के बोलचाल की भाषा भी लड़कों को सीखनी पड़े। पर यह बात ऐच्छिक न समझी जाय। लड़कों को वह भाषा ज़रूर ही सिखाई जाय। इसी तरह जहाँ प्रान्तीय भाषा की प्रधानता रहे वहाँ उर्दू भी लड़कों को ज़रूर सीखनी पड़े। उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिए कि एक स्कूल में ४० लड़के हैं—३० हिन्दुओं के और १० मुसल्मानों के। इस दशा में बहुमत उर्दू पढ़ाने के पक्ष में न होगा। मान लीजिए कि प्रधान भाषा मराठी निश्चित हुई। तो हिन्दुओं के ३० लड़कों को—वे चाहें या न चाहें—उर्दू दूसरी भाषा के तौर पर, ज़रूर ही पढ़नी पड़ेगी। इस प्रबन्ध के औचित्य अथवा अनौचित्य पर हम कुछ नहीं कहते। हम तो मुसल्मानों के उर्दू-प्रेम की प्रशंसा करते हैं। मराठी-प्रधान प्रदेश में सैकड़ों साल से रह कर भी वे अपनी उर्दू को नहीं भूले। उन्होंने एक हद तक, हज़ार चेष्टाओं से, उसका स्वीकार करा करही कल की। यदि हिन्दी-भाषा और देवनागरी-लिपि पर हम लोगों का उतना नहीं, उसका आधा भी प्रेम होता तो अब तक इस भाषा की न मालूम कितनी उन्नति हो गई होती। फिर बेचारे देहातियों को सरकारी इत्तलानामा पढ़ाने के लिए गाँव गाँव न भटकना पड़ता; कचहरियों में सर्वत्र हिन्दी का ही समधिक प्रचार होजाता।

११—बवासीर की अकसीर दवा।

कानपुर के कृषि-कालेज में बाबू हरनारायणजी, एम० ए०, प्रोफ़ेसर हैं। आपने एक नोट भेजा है। वह इस प्रकार है—

पण्डित गङ्गाविष्णुजी कानपुर के नामी और सच्चे वैद्यों में से हैं। आपका पता है—नाचघर, कानपुर। आपकी बनाई हुई रेचन-बटी की समालोचना, अप्रेल १९१७ की "सरस्वती" में, निकल चुकी है। इस बटी से बहुत लोगों का भला हुआ है। आपही ने अब खूनी बवासीर की भी एक अकसीर दवा तैयार की है। मेरे वृद्ध पिता, जो बहुत समय से बवासीर से पीड़ित थे, इस दवा के दो ही तीन दिन के सेवन से नीरोग होगये। और भी बहुत से

रोगियों को इस दवा ने फ़ायदा पहुँचाया है। इसके गुण देखते हुए इसका मूल्य २) कुछ भी नहीं है।

हम बाबू हरनारायणजी और उनके पिता से परिचित हैं और उनकी बात का विश्वास करते हैं। बवासीर के रोगियों को चाहिए कि वे इस दवा को एक बार आज़मा देखें।

१२—ईरानियों और मुसल्मानों के सम्बन्ध की कुछ नई बातें।

रूस में पुरानी बातों के एक अच्छे ज्ञाता हैं। उनका नाम है—प्रोफ़ेसर इनोसट्रांज़े। उन्होंने बहुत खोज करके ईरानियों और मुसल्मानों के साहित्य पर एक छोटी सी पुस्तक, रूसी भाषा में, लिखी है। उसका अँगरेज़ी-अनुवाद बम्बई में प्रकाशित हुआ है। उसमें अरबी की पुरानी पुस्तकों के हवाले देकर यह बात सिद्ध की गई है कि ईरान अर्थात् फ़ारिस पर आक्रमण करके मुसल्मानों ने उस देश को अपने अधीन तो कर लिया; पर ईरानियों की सभ्यता का लोप नहीं होने दिया। ईरानियों के प्राचीन साहित्य से उन्होंने खूब लाभ उठाया। अपनी पुस्तकों में अरबी-लेखकों ने उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की और जो बातें सीखने योग्य पाईं उन्हें मुसल्मानों ने उनसे सादर सीखा। पारसियों को शायद ये बातें अब तक ज्ञात न थीं। इसी से उन्होंने मुसल्मानी पुस्तकों का आदर नहीं किया—प्राचीन अरबी-ग्रन्थों को वे लोग द्वेष-दृष्टि से देखते आये। मूल लेखक का कथन है कि यदि पारसी लोग अब भी उन पुस्तकों का अध्ययन करेंगे तो उन्हें अपनी पुरानी सभ्यता का बहुत कुछ हाल मालूम हो जायगा और मुसल्मानों के विषय में जो अविश्वास, अब तक, उनके हृदय में जागरूक है वह दूर नहीं तो कम ज़रूर हो जायगा। सब से बड़ी बात जो इस पुस्तक में लिखी गई है यह है कि ईरान को जीत कर मुसल्मानों ने ईरानियों—प्राचीन पारसियों—को नहीं सताया। उलटा उनके साथ हमदर्दी का बर्ताव किया। धर्म्मान्धता के कारण जो इने गिने मुसल्मान पारसियों के विरोधी थे उनको अरबी-भाषा के कितने ही ग्रन्थों में फटकार बताई गई है। इससे यह परिणाम निकलता है कि जो पारसी ईरान से भारत को आये थे वे सताये जाने के कारण नहीं, अपने मन से आये थे। पुस्तक की इन बातों का विचार पारसी-पण्डित अवश्य ही करेंगे। पुस्तक का नाम है—Iranian Influence on Moslem Literature—मिलने का पता—D. B. Taraporewala, Sons and Coy., Bombay.

१३—तिबत में भीषण राजदण्ड।

कोई सोलह सत्रह वर्ष हुए, कावागुची नामक एक जापानी साधु, अनेक कठिनाइयाँ झेल कर, तीन वर्ष तिबत में रहा। उसकी यात्रा का वृत्तान्त अँगरेज़ी भाषा में प्रकाशित हुआ है। उसके आधार पर, कई वर्ष पूर्व, एक लेख सरस्वती में भी निकल चुका है। अब उस वृत्तान्त का बँगला-अनुवाद "प्रवासी" पत्र में धीरे धीरे निकल रहा है। उस दिन इस वृत्तान्त के एक अंश पर दृष्टि पड़ी तो कलेजा कँप उठा—रोंगटे खड़े हो गये। उसमें बड़े ही क्रूर, निष्ठुर और अमानुषिक राज-दण्डों का वर्णन है। लिखा है—तिबत में अपराधियों के गले में लकड़ी का एक तख़्ता डाल दिया जाता है। उसी पर उनके अपराध का भी उल्लेख रहता है और राजदण्ड का भी। जिनके अपराध गुरुतर होते हैं वे क़ैदख़ाने से निकाल कर एक ख़ास जगह रक्खे जाते हैं। यह जगह राजपथ के पास है। वहाँ कुछ तो पशुओं के सदृश खूँटों से बाँध दिये जाते हैं; कुछ हाथ-पैर बाँध कर योंही एक तरफ़ मार्ग में डाल दिये जाते हैं। हाथों में हथकड़ी, पैरों में बेड़ी, गर्दन में काष्ठ-खण्ड पड़ा रहता है। सर्वसाधारण के सामने वहाँ उन लोगों को तीन सौ से लेकर सात सौ तक बेत मारे जाते हैं। इस प्रकार वे सब के सामने बेतरह अपमानित किये जाते हैं।

तिबत में पतियों को अधिकार है कि वे अपनी दुश्चरित्रा पत्नियों के नाक-कान काट लें। फिर इसकी सूचना मात्र सरकार को दे दें। वहाँ चोरों और डाकुओं के हाथ काट दिये जाते हैं। विशेष विशेष प्रकार के अपराध करनेवालों की आँखें निकाल ली जाती हैं। देश से निकाल देने, मशक के भीतर भर कर जल में डुबो देने, हाथ-पैर बाँध कर और गले में पत्थर लटका कर नदी में डाल देने की भी दण्ड-व्यवस्था तिबत में है। काँटेदार वृक्षों की डालियों की मार से अपराधियों का शरीर क्षत-विक्षत करके ख़ून की धारा बहाना बहुत सामान्य दण्ड है। भारी भारी पत्थर, एक के

बाद एक, सिर पर रखते चले जाना और अपराधी को उसी दशा में पड़ा रखना भी बहुत साधारण दण्ड है।

तिबत के कारागार नरक के प्रतिबिम्ब हैं। वहाँ सरदी बेहद पड़ती है। दोपहर को भी सूर्य्य की किरणों का प्रवेश उनमें नहीं होता। क़ैदियों की कोठरियों में सिर्फ़ एक छेद रहता है। उसी से जितना प्रकाश भीतर जा सकता है, जाता है। खाने को दिन रात में एक बार कुछ ऐसे ही बहुत मामूली सा दे दिया जाता है। यदि क़ैदी के इष्ट-मित्र या कुटुम्बी उसके लिए खाने को कुछ भेजते हैं तो उसका अधिकांश जेल के ही कर्म्मचारी हड़प जाते हैं।

कावागुची ने एक प्रतिष्ठित पुरुष की यन्त्रणाओं का आँखों देखा हाल लिखा है। तिबत में टानगिलिंग नाम का एक नामी विहार है। दलाई लामा के मरने पर उसकी जगह इसी विहार के प्रधान धर्म्माधिकारी को मिलती है। उस समय जो अधिकारी इस विहार का था उस पर इलज़ाम लगाया गया कि उसने मन्त्र-यन्त्रों के प्रयोग द्वारा दलाई लामा को मार डालने की चेष्टा की। वह पकड़ा गया। उसके साथ उसका मन्त्री और अन्य भी दस बीस आदमी पकड़े गये। उनके लिए बड़े ही दारुण दण्ड की व्यवस्था हुई। प्रधान अधिकारी दण्ड की यन्त्रणाओं से मर गया। विहार के जो अन्य लोग पकड़े गये थे उनके भी प्राण गये। कावागुची जिस समय लासा में था, उक्त विहार के प्रधानाध्यक्ष का मन्त्री तब तक जीवित था। उसके नखों के भीतर बाँस की नुकीली क़मचियाँ ठोंक ठोंक कर उसके नख निकाल डाले गये थे। पहले वह साधारण कारागार में था। वहाँ उसकी पत्नी ने जेल के कर्म्मचारियों को घूस देकर उसे कुछ आराम पहुँचाने की चेष्टा की। इसकी ख़बर अधिकारियों को हो गई। इस कारण पति-पत्नी दोनों ही बाँध कर राजमार्ग में डाल दिये गये। पत्नी की गर्दन में काठ डाल दिया गया। दोनों पर सर्व-साधारण के सामने सैकड़ों बेत पड़े। पत्नी तिबत के एक प्रसिद्ध घराने की लड़की है। पति विद्वान् और पकड़े जाने के पहले परमपूज्य माना जाता था। हज़ारों आदमी उसकी चरण-रेणु माथे पर लगाते थे। उसी को ये अमानुषिक दण्ड भोगने पड़े! तिबतवाले बौद्ध-धर्म्म के अनुयायी हैं। इस धर्म्म का प्रधान अङ्ग अहिंसा और दयालुता है। पर राजकीय दण्ड-व्यवस्था में बौद्ध-धर्म्म के इस अङ्ग से ज़रा भी सरोकार नहीं रक्खा गया।

१४—प्राचीन भारत में विषाक्त गैस।

वर्तमान युद्ध में जब जर्मनी ने विषाक्त गैस (धुवें) का प्रयोग करना आरम्भ किया तब लोग आश्चर्य्य-चकित हो गये। उन्होंने कहा, यह क्या बला है। पौराणिक समय में, भारत में, प्रस्वापनास्त्र का प्रयोग तो सुनने में आता है, पर ऐसे धुवें का प्रयोग नहीं जिसके कारण पल्टनें की पल्टनें दम घुट कर मर जायँ या जो तत्काल न भी मरें तो कुछ दिन बाद घोर-यन्त्रणायें सह कर प्राण छोड़ दें। पर अब मालूम हुआ है कि इस प्रकार के धुवें का प्रयोग किसी समय भारत में भी होता था। अथवा उससे लोग परिचित अवश्य थे; उसे उत्पन्न करना वे ज़रूर जानते थे। अगस्त १९१८ के इंडियन-रिव्यू में—पी० एन० बोस, बी० ए०, नाम के एक महाशय ने एक छोटा सा लेख प्रकाशित कराया है। उसमें उन्होंने लिखा है कि कौटिल्य (चाणक्य) के अर्थ-शास्त्र में वैसी ही गैस के प्रयोग का वर्णन है जैसी जर्मनी इस युद्ध में छोड़ता है और जिसका प्रयोग उसके प्रतिपक्षी राष्ट्र भी अब करने लगे हैं। कौटिल्य ने अपने पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ में कई प्रकार के गैसों का वर्णन किया है। एक गैस ऐसी थी जिससे तत्काल मृत्यु हो जाती थी। एक को हवा जहाँ तक उड़ा ले जाती थी वहाँ तक कोई भी जीव-जन्तु जीता न बचता था। एक से मनुष्य अन्धा हो जाता था, दूसरी से पागल। एक से अनेक असाध्य रोग उत्पन्न हो जाते थे और मनुष्य के प्राण लेकर ही कल करते थे। अर्थशास्त्र के चौदहवें अध्याय में इन गैसों या धुँवों का वर्णन है। मालूम नहीं ये गैसें छोड़ी किस तरह जाती थीं। उनको छोड़ने के लिए कोई कलें थीं या जलते हुए घास फूस में कोई मसाला डाल कर उसी से विषाक्त धुँवा उत्पन्न किया जाता था। इस का वर्णन कौटिल्य ने नहीं किया।

१५—आयुर्वेद-चिकित्सा और मदरास-गवर्नमेंट।

१६ अगस्त १९१८ को मदरास के क़ानूनी कौंसिल की एक बैठक हुई। उसमें माननीय रङ्गाचार्य्य ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया। उन्होंने कहा—

यूनानी और आयुर्वैदिक-चिकित्सा उन्नत करने की बड़ी ज़रूरत है। जिन पाठशालाओं या वैद्यकशालाओं में ये शास्त्र सिखाये जाते हैं उनकी सहायता रुपये पैसे से की जाय। प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद कराया जाय और वे अनुवाद सरकारी ख़र्च से प्रकाशित किये जायँ। इन चिकित्साओं की शिक्षा के लिए नये नये स्कूल खोले जायँ। डाक्टरी सिखाने के कालेजों में वैद्यक और यूनानी चिकित्सा सीखे हुए छात्रों को शरीरशास्त्र पढ़ाया जाय।

गवर्नमेंट की तरफ़ से उत्तर में जो कुछ कहा गया उसका आशय यह था—सरकार इस प्रस्ताव का विरोध करती है। आश्चर्य्य है, रङ्गाचार्य्य महाशय के सदृश उन्नतिशील सज्जन ने ऐसा बेढँगा प्रस्ताव किया। वे इस ज़माने को कई हज़ार वर्ष पीछे खींच ले जाना चाहते हैं। यूनानी और वैद्यक-प्रक्रिया पुरानी हो गई। डाक्टरी चिकित्सा के मुक़ाबले में वह कोई चीज़ नहीं। लाखों रुपया ख़र्च करके गवर्न्मेंट ने डाक्टरी चिकित्सा का लाभदायक प्रचार किया है। उसे छोड़ कर यूनानी और वैद्यक का प्रचार बढ़ाना उसका कर्तव्य नहीं। हाँ वह चीज़ पुरानी है और पुरानी चीज़ों की रक्षा करना सरकार अपना काम समझती है। इस दृष्टि से वह इन चिकित्साओं के विषय के प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन में सहायता कर सकती है, और दृष्टि से नहीं। आयुर्वैदिक चिकित्सा के काम की कौन कौन औषधें हैं, इसकी जाँच करने के लिए उसने एक डाक्टर नियत किया है। यह उसने सिर्फ़ इसलिए किया है कि लोग यह न कहें कि सरकार इस चिकित्सा के पक्षपातियों के साथ सहानुभूति नहीं रखती। रोगनिवारक विज्ञान ने पिछले १०० वर्षों में बड़ी उन्नति की है। इस उन्नति की गन्ध भी पुराने आयुर्वेदशास्त्र में नहीं। वह जहाँ था वहीं है। रत्ती भर भी उन्नति उसने नहीं की। फिर सरकार क्यों हज़ारों वर्ष की पुरानी-धुरानी चिकित्सा के प्रचार की चेष्टा करके अपने को, समस्त संसार के सामने, उपहास का पात्र बनावे? ऐसे काम के लिए रुपया नहीं ख़र्च किया जा सकता।

यह उत्तर मदरास गवर्नमेंट की तरफ़ से सर अलग्ज़ांडर कार्डू ने दिया। पर गवर्नर साहब को इससे सन्तोष न हुआ। उन्होंने भी उठ कर रङ्गाचार्य्य महाशय के प्रस्ताव का प्रतिवाद कड़े शब्दों में किया और अफसोस किया कि भला ऐसा भी अनुचित और देशकाल-विरुद्ध प्रस्ताव कोई करता है!

लीजिए। हो चुका। वैद्य और हकीम अपने घर खुश रहें। ग़नीमत समझें जो सरकार उनकी चिकित्सा-प्रणाली में रुकावट तो नहीं पैदा करती। वे डाक्टर साहब जो जाँच कर रहे हैं, उनकी जाँच का मतलब क्या है, यह भी अब समझ में आ गया। यह भी अच्छा ही हुआ।

१६—आयुर्वैदिक और यूनानी चिकित्सा की उन्नति की चेष्टा।

डाक्टर कहते हैं कि आयुर्वैदिक और यूनानी चिकित्सा में क्या धरा है। वे तो हज़ारों वर्ष की पुरानी हैं; उजड्डों और अल्पज्ञों की उद्भावना के फल हैं। वैद्य और हकीम कहते हैं कि जब डाक्टरों की चिकित्सा के आविष्कारकों के पूर्वज नङ्गे घूमते थे तब से हमारी चिकित्सा करोड़ों मानवों का कल्याण कर रही है। इस कारण न एक दूसरे की त्रुटियों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न एक दूसरे की विशेषताओं से लाभ ही उठा सकता है। माइसोर की गवर्नमेंट ने इसका एक अच्छा उपाय ढूँढ़ निकाला है। डाक्टरी पास और संस्कृत जाननेवाले दो आदमियों को दो वज़ीफ़े, पचहत्तर पचहत्तर रुपये महीने के, दे कर वह कलकत्ते भेजेगी। वहाँ वे वैद्यक-विद्या ३ वर्ष तक सीखेंगे। एक और ऐसे ही डाक्टर को, जो फ़ारसी जानता हो, इतना ही वज़ीफ़ा दे कर वह देहली भेजेगी। वहाँ वह ४ वर्ष तक यूनानी चिकित्सा सीखेगा। एक काम वह और भी करने जाती है। एक अँगरेज़ीदां हकीम को वह ५०) महीना वज़ीफ़ा दे कर बम्बई भेजेगी। वह वहाँ के डाक्टरी कालेज में पश्चिमी चिकित्सा का ज्ञान सम्पादन करेगा। इसी तरह एक अँगरेज़ीदां वैद्य को भी उतनाही वज़ीफ़ा दे कर वह मदरास के डाक्टरी कालेज में पश्चिमी देशों की चिकित्सा-पद्धति सीखने भेजेगी। इससे बड़ा लाभ होगा। वैद्य और हकीम डाक्टरी चिकित्सा के गुण-दोषों से परिचित हो जायँगे और डाक्टर यूनानी और आयुर्वेद-निरूपित चिकित्सा के गुण-दोषों से। ये पाँचों महाशय जिस समय निर्दिष्ट ज्ञान-प्राप्ति करके लौट आवेंगे तब ये शिक्षक बन कर सैकड़ों हज़ारों विद्यार्थियों को हकीम और वैद्य बना देंगे। साथ ही डाक्टरी चिकित्सा में जो विशेष-

तायें हैं और हकीमी तथा वैद्य-विद्या में जो न्यूनतायें हैं उनका भी यथेष्ट ज्ञान करा देंगे। अपनी देशी चिकित्सा-प्रणाली के प्रचार करने और उसे निर्दोष बनाने के लिए इससे बढ़ कर और कोई उपाय नहीं। यदि अन्यान्य रियासतें भी माइसोर का अनुकरण करें तो स्वदेशी रोग-चिकित्सा के उन्नत होने में देर न लगे।

१७—माइसोर में प्रदर्शिनी।

देशी राज्यों में माइसोर अनेक बातों में बढ़ा चढ़ा है। न्याय, शासन, शिक्षा, व्यापार-वाणिज्य आदि प्रायः सभी विषयों की उन्नति में यह राज्य दत्तचित्त है। इसने अगले दशहरे पर एक प्रदर्शिनी करने का विचार किया है। कृषि और उद्योग-धन्धों की उन्नति के उद्देश से यह प्रदर्शिनी की जायगी। इसके लिए जो कमिटी बनी है उसमें राज्य के कितने ही बड़े बड़े अफ़सर तथा और भी अनेक बड़े बड़े आदमी हैं। चेयरमैन हैं, माइसोर-राज्य के कौंसिल के मेम्बर, मिस्टर ए० आर० बैनर्जी, एम० ए०, आई० सी० एस०, सी० आई० ई०। कमिटी के मन्त्री ने जो अनुष्ठान-पत्र हमें भेजा है उसमें लिखा है कि यह प्रदर्शिनी यद्यपि रियासत की तरफ़ से ही होगी तथापि सारे भारत से भेजी गई चीज़ें इसमें रक्खी जा सकेंगी। जिन चीज़ों का सम्बन्ध—

उद्योग-धन्धों (व्यवसायों)
व्यापार-वाणिज्य
कृषि
तन्दुरुस्ती और सफ़ाई
जङ्गलात
रेशम के कारोबार

से होगा वे सभी रक्खी जायँगी। नक़शे, नमूने, बीज, कलें, तैयार माल, तैयारी में काम आनेवाले हर तरह के औज़ार और कलें आदि अपने अपने विभाग में यथाक्रम दिखाई जायँगी। माइसोर में सोने की जो खानें हैं उनसे किस तरह सोना निकाला जाता है, यह भी यथाविधि दिखाया जायगा। जो लोग प्रदर्शिनी में रखने के लिए चीज़ें भेजेंगे उनके लिए हर तरह का सुभीता किया जायगा। जो कलें भारत की बनी हुई होंगी उनके बनानेवालों को ख़ास तरह के इनाम दिये जायँगे। प्रदर्शिनी-भवन के भीतर प्रवेश करनेवालों को केवल २ आने फ़ी आदमी फ़ीस देनी पड़ेगी। यह प्रदर्शिनी माइसोर में १२ आक्टोबर को खुलेगी और १५ दिन तक खुली रहेगी। जिनको इस विषय में कुछ पूछना हो उन्हें प्रदर्शिनी के मन्त्री से पत्र-व्यवहार करना चाहिए।

१८—इंडस्ट्रियल कानफ़रन्स का प्रकाशन-कार्य्य।

हर साल कांग्रेस के साथ इंडस्ट्रियल कानफ़रन्स की भी बैठक होती है। इस कानफ़रन्स का एक दफ़्तर है। पहले वह अमरावती में था; अब बम्बई में है। माननीय मिस्टर मनमोहनदास रामजी इस कानफ़रन्स के काम के संयुक्त मन्त्री हैं। आपके दफ़्तर से एक पुस्तक हमें हिन्दी में प्राप्त हुई है। इस पुस्तक में इस औद्योगिक परिषद् के उन कामों का वर्णन है जो इसने आज तक किये हैं। इसकी वार्षिक बैठकों में जो काम हुआ है और जो निबन्ध आदि पढ़े गये हैं उनका विवरण इस पुस्तक में है। १९१५ ईसवी तक की इसकी रिपोर्टें छपी हुई मिलती हैं। हर साल की रिपोर्ट अलग अलग है। इन रिपोर्टों में उद्योग-धन्धों से सम्बन्ध रखनेवाले सैकड़ों निबन्ध प्रकाशित हैं, जो उद्योगियों और व्यवसायियों के बड़े काम के हैं। इन रिपोर्टों के सिवा इस परिषद् के द्वारा कुछ और पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। उनमें से एक पुस्तक का नाम है—The Directory of Indian Goods and Industries. भारतवर्ष में कौन चीज़ कहाँ बनती है और कहाँ मिलती है तथा उसे बनाता और बेचता कौन है, इसका सविस्तर वर्णन इस पुस्तक में है। दाम है डेढ़ रुपया। दूसरी पुस्तक का नाम है—The Directory of Technical Institutions in India. इसमें यह लिखा है कि कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, उद्योग-धन्धे आदि सिखाने के लिए भारत में कहाँ कहाँ स्कूल और कालेज हैं। उनमें कौन लोग, किस तरह, भरती हो सकते हैं और फ़ीस आदि कितनी देनी पड़ती है। इसका मूल्य है पौने दो रुपया। तीसरी पुस्तक का नाम है—Guide to Modern Machinery. इसमें भिन्न भिन्न देशों में मिलनेवाली उन कलों का वर्णन है जो औद्योगिक व्यवसायों में काम आती हैं। कोई ३०० व्यवसायों में काम आनेवाली मैशीनों (कलों) के नाम, बनानेवालों के नाम, मिलने का पता

और दाम आदि का सविस्तर वर्णन इसमें किया गया है। इसका मूल्य है १२ आने। इस इतने उल्लेख से ही पाठक जान सकेंगे कि इस परिषद् की पुस्तकें और रिपोर्टें कितने काम की हैं। इसके काम का क्षेत्र विस्तृत करने के लिए धन की बड़ी आवश्यकता है। यदि इसे काफ़ी धन मिले तो यह और भी अच्छी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित कर सके। इसके दफ़्तर का पता है—७, ग्रीन स्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई।

१९—परलोकगत आत्माओं के फ़ोटो।

मृत आत्माओं के फ़ोटो लिये जाने का हाल सरस्वती में, कई वर्ष पूर्व, निकल चुका है। इस विषय में योरप और अमेरिका के कुछ लोग अधिकाधिक खोज और उन्नति कर रहे हैं। उन्होंने कितनी ही सभायें और समितियाँ बना रक्खी हैं। उनमें चक्र (Medium) द्वारा मृत मनुष्यों के साथ बात-चीत, पत्र-व्यवहार, प्रश्नोत्तर आदि तक होते हैं। अनेक सामयिक पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, जिन में सब यही बातें रहती हैं। कलकत्ते में अमृत-बाज़ार पत्रिका के प्रेस से भी एक मासिक पुस्तक, इसी तरह की, निकलती है।

रिव्यू आव् रिव्यूज़ नाम का एक प्रतिष्ठित मासिक पत्र लन्दन से निकलता है। उसके पूर्व सम्पादक बड़े नामी आदमी थे। उनका नाम था—डब्लू० टी० स्टीड। वे, कई वर्ष हुए, टाइटानिक नामक जहाज़ पर सवार, अमेरिका जारहे थे। जहाज़ डूब गया। स्टीड् साहब भी, और कितने ही बड़े बड़े आदमियों के साथ, समुद्र-गर्भ में लीन हो गये। इन्हीं स्टीड साहब की लड़की आज कल रिव्यू आव् रिव्यूज़ का सम्पादन करती हैं। उनका एक लेख मार्च १९१८ की हिन्दू-स्पिरिचुअल मैगेज़ीन में कलकत्ते से निकला है। यह मैगेज़ीन पूर्वोक्त अमृत-बाज़ार-पत्रिका के प्रेस से ही प्रकट होती है। अपने लेख में कुमारी स्टीड ने लिखा है कि उन्होंने कई दफ़े अपने परलोकगत पिता का फ़ोटो प्राप्त किया है।

चक्र-द्वारा वे पहले अपने पिता से तै कर लेती थीं कि अमुक समय में अमुक फ़ोटोग्राफ़र से वे अपना फ़ोटो उतरवावेंगी। उस समय उसी प्लेट पर तुम अपनी भी अदृश्य छाया डाल देना। इसमें उन्हें पूरी कामयाबी हुई है। कुमारी स्टीड के एक भाई १९०७ में मरे थे। उनसे भी कुमारिकाजी बातचीत कर सकती हैं। फ़ोटो भी उनका उन्होंने प्राप्त किया है। लोगों को अपनी सचाई का विश्वास दिलाने के लिए वे प्लेट की परीक्षा करालेती हैं। फिर वही प्लेट केमरा में रख कर सामने बैठ जाती हैं। उस पर उनका भी चित्र उतर आता है और उनके भाई का भी। इसके सिवा उन्होंने और भी कई मृत मनुष्यों के फ़ोटो लिये जाने की घटनाओं का वर्णन किया है। उनका कहना है कि क्या इन बातों से यह निर्विवाद सिद्ध नहीं कि मरजाने पर भी मनुष्य की आत्मा लोकान्तर में विद्यमान रहती है? आत्मा के अमरत्व और जन्मान्तर में विश्वास न करनेवालों के लिए ये बातें विचार करने-योग्य हैं।

——

पुस्तक-परिचय।

१—भूमण्डल के प्राणी। इस नाम से मालूम होता है कि यह कोई बहुत बड़ा ग्रन्थ होगा, जिसमें सारे संसार के जीव-जन्तुओं का वर्णन मिलेगा। पर प्रस्तुत पुस्तक ऐसे ग्रन्थ की—"प्रथम पुस्तक, प्रथम भाग"—है। इसकी एक कापी श्रीयुत श्रीप्रकाश ने बनारस से भेजी है। पुस्तक का सम्पादन श्रीयुत राधाचरण शाह ने और प्रकाशन श्रीयुत श्रीनाथ शाह ने किया है। प्रकाशक का पता है—शमा-राम, दुर्गाकुण्ड, बनारस। पुस्तक का आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या ८० और मूल्य ८ आने है। इसमें—"कुछ जल व स्थल के जन्तुओं की गाथा"—है। इन जन्तुओं की संख्या केवल ८ है—१ समुद्र का कबूतर, २ समुद्र का गृध्रराज, ३ मोहना गौरैया, ४ श्वेतबिन्दु काकराज, ५ समुद्र का हाथी, ६ समुद्र का वाराह, ७ निखट्टू खरहा और ८ पहाड़ी मेढ़ा। यह पुस्तक अँगरेज़ी भाषा—"के विविध पुस्तकों के अंशों के आधार पर लिखी गई है"। ऐसी पुस्तकें यदि लिखते बनें तो होती बड़ी मनोरञ्जक हैं। कभी कभी अँगरेज़ी की "पियर्सन्स मैगेज़ीन" में जीव-जन्तुओं के आत्मचरित, बड़ी ही मनोहारिणी भाषा में, अनोखे ढंग से निकलते हैं। ये चरित बहुधा उन उन प्राणियों के ही मुख से कहलाये जाते हैं। इस पुस्तक में भी इसी ढंग का बहुधा अनुकरण किया गया है। पशु-पक्षियों के जीवन की ठीक ठीक बातों के वर्णन से ज्ञानवृद्धि भी

होती है और बच्चों का मन भी ऐसी पुस्तकें पढ़ने में बहुत लगता है। अतएव इस तरह की पुस्तकों के निर्म्माण की बड़ी ज़रूरत है। पर खेद है, इस पुस्तक की न तो भाषा ही सरल और ललित है और न व्याकरण-सम्मत ही है। इसे सम्पादकजी खुद ही जानते हैं, क्योंकि उन्होंने यह बात अपनी भूमिका में क़बूल कर ली है। उनकी आज्ञा है कि उन्हें इस तरह की पुस्तकों की उपयोगिता बढ़ाने के उपाय बताये जायँ। उनकी इस आज्ञा के परिपालन में हमें यह कहना है कि आप अँगरेज़ी पुस्तकों को सामने रख कर अपने कमरे में बैठे बैठे उनकी नक़ल करने या उनके आधार पर लेखनी चलाने के ही भरोसे न रहें। कुछ परिश्रम और पर्य्यालोचन करना भी गवारा करें। आपको अपने देश, नगर, गांव और बाग़ आदि में भी ऐसे अनेक पक्षी और जीव-जन्तु मिलेंगे जिनका चरित विलायती खरहे और मोहना गौरैया से कम मनोरञ्जक नहीं। हां, कुछ मिहनत और देख भाल ज़रूर करनी पड़ेगी। पर बिना श्रम के कोई भी काम साध्य नहीं। जिनके लिए ऐसी पुस्तकें लिखी जाती हैं उन्हें अपने घर के जीव-जन्तुओं का भी तो परिचय कराना चाहिए। दूसरी बात भाषा की है। आपकी इस पुस्तक की भाषा बेहद दूषित है। व्याकरण के मोटे मोटे नियमों का भी आपने उल्लंघन कर डाला है। यथा—

(१) बहुत सी त्रुटियें रह गई हैं। भूमिका, २ पृष्ठ

(२) पुराने शिक्षा प्रणाली के अनुसार
(३) लोमड़ी आदि ही के कहानी के बहाने
(४) छोटे ही अवस्था से
} भूमिका, पृष्ठ १

नंबर (२), (३), (४) के सदृश त्रुटियों से तो यह पुस्तक साद्यन्त भरी पड़ी है। "सहृदय धन्यवाद" लिखना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। "इक्वेटर" और "कनेरी" शब्द ज्यों के त्यों रख दिये गये हैं। उनका मतलब नहीं समझाया गया। "इक्वेटर" की क्या हिन्दी नहीं? "कनेरी" किस चिड़िया का नाम है और वह कहां होती है, यह भी तो बताना चाहिए था।

अतएव, विशेष करके भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक अच्छी नहीं।

❋

२—कुमारजी की भेजी हुई पुस्तकें—आरे के कुमार देवेन्द्रप्रसादजी जैन ने जैन-धर्म्म-विषयक पुस्तकें प्रकाशित करने का बड़ा उपयोगी काम आरम्भ किया है। आपने कई पुस्तकें हमारे पास "समालोचनार्थ" भेजी हैं। इनमें से कुछ पुस्तकें हिन्दी में हैं और कुछ अँगरेज़ी में। कुछ अभी हाल की छपी हुई हैं और कुछ कई साल पहले की। सभी पुस्तकें बड़े सुन्दर टाइप में, और अच्छे काग़ज़ पर, छपी हैं। ये पुस्तकें The Central Jain Publishing House, Arrah, से मिल सकती हैं। जैसा कि हम कई दफ़े पहले लिख चुके हैं, जैनों में अनेक बड़े बड़े विद्वान् हो गये हैं। उन्होंने धार्म्मिक ग्रन्थों की रचना तो की ही है, ऐसे भी अनेक ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं जो और धर्म्मवालों के भी देखने योग्य हैं। जैनों के न मालूम कितने ग्रन्थ तो लुप्त या नष्ट हो चुके। जो अवशिष्ट हैं वे भी प्राचीन पुस्तक-भाण्डारों में बँधे हुए पड़े हैं। देखने को कम मिलते हैं। इस दशा में इस ग्रन्थ-साहित्य के उद्धार की बड़ी आवश्यकता है। ख़ुशी की बात है, यह काम धीरे धीरे होने लगा है। आशा है, इसकी गति, दिन पर दिन, बढ़ती ही जायगी।

प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद भी होने चाहिए और अँगरेज़ी-अनुवाद भी। पिछले अनुवादों की आवश्यकता उनके लिए है जो संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी नहीं जानते; पर अँगरेज़ी जानते हैं। अनुवादों ही की तरह अँगरेज़ी और हिन्दी में जैनों के प्राचीन ग्रन्थों का मर्म्म भी समझाने की आवश्यकता है। हिन्दी का काम अन्यत्र भी हो रहा है, अँगरेज़ी में ग्रन्थानुवाद और ग्रन्थ-लेखन का विशेष काम कुछ समय से पूर्वोक्त कुमारजी के प्रयत्न से आरे में होने लगा है। यह अभिनन्दनीय है। कुमारजी ने अँगरेज़ी भाषा में पांच पुस्तकें भेजने की कृपा की है। उनकी समालोचना करने के हम अधिकारी नहीं। हां, उनका परिचय, थोड़े में, हम अवश्य करा देना चाहते हैं। उल्लिखित पांच पुस्तकों में से चार के कर्त्ता—श्रीयुत चम्पतराय जैनी, बारिस्टर-एट-ला, हैं। आप हरदोई में रहते हैं। आपकी पहली पुस्तक है—रत्नकरण्ड—श्रावकाचार का अँगरेज़ी-अनुवाद। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या डेढ़ सौ के लगभग है। आरम्भ में एक लम्बा उपोद्‌घात है। उसमें अनेक उपयोगी विचारों का समावेश है। इस पुस्तक में जैनों के गृहस्थ-

धर्म्म का वर्णन है। मूल ग्रन्थ के लेखक स्वामी समन्तभद्राचार्य्य हैं। उनको हुए कोई सत्रह सौ वर्ष हुए। मूल-ग्रन्थ की पद्य-संख्या १५० है। पहले मूल ग्रन्थ, संस्कृत में, छापा गया है, फिर उसका ग्रँगरेज़ी-अनुवाद, तदनन्तर मूल की व्याख्या। इस पुस्तक का मूल्य १२ आने है। दूसरी पुस्तक का नाम है—Science of Thought. इसकी पृष्ठ-संख्या ६४ और मूल्य ८ आने है। इस में जैन न्याय-शास्त्र का संक्षिप्त वर्णन है। यह किसी का अनुवाद नहीं। पर इसके निर्म्माण में परीक्षामुख और न्यायदीपिका नामक दो पुराने ग्रन्थों से सहायता ज़रूर ली गई है। तीसरा ग्रन्थ है—The Practical Path. इसका आकार कुछ बड़ा है। इसमें ढाई सौ से अधिक पृष्ठ हैं। इस पर सुन्दर जिल्द भी है। मूल्य है दो रुपये। इसे जैन धर्म्म के अनुयायियों का वेदान्त या दर्शनशास्त्र समझिए। पुस्तकारम्भ में जैनदर्शन की शैली का मार्ग-प्रदर्शन करा कर लेखक ने तत्त्व, कर्म्म, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का वर्णन किया है। इसके बाद किस क्रम से मोक्ष प्राप्ति हो सकती है और किस तरह धर्म्मानुष्ठान करना चाहिए, इन दो विषयों का विवेचन बड़ी योग्यता से, अलग अलग दो अध्यायों में, किया गया है। पुस्तकान्त में एक परिशिष्ट है। वह बड़ा कौतूहलवर्धक है। उसमें पुस्तककार जैनी जी ने बड़ा पाण्डित्य दिखाया है। आपने जैन और हिन्दू-धर्म्म का मुक़ाबला किया है और दलीलों से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जैन-धर्म्म हिन्दू-धर्म्म से भी पुराना है तथा जैन-धर्म्म की बहुत कुछ छाया हिन्दू-धर्म्म पर पड़ी है। हिन्दू-धर्म्म के तत्त्व-जिज्ञासुओं को इस परिशिष्ट का पारायण करना चाहिए और इसमें सन्निहित युक्तियों की सारता-असारता पर कुछ देर विचार भी करना चाहिए। चौथे ग्रन्थ का नाम है—The Key of Knowledge. इस का आकार भी बड़ा है और पृष्ठ-संख्या भी अधिक है। इसमें कोई ११०० पृष्ठ हैं। मनोरम जिल्द चढ़ी हुई है। मूल्य १०) है। इसे ज्ञानप्रवेशिका या ज्ञानप्राप्ति की कुञ्जी कहना चाहिए। मुसल्मान, ईसाई, जैनी, हिन्दू आदिकों के जो धर्म्म हैं उनके तत्त्वों का विचार इसमें किया गया है। विभिन्न धर्म्मों में सृष्टि, परमात्मा या परमेश्वर, त्रिमूर्त्ति, योग, कर्म्म, इत्यादि प्रधान प्रधान विषयों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उस पर लेखक महाशय ने अपने विचार प्रकट किये हैं। सब से बड़ी बात इस पुस्तक में यह है कि पुस्तककार ने भिन्न भिन्न धर्म्मों की उन सब बातों में पारस्परिक मेल दिखाने की चेष्टा की है, जो ऊपरी दृष्टि से देखने पर एक दूसरी से बिलकुल ही विपरीत मालूम होती हैं। इसी से आपने इस ग्रन्थ का नाम ज्ञानार्जन की कुञ्जी रक्खा है। बात यह कि भिन्न भिन्न धर्म्मों के जो तत्त्व अब तक सन्दूक़ में बन्द से थे उन तक जिज्ञासु-जनों की पहुँच इस कुञ्जी की सहायता से हो सकती है। इसे लेकर उस सन्दूक़ को खोल दीजिए और उसके भीतर बन्द चीज़ों को देख लीजिए। यह बात कहाँ तक सच है, इसका साक्ष्य इसे विचारपूर्वक पढ़ने पर भी विशेष कर के वही लोग दे सकेंगे जिनको धर्म्म-तत्त्वों की दीक्षा मिल चुकी है। पर इसमें सन्देह नहीं कि जैनी जी ने धार्म्मिक और तत्सम्बन्धी तात्त्विक विषयों के सागर का ख़ूबही मन्थन किया है और बड़े परिश्रम से इस ग्रन्थ की रचना की है। इसके अवलोकन से अल्पज्ञों की ज्ञानसीमा अनेकांश में अवश्यही बहुत विस्तृत हो सकती है। पुस्तकारम्भ में चम्पतरायजी का एक सुन्दर हाफ़टोन चित्र भी है। पाँचवीं पुस्तक है—द्रव्य-संग्रह। यह भी ग्रँगरेज़ी में है। आकार बड़ा है। पृष्ठ-संख्या ३८१ है। मूल्य है ५॥) कुमार देवेन्द्रप्रसादजी एक पुस्तकमाला अलग ही निकाल रहे हैं। उसमें जैनों के पवित्र ग्रन्थ छपते हैं। नाम है—The Sacred Books of the Jains. प्रस्तुत पुस्तक इसी माला का पहला फूल है। इसका सम्पादन बाबू शरच्चन्द्र घोषाल, एम० ए०, बी० एल०, ने किया है। द्रव्यसंग्रह नामक पुस्तक प्राकृत में है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती उसके कर्त्ता हैं। उनको हुए कोई एक हज़ार वर्ष हुए। दक्षिणी भारत में गाङ्गेय या गङ्गावंश का राज्य बहुत समय तक रहा है। उसकी राजधानी मधुरा (मज़्रा) थी। उसी वंश के राजा मारसिंह और उसके उत्तराधिकारी राजमल्ल के मन्त्री चामुण्डराय के समय में इस पुस्तक के कर्त्ता नेमिचन्द्र विद्यमान थे। इस सम्बन्ध में घोषाल महाशय ने अपने उपोद्घात में गङ्गावंश के नरेश, चामुण्डराय, नेमिचन्द्र, श्रवणबेलगोला में प्रतिष्ठित गोम्मटेश्वर की प्रतिमा आदि के सम्बन्ध में

अनेक गवेषणापूर्ण बातें लिखी हैं और श्रवणबेलगोला आदि में प्राप्त हुए शिलालेख तथा अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों से अवतरण दे कर नेमिचन्द्र और चामुण्डराय आदि के समय का निर्णय किया है। कई प्रतिमाओं और शिलालेखों के चित्र भी दिये हैं। कई नक़शे भी हैं। आपका लिखा हुआ उपोद्घात अनेक ज्ञातव्य ऐतिहासिक बातों से परिपूर्ण है। उपोद्घात के बाद सम्पादकजी ने मूल प्राकृत गाथा, फिर उसका अँगरेज़ी में अक्षरान्तर, तदनन्तर पद-पाठ, फिर मूल का अनुवाद और सर्वान्त में विस्तृत व्याख्या लिखी है। नीचे अनेकानेक पाद-टीकायें दी हैं। आपने प्राकृत-पद्यों की संस्कृत-छाया भी दे दी है। फिर, अलग, ब्रह्मदेव नामक किसी विद्वान् की लिखी हुई, द्रव्यसंग्रह की विस्तृत वृत्ति, संस्कृत में, ज्यों की त्यों छाप दी है। इस पुस्तक के सम्पादन में बड़ा श्रम किया गया है। ग्रन्थ बड़ी योग्यता से सर्वाङ्गसुन्दर बनाया गया है। मूल पुस्तक में हैं तो केवल ५८ गाथायें। पर उन्हीं में द्रव्यों, तत्त्वों और पदार्थों का संक्षिप्त वर्णन कर के मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। जैन शास्त्रों में प्रवेश होने के लिए द्रव्यादि के ज्ञान की आवश्यकता समझी जाती है, क्योंकि संसार की स्थिति इन्हीं से है। इन का ज्ञान-सम्पादन कर के संसार-सागर के पार जाने की चेष्टा करनी चाहिए। यही कारण है जो विद्वानों ने इनका वर्णन किया है।

❋

३—प्रेम-पुजारीजी की पुस्तकें—आरा में एक "प्रेममन्दिर" है। उसमें एक "प्रेम-पुजारीजी" रहते हैं। वे शायद कुमार देवेन्द्रप्रसादजी जैन के प्रतिबिम्ब हैं। उन्होंने कुछ पुस्तकें "समालोचनार्थ" भेजी हैं। सभी पुस्तकों का टाइप और काग़ज़, रूप और रङ्ग नेत्ररञ्जक है। ये सब पुजारीजी को ही लिखने से मिलती हैं। इनके नाम और दाम आदि का हाल सुनिए। पहली पुस्तक है—**मोहिनी**—यह कहानी है। पृष्ठ-संख्या ८३ और मूल्य ८ आने है। इसे एक गुजराती पुस्तक के आधार पर बाबू भैयालाल जैन ने लिखा है। "इस पुस्तक में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि कुशिक्षा अथवा कुसङ्ग से कलुषित होने पर भी, सत्सङ्ग-लाभ से, चरित्र-संशोधन में कितनी सहायता मिलती है", अतएव भलों को चाहिए कि बुरों से दूर न भागें; उनका सहवास करके उनका चरित्र सुधारें। दूसरी पुस्तक है—**फिर निराश क्यों?** इसके लेखक कोई गुलाबराय, एम० ए०, एल-एल० बी० हैं। इसकी भी पृष्ठ-संख्या ८३, पर मूल्य पांच ही आने है। आरम्भ में १४ पृष्ठों का एक पाण्डित्यप्रदर्शक उपोद्घात है। वह लाला कन्नोमल, एम० ए०, का लिखा हुआ है। संसार में सुख के भी सामान हैं, दुख के भी। समुचित आचार और व्यवहार, समुचित विचार और विकार-परिहार से मनुष्य सुखों की वृद्धि करके अपना जीवन सफल कर सकता है। इस दशा में उसे निराश न होना चाहिए। यही इस पुस्तक का सार है। जिसका जी चाहे पढ़ कर इसे देखे कि लेखक महाशय से वह कहाँ तक सहमत हो सकता है। हमारी पहुँच तो इन गूढ़ गढ़ों की चहारदीवारी तक भी नहीं। तीसरी पुस्तक है—**शान्ति-महिमा**—इसके लेखक हैं बाबू मोतीलाल, एम० ए०। आकार कुछ छोटा है। पृष्ठ-संख्या ६२ और मूल्य ६ आने है। यह जार्ज जौर्डन की अँगरेज़ी-पुस्तक (The Majesty of Calmness) का अनुवाद है। इसके विचार सचमुच ही दिव्य हैं। चौथी पुस्तक का नाम है—**प्रेमपथिक**—इसमें ३० पृष्ठ हैं। मूल्य है ४ आने। यह पण्डित हरिप्रसाद द्विवेदी के क़लम की करामात है। प्रेमेश्वर से मिलने के लिए प्रेमपथिक प्रेमपुरी जा रहा है। उसी की यात्रा का वर्णन, शिखरिणी-छन्द द्वारा, इसमें किया गया है। शब्दों की तोड़-मरोड़ और भाषा की क्लिष्टता इसकी बहुत खटकती है। पांचवीं पुस्तक बहुत छोटी है। नाम है—**प्रेमशतक**। इसका मूल्य २ आने है। किसी "प्रेमोन्मत्त हरि" ने, इसमें, दोहा-छन्द में, प्रेम की महिमा का वर्णन किया है। इसकी कविता के रस का रहस्य प्रेमी ही जान सकते और उससे आनन्द उठा सकते हैं। छठी पुस्तक भी बहुत छोटे आकार की है। उसका नाम है—**बालिका-विनय**। इसका सम्पादन—"एक जैन महिला" ने किया है। मूल्य २ आने है। इसमें जैन बालिकाओं के पढ़ने और पाठ करने योग्य कुछ छोटी छोटी सरस और कुछ साधारण कविताओं का संग्रह है। सातवीं पुस्तक का नाम है—**प्रेमोपहार के खिले खिलाये फूल**। इसमें प्रेमपुजारीजी ने अपनी प्रकाशित पुस्तकों की

समालोचनाओं की नक़ल छापी है। कुछ समालोचनायें तो पत्रों और सामयिक पुस्तकों से उद्धृत की गई हैं और कुछ अन्य लोगों की ख़ानगी चिट्ठियों से भी उठा कर रखदी गई हैं। इस सारे सामान का नाम रक्खा गया है—"प्रेमसंसार की मधुर ध्वनि"! पुस्तकान्त में प्रेमोन्मत्त लोगों के शायद बन्धन के लिए प्रेम की कड़ियों की एक सूची (Index of Love-Links) दी गई है। इन कड़ियों की संख्या १२६ है, जो एक अच्छी ख़ासी ज़ञ्जीर के लिए काफ़ी से भी अधिक हैं।

पुजारीजी की प्रेमप्रदर्शिनी की कुछ चीज़ें सचमुच ही बड़ी अनोखी हैं।

※

४—शासन-सुधार-सम्बन्धिनी पुस्तकें—इस विषय की दो पुस्तकें हमें प्राप्त हुई हैं। एक का नाम है—**भारतीय शासन-सुधार**—इसका आकार मँझोला, छपाई सुन्दर, पृष्ठ-संख्या १२४, और मूल्य ॥) है। इसका सम्पादन पण्डित मातासेवक पाठक ने किया है। प्रकाशक—विश्वमित्र-कार्य्यालय, बड़ा-बाज़ार (अफ़ीम-चौरस्ता), कलकत्ता को लिखने से मिलती है। बड़े अच्छे ढंग से इसका सम्पादन हुआ है। थोड़े में बहुत बातें कह दी गई हैं। भारतीय शासन के सम्बन्ध में कांग्रेस और मुसलिम-लीग कैसे सुधार चाहती है, कर्टिस साहब कैसे सुधारों के पक्षपाती हैं, मांटेगू और लार्ड चेम्सफर्ड ने अपनी रिपोर्ट में किन सुधारों के पक्ष में सिफ़ारिश की है, और आज कल भारत में शासन-सञ्चालन का क्या ढंग है—इन विषयों का वर्णन करके सम्पादक ने अन्त में अपनी राय दी है। उस राय का नाम है—हमारा वक्तव्य। यह वक्तव्य बड़े महत्त्व का है। इसमें शासकों की नई और पुरानी नीतियों का उल्लेख करके अधिकारियों की महिमा का वर्णन किया गया है। फिर यह दिखाया गया है कि शासन में क़िस तरह के सुधारों की आवश्यकता है। बड़ी अच्छी पुस्तक है। दूसरी पुस्तक का नाम ज़रा लम्बा है—**भारतीय शासनप्रबन्ध-सम्बन्धी सुधारों का आवेदन-पत्र**। इसे कई आदमियों ने मिल कर लिखा है। सम्पादन इसका किया है बाबू श्रीप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०, बैरिस्टर-एट-ला ने। बाबू शिवप्रसाद गुप्त के ज्ञान-मण्डल ने इसे बनारस से प्रकाशित किया है। ज्ञान-मण्डल ही से यह पुस्तक मिलती है। इसका काग़ज़ बादामी, टाइप अच्छा, आकार मँझोला और मूल्य ॥=) है। लार्ड चेम्सफ़र्ड और मांटेगू साहब की शासन-सम्बन्धिनी रिपोर्ट दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में भारतीय-शासन और तत्सम्बन्धिनी अन्यान्य बातों का इतिहास है। दूसरे में उन सुधारों का उल्लेख है जो ये अधिकारि-द्वय कराना चाहते हैं। इसी दूसरे भाग का यह हिन्दी-अनुवाद है। पहले भाग का अनुवाद भी पीछे से निकलनेवाला है। अच्छे मौक़े पर यह पुस्तक निकली है। साधनों को देखते इसे निकालने में ख़ूब जल्दी की गई है। इससे बड़ा लाभ होगा। हिन्दी जाननेवालों को ज्ञात हो जायगा कि शासन में किस प्रकार के सुधार होनेवाले हैं और शासन की वर्त्तमान अवस्था कैसी है। अनुवाद की भाषा अच्छी है; सबकी समझ में आने योग्य है। वाक्य-रचना और शब्द-स्थापना कहीं कहीं ज़रूर खटकनेवाली है। अनुवादकों ने उर्दू-शब्दों से परहेज़ नहीं किया। "अदालत"-शब्द का प्रयोग उन्होंने ठीक ही किया है। इस दशा में, हमारी समझ में नहीं आता कि "Law" के अर्थ का बोधक "क़ानून" शब्द न देकर "धर्म्म" क्यों दिया गया है। पुराने ज़माने में "धर्म्म"-शब्द क़ानून का बोधक ज़रूर था, पर अब नहीं है। जैसे भाषा परिवर्त्तनशील है वैसेही शब्दों का अर्थ भी परिवर्त्तनशील है। अनुवादक देखें, कोश में "निर्भर" शब्द का क्या अर्थ है। पर इसका प्रयोग उन्होंने "मुनहसिर" और "अवलम्बित" अर्थ में बार बार किया है। वही क्यों, और भी अनेक लेखक इस शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में करते हैं। "वेतन का दर" इत्यादि और भी अनेक प्रयोग, जो इस पुस्तक में किये गये हैं, खटकते हैं। पर इन कारणों से इस पुस्तक की महत्ता कम नहीं हो सकती। पुस्तकान्त में जो साङ्केतिक शब्दों का कोश दे दिया गया है उससे अर्थ-ज्ञान में भ्रम हो जाने का डर नहीं। ज्ञान-मण्डल ने इस पुस्तक का प्रकाशन करके बड़ा काम किया। उसका यह कार्य्य सर्वथा अभिनन्दनीय है।

※

५—औषधालय की रिपोर्ट—कानपुर में भी जैन-

धर्म्म के अनेक अनुयायी हैं। उनमें से अधिकतर व्यवसायी हैं। व्यवसायियों की आर्थिक अवस्था प्रायः अच्छी ही होती है। अतएव इन में से कितने ही उदारहृदय सज्जनों ने एक ख़ैराती दवाख़ाना खोल रक्खा है। उसे खुले कोई १० वर्ष हुए। वह महल्ला सब्ज़ी मण्डी में, एक अच्छे स्थान में, है। जून १९१८ में इस औषधालय की एक रिपोर्ट निकली है। उसे देखने से मालूम होता है कि यह औषधालय ख़ूब काम कर रहा है। यह "दिगम्बर-जैन पंचान बिरादरी के चन्दे से" चलता है। कुछ फुटकर आमदनी भी हो जाती है। मासिक आमदनी इसकी कोई २००) और वार्षिक कोई २४००) है। यदि कभी कोई ख़ास दवायें दरकार होती हैं तो उनके लिए अलग चन्दा भी किया जाता है। है यह यद्यपि जैनधर्म्मावलम्बियों का, पर सब धर्म्मों और जातियों के लोगों को इससे दवा दी जाती है और सब की चिकित्सा इसके अध्यक्ष वैद्यजी करते हैं। कभी कभी बाहर के भी रोगी चिकित्सा के लिए आते हैं। रोगियों की रोज़ाना हाज़री, इस समय, २०० के लगभग है। इससे जान पड़ता है कि बड़े बड़े सरकारी दवाख़ानों और अस्पतालों से भी अधिक रोगी यहाँ आते हैं। दवा सब को मुफ़्त दी जाती है। औषधालय में जानेवाले किसी भी रोगी से किसी प्रकार की फ़ीस नहीं ली जाती। घर ले जाने के लिए भी एक दो दिन के लिए दवा दी जा सकती है। रस, चूर्ण, गोलियाँ, तेल, घी, पाक, शरबत, मरहम, लेप आदि कोई ढाई सौ के लगभग, सब प्रकार की, ओषधियाँ इसमें तैयार रहती हैं। यदि कोई अपने लिए कोई ख़ास दवा बनवाना चाहे तो वह भी कुछ शर्तों पर बना दी जाती है। इस प्रकार इस औषधालय में, अमीर-ग़रीब सब के लिए, सब तरह के सुभीते हैं। धन्य हैं वे लोग जिनकी बदौलत यह औषधालय जारी है।

रिपोर्ट में पिछले दस वर्षों का जो नक़्शा दिया गया है उससे सूचित है कि यह औषधालय दिन पर दिन उन्नति कर रहा है। इसका साक्ष्य कानपुर के सिविल सर्जन ने भी, औषधालय का मुआइना कर के, दिया है। उनके मुआइने की नक़ल रिपोर्ट में है; और भी अनेक प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसका अवलोकन करके अनुकूल सम्मति प्रकट की है। औषधालय में दो वैद्य, एक कम्पौंडर, तीन दवा तैयार करनेवाले, एक जमादार और एक कहार है। वैद्यवर श्रीयुत कन्हैयालाल इस औषधालय के प्रधानाध्यक्ष हैं। आप अपने शास्त्र के ज्ञाता, शीलवान्, साधु-स्वभाव और उदाराशय हैं। सिविल सर्जन साहब ने आपके काम से बहुत सन्तोष प्रकट किया है। औषधालय में कई प्रकार के रजिस्टर बाक़ायदा रक्खे जाते हैं। जैन समाज के चुने हुए ११ सभ्यों की एक कमेटी द्वारा इस औषधालय का कार्य्य-सञ्चालन होता है। चीर-फाड़ को छोड़ कर, जो अन्य काम बड़े बड़े ख़ैराती अस्पतालों से नहीं होता वह इस से होता है, क्योंकि यहाँ अपने देश की बनी हुई अपनी प्रकृति के अनुकूल ओषधियाँ मिलती हैं। अतएव जैनियों ही का नहीं और धर्म्म के अनुयायियों का भी कर्तव्य है कि इस संस्था की सहायता करें।

रिपोर्ट के आरम्भ में इस औषधालय के मन्त्री ने भारतीय वैद्य-विद्या के विषय में जो अतिशयोक्तियाँ लिखी हैं उनकी कोई आवश्यकता न थी। हमारे आयुर्वेद में जो न्यूनतायें हैं और वर्तमान पाश्चात्य चिकित्सा में जो विशेषतायें हैं उन्हें कौन कृतविद्य नहीं जानता?

पहले चाहे जैसा रहा हो, इस समय हमारा आयुर्वेद-ज्ञान अनेक अंशों में त्रुटिपूर्ण है। विद्योपार्ज्जन करके वैद्यों को उसकी पूर्त्ति की चेष्टा करनी चाहिए, दूसरों के सद्गुणों का आदर और अनुकरण करना चाहिए, स्वार्थ-भाव को दबाकर लोकोपकार की तरफ़ अधिक ध्यान देना चाहिए। तभी इस शास्त्र की गिरी हुई दशा सुधरेगी; तभी लोगों के हृदयों में इस शास्त्र पर फिर से विश्वास उत्पन्न होगा और बढ़ेगा; तभी, सम्भव है, इसे कुछ राजाश्रय भी प्राप्त हो। शहरों के सुशिक्षित और समर्थ वैद्यों से तो हमारी प्रार्थना है—

सर्वे वैद्यवरा श्रृणुध्वमधुना सौभाग्यदं कीर्त्तिदं
पापक्षालनतन्त्रमन्त्रवदिदं मान्यं मदीयं वचः।
यूयं सन्मनसा चिकित्सित-विधौ हित्वा धनाशां परां
विश्वाधार विभो त्वदर्पणमिदं भूयादिति ध्यायत॥

❋

६—**मालतीमाधव-नाटक**—आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या १६०, छपाई और काग़ज़ साधारण, मूल्य १ रुपया।

यह पुस्तक भवभूति के मालती-माधव का हिन्दी-अनुवाद है। आगरे के परलोकवासी पण्डित सत्यनारायण का किया हुआ है। गद्य की जगह गद्य और पद्य की जगह पद्य है। गद्य की भाषा बोलचाल की और पद्य की आगरा-मथुरा-प्रान्त की—व्रज भाषा—है। इस नाटक के जो दो एक अनुवाद हमारे देखने में आये हैं उन सब से यह अनुवाद अच्छा है। सत्यनारायणजी ने अपनी "विज्ञप्ति" में लिखा है—"इस पर भी कहीं कहीं अविकल अनुवाद का विकल भावानुवाद हो गया है"—यह ठीक हो सकता है। पर यत्र तत्र देखने पर, हमें तो इस में विशेष विकलता नहीं देख पड़ी। हाँ, छापे की अशुद्धियां बहुत सी रह गई हैं, जिन के शोधन के लिए ३ पृष्ठों का एक शुद्धि-पत्र लगाना पड़ा है। एक बात ज़रूर है कि "विज्ञप्ति" में मालती-माधव के जो संस्कृत-श्लोक उद्धृत किये गये हैं उनका पदच्छेद ठीक ठीक नहीं हुआ। टाइटिल पेज पर जो श्लोक छपा है उसका भी यही हाल है। पर इससे हानि नहीं। दूसरे संस्करण में यह त्रुटि दूर कर दी जा सकेगी, सत्यनारायणजी ने अपनी "विज्ञप्ति" के अन्त में "नई रोशनीवालों" पर जो कठोर आक्षेप किये हैं उनका उत्तर हम अब नहीं देना चाहते, क्यों कि उसके सुननेवाले ही नहीं रहे। पुस्तक का प्रकाशन आगरे के साहित्य-रत्न-माला-कार्य्यालय ने किया है और वही शायद इसे बेचता भी है।

❋

७—The Result of the War. यह एक छोटी सी ३७ सफ़े की पुस्तक, अँगरेज़ी भाषा में, है। भरतपुर के कुँवर श्रीकृष्ण ने इसे लिखा है। आपका पता है— Crystal House, Bareilly. दाम इसके, फ़ी कापी, ८ आने हैं।

इससे जो आमदनी होगी वह लाट-पत्नी, लेडी चेम्सफर्ड, के "अवर डे" फंड के खाते में जमा कर दी जायगी। इसमें कुँवर साहब ने वर्तमान युद्ध की तुलना देवासुर-संग्राम से की है। देव हैं अँगरेज़ और उनके साथी, दानव हैं जर्मन और उनके साथी। जो परिणाम सुरासुर-समर का हुआ था वही इसका भी होगा। सुरों के सब गुण अँगरेज़ों और उनके सहायकों में हैं, असुरों के जर्मनों और उनके सहायकों में। पापी असुरों का पराजय करके पुण्यात्मा सुर-समूह धर्म्म की संस्थापना करेगा। महाराज पञ्चम जार्ज सुरेश्वर इन्द्र के सदृश हैं। वे इस संग्राम में भारतवासियों से सहायता चाहते हैं। अतएव, पुरानी बातों के सोच-विचार में पड़ना व्यर्थ समझ कर ("No use brooding over the past disabilities") हम लोगों को जी खोल कर सरकार की मदद करनी चाहिए और खूब रंगरूट देना चाहिए; विशेष कर के क्षत्रियों को, क्योंकि—

क्षत्रियतनु धरि समर सकाना—कुल-कलङ्क तेहि पामर जाना।

यही इस पुस्तक का सार है।

❋

८—**हिन्दी पुस्तक-एजन्सी की पुस्तकें**—कलकत्ते में इस नाम की एक कम्पनी, पुस्तकें बेचने और प्रकाशित करने का काम, कुछ समय से, कर रही है। उसका दफ़्तर १२६, हरिसन रोड में है। उसके संग्रह की पुस्तकें इसी पते पर पत्र लिखने से मिलती हैं। इस एजन्सी ने अपनी कुछ पुस्तकें हमें भेजने की कृपा की है। उनका परिचय दिया जाता है। एक पुस्तक का नाम है—**विवेकवचनावली**—इसका आकार बहुत छोटा और पृष्ठ-संख्या ८० है। मूल्य ३ आने है। नामानुसार इसमें स्वामी विवेकानन्द के वचनों का संग्रह, गद्य में, है। ये वचन कसे हैं, इस विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। स्वामी जी का नाम ही इनके अच्छे होने की सर्टिफिकट है। यह बँगला-पुस्तक "विवेक-वाणी" का अनुवाद है। अनुवादक हैं—श्रीयुत यशोदानन्दन, अखौरी। दूसरी पुस्तक है—**महात्मा शेख़ सादी**। इसका आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या ६० और मूल्य ६ आने है। इसे श्रीयुत प्रेमचन्द ने लिखा है। इसके ३४ पृष्ठों में सादी का संक्षिप्त चरित और उनके भ्रमण आदि का वृत्तान्त है। छः पृष्ठों में उनकी रचनाओं का उल्लेख और उनके महत्त्व का वर्णन है। १२ पृष्ठों में उनकी लोकोक्तियां हैं। शेष पुस्तक में सादी की गुलिस्तां और बोस्तां नाम की दो प्रसिद्ध पुस्तकों में दी गई सदुपदेश-सूचक शिक्षाओं के नमूने हैं। अच्छी पुस्तक है। इसके पाठ से सादी की कविता और उनके चरित की महत्ता का यथेष्ट ज्ञान हो सकता है। इसमें लिखा है कि सादी के

बनाये हुए १९ ग्रन्थ हैं। पर गुलिस्ताँ और बोस्ताँ को छोड़ कर लेखक महाशय ने उनके और किसी ग्रन्थ की न तो समालोचना ही की और न उनके नमूने ही दिये। यह त्रुटि कुछ खटकती है। सादी के मुलम्मआत, तरजियात, ग़ज़लियात, मुफ़रदात और रुबैयात से भी पाठकों का परिचय कराना था। सादी का एक दीवान भी है। फ़ारसी और अरबी में उनके क़सीदे भी हैं। शायद "करीमा" भी सादी ही की रचना है जो मुसल्मानों और प्रायः कायस्थों के लड़कों के कण्ठ में वास करती है। बिना इन सब की चाशनी चखाये सादी का चरित अधूराही समझिए। प्रेमचन्द्र जी ने लिखा है कि सादी ११७२ ईसवी में पैदा हुए और १२८८ ईसवी के लगभग मरे। मगर एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के एक लेखक के अनुसार ११८४ में उनका जन्म और १२९१ में उनकी मृत्यु हुई। अतएव मरने के समय उनकी उम्र ११६ वर्ष की नहीं, केवल १०७ वर्ष की थी। तीसरी पुस्तक का नाम है—**जमसेदजी नसरवानजी ताता का जीवन-चरित्र** इसका भी आकार मँझोला है। छपाई अच्छी है। पृष्ठ-संख्या ६० और मूल्य ४ आने है। सर दिनशा एदलजी वाचा की एक अँगरेज़ी-पुस्तक के सहारे इसकी रचना, पण्डित मन्नन द्विवेदी गजपुरी, बी० ए०, ने की है। लेखक महाशय ने इसे बड़ी अच्छी भाषा में लिखा है और अपनी तरफ़ से नमक-मिर्च लगा कर चरितनायक के चरित को और भी अधिक मनोरञ्जक और शिक्षादायक बना दिया है। ताता का परिचय कराने की ज़रूरत नहीं। ये वही ताता हैं जिनके लोहे के कारख़ाने पर, कुछ समय पूर्व, एक लेख सरस्वती में निकल चुका है। चौथी पुस्तक है—**कर्मवीर गाँधी**। आकार इसका भी मँझोला है। पृष्ठ-संख्या १८६ और मूल्य १॥।) है। सुन्दर जिल्द है। छपाई और काग़ज़ उत्तम है। आरम्भ में गान्धीजी और उनकी पत्नी का एक एक चित्र है। इसका सम्पादन किसी "गान्धी-भक्त" ने किया है। इसमें गान्धीजी के कितने ही महत्त्वपूर्ण लेख और व्याख्यान हैं। उनके जेल के अनुभवों का भी वर्णन है। गाँधी हिन्दी-भाषा के कितने पक्षपाती हैं, यह बात इस पुस्तक से अच्छी तरह मालूम हो सकती है। गाँधीजी को तो आधुनिक साँचे में ढला हुआ प्राचीन ऋषि समझना चाहिए। उनके लेखों और व्याख्यानों में व्यक्त किये गये उनके विचारों से हम लोगों को यथा-शक्ति लाभ उठाना चाहिए।

❋

९ वीर अभिमन्यु—इसका आकार मध्यम, पृष्ठ-संख्या १७०, छपाई और काग़ज़ साधारण, मूल्य १ रुपया है। इसके लेखक और प्रकाशक हैं पण्डित राधेश्याम "कविरत्न"। आपका पता है—बिहारीपुर, बरेली। यह रूपक या नाटक है। न्यू आलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के लिए इसकी रचना कविरत्नजी ने की है। श्रीयुत जियालाल, एम० ए०, ने एक लम्बी भूमिका लिख कर उसमें इस नाटक के अनेक गुणों और दो एक छोटे छोटे दोषों का उल्लेख किया है। यह भूमिका पुस्तकारम्भ में रख दी गई है। उसमें लेखक ने और और बातों के सिवा इस नाटक के पात्रों के चरित्र-चित्रण का अच्छा विवेचन किया है, जिसके अधिकांश से हम सहमत हैं। नाटक में वीर और करुण-रस का प्राधान्य है; कुछ हँसने हँसाने की भी सामग्री है। कथानक महाभारत से लिया गया है।

मनोरञ्जन के साथ साथ देश और समाज का उपकार करने के लिए यह लिखा गया है। इसमें कविता—पद्य और गीत—यथेष्ट है। उसकी भाषा नई, पुरानी दोनों तरह की है। भाव बड़े सुन्दर हैं। रचना सरल है। सुनते हैं, यह नाटक बड़ी सफलता के साथ खेला जाता है। दर्शक इसे बहुत पसन्द करते हैं।

❋

१०—संगीत-सार-संग्रह, प्रथम भाग—इसका आकार बड़ा, छपाई और भाषा बहुत साधारण, पृष्ठ-संख्या ८०, और मूल्य १।) है। इसे बाबू किरणकुमार मुखोपाध्याय ने लिखा है। इसमें प्रश्नोत्तर के रूप में शास्त्रोक्त सङ्गीत का संक्षिप्त वर्णन है। पुस्तक तीन अध्यायों में विभक्त है—स्वराध्याय, तालाध्याय, रागाध्याय। फिर प्रत्येक अध्याय के अन्तर्गत मुख्य मुख्य बातों का विवेचन है, यथा—स्वरों की संख्या, स्वरसाधन, ताल-साधन, राग-साधन, राग-रागिनियों के गाने का समय आदि। हारमोनियम की बनावट और बजाने की रीति का भी सुबोध वर्णन है। इसके आगे आधी से

अधिक पुस्तक में भिन्न भिन्न रागों और रागिनियों के साधन अर्थात् ठाठ, ताल, मात्रा, अन्तरा आदि बताये गये हैं। सङ्गीत-प्रेमियों के लिए पुस्तक बड़े काम की है।

मिलने का पता—बाबू बेनीप्रसाद, काली-स्थान, यूनीवरसिटी रोड, इलाहाबाद।

❊

११—प्रबन्ध-पारिजात—आकार मध्यम, छपाई और काग़ज़ साधारण, पृष्ठ-संख्या ११८, मूल्य ६ आने, लेखक पण्डित पारसनाथ त्रिपाठी, प्रकाशक—साहित्यप्रचारक कार्य्यालय, नरसिंहपुर, से प्राप्य। इसमें भिन्न भिन्न विषयों पर २७ निबन्ध हैं। उनके नाम हैं—प्रतिभा, अभिज्ञता, कल्पना, जन्मभूमि, सुनाम आदि। इसके विचार प्रायः पुराने हैं और अन्य पुस्तकों से लिये गये हैं। पर सब अच्छे हैं। भाषा अलबत्ते कहीं कहीं बहुत दूषित है। शब्दाशुद्धियां भी अनेक हैं। उदाहरण—

(१) मनुष्यों की सामान्य प्रतिभा को तो प्रतिभा कही नहीं जा सकती—पृष्ठ २८

(२) गुरुत्वात् यतनं। (चाहिए "पतनं")—पृष्ठ २६

(३) हाथ में या नज़दीक में कोई बर्तन नहीं था—पृष्ठ ३१

एक जगह, पृष्ठ २६ में, लिखा है—"शंकराचार्य्य प्रभृति ज्योतिर्विद कह गये हैं" पर शङ्कराचार्य ज्योतिषी न थे; वेदान्ती या दर्शनशास्त्री थे।

❊

१२—The Seventh Annual Report—बम्बई में जीव-दया-ज्ञान-प्रसारक—नाम की एक समिति है। उसका एक फंड है। श्रीयुत लल्लूभाई गुलाबचन्द जह्वेरी उसके मैनेजर हैं। आपका दफ़्तर ३०६, सराफ़ा बाज़ार, में है। यह रिपोर्ट आपही की लिखी हुई है। इस समिति ने १६१७ ईसवी में जो जो काम किया उसी का वर्णन इसमें है। रिपोर्ट अँगरेज़ी में है। इस रिपोर्ट से प्रकट है कि यह समिति जीवहिंसा-निवारण के लिए बड़े बड़े उद्योग कर रही है। कई वर्ष से इस समिति की प्रकाशित छोटी छोटी अनेक पुस्तकें, समय समय पर, हमें मिली हैं। उनमें प्रायः निरामिष-भोजन के लाभ और प्राणि-हिंसा की हानियों का वर्णन है। अपने उद्देश की सिद्धि के लिए इस समिति ने अन्यान्य स्थानों में भी सभायें सङ्गठित की हैं, पुरस्कार दे दे कर कितने ही उपयोगी लेख और पुस्तकें लिखाई हैं, जीव-रक्षा की ओर गवर्नमेंट का ध्यान आकर्षित किया है। नामी नामी पुरुषों की सहानुभूति प्राप्त करके जीव-दया और पशुशाला के महत्त्व पर उनकी सम्मतियाँ प्राप्त की हैं। इसके सिवा इसने और भी अच्छे अच्छे अनेक काम किये हैं। इसे रुपये की सदा ज़रूरत रहती है। धन-प्राप्ति के बिना इसके कार्य्य-क्षेत्र का विशेष विस्तार नहीं हो सकता। अतएव समर्थों को इसकी सहायता करनी चाहिए। इसकी सातवीं रिपोर्ट की एक कापी मँगा कर पढ़ तो ज़रूर ही लेना चाहिए।

❊

१३—संस्कृत-साहित्य-परिषत्-पत्रिका—यह एक मासिक पत्रिका है। संस्कृत में है। कलकत्ते से निकली है। संस्कृत-साहित्य-परिषद् की ओर से प्रकाशित हुई है। मिलने का पता है—१२, श्यामबाज़ार ब्रिज रोड, कलकत्ता। श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री इसके सम्पादक हैं। दो सहकारी सम्पादक भी हैं। आकार मध्यम है। मूल्य ३) वार्षिक है। अब तक दो संख्यायें निकली हैं। प्रत्येक में छत्तीस छत्तीस पृष्ठ हैं। इसमें विशेष करके दार्शनिक लेख रहते हैं। आलोचनायें, समस्यायें, समस्यापूर्तियाँ और आख्यायिकायें भी रहती हैं। काव्य-नाटक-अलङ्कार-विषयक लेख भी रहा करेंगे। बङ्किम बाबू की कपालकुण्डला का अनुवाद इसमें निकलने लगा है। दार्शनिक लेखों की संस्कृत कुछ क्लिष्ट, औरों की सरल है। इन दोनों संख्याओं में "कर्णधारः" नामक कविता बड़ी सरस है। दूसरी संख्या में "उपेक्षिता" नाम की कविता भी अच्छी है। उसके दसवें पद्य का कुछ अंश इस प्रकार है—

> इत्थं मुग्धां रुदितरुदितैराकुलां दीनभावां
> पश्चाद् बद्ध्वा नयनयुगलं पाणियुग्मेन कान्तः
>
> शान्तं प्राह × × ×
> × × × ×

मतलब यह कि उस उपेक्षिता नारी की दोनों आंखें उसके पति ने पीछे से चुपचाप आकर अपने दोनों हाथों से ढक लीं और बोला। इसमें "बद्ध्वा" पद विचारणीय है।

इसका अर्थ होता है—बाँध कर। पर आँखें हाथ से बाँधी नहीं जा सकतीं, मूँदी या ढकी अलबत्ते जा सकती हैं। हाँ, अञ्जलि अलबत्ते बाँधी जाती है। अतएव वहाँ पर "आच्छाद्य" के अर्थ का बोधक कोई पद होना चाहिए था।

❋

१४—सचित्र ऐतिहासिक लेख—इसे कलकत्ते के बाबू रामकुमार गोयनका ने लिखा और वहीं की हिन्दी-पुस्तक-एजंसी ने इसका प्रकाशन किया है। आकार मँझोला, छपाई अच्छी, पृष्ठ-संख्या १०० और मूल्य ६ आने है। इसमें ६ ऐतिहासिक लेख हैं—(१) नये अनुसन्धान (२) चूरू की बही (३) लार्ड आकूलेंड को हिन्दी में पत्र (४) सैरूलमुताखरीन (५) ईस्ट इंडिया कम्पनी की रचना और (६) वाणिज्य में परिवर्तन। तीन चित्र भी हैं—लेखक का, चूरू की बही का, और लार्ड आकूलेंड के नाम महाराज रत्नसिंह के पत्र का। इनमें से नं० २, ३ और ६ लेख अधिक महत्त्व के हैं। नं० २ लेख की बही से मालूम होता है कि कोई सवा सौ वर्ष पहले राजपूताने में एक रुपये का घी ५ सेर, गुड़ २४ सेर, शक्कर १६ सेर बिकती थी।

❋

१५—गपड़चौथ—आकार मँझोला, छपाई और काग़ज़ साधारण, पृष्ठ-संख्या ६०, मूल्य ६ आने, लेखक—बाबू शालग्राम वर्म्मा, प्रकाशक,—नाट्यग्रन्थमाला-कार्य्यालय, १६६। ६८ हैरिसन रोड, कलकत्ता, से प्राप्य। यह एक रूपक या नाटक है। इसमें हास्य-रस की प्रधानता है। बिगड़े दिल विलासी पुरुषों के दोषों का उद्घाटन इसमें किया गया है। इसके सामाजिक दृश्यों में बहुत कुछ स्वाभाविकता है। इससे शिक्षा ज़रूर मिलती है। पर वेश्यानृत्य और मद्यपान आदि के अनुकूल और प्रतिकूल भाषणों का यदि विशेष विस्तार न किया जाता तो अच्छा था। तथापि नाटक बुरा नहीं, खेलने लायक़ है।

❋

१६—सदाचार-सोपान—इसका आकार मँझोला, छपाई और काग़ज़ साधारण, पृष्ठ-संख्या ६६ और मूल्य ६ आने है। इसे पण्डित रामवृक्षराय शर्म्मा ने लिखा है। सरस्वती-भण्डार, मुरादपुर, बांकीपुर से यह मिलती है। इसका विषय इसके नाम ही से प्रकट है। इसमें आज्ञापालन, कर्त्तव्यपालन, परोपकार, धर्म्म, धैर्य्य, क्षमा, विद्या, सत्य आदि १७ विषयों पर छोटे छोटे निबन्ध हैं। भाषा न बहुत क्लिष्ट, न बहुत सरल है। बालकों के बड़े काम की है; पर कुछ वयस्क बालकों के, बहुत छोटों के काम की नहीं। "भाग लेना" अँगरेज़ी मुहावरा है। लोग इसे लिखना छोड़ दें तो अच्छा हो। हिन्दी में यह प्रयोग अच्छा नहीं लगता। पर आज कल इसकी बड़ी भरमार है। यह उर्दू-नवीसों की कृपा का फल है।

❋

१७—भारत में भूत—इस २४ सफ़े की पुस्तक का मूल्य १½ आने है। छपी बहुत अच्छी है। इसमें यह दिखाया गया है कि भूत कोई चीज़ नहीं। वह काल्पनिक वस्तु है। उसके सम्बन्ध के सारे क़िस्से कुछ भी असलियत नहीं रखते। भूतों से डरना मूर्खता है। अतएव इसे पढ़ कर बच्चों के हृदय से भूतों का भय दूर हो सकता है। इसे जयपुर (सिटी) के पण्डित हनूमान शर्म्मा ने लिखा है। उन्हीं से यह पुस्तक मिल सकती है।

❋

१८—Congress-Album, Series No 2. १९१६ ईसवी में जो कांग्रेस लखनऊ में हुई थी उसी से इसका विशेष सम्बन्ध है। यह कांग्रेस के प्रेसिडेन्टों की चित्रावली है। १९१६ तक जितने प्रेसिडेन्ट हो चुके हैं सबके छपे हुए साधारण चित्र इसमें हैं। लखनऊ की कुछ इमारतों के चित्र तथा दो एक चित्र और भी हैं। इसकी एक कापी बाबू शारदाप्रसाद गुप्त (अहरौरा, ज़िला मिर्ज़ापुर) ने भेजी है। मूल्य है छः आने।

❋

१९—जे० एन० टाटा—इसका आकार मँझोला, छपाई और काग़ज़ साधारण, पृष्ठ-संख्या १०८, मूल्य ।≈) आने है। इसके प्रकाशक, पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयी और लेखक, संग्रामपुर (चम्पारन) के निवासी पण्डित जोखू पाण्डेय हैं। पाण्डेयजी ने ही इसकी एक कापी हमें भेजी है। इसमें प्रसिद्ध पारसी व्यवसायी, परलोकवासी, जमशेदजी नसरवानजी टाटा का जीवनचरित है। सरस्वती के पाठक इस उद्योगवीर पुरुषसिंह के नाम, धाम और काम

से अवश्य ही परिचित होंगे। साकची में लोहे का जो बहुत बड़ा कारख़ाना है वह टाटा महोदय ही के उद्योग का फल है। यह जीवनचरित पढ़ने लायक़ है। इससे मालूम हो सकता है कि बुद्धि-बल और उद्योग से निर्धन कुटुम्ब में जन्म लेकर भी मनुष्य किस प्रकार करोड़ों की सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है और साथ ही अपने व्यापार-व्यवसाय से अपने देश तथा अपने देशवासियों का भी कितना हित-साधन कर सकता है।

❋

२०—स्वराज्य-शतक—इस ३२ सफ़े की पुस्तक का मूल्य ३ आने है। श्रीयुत कन्हैयालाल, बुकसेलर, चौक, पटना सिटी, ने इसका प्रकाशन और पण्डित रामानन्द द्विवेदी ने इसका सङ्कलन किया है। प्रारम्भिक भूमिका बांकीपुर के बारिस्टर श्रीयुत सच्चिदानन्दसिंह ने, हिन्दी में, लिखी है। इसमें देशी और विदेशी देशभक्तों और महापुरुषों के, स्वराज्य की महत्ता के सूचक, १०० वचन हैं। इसी से इसका नाम शतक है। पर ये सब वचन गद्य में हैं, पद्य में नहीं। उदाहरण—

(१) स्वाधीनता निरङ्कुशता के क़ैदख़ाने को ढहा देती है ४५

(२) आपस में मिले रहो; उद्योग करते रहो और स्वराज्य प्राप्त करो २५

हिन्दी में इस ढंग की यह पहली ही पुस्तक है। कल्पना नई है।

❋

२१—स्त्रीधर्म्मशिक्षा—इस बड़े आकार की पुस्तक की पृष्ठ-संख्या ८८ और मूल्य ८ आने है। छपाई और काग़ज़ बहुत साधारण है। इसका संग्रह ज्योतिषाचार्य पण्डित हरिनन्दन मिश्र ने किया है। आप ही से यह मिलती है। पता—श्रीरामपाठशाला, चटाई-मुहाल, कानपुर। भिन्न भिन्न स्मृतियों और पुराणों आदि में स्त्री-धर्म्म के सम्बन्ध में जो वचन हैं वही सब बड़े परिश्रम से ढूँढ़ कर इसमें रक्खे गये हैं। वे सब संस्कृत में हैं। पण्डित योगेश्वर शर्म्मा की लिखी हुई उनकी "भाषा" (हिन्दी) टीका भी, संस्कृत वचनों के नीचे, छाप दी गई है। इससे संस्कृत न जानने वाले भी इसका मतलब समझ सकेंगे। पण्डितजी ने बड़ी कृपा की जो ये सब पुराने वचन इस प्रकार सुलभ कर दिये।

❋

२२—स्त्रीचरित्रसंगठन—आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या १२०, छपाई साफ़ सुथरी, मूल्य ११ आने, मिलने का पता—राजपूताना-हिन्दी-साहित्य-सभा, झालरापाटन। यह एक बँगला पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। श्रीयुत बाबू दयाचन्द्र गोयलीय, बी० ए०, ने इसे लिखा है। सुचरित्रा होने के लिए स्त्रियों में जिन गुणों की आवश्यकता होती है प्रायः उन सभी का वर्णन इसमें परिमार्ज्जित भाषा में, किया गया है। सब मिला कर २४ पाठ इसमें हैं। बड़ी अच्छी पुस्तक है। प्रत्येक पढ़ी लिखी लड़की और स्त्री को इसका पारायण करना चाहिए।

❋

२३—याज्ञवल्क्य-शिक्षा—इसका आकार मध्यम, पृष्ठ-संख्या ६२, छपाई और काग़ज़ साधारण, और मूल्य आठ आने है। वेद पढ़नेवाले छात्रों और वेदपाठियों के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। याज्ञवल्क्य के निश्चित किये हुए वेद-पाठ के विषय में कुछ नियम हैं। वे भिन्न भिन्न ग्रन्थों में बिखरे हुए पड़े हैं। उन्हीं का संग्रह इस पुस्तक में है। स्वर, उच्चारण, सन्धि आदि अनेक उपयोगी बातों का ज्ञान इससे हो सकता है। पण्डित विश्वनाथ शर्म्मा ने इसका सम्पादन किया है। अपनी बनाई संस्कृत-टीका भी उन्होंने जोड़ दी है। इसकी हिन्दी टीका भी हो जाती तो और भी अच्छा होता। सम्पादक ही से मिलती है। पता रामघाट, हरद्वार।

× ×
×

नीचे जिन पुस्तकों आदि के नाम दिये जाते हैं वे भी पहुँच गई हैं। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवाद—

१—प्रजाधर्म्म—लेखक, बाबू लक्ष्मीनारायण गुप्त, सिकन्दराराऊ

२—मोक्षमार्ग—प्रकाशक, श्यामस्नेही विशुद्धानन्द, हैदराबाद (सिन्ध)

३—स्वामी विवेकानन्द यांचे चरित्र, भाग पांचवा—सम्पादक, रामचन्द्र नारायण मंडलीक, बम्बई।

४—मार्गोपदेशिका } प्रेषक, बाबू धनीराम बक्शी, चाईबासा
५—स्याही की पुड़िया }

६—स्वराज्य-घोषणा—प्रकाशक, भीष्म एण्ड ब्रदर्स, पटकापुर, कानपुर।

७—भारतीय-राष्ट्र-निर्म्माण—प्रेषक, जनरल ब्यूरो कम्पनी, इलाहाबाद।

८—अहिंसा—लेखक, मुनि विद्याविजय, भावनगर।

९—धर्म्मदेशना—लेखक, जैनाचार्य्य श्रीविजयधर्म्म सूरि, भावनगर।

१०—श्रीरत्नाकरपच्चीसी—प्रेषक, श्रीजैनधर्म्म-प्रसारक सभा, भावनगर।

११—राजभक्तिमहिमा—लेखक, पण्डित सोहनलाल पाठक, मथुरा।

१२—बालवीर—लेखक, बाबू जगदम्बीसहाय, मलहीपुर, मुंगेर।

१३—वहमी भूत—अनुवादक, पण्डित मातादीन मिश्र, ब्यावर।

१४—गुरुचालीसा—प्रकाशक, पु० रामनारायण व्यास, जयपुर।

१५—प्रेमरत्न
१६—गोरल
१७—कर्णमण्डन
१८—शिवलिङ्गप्रकाश
} —लेखक, बाबू हज़ारीलाल सकसेना, बीसलसपुर, पीलीभीत।

१९—मनुष्य-कर्तव्य—प्रकाशक, आत्मानन्द-जैन-टैक्ट सोसायटी, अम्बाला।

२०—नारी-नीति — प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-प्रचारक कार्य्यालय, नरसिंहपुर।

२१—जैनपञ्चाङ्ग—लेखक, पण्डित श्रीचन्द, ज़िला रोहतक।

२२—मारवाड़ी-छात्रगृह, धामनगांव, का वार्षिक विवरण, प्रकाशक, श्रीनारायण अग्रवाल, धामनगाँव।

२३—हिन्दीकल्पलता—संग्रहकार, पं० रामचन्द्र शर्म्मा, ज़िला मुरादाबाद।

२४—अनलादृश्यताकरलहरी—प्रकाशक, श्रौतस्मार्तसभा, अमृतसर।

२५—ब्रज भाषा बनाम खड़ी बोली—प्रकाशक, हिन्दी-पुस्तक-एजन्सी, कलकत्ता।

२६ फिज़ी में भारतीय मज़दूर—प्रेषक—"एक भारतीय हृदय," इन्दोर।

चित्र-परिचय।

मानिनी।

इस संख्या का भी रङ्गीन चित्र टिहरी (गढ़वाल) के कुँवर विचित्रशाह की कृपा का फल है। यह भी एक पुराने चित्रकार की कारीगरी का नमूना है। विषय इसका इसके नाम से ही स्पष्ट है। तथापि "शिवसिंहसरोज" में उद्धृत, इस विषय का एक सवैया सुन लीजिए—

काहे को सासति पावस में इन बातनि तोंहि न कोऊ सराहै।
पौन लगे लहराती लता तरु-कुञ्ज कदम्ब में केकी कराहै॥
बोल सुहावने चातक के लगें इन्द्रवधूगण धाई धरा हैं।
बोलि पठाई उतै उनने उनये न ये देखि नये बदरा हैं॥

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad

लेख-सूची।

चित्र-सूची।

आतिथ्य।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

सरस्वती

भाग १९, खण्ड २] आक्टोबर १९१८—कार्तिक १९७५ [संख्या ४, पूर्ण संख्या २२६

माता।

माँ, यह तेरा कैसा वेश ?
देख रहा हूँ आज हाय मैं बिखरे तेरे केश ॥
मुख में तेरे पूर्व काल का नहीं तेज सविशेष।
मूर्छित सी तू पड़ी हुई है, शक्ति नहीं है लेश ॥
वही व्योम है, वही भूमि है, वही हमारा देश।
फिर क्यों माता तेरे उर में, दुख ने किया प्रवेश ॥
हम सब पुत्रों को अब दे तू शीघ्र उचित उपदेश।
जिससे तव दुख-दुर्गति सत्वर हो जावे निःशेष ॥

मनोहरप्रसाद मिश्र।

सांख्यदर्शन के कर्त्ता।

सांख्य-शास्त्र के प्रवर्तक महामुनि कपिल थे। यही प्रायः सुना जाता है। कपिल मुनि दार्शनिक सृष्टि के आदि-विधाता हैं, यह भी सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। उनको ईश्वरकृपा से स्वतः ज्ञान था। इस विषय में ४३ वीं सांख्य-कारिका पर वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—"सर्गादावादिविद्वानत्र भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूवेति, स्मरन्ति" अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में आदि-विद्वान् महामुनि कपिल धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्ययुक्त पैदा हुए। श्रीगौड़पादाचार्य भी अपने कारिकाभाष्य में

लिखते हैं—"भगवतः कपिलस्यादिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्ना धर्मो ज्ञानं वैराग्यैश्वर्यम्"।

प्रचलित सांख्यदर्शन उन्हीं कपिल-मुनि ने बनाया है या नहीं, यही इस लेख में हमें दिखलाना है। सांख्य-विषयक इस समय दो ग्रन्थ प्रायः प्रचलित हैं—सांख्य-दर्शन और सांख्यतत्त्वकौमुदी। सांख्य पर विज्ञान भिक्षु ने भाष्य किया है। सांख्यतत्त्वकौमुदी ईश्वरकृष्ण-प्रणीत है। कौमुदी पर वाचस्पति मिश्र ने टीका लिखी है। गौड़पादाचार्य ने कारिकाओं पर भाष्य किया है। सांख्यकारिकायें आर्या-छन्द में हैं; सूत्र किसी छन्द में नहीं होते। परन्तु सांख्य-सूत्रों का निर्माण प्रायः छन्दोबद्ध दृष्टिगोचर होता है-यथा—

(क) हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितलिङ्गम्.

(ख) सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च

ये दोनों सूत्र कारिकाओं से अक्षरशः मिलते हैं। २५ वीं कारिका का पूर्वार्द्ध है—सात्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात्। इसकी जगह केवल पुँल्लिङ्ग और नपुंसक का भेद कर के पाठ बदला गया है। देखिए—

सात्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात्—

मूल सूत्रों में कहीं भी क्रियापद देखने में नहीं आते। प्रकृत में "प्रवर्त्तते" पद से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सांख्य-कारिकाओं से सूत्र बनाये गये हैं, अर्थात् सांख्य-कारिकाओं का निर्माण पहले हुआ है, सांख्य-सूत्र उनके आधार पर पीछे से बने हैं। क्योंकि छन्दोमात्राओं के अभङ्गार्थ "प्रवर्त्तते" पद कारिकाओं में दिया गया है। सूत्र में इसका कुछ भी प्रयोजन नहीं। हो सकता है कि अकस्मात् ऐसी रचना हुई हो। अतएव यह सर्वथा न समझना चाहिए कि सूत्र कारिकाओं के पीछे बनाये गये हैं। परन्तु बात यहीं तक नहीं। सांख्य-कारिका १७ वीं देखिए—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।

इसी के पाँच सूत्र बना कर यों लिखे गये हैं—

संहतपरार्थत्वात्—१४०
त्रिगुणादिविपर्ययात्—१४१
अधिष्ठानाच्च—१४२
भोक्तृभावात्—१४३
कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च—१४४

इनको मिला कर पढ़ने से ठीक एक आर्या छन्द बन जाता है।

बराबर दूर तक कारिकाओं के साथ सूत्र मिलते चले जाते हैं। विस्तर-भय से हम सब को नहीं लिखते। स्थालीपुलाक-न्याय से इतना विचार ही यह जानने के लिए काफ़ी है कि कारिकाओं के बाद सूत्र बनाये गये हैं। यदि सूत्र पूर्व बने होते तो वाचस्पति मिश्र सांख्य-कारिकाओं की टीका में कोई सूत्र अवश्य उद्धृत करते। उनके समय में जो सांख्य-सूत्र होते तो वे कारिकाओं को छोड़ कर मूल ग्रन्थ पर ही टीका करते। क्योंकि उन्होंने सभी दर्शनों पर टीकायें की हैं। न्याय पर भाष्य था। भाष्य के ऊपर भारद्वाजोद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक बनाया। उस पर उन्होंने तात्पर्य-टीका नामक ग्रन्थ लिखा। मीमांसा पर कुमारिल का भाष्य और व्याख्या थी। अतः उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाया। अपनी स्त्री के नाम से वेदान्तभामती-टीका लिखी। इसी तरह जो सांख्य उनके समय में विद्यमान होता तो उस पर भी वे अवश्य टीका या इतर ग्रन्थ लिखते। विज्ञान भिक्षु ने अपने भाष्य में कारिकायें ही उद्धृत की हैं। ऐसी अवस्था में आदि-दार्शनिक कपिल ने ही प्रचलित सांख्यदर्शन निर्माण किया, यह समझना अनुचित है। इससे व्याघात दोष आता है। कपिल को आदि-दार्शनिक मानना स्पष्ट

बतला रहा है कि सांख्यदर्शन इतर पाँच दर्शनों के पूर्व का है। परन्तु दर्शन-प्रणेताओं की तो बात दूर रही, किसी टीकाकार ने भी उसके सूत्र, प्रमाण के तौर पर, नहीं उद्धृत किये; यत्र तत्र कारिकायें ही उद्धृत की हैं।

इन युक्तियों से सिद्ध होता है कि प्रचलित सांख्य-दर्शन किसी और का बनाया हुआ है। हाँ यह बतलाना कि उसका कर्ता कौन है, ज़रा कठिन है। ग्रन्थारम्भ में वाचस्पति ने लिखा है—

कपिलाय महामुनये शिष्याय तस्य चासुरये।
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैतान्नमस्यामः॥

सांख्यकारिकाओं के अन्त में भी है—

एतत्पवित्रमग्र्यमुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतन्तन्त्रम् ॥७०॥
शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥

अर्थात् कपिल ने इस शास्त्र का उपदेश आसुरि को दिया; आसुरि ने पञ्चशिखाचार्य को पढ़ाया। उसने फिर शास्त्र का विस्तार किया। इसको देखने से मालूम पड़ता है कि शायद पञ्चशिखाचार्य ने ही क्रमोपक्रम से किसी को पढ़ाया और उसीने (अर्थात् ईश्वरकृष्ण ने) कारिकायें बनाईं। तदनन्तर किसी और ने सांख्यकारिकाओं का आधार लेकर सांख्यदर्शन निर्माण किया। निरुक्त में लिखा है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्माण उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः उपदेशाय-ग्लायन्तोऽवरे विल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च॥

अर्थात् पहले स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान करनेवाले ऋषि हुए। वे पीछे पैदा हुए (धर्म-ज्ञान का साक्षात्कार न किये हुए) ऋषियों को मन्त्रोपदेश करते थे। उनके अनन्तर पैदा हुए ऋषियों के ज्ञानलाभार्थ इस निघण्टु को उन्होंने कहा। यह वचन भी यही बतलाता है कि मूल रूप से, बिना ग्रन्थ-निर्माण के ही, कपिल ने शास्त्रोपदेश किया। दर्शन का अर्थ है—मत। अतएव उन्होंने सांख्य-मत का (जिसमें प्रकृति का विवेचन है) आविर्भाव किया; शिष्योपाध्याय-क्रम से उसे चाहे जिसने बनाया हो। अथवा उन्होंने कोई ग्रन्थ भी बनाया हो। पर निरुक्त और निघण्टु आदि कवियों या विद्वानों को केवल उपदेष्टा बताते हैं। अतएव यदि यह बात मान ली जाय तो कपिल जी का ग्रन्थ-निर्म्माण करना नहीं माना जा सकता।

उदयशङ्कर भट्ट, शास्त्री

कृषकों की दरिद्रता।

भारत कृषिप्रधान देश है। यहाँ की जनसंख्या में ७० फ़ी सैकड़े कृषक हैं। अर्थात् लगभग २१ करोड़ मनुष्यों की आबादी में २२ करोड़ मनुष्य केवल कृषि से जीते हैं। बारिस्टर श्रीयुक्त चित्तरञ्जनदास का कहना सच है कि कृषक ही राष्ट्र के सच्चे व्यक्ति हैं, वे लोग नहीं, जो अदालतों में बहस करते और उन बहसों को सुन कर फ़ैसला लिखते हैं। पर कितने दुःख की बात है कि आज इन कृषकों की अवस्था सन्तोषजनक नहीं। अशिक्षा और दरिद्रता के कारण इनकी न तो कोई ऐसी संस्था है, न कोई ऐसा प्रतिनिधि है, और न कोई ऐसा प्रभावशाली पत्र ही है, जो इनकी आशा—आकांक्षाओं को प्रकट करे, इन के दुखदर्द और कठिनाइयों को दूर करने का यत्न करे, अथवा इनकी आवाज़ को अधिकारिवर्ग के कानों तक पहुँचावे। अवश्य ही महात्मा गाँधी का ध्यान इन की दुर्गति की ओर गया है और उन की चेष्टायें किसी अंश में फलीभूत भी हुई हैं; पर इस महान् कार्य के लिए एक गाँधी नहीं, अनेक गाँधियों की आवश्यकता है।

भारतीय कृषकों की दरिद्रता किसी से छिपी नहीं। यों तो उनके दुःखों से समवेदना प्रकट करनेवाले ऊँचे चबूतरे पर चढ़ कर उनके लिए चार बूँद आँसू गिरानेवाले, अथवा संवादपत्रों के कालमों को स्याह करनेवाले अनेक

सुलेखक और वक्ता हैं; पर ऐसे सज्जन बहुत थोड़े हैं जो गाँवों में जाकर उनकी दरिद्रता का हृदयविदारक दृश्य स्वयं देखते हों। किसानों की जर्जर झोपड़ियाँ, उनके फटे पुराने वस्त्र, और उनके रक्तहीन शरीर इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उनकी अवस्था अत्यन्त चिन्तनीय है। एक वार महामति गोखले ने कहा था कि "सर चार्ल्स इलिअट के कथनानुसार भारत के ७ करोड़ आदमी तो यह भी नहीं जानते कि साल भर में एक दिन भी भर पेट भोजन करना कैसा होता है"। यही बात फ़ैज़ाबाद के कमिश्नर मिस्टर हेरिंगटन ने कृषि-विभाग के डाइरेक्टर को लिखी थी कि "हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि भारतवर्ष के अधिकांश निवासी वर्ष के अधिक दिन नित्य ही भरपेट भोजन के बिना कष्ट पाते हैं"। रायबरेली के डिप्टी कमिश्नर मिस्टर इरविन ने भी लिखा था "इस प्रदेश के किसानों में से प्रायः सैकड़े पीछे ७५ मनुष्यों के घर में बिस्तर तथा कम्बल नहीं। केवल एक दोहर के सहारे वे सारा शीतकाल व्यतीत करते हैं।"

अच्छा तो किसानों की दरिद्रता का कारण क्या? जो अपने गाढ़े पसीने से देश के लिए यथेष्ट अन्न उत्पन्न करते हैं वही पेट की ज्वाला से तड़पें, यह कैसी बात? यह कैसा आश्चर्य कि जो दाता वही भिखारी? वे क्यों नहीं एक वर्ष के लिए काफ़ी अन्न-सञ्चय कर रखते? उत्तर यही होगा कि यदि वे ऐसा करें तो उनकी जीवन-यात्रा चल ही न सके, उनकी पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही न हो सके। क्योंकि वर्तमान सभ्यतापूर्ण युग में अब अन्न की अपेक्षा धन के लिए अधिक चिल्लाहट है। अध्यापक राधाकमल मुकरजी के लेखानुसार एक समय था जब किसानों के गृह-कार्य से सम्बन्ध रखनेवाली सारी आवश्यकताओं की पूर्ति रुपये-पैसे के बिना ही होती थी। लुहार, कुम्हार, जुलाहे और तेली इत्यादि जब किसानों को आवश्यक वस्तुयें देते थे तब उनके बदले उन्हें अनाज ही मिलता था। फलतः किसानों के लिए रुपये-पैसे जमा करने की चीज़ थी; लेनदेन की नहीं। शोक है कि ये बातें इस समय स्वप्न सी हो रही हैं। इस सुन्दर परिपाटी के शिथिल हो जाने से किसान आज दरिद्रता की चक्की में पिस रहे हैं। अब उन्हें पग पग पर रुपये-पैसे की आवश्यकता है। वे अन्न बेच कर धन संग्रह करने के सदा इच्छुक रहते हैं, क्योंकि उन्हें सरकार या ज़मींदारों को लगान भी धन के रूप में ही अदा करना पड़ता है।

किसानों की दरिद्रता का एक कारण और भी है। वह यह कि समस्त सभ्य देशों की अपेक्षा इस देश में उन्हें लगान अधिक देना पड़ता है। इँगलेंड, फ्रांस और जर्म्मनी में लगान की दर फ़ी सैकड़े क्रमशः ८।), ४।।) और ३) है। पर भारतीय कृषकों से १५) और कहीं कहीं २०) सैकड़े तक लगान वसूल किया जाता है। इस पर तुर्रा यह कि भारतवर्ष में कृषि से उतनी पैदावार नहीं जितनी इँगलेंड आदि देशों में कही जाती है। माननीय मिस्टर गोखले ने कहा था कि "इँगलेंड में जब फ़ी एकड़ ३० बुशल अनाज पैदा होता है तब भारतवर्ष में केवल ८ या ९ बुशल ही होता है"। ऐसी दशा में उचित तो यह था कि इँगलेंड की अपेक्षा भारतवर्ष में लगान कम लिया जाता, पर बात यहाँ उलटी है। लार्ड कार्नवालिस ने एक बार कहा था—"एशिया या योरप में किसी भी राजा के शासन में कभी इस प्रकार ज़मीन का लगान नहीं वसूल किया गया जितना कि भारतवर्ष में वसूल किया जाता है"।

यह तो केवल लगान की बात हुई। इस के अतिरिक्त और भी कितने ही कर ऐसे हैं जो किसानों को देने पड़ते हैं, जैसे जल-कर, रोडसेस, चौकीदारी इत्यादि। इसके सिवा वे बहुधा ज़मींदारों के द्वारा भी पीसे जाते हैं। नित्य नई फ़रमाइशें उन्हें पूरी करनी पड़ती हैं। नये नये करों का चक्र उनके सिर पर घूमा ही करता है। ऐसी दशा में उनसे कैसे आशा की जाय कि वे आर्थिक उन्नति कर सकेंगे और धनधान्य-सम्पन्न रह सकेंगे।

किसानों की दरिद्रता का तीसरा कारण यह है कि नगरों में आनेजाने और नागरिकों के संसर्ग विशेष से उनमें नाज़ुक-दिमाग़ी, तुनुकमिज़ाजी और तोतेचश्मी जैसे दुर्गुणों का आविर्भाव होगया है। नगरों की चकाचौंध के आगे अपना गाँव उन्हें अन्धकारमय देख पड़ता है। नगरों की चटकीली भड़कीली वस्तुओं को देख कर अपने गाँव की वस्तुओं से उन्हें घृणा होने लगी है। नागरिकों के हास्यमय आमोद-प्रमोद से आनन्दित होकर वे अपने गाँववालों की बातों को नीरस और निस्सार समझने लगे हैं। परिणाम प्रायः यह होता है कि उनकी मानसिक और शारीरिक अव-

स्थायों का अधःपतन होता है। पूर्वजों के सदृश सादा खाना खाने और सादा पहनने की उत्तम नीति त्याग करके वे ऐशो-आराम के गुलाम बनते जाते हैं। उन्हें अब मोटे—गाँव के ही बने हुए—कपड़े पसन्द नहीं। उन्हें मालूम नहीं कि अपने मोटे वस्त्रों का तिरस्कार करके वे भारत की दरिद्रता बढ़ा रहे हैं, साथ ही अपनी आमदनी को भी भारी धक्का पहुँचा रहे हैं। यह सब होने पर भी यदि उनका पारिवारिक जीवन सुखद और आनन्दमय होता तो कुछ बात भी थी। पर, नहीं, आज कल बन्धु-विग्रह का जैसा शोर नगरों में मचा हुआ है वैसा ही गाँवों में भी। हृदय जब स्वार्थपरता से कलुषित होजाता है तब बात बात में कुटुम्बियों से कलह और विरोध होने लगता है। इन विरोधों को दूर करने के लिए गाँवों में चिरकाल से पञ्चायतों की प्रथा प्रचलित थी। पञ्च परमेश्वर जो फ़ैसला कर देते थे उसे सिर झुका कर सभी मानने पर बाध्य थे। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में गाँवों की इन संघशक्तियों का अच्छा वर्णन है। लिखा है कि इन संघों के द्वारा केवल न्याय ही नहीं, शासन और सार्वजनिक हित के कार्य्य भी किये जाते थे। दुःख की बात है कि इन पञ्चायतों का अब कहीं नामोनिशान भी नहीं। अब एक हथेली पर धन और दूसरी हथेली पर मानमर्य्यादा रख भाई भाई की गरदन पर छुरी चलाने के लिए अदालतों की शरण जाता है। वहाँ मुवक्किलों को जैसी दिक़्क़तें और जैसी ज़िल्लतें उठानी पड़ती हैं उसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। अन्त में इसका जो परिणाम होता है उसके प्रमाण श्रीमानों के प्रासादों के भग्नावशेष तथा बारिस्टरों और वकीलों के गगनस्पर्शी भवन हैं। इस मुक़दमे-बाज़ी के लिए किसानों को धन की इतनी आवश्यकता रहती है कि वे बुरी तरह सूदखोर महाजनों के पञ्जों में फँस जाते हैं। ये महाजन इन बेचारों का खून चूसा करते हैं। इनके सूद का जाल इतना पेचीदा होता है कि उससे छुटकारा पाना किसानों के लिए असम्भव सा होजाता है। अनुसन्धान से पता लगा है कि कहीं कहीं महाजन लोग २०) ३०) और ४०) सैकड़े तक सूद किसानों से वसूल करते हैं। इस अनुचित सूदख़ोरी का परिणाम भविष्यत् में उन अत्याचारी महाजनों के लिए चाहे जैसा अनिष्टकारी हो, कृषकों के लिए तो वह ऐसा भयङ्कर होता है कि उनकी सारी सम्पत्ति, यहाँ तक कि माल मत्ता और घरद्वार भी, नीलाम होजाता है। महाजनों के इस कुत्सित व्यवहार को रोकने का सब से सरल उपाय यह है कि गाँव गाँव में सहयोगी बंकें अधिकता से स्थापित की जायँ। इस समय भारतवर्ष में ऐसे बंकों की संख्या केवल ८१७७ है, जो बहुसंख्यक कृषकों के लिए नदी में एक बूँद के समान है। इन बंकों की शर्तें ऐसी उदार और सर्वप्रिय होनी चाहिए कि ऋण लेने में कृषकों को विशेष सुभीता हो। साथ ही पञ्चायत-संघों के सङ्गठन की भी बड़ी आवश्यकता है, जिससे कृषक अपना प्रबन्ध स्वयं कर सकें और अपने झगड़े स्वयं निपटा सकें।

कृषकों की दरिद्रता कम करने का एक उपाय यह भी है कि पाश्चात्य देशों की तरह वैज्ञानिक रीति से कृषि करके भूमि की उत्पादक शक्ति बढ़ाई जाय। अर्थाभाव के कारण इस कार्य्य के लिए न तो कोई साधन उपलब्ध है और न कृषकों को विज्ञान की उपयोगिता का ही ज्ञान है। यद्यपि कृषि-सम्बन्धिनी शिक्षा देने के लिए पूना, बम्बई, मद्रास, पूसा, कानपुर आदि नगरों में कालेज हैं, पर भारत की विशाल जनता के लिए इनका होना नहीं के बराबर है। यहाँ की कृषि प्रायः गोवंश पर ही अवलम्बित है। पर गोवंश की कमी के कारण अब खेती के लिए अच्छे और यथेष्ट बैलों का मिलना कठिन हो रहा है। साधारण बैल अब ७०) ८०) में मिलते हैं, जिन्हें निर्द्धन किसान नहीं ले सकते। इस दुरवस्था का सुधार गोजाति की रक्षा से ही हो सकता है। उनकी रक्षा और उनके चारे के लिए अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए।

दरिद्रता और स्वास्थ्य से घनिष्ट सम्बन्ध है, अथवा यों कहिए कि दरिद्रता का प्रभाव स्वास्थ्य पर बहुत पड़ता है। बिना अन्न के शरीर निर्ब्बल होजाने पर वह रोगों का निवास-स्थान बन जाता है। बलिष्ठ शरीर पर रोगों का सहसा आक्रमण नहीं होता। खेद है कि हमारे कृषकों का स्वास्थ्य सन्तोषजनक नहीं। नगरों की अपेक्षा गाँवों का जलवायु अधिक स्वास्थ्यवर्द्धक होता है। यह मत किसी अंश में ठीक होने पर भी किसानों के विषय में चरितार्थ नहीं। उनकी बढ़ती हुई दरिद्रता के आगे जलवायु बेचारे क्या कर सकते हैं। इसके सिवा कृषकों को कहीं कहीं शुद्ध जल भी पीने को नहीं मिलता, ख़ास

कर बङ्गाल में। वहाँ एक ही छोटे से तालाब से सब तरह के काम निकाले जाते हैं—उसी के किनारे बर्तन मले जाते हैं, उसी के जल से मल-मूत्र की शुद्धि की जाती है, उसी में स्नान किया जाता है और उसी का जल पान किया जाता है। फल यह होता है कि बेचारे कृषक सहज ही में प्लेग, हैज़ा, मौसमी बुख़ार आदि के शिकार हो जाते हैं। श्रीयुक्त चित्तरञ्जनदास कहते हैं कि इन पाँच वर्षों में बङ्गाल-प्रान्त के पचास लाख मनुष्य केवल मौसमी बुख़ार से मृत और मृतप्राय हुए हैं। ऐसी दशा में गवर्नमेंट को चाहिए कि वह अपनी निरीह प्रजा को काल के विकराल जाल से बचाने के लिए बड़े बड़े गाँवों में ख़ैराती अस्पतालों के खोलने का प्रबन्ध करे और साथ ही उनके जल-कष्ट को दूर करने का भी यत्न करे।

जल के अभाव से कृषि को भी बड़ी हानि पहुँचती है। अनावृष्टि के कारण जब सूखा पड़ जाता है तब जल के लिए कैसा हाहाकार मच जाता है। बेचारे किसान चातक की तरह जल के लिए तरसते हैं। अतएव कृषि की उन्नति का प्रधान उपाय जल का यथेष्ट प्रबन्ध करना है। भारतीय गवर्नमेंट ने कहीं कहीं नहरें खुदवाई हैं, पर वे काफ़ी नहीं। भारतवर्ष से गवर्नमेंट की आय लगभग १$\frac{1}{2}$ अरब रुपया है। इस दशा में इस अत्यन्त प्रयोजनीय कार्य के लिए केवल १ करोड़ वार्षिक ख़र्च करना पर्य्याप्त नहीं। अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कारण जब फसलें मारी जाती हैं तब कृषकों का घोर आर्तनाद सुनाई पड़ता है। बस उसी समय यदि उन्हें नहरों की खुदाई के काम पर लगाया जाय तो एक पन्थ दो काजवाली कहावत चरितार्थ हो। अर्थात् उन अकाल-पीड़ित कृषकों का पेट भी भरे और गवर्नमेंट की स्थायी कीर्ति की योजना भी हो जाय।

उपसंहार में हम अपनी उदार गवर्नमेंट से कृषकों पर दया करने की प्रार्थना करते हैं और साथ ही कृषकों से भी अनुरोध करते हैं कि वे भी इस गाढ़े समय में सरकार की तनमन से सेवा करें। ऐसा करने से ही गवर्नमेंट और कृषकों का पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़ होगा, कृषकों की दरिद्रता दूर होगी और भारतवर्ष फले फूलेगा।

शालग्राम गुप्त

———

खेल।

ध्यान न था कि राह में क्या है, काँटा-कङ्कड़, ढोंका, ढेला
तू भागा मैं चला पकड़ने तू मुझ से मैं तुझसे खेला

सुरभित शीतल वायु बही थी,
चारु चन्द्रिका छिटक रही थी
रजत मयी-सी मुदित मही थी
रत्नाकर लेता था हेला
तू मुझसे मैं तुझसे खेला

अब पकड़ा अब पकड़ा पल में
मैं पीछे दौड़ा जल थल में
आ आकर के भी छल बल में
हाथ न आया तू अलबेला
तू मुझ से मैं तुझसे खेला

यदि तू कभी हाथ भी आया
तो छूने पर निकली छाया
हे भगवान्! यह कैसी माया?
इतना कष्ट व्यर्थ ही झेला
तू मुझ से मैं तुझसे खेला

थका, अन्त में बैठ गया मैं
लगा चाहने दैव-दया मैं
पाता था सब दृश्य नया मैं
लगा हुआ था मन का मेला
तू मुझ से मैं तुझसे खेला

क्रय-विक्रय का क्रम चलता था
मुझ को अपना श्रम खलता था
तिस पर तेरा भ्रम छलता था
चकित हुआ मैं रहा अकेला
तू मुझ से मैं तुझ से खेला

बिना मोल मन मैंने जिसको
दिया, कहाँ वह? दूँ अब किसको?
बेचूँ क्यों न मोल कर इसको
मचल रहा यह, मिटे झमेला
तू मुझ से मैं तुझसे खेला

गाहक एक इसी क्षण आया
मुझे देख कर वह मुसकाया
उसने मन का मोल लगाया—

आधी दमड़ी, पूरा धेला !
तू मुझ से मैं तुझसे खेला
इतने में पीछे कोई जन
बोला—"यह तो है अमूल्य धन"
और ले भगा मुट्ठी में मन
तू था, थी अरुणोदय-बेला
तू मुझ से मैं तुझसे खेला

मैथिलीशरण गुप्त

पारसी-धर्म ।

पारसी-जाति, जिसका अधिकांश पश्चिमी भारत में रहता है, ईरान की रहनेवाली है। यह उसी आर्य्य-जाति की एक शाखा है जो अत्यन्त प्राचीन काल में मध्य एशिया में रहती थी; और, फिर, वहाँ से आकर भारतवर्ष में बसी और अब हिन्दू-जाति के नाम से विख्यात है। पारसियों ने ईरान में एक गौरवशाली राज्य स्थापित किया था। इनकी सभ्यता भी खूब बढ़ी चढ़ी थी। जो जाति किसी समय धन-बल और ऐश्वर्य्य के उच्च शिखर पर पहुँच कर, पश्चिमी एशिया का अखण्ड आधिपत्य करती थी, वह अब तितर बितर हुई संसार में फैली है। यद्यपि इस समय इस जाति के हाथ में किसी देश या देशविभाग का शासन नहीं है, तदपि इसके मनुष्य ऐसे व्यवसायी, बुद्धिमान् और शिक्षित हैं कि थोड़े होने पर भी भारत के प्रतिष्ठित, श्रीसम्पन्न और सुशिक्षित मनुष्यों में गिने जाते हैं। इस जाति की जैसी सभ्यता बढ़ी चढ़ी थी वैसाही इसका धर्म भी गम्भीर-सिद्धान्त-सम्पन्न था और अब भी है।

पारसी-धर्म के आदि-आचार्य्य महात्मा ज़रदस्त हैं, जिनका समय वर्तमान इतिहास की परिधि से परे है। इस महात्मा के विषय में कहा जाता है कि यह ईश्वर के यहाँ से नासक नामक पारसी-धर्म के २१ ग्रन्थ लाये थे। उन्हीं के आधार पर इन्होंने अपने धर्म का उपदेश किया था, जो पारसी-धर्म की "ज़न्दावस्ता" नामक पुस्तक में निर्दिष्ट है। ऐसी रवायत भी चली आती है कि किसी समय महर्षि व्यास और महात्मा ज़रदस्त में धर्मविषयक शास्त्रार्थ हुआ था। कुछ भी हो, यह बात अभ्रान्त प्रमाणों से सिद्ध है कि पारसी-धर्म बहुत प्राचीन है और उसके आदि-आचार्य्य का समय ऐतिहासिक आलोचना की सीमा के बाहर है। इस धर्म के मोटे मोटे सिद्धान्त ये हैं—

ईश्वर ।

पारसी-धर्म में ईश्वर का नाम अहुरा-मज़दा है। अहुरा नाम इस कारण से पड़ा कि ईश्वर अनन्त और सद्-रूप है। उसकी सत्ता भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी कालों में है। वह केवल स्वयम्भू नहीं; संसार में जितनी वस्तुयें हैं उन सब की सत्ता का कारण भी वही है। यद्यपि वह अदृष्ट है तथापि वह सृष्टि के रूप में जाना जा सकता है। सूर्य्य, चन्द्र, तारे—सभी उसकी सत्ता के प्रमाण हैं। आकाशमण्डल में नक्षत्रादि का नियमित रीति से भ्रमण करना, इस बात को बताता है कि कोई अद्भुत चैतन्य शक्ति अवश्य है। वायु, जल-तरङ्गों के दृश्य, वनस्पति की उत्पत्ति और वृद्धि, मनुष्यों और पशुओं की प्राकृतिक बनावट, ईश्वर की विशाल बुद्धिमत्ता और शक्ति का परिचय देती है। दृश्यमान् प्राकृतिक रचना से उसके रचयिता का पता लगता है—उसकी अद्भुत सृष्टि से उसकी सत्ता सिद्ध है।

ईश्वर का नाम मज़दा इस कारण है कि वह सर्वज्ञ है। वह अपने अनन्त ज्ञान के द्वारा समस्त विश्व का शासन करता है। अनन्त ज्ञान द्वारा ही

उसने संसार की रचना की है और उसका व्यापार चलाता है। ऐसे ईश्वर में दृढ़ विश्वास करना और देवों के प्रभाव से बचना प्रत्येक पारसी का मुख्य धर्म है।

पारसी-धर्म में 'देव' शब्द का अर्थ कुछ और ही है। संस्कृत-पुस्तकों में उसका साधारण अर्थ देवता है; परन्तु पारसी-धर्म में देव का अर्थ असुर अथवा दुष्टात्मा है। देव चार प्रकार के हैं:—

(१) अहुरा-मज़दा, अर्थात् ईश्वर के अतिरिक्त अन्य देवता, जिन्हें मनुष्य ईश्वर की जगह पूजते हैं।

(२) अत्यन्त नीच कोटि के दुष्ट और अत्याचारी मनुष्य—उदाहरणतः ईरान का 'जोहक' नामक बादशाह जो बड़ा अत्याचारी था।

(३) ऐसी चीज़ें जिनसे भयङ्कर रोग, महामारी आदि उत्पन्न हों। पारसियों की धर्म-पुस्तकों में ऐसे भयङ्कर रोगों की नामावली दी हुई है; जिन्हें देव के नाम से पुकारते हैं।

(४) व्यभिचारादि दुष्कर्मों का नाम भी देव है।

इन सब प्रकार के देवों के चक्कर से बच कर केवल पूर्वोक्त अहुरा-मज़दा की उपासना करना प्रत्येक पारसी का धर्म है। अर्थात् पारसी लोग ईश्वर के सिवा और किसी देवी, देवता को नहीं मानते।

सृष्टि।

पारसी-धर्म की पुस्तकों के अनुसार अहुरा-मज़दा, अर्थात् ईश्वर, सभी कारणों का आदि-कारण है। वह विश्व का स्रष्टा और संहारकर्ता दोनों है। सब वस्तुओं का बढ़ाना, घटाना उसी के हाथ है। भिन्न भिन्न कोटि के जीवों को उत्पन्न करना और उनका संहार करना उसी का कार्य है। उत्पत्ति और संहार, प्रकृति के ये दो आदि-कारण हैं। यद्यपि वे एक दूसरे के विरुद्ध हैं तथापि वे दोनों मिले हुए हैं, और उन्हीं से जड़-चेतन संसार की रचना हुई है। पारसियों की धर्मपुस्तक "अवस्ता" में इन दोनों कारणों का नाम "मैनुष" है, जिसकी उत्पत्ति संस्कृत-शब्द "मन" से है। उसका अर्थ है वह शक्ति जिसका मन से विचार हो सके, पर इन्द्रिय-द्वारा अनुभव न हो सके। इन कारणों में से एक कारण उत्पत्ति करनेवाला और दूसरा संहार करनेवाला है। पहले का नाम है "स्पन्त मैनुष" और दूसरे का "अंग्रामैनुष"। ये दोनों कारण रात-दिन ईश्वर की अध्यक्षता में काम करते रहते हैं। यही दोनों कारण आदि-सृष्टि से आज तक उत्पत्ति और संहार का कार्य कर रहे हैं।

इस मत को द्वैत-वाद भी कह सकते हैं। पर यह वास्तव में ईश्वर-वाद है, जिसका समर्थन हक्सले, हर्बर्ट स्पेन्सर आदि विज्ञानवेत्ताओं तथा टेनीसन आदि कवियों के विचारों से भी हो सकता है। परमाणु और जीव तथा जड़ और चेतन, इन दोनों का आधार, ईश्वर ही है, जो विश्व का रचयिता है और जिसने प्राकृतिक नियमों के रूप में संसार पर ऐसी पक्की छाप लगादी है कि उसके सञ्चालन में और किसी का किञ्चिन्मात्र भी हस्तक्षेप नहीं है।

आचार-धर्म्म।

जिस प्रकार अहुरा-मज़दा की अध्यक्षता में दो आद्य कारण कार्य करते हुए संसार की रचना करते हैं उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति में दो ऐसी शक्तियाँ हैं जो उसे अच्छा-बुरा काम करने को प्रेरित करती रहती हैं। एक से उसे शुभ कर्म करने की उत्तेजना मिलती है और दूसरी से दुष्कर्म करने की। पहली का नाम "वोहुमना" अर्थात् "बेहे मन" है, जिसका अर्थ अच्छा मन होता है और दूसरी का नाम है "अकमना" अर्थात् बुरा मन है। इन दोनों शक्तियों का प्रभाव मनुष्य के विचारों, वचनों और कर्मों पर पड़ता है। जिस समय "वोहुमना" की अधिकता

होती है उस समय मनुष्य के विचार, वचन ग्रैार कार्य सभी अच्छे होते हैं; परन्तु जब "अकमना" का प्रभाव होता है तब ये तीनों ही बुरे हो जाते हैं।

पारसियों के आचार-धर्म का मूल मन्त्र शुद्धि है। शुद्धि मनुष्य के लिए जन्म-काल ही से आवश्यक है, यह एक पारसी-धर्मसूत्र का आशय है। स्वच्छ विचार, स्वच्छ वचन, स्वच्छ कार्य ग्रैार नियम-पालन ही इस धर्म के प्रधान सिद्धान्त हैं। मनुष्य के शुभ विचार, शुभ वचन ग्रैार शुभ कार्य ही उसके लिए कल्याणकारी हैं। उन्हीं से उसकी मुक्ति हो सकती है। अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं।

शुद्धि-नियम ।

पारसियों के धार्मिक रीति-रवाजों में शुद्धि-नियम का निरन्तर प्रयोग होता है। पारसियों की उपासना में बलिदान आदि की प्रथा नहीं है। उपासना के अवसरों पर केवल पुष्पों ग्रैार फलों का प्रयोग होता है। ये पदार्थ सृष्टि के पशु ग्रैार वनस्पति आदि के सूचक चिह्न हैं। ईश्वर की निर्मलता आदि की सूचक चिह्न अग्नि है।

१—इनके हवन-यज्ञादि में मांस का उपयोग नहीं होता; केवल दूध ही काम में लाया जाता है।

२—उपासना के प्रतीक भी शुद्ध हैं।

३—शवों की अन्त्येष्टि-क्रिया में भी शुद्धि का विचार रक्खा गया है।

पारसी अग्नि को ईश्वर की ज्योति ग्रैार दिव्यता का सर्वोत्तम प्रतीक समझते हैं। उनके मत में अग्नि की ज्वाला, शक्ति, शुद्धि ग्रैार अक्षरता ईश्वर के रूप ग्रैार सर्वसम्पन्नता को बताती है। जो अग्नि पारसियों के मन्दिरों में रहती है वह कई प्रकार से शुद्ध कर के प्रतिष्ठित की जाती है। वह चूल्हे की मामूली आग नहीं। जब किसी मन्दिर में अग्नि की प्रतिष्ठा होती है तब वह बहुत स्थानों से लाई जाती है। विजली से भी अग्नि लेने के लिए चेष्टायें की जाती हैं। अग्नि शुद्ध करने की विधि यह है। भिन्न भिन्न स्थानों से लाई हुई अग्नियों में से एक पर एक तरह की चलनी, जिसमें पकड़ने के लिए एक हत्था होता है, लगाई जाती है। चलनी पर सुगन्धित चन्दन की लकड़ी का बुरादा ग्रैार छोटी छोटी चैलियाँ रक्खी जाती हैं। नीचे जलती हुई आग से इन चैलियों में आग लगाई जाती है। सावधानी रक्खी जाती है कि चलनी नीचे की आग से छू न जाय। इस तरह पहली अग्नि से एक ग्रैार नई अग्नि उत्पन्न की जाती है। इसी तरह इस नई अग्नि से एक ग्रैार नई अग्नि। यह क्रिया जब तक नौ शुद्धियाँ नहीं हो जातीं बराबर जारी रक्खी जाती है। जो अग्नि नवीं शुद्धि के बाद उत्पन्न होती है वह शुद्ध गिनी जाती है। इसी तरह ग्रैार ग्रैार स्थानों से लाई हुई अग्नि की भी पृथक् पृथक् शुद्धि की जाती है। जब सब अग्नियों की शुद्धि हो जाती है तब उन सबको मिला देते हैं ग्रैार एक बर्तन में रख कर मन्दिर की एक अलग कोठरी में उसे उचित स्थान पर रख देते हैं। इस पवित्र अग्नि से पारसियों को सदुपदेश मिलते हैं। जैसे यह अग्नि शुद्धियों के पश्चात्, अपने सार रूप को प्राप्त कर, उस उच्च स्थान में स्थापित करने योग्य हो जाती है, वैसे ही मनुष्य, जो मन ग्रैार शरीर से सैकड़ों पाप करता रहता है, मन-वचन-कर्मरूपी चलनी में छन कर, जब शुद्धता को पहुँच जाता है तब परलोक में उच्च स्थान पाने योग्य हो जाता है। जिस तरह सब दरजे के मनुष्यों के घरों से लाई हुई अग्नियाँ शुद्धियों के बाद एक हो जाती हैं उसी तरह सब मनुष्य, मन-वचन-काय की शुद्धि प्राप्त कर के ईश्वर की दृष्टि में एक हो जाते हैं। मन्दिर में जब पारसी पवित्र अग्नि के सामने जाता है तब पुजारी उसे जली हुई अग्नि की कुछ भस्म देता है। उसे वह अपने माथे पर लगाता है। इसका यह

आशय है कि जैसे प्रज्वलित अग्नि चन्दन की सुगन्धि को चारों तरफ़ फैलाती हुई अन्त में भस्म हो जाती है, वैसे ही मनुष्य भी भस्म होकर इस लोक से चला जाता है। इसलिए जैसे अग्नि भस्म होने के पहले सुगन्धि और तेज फैलाती है वैसे ही मनुष्य को चाहिए कि देहावसान के पहले अपने शुभ कर्मों की सुगन्धि फैलावे और दूसरों के लिए ज्ञान और सत्य का प्रकाश करे। सारांश यह कि मन्दिर की अग्नि से पारसी को निरन्तर उपदेश होता रहता है कि वह धर्म, शुद्धि, विनय और भ्रातृभाव आदि नियमों का पालन करे। यद्यपि पारसी अग्नि के बड़े उपासक हैं तथापि यह बात आवश्यक नहीं कि वे अपनी उपासना और ईश्वर-प्रार्थना केवल मन्दिर ही में करें। वे इन्हें सब जगह कर सकते हैं। इस कार्य के लिए उन्हें पुरोहित या पुजारी की भी ज़रूरत नहीं है।

अन्त्येष्टि-क्रिया।

पारसी अपने मुर्दों को न जलाते हैं और न गाड़ते हैं; बल्कि एक खुले हुए श्मशान में रख देते हैं, जहाँ मांसाहारी पक्षी उनका मांस खा जाते हैं। उनका विचार है कि जलाने से तो अग्नि अशुद्ध हो जाती है और गाड़ने से पृथिवी, जिससे रोगादि की उत्पत्ति होती है। उनका कथन है कि जब पशु, पक्षी आदि मर जाते हैं तब वे वहीं पड़े रहते हैं और दूसरे पशु-पक्षी उनका मांस खाकर प्राकृतिक शुद्धि कर देते हैं। वैसे ही मनुष्य के शव की अन्त्य क्रिया भी प्राकृतिक नियमानुसार ही होनी चाहिए।

अन्य बातें।

पारसी-धर्म में निराहार-व्रत रखने, जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करने अथवा संन्यास ले लेने का नियम नहीं है। उसका उद्देश है कि ईश्वर ने सब वस्तुयें नियमित रीति से उपभोग करने के लिए ही बनाई हैं। परन्तु मनुष्य को भोगों में पड़ कर अपने कर्तव्य की विस्मृति न कर देनी चाहिए।

पारसियों के धर्म के मूलाधार नियम, जो सब पारसियों के लिए उनकी धर्म-पुस्तकों में निर्दिष्ट हैं, ये हैं—

(१) देवों के प्रभाव अथवा उनके कार्यों से बचने का सङ्कल्प करना और अहुरा-मज़दा में, जो सब वस्तुओं का स्रष्टा है, दृढ़ विश्वास रखना।

इस नियम के साधन में पारसियों को यह मन्त्र पढ़ना पड़ता है—

मैं यहाँ से देवों को दूर करता हूँ; मैं ज़रदस्त के मत का मज़दा-पूजक होने का प्रण करता हूँ; मैं देवों से दूर, ईश्वर के वचनों में दृढ़विश्वासी और उदार अमर आत्माओं की प्रशंसा करनेवाला हूँ। मैं सब अच्छी वस्तुओं के होने का कारण अहुरा-मज़दा को ही मानता हूँ, जो सर्वोत्तम और श्रेष्ठ वैभवों से सम्पन्न है। मैं उसी पवित्र ज्योति-स्वरूप ईश्वर को मानता हूँ जिसकी उत्पन्न की हुई सारी अच्छी वस्तुयें हैं; जिसकी बनाई हुई गायें हैं, जिसके बनाये हुए तारागण हैं, और जिसके प्रकाश-वस्त्र से समस्त तेजस्वी जीव और वस्तुयें ढकी हुई हैं।

(२) अपने सह-धर्मियों का सङ्ग देना और आपत्ति से उनकी रक्षा करने और उन्हें सहायता देने के लिए जो कुछ आवश्यक हो सब करना।

(३) दुष्कर्मों तथा देवों के प्रेरित कार्यों से घृणा करना और महात्मा ज़रदस्त के उपदेशों के अनुसार चलने का सङ्कल्प करना।

(४) जीवन में सन्मार्ग पर चलने का नियम रखना। ईश्वर की विविध सृष्टि के उपयोगी जीवों के समान दूसरों के लिए लाभदायक होने का सङ्कल्प करना। महात्मा ज़रदस्त के और उनके आदि-शिष्यों के कार्यों का अनुसरण करना और केवल ईश्वर को ही इष्टदेव मानना।

(५) अच्छे विचार, अच्छे वचन और अच्छे कार्य—इन तीनों के पालन का नियम करना ।

(६) अपने लिए पूर्वोक्त उद्देशों के अनुसार, मज़दा-उपासक ज़रदस्त का अनुयायी कहना ।

इस अन्तिम नियम का आशय यह है कि वह इस धर्म का अनुयायी बने रहने का सङ्कल्प करे। जब पारसी लोग अपने पवित्र सूत्र को, जिसे कुस्ती कहते हैं, खोलते और बाँधते हैं तब इस नियम के निम्न-लिखित मन्त्र को कई दफ़े पढ़ते हैं—मैं मज़दा का उपासक हूँ—मैं केवल ज़रदस्त का अनुयायी मज़दा-उपासक हूँ। मैं ज़रदस्त के मत में विश्वास करने और उसकी प्रशंसा करने को तैयार हूँ। मैं अच्छे विचार, अच्छे वचन, अच्छे कार्यों की प्रशंसा करता हूँ । मैं श्रेष्ठ मज़दा-उपासक-मत की प्रशंसा करता हूँ। यह मत झगड़ों को दूर करता है, लड़ाई के अस्त्र-शस्त्रों को नीचे डाल देता है, आत्मानुभव की प्रेरणा करता है और सत्य का विकास करता है। जो मत इस समय विद्यमान हैं या जो आगे होंगे उन सब में अहुरा-मज़दा ज़रदस्त का धर्म सब से बड़ा, अच्छा और श्रेष्ठ है। मैं विश्वास करता हूँ कि जितनी अच्छी वस्तुयें हैं सब अहुरा-मज़दा से उत्पन्न होती हैं ।

यही मज़दा-उपासक मत की प्रशंसा है ।

कन्नोमल एम० ए०

शिक्षा का स्वरूप और उसकी आवश्यकता ।

आज कल इस देश में सब जगह सुधार की पुकार मची हुई है । समाज-सुधार, राज्य-सुधार, धर्म-सुधार इत्यादि कई एक सुधारों की घोषणा जहाँ तहाँ हुआ करती है । शिक्षा-सुधार भी इन्हीं सुधारों में से है । शिक्षा-सुधार की ओर अब लोग विशेष दत्तचित्त होने लगे हैं और इसकी आवाज़ अब क्या राजा और क्या प्रजा सब के कानों में बड़े ज़ोर से सुनाई देने लगी है । पर इसके लिए कोई निश्चित प्रयत्न नहीं हो रहा है । "शिक्षा क्या चीज़ है और उसका सच्चा सुधार कैसे हो सकता है" इस बात का ज्ञान सर्वसाधारण को नहीं । कुछ नवशिक्षितों तथा सुधारकों मात्र को ही है । शिक्षा-सुधार का केवल नाम लेना और बात है, और सच्चे हृदय से इस पर मनन और विचार कर के लोगों को इसका लाभ सुझाना और उनमें इसका प्रचार करना और बात । शिक्षा-सुधार का विषय जैसा लोग समझते हैं वैसा सरल नहीं । और शास्त्रों की तरह यह भी एक शास्त्र है, और यदि हम अपनी उन्नति करना चाहते हैं तो इस शास्त्र का अध्ययन करना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है । अस्तु, यहाँ पर पहले "शिक्षा क्या चीज़ है और वह क्यों हमारे लिए आवश्यक है"—इस बात के बतलाने का प्रयत्न किया जायगा ।

ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षा एक अलग शास्त्र बन गया है । यूरोप के देशों में इसके अनेक अङ्ग और उपाङ्ग भी हो गये हैं । शिक्षा किस तरह देनी चाहिए तथा उसका उद्देश क्या है, यह भी एक प्रकार से निश्चित सा हो गया है । यह शास्त्र अब इतना विस्तीर्ण हो गया है और इसके इतने अङ्ग और उपाङ्ग बन गये हैं कि उन सब पर पूर्णतया मनन करना और उन्हें कार्य में परिणत करना हर मनुष्य के लिए असम्भव है । इसलिए आज कल शिक्षा-शास्त्र के केवल एक ही अङ्ग को ख़ास तौर पर अध्ययन करनेवाले अथवा उसके विशेषज्ञ (Specialists) बहुत से दिखलाई पड़ते हैं । कभी कभी इस शास्त्र का वह अङ्ग जिस के वे विशेषज्ञ होते हैं, बहुत ही छोटा रहता है । अतएव शिक्षा-शास्त्र के अनेक प्रश्नों को हल करने के लिए हमारे पास कोई ऐसा परिमाण अथवा सिद्धान्त होना चाहिए जिसके द्वारा शिक्षा का असली स्वरूप हम जान सकें । इस तत्त्व अथवा सिद्धान्त के मिल जाने पर हम उचितानुचित का ठीक ठीक विचार कर सकेंगे ।

हम अपने पूर्व अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं या नहीं, बहुत कुछ शिक्षा की आवश्यकता तथा प्रयोजन इसी बात पर अवलम्बित है । यह एक प्राकृतिक नियम है कि चाहे जिस कारण से हो, हमारी पूर्व स्थितियों के कारण

हमारी वर्तमान तथा भविष्य स्थितियों में कुछ न कुछ अन्तर पड़ही जाता है। अतएव शिक्षा का मुख्य उद्देश ऐसे अनुभवों को प्राप्त करना है जिनके द्वारा हम अपनी वर्तमान तथा भविष्य स्थितियों में परिवर्तन कर सकें।

इस तत्त्व का सच्चा महत्त्व समझने के लिए यह जान लेना ज़रूरी है कि ऐसे बहुत थोड़े जीव या प्राणी हैं जो अपने पूर्व अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं। बहुत से ऐसे छोटे छोटे प्राणी हैं जिनके जीवन की स्थिति में पूर्व अनुभवों के कारण कभी कुछ परिवर्तन होता ही नहीं। वे उम्र भर एक ही समान रहते हैं। इस विषय में पतिङ्गे का उदाहरण बहुत ही उपयुक्त है। दीपक का प्रकाश उसके नेत्रों पर पड़ते ही वह उसकी ओर दौड़ता है। पास जाते ही जब उसके पङ्ख जलने लगते हैं तब वह उससे दूर भाग जाता है। इस तरह वह बार बार दीपक के पास जाता है और पङ्ख जलने पर उससे दूर भागता है। अन्त में वह दीपक की ज्योति में जलभुन कर ख़ाक हो जाता है। एक बार जो अनुभव उसे मिला उसका उपयोग वह नहीं कर सकता। इन प्राणियों में जन्म से ही एक प्रकार की अन्तःप्रवृत्ति होती है, जिसके वश होकर ये यन्त्र के समान आचरण किया करते हैं। ऐसे प्राणी अनुभव से अपना आचरण नहीं सुधार सकते। इस कारण वे शिक्षा ग्रहण करने के योग्य नहीं। किस श्रेणी के प्राणी में शिक्षा ग्रहण करने की कितनी योग्यता है, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि शिक्षाग्रहण करने की योग्यता भिन्न भिन्न अंश में दूध पीनेवाले प्राणियों में, पक्षियों में और कुछ मछलियों में पाई जाती है। ये जीव अनुभव से कुछ न कुछ, थोड़ा बहुत, लाभ उठा सकते हैं। कुछ लोग चींटी, मधु-मक्खी तथा बर्रे इत्यादि जीवों को भी इसी श्रेणी में शामिल करते हैं, कुछ लोग इन्हें दूसरी श्रेणी में रखते हैं। सारांश यह कि शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता रीढ़वाले प्राणियों में तथा बेरीढ़वाले ऊँचे दर्जे के कुछ प्राणियों में ही पाई जाती है। इस योग्यता की चरम सीमा मनुष्य-जाति में ही देखी जाती है। लङ्गूर, बन्दर इत्यादि प्राणी भी इस बात में मनुष्य से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। यह तो सब लोगों को विदित ही है कि कुछ अंशों में घोड़े, कुत्ते, हाथी इत्यादि प्राणी भी सिखलाये जा सकते हैं।

इससे मालूम हुआ कि थोड़ी बहुत शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता अन्य प्राणियों में भी पाई जाती है। पर एक बात ऐसी है जो मनुष्य को छोड़ कर अन्य प्राणियों के लिए नहीं कही जा सकती। वह यह कि मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए उसे शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है। यह बात अन्य प्राणियों के विषय में सच नहीं। वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य और अन्य प्राणियों में जो भेद है वह शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता पर नहीं, किन्तु शिक्षा की आवश्यकता पर अवलम्बित है। जैसे मनुष्यों में शिक्षा-ग्रहण करने की योग्यता है वैसेही, थोड़े बहुत अंश में, दूसरे प्राणियों में भी है। परन्तु शिक्षा की आवश्यकता जितनी मनुष्य को है उतनी दूसरे किसी प्राणी को नहीं।

पतिङ्गे का ही उदाहरण लीजिए। जिस समय वह पैदा होता है उसी समय से उड़ने लगता है तथा अपना खाद्य आपही ढूँढ़ने लगता है। उसे किसी के सिखलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके तमाम कार्य अन्तःप्रवृत्ति से होते हैं। प्रत्येक स्थिति के अनुरूप उसके कार्य जन्म से ही निश्चित हो जाते हैं। किस समय क्या करना चाहिए, यह उसे सिखाने की ज़रूरत नहीं। इससे दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि पतिङ्गे को अपने पूर्ण विकास के लिए दूसरे किसी पतिङ्गे की सहायता बिलकुल आवश्यक नहीं। दूसरे यह कि ठीक अपने पैदा करनेवाले पतिङ्गे के समान ही वह पतिङ्गा हो सकता है। मनुष्य के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। हमारी प्रौढ़ावस्था के बहुत ही थोड़े कार्य ऐसे हैं जिन्हें हम जन्म से ही करने लगते हैं। कुछ कार्य, जैसे भोजन करना और दूध पीने के लिए रोना इत्यादि हम जन्म से ही करने लगते हैं। ये कार्य बच्चों की अन्तःप्रवृत्तियों से होते हैं। परन्तु बच्चों में जो अन्तःप्रवृत्तियाँ हैं वे उनके लिए इतनी लाभकारिणी नहीं जितनी इतर प्राणियों की अन्तःप्रवृत्तियाँ होती हैं। बच्चों की अन्तःप्रवृत्तियों से उन्हें उतना लाभ नहीं पहुँचता जितना अन्य प्राणियों की अन्तःप्रवृत्तियों से उन्हें पहुँचता है।

कल्पना कीजिए कि यदि कोई ऐसी युक्ति निकाली जाय जिससे बच्चा अपने माँ-बाप अथवा और किसी मनुष्य की सहायता के बिना ही पूर्णावस्था को प्राप्त हो सके तो इसका फल क्या होगा? यह बात सहज ही जानी जा

सकती है; इसकी परीक्षा करके अनुभव करने की आवश्यकता नहीं। कहा जाता है कि इस बात का कुतूहल अकबर बादशाह को हुआ। उसने मनुष्यों से अलग, एक सुनसान घर में, बारह लड़कों को बारह वर्ष तक रक्खा। उनके खाने-पीने इत्यादि का सब प्रबन्ध कर दिया गया, पर उन से बोलता कोई कुछ न था और न उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। अवधि के पूर्ण होने पर वे सब गूँगे और निकम्मे निकले। यह बात तो विदित ही है कि भेड़ियों की मादों में अनेक बालक पाये गये हैं, जो मनुष्यों से नहीं, किन्तु भेड़ियों से ही अधिक मिलते जुलते थे। अन्य प्राणियों में यह बात नहीं। पतिङ्गे ही को लीजिए। वह जन्म से ही सब बातें दूसरे पतिङ्गों की तरह करने लगता है। परन्तु मनुष्य का बच्चा यदि बिना किसी दूसरे मनुष्य की सङ्गति के बड़ा हो भी जाय तो वह कदापि अपने माँ-बाप के समान न होगा। बहुत सी बातों में वह उनसे भिन्न देख पड़ेगा। जो बातें अन्य मनुष्यों के संसर्ग से मिलती हैं वे उसमें न आसकेंगी। ये बातें मनुष्य-संसर्ग, सभ्यता तथा शिक्षा के फल हैं। वे किसी प्रकार जन्म से नहीं प्राप्त हो सकतीं।

प्राणि-शास्त्र के प्रायः सभी बड़े बड़े विद्वान् इस बात को मानते हैं कि अपने अनुभव से माता-पिता ने जो बातें प्राप्त की हैं वे किसी प्रकार गर्भ के द्वारा शिशु को प्राप्त नहीं हो सकतीं। यह सिद्धान्त अभी सर्वसम्मत नहीं हुआ। परन्तु इस सिद्धान्त पर जो आक्षेप किये जाते हैं उनसे हमारे शिक्षाशास्त्र को कोई धक्का नहीं पहुँचता। इस सिद्धान्त का यह मतलब नहीं कि माता-पिता किसी प्रकार से भी अपने अनुभव का फल अपने बच्चों को नहीं दे सकते। इसका केवल यही मतलब है कि गर्भ के द्वारा वे अपना अनुभव अपने बच्चों तक नहीं पहुँचा सकते। हाँ, शिक्षा के द्वारा वही अनुभव वे अपने बच्चों को दे सकते हैं।

पतिङ्गे के सदृश जो प्राणी जन्म ही से पूर्णावस्था को प्राप्त हो जाते हैं—बिना किसी की सहायता अथवा शिक्षा के अपना सब काम करने लगते हैं—उनके लिए उन्नति के अन्य मार्ग बन्द हैं। परन्तु जो प्राणी जन्म के बाद थोड़े बहुत परावलम्बी रहते हैं और जो बिना दूसरे की सहायता अथवा शिक्षा के पूर्णावस्था को नहीं पहुँच सकते वे उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचाये जा सकते हैं और अपने माता-पिता तथा अन्य मनुष्यों के अनुभवों से पूर्ण लाभ उठा सकते हैं। इस कारण उनके विषय में यह सम्भावना भी की जा सकती है कि वे कदाचित् अपने माता-पिता की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नति कर लें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उच्च जाति के कई प्राणी अपने शिशुओं को, शैशव काल में, कुछ न कुछ शिक्षा देते हैं। परन्तु शैशव काल में अपने बच्चों को शिक्षा देना भी इन प्राणियों की अन्तःप्रवृत्ति ही का अधिकांश कार्य है। उस जाति के जितने प्राणी होंगे वे सब जन्म-स्वभाव से एकही प्रकार की शिक्षा देंगे। वे अपने माता-पिता के अनुभव से, अपनी जाति के प्राणियों के अनुभव से, अथवा निज के अनुभव से अपने शिक्षा-क्रम में कोई परिवर्त्तन नहीं कर सकते। और मनुष्य जिस प्रकार भाषा के द्वारा अपना अनुभव अपनी जाति को दे सकता है, उस प्रकार का कोई मार्ग भी मनुष्य से भिन्न अन्य प्राणियों के पास नहीं। इस कारण भी अनुभव-दान अथवा शिक्षा-दान की योग्यता उनमें बहुत ही कम पाई जाती है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्राणियों में मनुष्य सर्वोच्च इसलिए है कि वह अपने अनुभव से ही नहीं, किन्तु दूसरों के अनुभवों से भी लाभ उठा सकता है। मनुष्य में यदि इस प्रकार की योग्यता न होती तो रीढ़वाले जितने प्राणी हैं उनमें वह बहुत छोटे दरजे का प्राणी समझा जाता और संसार में महाकठिनाइयों का सामना उसे करना पड़ता। नीचे दरजे के प्राणियों से मनुष्य की तुलना यदि की जाय तो वह अत्यन्त अभागा प्राणी सिद्ध होगा। गरमी और सरदी से बचने के लिए प्रकृति ने दूसरे जीवों को आच्छादन दिया है और ऐसी अन्तःप्रवृत्तियाँ उनमें उत्पन्न कर दी हैं जिनसे वे प्रतिकूल परिस्थिति को छोड़ कर अनुकूल परिस्थिति में जा सकते हैं। खाने चबाने के लिए दाँत और अपने को दूसरों से बचाने के लिए पञ्जे इत्यादि प्रकृति ने ही उन्हें दिये हैं। मनुष्य इन प्राणियों की अपेक्षा इन सब बातों में बहुत ही न्यून है। परन्तु इन्हीं न्यूनताओं पर मनुष्य की उन्नति अवलम्बित है। इस जीवन-संग्राम में जो प्राणी कठिनाइयों का सामना सफलतापूर्वक करके जीवित रहते हैं, उन्हीं पर प्रकृति अपनी सबसे अधिक सदय दृष्टि रखती है। सब प्राणियों की ओर दृष्टि डालने से

देख पड़ेगा कि अनुकूल परिस्थिति होने पर नहीं, किन्तु कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना करने की योग्यता पर उन्नति अवलम्बित है।

प्रौढ़ावस्था होने पर जो कई बातें हम में पाई जाती हैं और जिनके कारण मनुष्य में और नीचे दरजे के प्राणियों में बड़ा अन्तर दिखलाई पड़ता है, वे बचपन में हममें नहीं दिखलाई पड़तीं। जन्म के समय और बचपन में मनुष्य उनसे हीन रहता है। न वह कोई उद्योग कर सकता है, न उसे कोई भाषा आती है और न वह भले बुरे का विचार ही कर सकता है। ये सब बातें उसे, समय बीतने पर, धीरे धीरे, प्राप्त होती जाती हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो जन्म के समय तथा बचपन में मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा कम दरजे का ही ठहरेगा। परन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता है त्यों त्यों उसके कार्यों का विकास होता जाता है और धीरे धीरे वह अन्य प्राणियों से योग्यतर होता जाता है। कुछ काल के बाद वह जितने प्राणी हैं उन में सर्वोच्च हो जाता है। उसके और अन्य प्राणियों के बीच इतना अन्तर पड़ जाता है जितना आकाश और पाताल के बीच है। यह सब शिक्षा का फल है।

अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, किसी भी अवस्था में वही प्राणी जीवित रहने योग्य हैं जो बुद्धिमान्, उद्योगी, जितेन्द्रिय तथा संयमी हैं, जो अपने उद्देश को सामने रख कर उसके अनुसार आचरण करते हैं, और जो भविष्य के विचार से अपनी तात्कालिक तृष्णा तथा वासना को दबा सकते हैं। परन्तु यह बात भी सर्वथा सत्य नहीं कि कठिनाइयाँ जितनी ही अधिक होंगी उतनी ही अधिक उन्नति भी होगी। यदि ऐसा होता तो शीतकटिबन्ध में, जहाँ जीवन के मार्ग में सब से अधिक कठिनाइयाँ हैं, सभ्यता तथा उन्नति की चरम सीमा पाई जाती। यहाँ पर यह ख़याल रखना ज़रूरी है कि सभ्यता तथा उन्नति परिस्थिति की अत्यन्त अनुकूलता अथवा अत्यन्त प्रतिकूलता पर नहीं, किन्तु इन दोनों के बीच की अवस्था पर अवलम्बित है, जो न अत्यन्त अनुकूल हो और न अत्यन्त प्रतिकूल। अत्यन्त अनुकूल तथा अत्यन्त प्रतिकूल, इन दोनों के बीच एक ऐसी सीमा है जिसके इस पार अथवा उस पार प्राणी का जीवन ही असम्भव है। तो फिर उन्नति कहाँ रही? वास्तव में "अनुकूल परिस्थिति" उसे कहना चाहिए जिसमें रह कर प्राणी जीवन-संग्राम में ठहर कर कृतकार्य हो सके, अर्थात् जिसमें न तो अत्यन्त कठोर परिश्रम उठाना पड़े और न जीवन-संग्राम अथवा कठिनाइयों का बिलकुल अभाव ही हो।

सारांश यह कि मनुष्य में अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा अधिक शिक्षा-ग्रहण करने की योग्यता तो हुई है, उसे शिक्षा की आवश्यकता भी सबसे अधिक है। शिक्षा न मिले तो उसका जीना असम्भव हो जाय। वह बचपन में दूसरों पर ही बहुत कुछ अवलम्बित रहता है। उस समय उसके शरीर का विकास भी पूरा पूरा नहीं हुआ रहता। उसके मस्तिष्क का बहुत सा भाग जन्म के बाद धीरे धीरे बनता और आठ वर्ष में पूरा बन जाता है। उसके मन को हम चाहे जिस ओर झुका सकते हैं।

ऊपर के विवेचन से पाठकों को शिक्षा के असली स्वरूप का ज्ञान हो गया होगा। वास्तव में भिन्न भिन्न अनुभवों की प्राप्ति का नाम शिक्षा है, जिससे हमारा जीवन उत्तरोत्तर उन्नत तथा जीवन-संग्राम में सफल होने के योग्य होता जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुस्तकें अनुभवों के भाण्डार हैं; पर केवल पुस्तकों ही से अनुभव नहीं प्राप्त होता। पुस्तकों के सिवा अन्य प्रकार से भी अनुभव प्राप्त हो सकता है।

यदि यह सिद्धान्त ठीक है कि मनुष्यों के लिए शिक्षा बहुत ज़रूरी है तो मनुष्य मात्र के लिए शिक्षा का प्रबन्ध क्यों न होना चाहिए? क्या प्रत्येक मानवसन्तान को मनुष्य बनने का अधिकार नहीं? उसकी शिक्षा में बाधा डालना क्या उसे मनुष्य न बनने देना अथवा उसका वध करना नहीं? शिक्षा पाने का हक़ प्रत्येक मनुष्य को है और जो उसके शिक्षा पाने के मार्ग में विघ्न डालता है वह मनुष्य नहीं, पशु है और वह उसका ही नहीं मनुष्य मात्र का शत्रु है। जो शिक्षा से वञ्चित हैं वे इस जीवन-संग्राम में अयोग्य रहेंगे; और, इस कारण, उनका जीवन भी संशय में रहेगा। शिक्षालाभ करना मनुष्यमात्र का नैसर्गिक स्वत्व है और जो इस जीवन-संग्राम में पूरी तरह से कृतकार्य होना चाहते हैं उनके लिए शिक्षा के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं। किन्तु शिक्षा का स्वरूप कैसा होना चाहिए यह ऊपर बतलाया जा चुका है। उसे अच्छी तरह ध्यान में रखना

चाहिए, नहीं तो शिक्षा पाकर भी उस शिक्षा से कोई लाभ न होगा।

गोपाल दामोदर तामसकर, एम० ए०।

व्रज के पहाड़ी स्थान।

(३) बरसाना

थुरा से बरसाना १५ कोस उत्तर-पश्चिम है। वह राधिका जी के पिता, श्री वृषभान जी का गाँव कहलाता है। व्रजवासियों का कथन है कि इसी गाँव में वृषभान और कीर्ति रानी ने अपनी लाड़ली कन्या राधिका को बड़े लाड़-प्यार से पाला था। वे अपने माता-पिता की बड़ी दुलारी थीं। इसी कारण व्रजवासी उन्हें "लाड़िली जी" कहते हैं।

बरसाने में एक पहाड़ी है। वह कोई ४५० गज़ लम्बी है। उसकी सब से बड़ी चोटी २०० फ़ीट ऊँची है। पुराणों में वह ब्रह्मा का पहाड़ कहा गया है। कुछ लोग अब भी उसे इसी नाम से पुकारते हैं। पहाड़ी पर चार चोटियाँ हैं। वही ब्रह्मा के चार मस्तक माने गये हैं। चारों शिखरों पर सुन्दर देवालय हैं। पहली चोटी पर राधा के कई मन्दिर, एक ऊँची दीवार के घेरे के भीतर बने हुए हैं। एक दूसरे से बड़े और सुन्दर हैं। श्रद्धालु भक्तों ने उन्हें समय समय पर बनाया है। गृह-निर्माण-विद्या की दृष्टि से वे महत्त्व के नहीं। २५० वर्ष से पुराने नहीं ज्ञात होते। सब से बड़ा मन्दिर चोटी की ऐन नोक पर है। उसमें राधिका की प्रतिमा
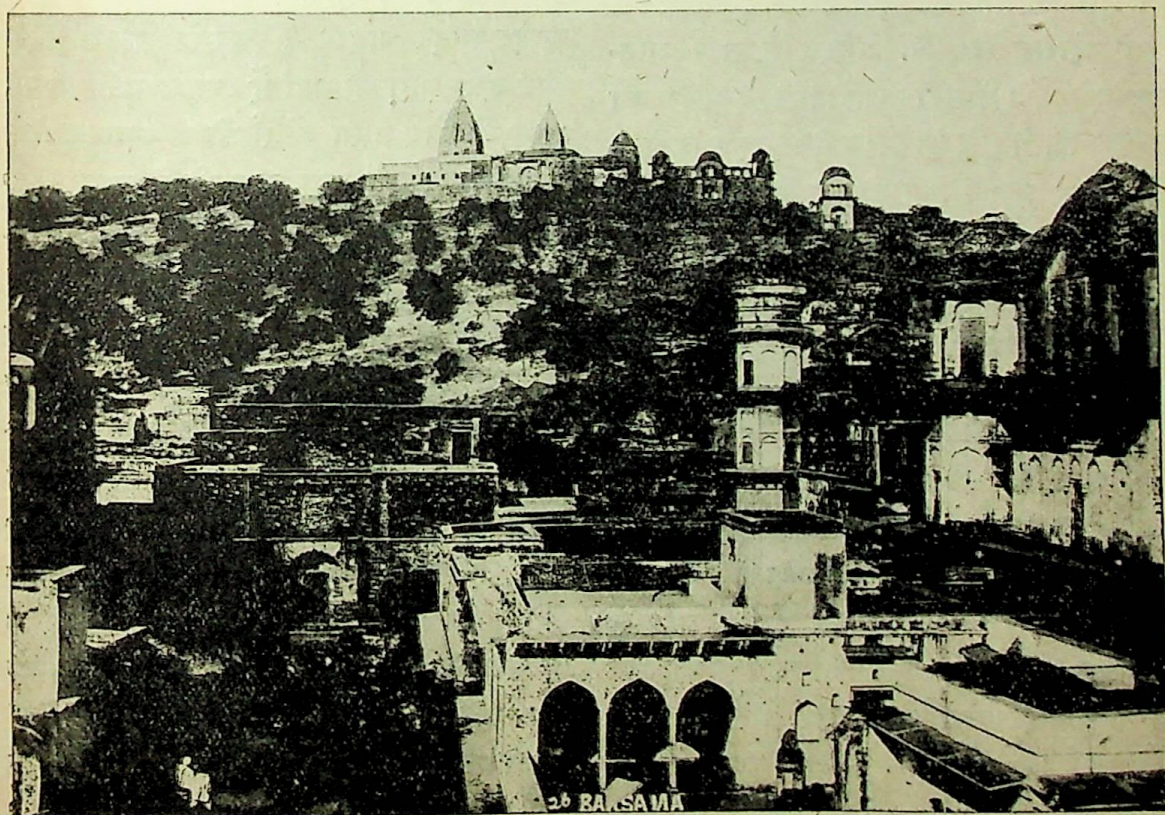
बरसाना।

स्थापित है। बहुत ऊँचाई पर होने के कारण नीचे से वह बहुत शोभाशाली मालूम पड़ता है। उससे कुछ दूरी पर एक नया मन्दिर जयपुर के महाराजा ने बनवाया है। अभी काम पूरा नहीं हुआ। यदि अधूरा ही न रह गया तो यह मन्दिर उल्लेखनीय होगा। नीचे से ऊपर शिखर को—राधा जी के मन्दिर को—जाने के लिए पत्थर की सीढ़ियाँ हैं। पर्वत के शिखर और तलहटी के प्रायः बीचोंबीच सीढ़ियों के पास राधिका जी के बाबा महाभान जी का मन्दिर है। तलहटी पर दो और छोटे छोटे मन्दिर हैं। एक राधा की सखियों का, दूसरा उनके पिता वृषभान जी का है। सखियों के नाम ये हैं—ललिता, विशाखा, चम्पकलता, रङ्गदेवी, चित्रलेखा, दुलेखा, सुदेवी और चन्द्रावली। वृषभानजी की पूरी मूर्ति मन्दिर में है। एक हाथ राधिकाजी थामे हैं, दूसरा श्रीदामाजी। श्रीदामा राधा के भाई कहे जाते हैं।

दूसरे शिखर पर जो मन्दिर है उसे मान-मन्दिर कहते हैं। तीसरी चोटीवाले देवालय को दानगढ़ और चौथीवाले को मोरकुटी—मुकुट कुटी—कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्माजी के ये चारों मस्तक कितने ही देवस्थानों और अन्य इमारतों के किरीट-मुकुटों से सुशोभित हैं।

बरसाने में एक दर्रा—घाटी—भी है। एकहरा—दुबला-पतला—आदमी ही उसमें से निकल सकता है; दुहरे की गुज़र नहीं। उसे "सांकरी खोर" कहते हैं। लोग कहते हैं, अपनी बाल्यावस्था में श्रीकृष्ण यहीं बैठकर इस राह से गुज़रनेवाली—दही-दूध बेंचने जानेवाली—गोपियों से रखवाली का कर वसूल किया करते थे। यह कर दान के नाम से पुकारा जाता है। इसी का स्मारकस्वरूप बूढ़ीलीला नाम का एक अर्द्धलक्खी मेला यहाँ, भाद्रपद शुक्ला १३ को, होता है। साँकरी खोर के दोनों ढालू किनारों पर दो मन्दिर हैं। लीला के समय उनमें राधा-कृष्ण के स्वरूप बैठते हैं। राधिका जी के मन्दिर को घेर कर स्त्रियाँ और कृष्णजी के मन्दिर के चारों ओर पुरुष बैठते हैं। फिर दान-लीला का दृश्य दिखाया जाता है। बनावटी गोपियों को रोक कर दान लिया जाता है। उनके सिर से गिर गिर कर मटकियाँ फूटती हैं और दही की लूट होती है। मटकी से गिरे हुए पदार्थ को लोग प्रसाद मान कर ग्रहण करते हैं। धनाढ्य यात्री इस मेले में मोरकुटी से, अर्थात् कोई १५० फ़ीट उँचाई से, लड्डू लुटाया करते हैं।

सांकरी खोर की दूसरी ओर, एक गहरे स्थान में, लता-पत्रों से सुशोभित एक कुञ्ज है। उसके बीच में एक पक्का कुण्ड है। उसे गहवर-वन कहते हैं। यह बड़ा रमणीक स्थान है। महात्मा कवियों के पदों में इसका उल्लेख मिलता है।

बरसाने की बस्ती पहाड़ी पर है। कितने ही सुन्दर सुन्दर महल हैं। बस्ती अच्छी है। बाज़ार और नज़र बाग़ भी यहाँ हैं। राधिकाजी के पिता वृषभानु जी और माता कीर्ति जी के स्मारक दो सुन्दर कुण्ड भी यहाँ हैं। वृषभानु जी के नामानुसार एक का नाम मानोखर है। उस पर एक रमणीक जल-महल है, जिस पर नक़्क़ाशी का अच्छा काम है।

सत्रहवीं सदी के पहले बरसाना ऊँच-गाँव का एक नगला माना जाता था। वहाँ अब भी कितने ही धन-सम्पन्न लोग हैं। पण्डित रूपरामजी कटारे नाम के एक सनाढ्य ब्राह्मण वहाँ बड़े उदार हो गये हैं। वे कटार बाँधते थे। इसी से लोग उन्हें कटारा कहने लगे। वे बड़े दानशील थे। कितने ही मन्दिर, कुण्ड, घाट तथा अन्य इमारतें उन्होंने वहाँ बनवाई हैं। ऐसे कामों में उन्होंने ख़ूब धन लगाया। उनकी विनोदशीलता की एक आख्यायिका बड़ी मज़ेदार है। उनके लड़के का ब्याह था। उन्होंने समधी से पूछा—बारात कैसी लावें। समधी ने कहा, जैसी पहले कभी न आई

हो। कटारेजी ने कई सौ सफ़ेद दाढ़ी वाले वृद्ध विद्वान् ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर के बुलाया। प्रत्येक को रेशमी धोती और रेशमी ही पीत-पिछौरी भेंट की। मृगछाला के आसन और चाँदी की लुटियायें भी सब को दीं। अगवानी के समय कन्या-पक्षवालों ने देखा कि कई सौ बाराती एक ही उम्र के—एक ही पोशाक़ में—तपस्वी ऋषियों के वेष में—उपस्थित हैं। बड़े चकराये। मान गये कि वास्तव में ऐसी बारात पहले कभी न आई थी।

जो बरसाना हास्य, शृङ्गार, भक्ति, शान्ति और करुणा का वास-स्थान था, सत्रहवीं सदी में वीर, रौद्र, भयानक और बीभत्स रस का अड्डा बन गया। १७७४ ईसवी में देहली के बादशाह की सेना से भरतपुर के जाटों की लड़ाई बरसाने में हुई। जाटों का सेनापति समरू था। विपक्ष में नजबख़ाँ था। जाट कोई ५,००० थे। इसमें जाटों की हार हुई। अनाथ बरसाना मुसलमानों के हाथ ख़ूब लूटा गया। इमारतें जहाँ तहाँ तोड़ डाली गईं। तब से बरसाने की दशा जो बिगड़ी तो अब तक नहीं सुधरी।

बरसाने का रकबा २,१५७ एकड़ और माल-गुज़ारी ३,२५४, है। १९०१ ईसवी में इसकी आबादी ३,५४२ थी। उसमें ३,२९१ हिन्दू, २४८ मुसलमान और ३ और जाति के लोग थे। यहाँ, थाना, डाकख़ाना और मवेशीख़ाना है।

बरसाने के आस पास कितने ही पहाड़ी गाँव हैं। कृष्णलीला से उनका भी सम्बन्ध है। अतएव कुछ गाँवों का हाल यहाँ दिया जाता है—

१—सङ्केत—यह राधाकृष्ण का मिलन-स्थान है। नन्दगाँव और बरसाने के बीच में है। यहाँ के शय्या-महल या सिज्जा-महल में एक दर्शनीय झूला है। अब यहाँ जी० आई० पी० रेल्वे का स्टेशन हो गया है। नन्दगाँव और बरसाने की यात्रा करनेवाले शहराती आदमी अब इसी रास्ते आया जाया करते हैं।

२—दुमनवन—नन्दगाँव और बरसाने के बीच में हैं। "पूर्णमासी" और "रुदक्को झुंद" नाम के दो मनोहर कुण्ड यहाँ हैं।

३—मानपुर—बरसाने के पास है। यहाँ मान-मन्दिर है। भादों सुदी १३ को उसमें मान-लीला का मेला होता है। गहवर-वन इसी की भूमि में है।

४—ग़ाज़ीपुर—यहाँ प्रेम-सरोवर और हेमराजजी की छत्री है।

५—ऊँचा-गाँव—यह गूजरों की पुरानी बस्ती है। राजा टोडरमल का बनवाया हुआ श्रीबलदेवजी का एक पुराना मन्दिर यहाँ है। गाँव के पहाड़ी पर एक चित्रशिला है। उस पर वृक्षों के रङ्गीन चित्र बने हुए हैं। कहते हैं, यह श्री राधिका जी की चित्रकुशलता का नमूना है।

६—चकसौली—मुकुट कुटी—यहीं है। साँकरी खोर भी इसी के पास है। इसके निकट एक सघन वन भी है। उसमें बड़े पुराने कदम्ब के वृक्ष हैं। मोर कुटी के पूर्ववाले शिखर पर विलास-मन्दिर और पश्चिमवाले पर मान-मन्दिर देखने लायक़ हैं।

७—मानगढ़ी—यहाँ एक कदम्ब के वृक्ष में दोने के आकार के पत्ते हैं। ग्रीष्म-ऋतु में ये बहुत बढ़ जाते हैं। कहते हैं—श्रीकृष्ण को एक बार बन में दही खाने की आवश्यकता हुई। पर कटोरी पास न थी। इस अभाव की पूर्ति करने के लिए कदम्ब में तदाकार पत्ते निकल पड़े। लोग कहते हैं, एक गाँव में एक और कदम्ब के पेड़ में मुकुट का आकार प्रकट हुआ करता है।

विट्ठल-कुण्ड; रिठौरा, दिभाला ये स्थान भी कृष्णलीला से सम्बन्ध रखते हैं।

"व्रजवासी"

दस्ताने।

कहते उस्तादजी थे राजा तक जिनसे
भूपति भवानीसिंह दतिया-नरेश के
आश्रित पठान एक निज के सिपाही थे।
होकर प्रसन्न एक वार उन्हें राजा ने
बख़्श दिये अपने पहनने के सोने के
दस्ताने, सहर्ष चले वे उन्हें पहन के
किन्तु ज्योंही निकले वे ड्योढ़ी से कि सामने
मिल गया एक उन्हें ठाकुर दरिद्र सा
कुरता फटा सा एक पहने हुए था जो
मैली किन्तु टेढ़ी बँधी सिर पर बत्ती थी
नंगे पैर किन्तु तलवार लिये हाथ में
उसने उस्तादजी को देख कर यों कहा—
"दस्ताने कहाँ से मिले तुमको ये राजों के?"
बोले वे कि "ठाकुर, ये बख़्शे हैं हजूर ने।"
"पर यह बख़्शने की चीज़ नहीं, राजा भी
बख़्श नहीं सकते हैं शोभा यह राज्य की
पीढ़ी दर पीढ़ी इन्हें पहने सवारी में
इतना ही हक़ रखते हैं इन पर वे
इससे उतार दो इन्हें, इसी में है भला!"
ठाकुर की बात सुन बोले वे कि "तुम क्या
कहते हो? ये तो दिये हमको हैं राजा ने।"
"राजा के भतीजे",—कहा ठाकुर ने गर्ज के—
कहता हूँ उतार दे, उतारता है या नहीं?"
ठाकुर ने त्योरियों के साथ तलवार भी
खींच ली तुरन्त और क्रोध कर यों कहा—
"पार कर दूँगा अभी, आँतें गिर जायँगी
कहता हूँ फिर भी उतार दे, उतार दे।"
ठाकुर ने तोली तलवार तब अपनी
भौंचक से होकर उस्तादजी ने देख के
दस्ताने उतार चुपचाप उन्हें दे दिये।

ठाकुर ने लेकर तुरन्त उन्हें राजा के
सामने जा रक्खा उन्हें देख कर राजा ने
पूछा यों—"सोपतसिंह, पाये कहाँ तुमने
हमने उस्तादजी को दस्ताने दिये थे ये?"
उत्तर दिया यों तब ठाकुर ने उनको—
"पृथ्वीनाथ, पात्र भी थे वे या नहीं इनके?
शूरवीर राजों के भूषण ये, हैं नहीं—
योग्य ऐसे वैसों के कि पहने वे इनको।
इनका महत्त्व वे क्या जानें भला, देखिए,
ज्योंही धमकाया ज़रा मैंने तलवार से
तत्क्षण उतार दिया भौंचक के भाव से
इनको उन्होंने, जब बख़्शे ये हज़ूर ने
फिर क्या उतारना था? मैं ही नहीं, वे भी तो
बाँधे तलवार थे, उतारने के पहले
मारना था और मर जाना था उन्हें वहीं।
भीतर ख़ज़ाने में इनको भिजवाइए
और देना है तो इतना ही या इनसे
दुगना या चौगुना भी सोना उन्हें दीजिए।"
ठाकुर की बातें सुन राजा चुप हो रहे
फिर मुसकाये और बोले प्रेम से कि—"तू
पागल है!" इतने में आके चोबदार ने
सूचना दी उनको उस्तादजी के आने की
"भेंट नहीं होगी आज", आज्ञा हुई भूप की

मैथिलीशरण गुप्त.

हिन्दी की आधुनिक अवस्था

आशावादी लोगों को हिन्दी की आधुनिक अवस्था पर बड़ा सन्तोष हो रहा है। वे समझते हैं कि इस भाषा ने कम से कम पिछले पन्द्रह वर्षों में बड़ी उन्नति की है। उनकी समझ में यह अवधि हमारी मातृ-भाषा के इतिहास में एक महत्त्व-पूर्ण काल है। इस काल में, आशावादी लोगों के मतानुसार, हिन्दी की शब्द-संख्या बढ़ी है; इस भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं; हज़ारों लोग इसके प्रेमी और

सहायक हुए हैं; नये नये लेखक और प्रकाशक उत्पन्न हो गये हैं; और किसी किसी नाटक-मण्डली ने इसे आश्रय दिया है। इसके सिवा इस भाषा का प्रचार सभासमाजों में हो रहा है; अँगरेज़ी-पढ़े लोग इसे गौरव की वस्तु समझने लगे हैं; और सरकार भी अपने लाभ की कई बातें इस भाषा में छापने लगी है। आशा-वादियों के लिए सब से अधिक आनन्द की बात तो यह है कि हिन्दी भाषा ने भारत के अधिकांश प्रान्तों में दिग्विजय प्राप्त की है। अपनी भाषा की ऐसी बढ़ती देखकर किस हिन्दीभाषा-भाषी को आनन्द न होगा? यथार्थ में किसी भी जाति की भाषा की बढ़ती और प्रचार उस जाति के धर्म अथवा राज्य के प्रचार से कम नहीं।

निराशा-वादियों के मन की दशा (हिन्दी की आधुनिक अवस्था के सम्बन्ध से) कुछ और ही है। वे कहते हैं कि हिन्दी में अभी रक्खा ही क्या है! उन्नत भाषा के जो लक्षण हैं वे इस भाषा में बहुत ही कम पाये जाते हैं। उनकी समझ में हिन्दी पचीस वर्ष पहले जहाँ थी, प्रायः वहीं अब भी है। दो एक डग धरती इधर-उधर जीत लेने से जीत नहीं समझी जाती।

शब्दों की संख्या की बढ़ती के सम्बन्ध में निराशा-वादी लोगों का यह कहना है कि जो शब्द हिन्दी में बढ़े हैं, उन में लगभग आधे तो संस्कृत के ऐसे शब्द हैं जिनके कारण हिन्दी के मूल और प्रचलित शब्दों का लोप हो गया है—अर्थात् हिन्दी-भाषा-भाषी लोग अपना मूल धन ही बहुत कुछ गँवा बैठे हैं। बढ़े हुए बाक़ी शब्दों में से कुछ तो विदेशी भाव व्यक्त करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो इधर-उधर केवल वाक्य-रचना की थोड़ी-बहुत सुन्दरता बढ़ाते हैं। एक ही देशी भाव को बिना विदेशी सहायता के, कई प्रकार से व्यक्त करने के लिए हमारी भाषा में अभी शब्द-संख्या बहुत कम है। क़ानूनी शब्द तो हिन्दी में नाम-मात्र को भी नहीं; और जो कुछ थोड़े से शब्द राजा लक्ष्मणसिंह के सदृश दूरदर्शी लोग बना गये हैं, उन्हें समझनेवाले और उनका प्रचार करनेवाले भी विरले ही हैं। कहावत प्रसिद्ध है कि क्या सौ रुपये की पूँजी और क्या एक बेटे की सन्तान! भला, क्या इतने ही इने-गिने शब्दों के बल पर हिन्दी पूर्ण दिग्विजय की आशा कर सकती है?

इसी के साथ साथ निराशा-वादी लोग हिन्दी की अस्थिरता पर भी कटाक्ष करते हैं। वे कहते हैं कि हिन्दी में साहित्य-विषयक एकरूपता का अभाव है। अनेक स्थानों में लेखक और वक्ता लोग भाषा का मन-माना प्रयोग करते हैं। कोई कोई तो अपने गौरव से इतने गिर गये हैं कि वे अपने लेखों और भाषणों को बिना उर्दू के वाक्यों के अपूर्ण और नग्न समझते हैं। ये लोग हिन्दुस्तान में रहकर उर्दुस्तान की सैर करते रहते हैं! कुछ लोगों में यह धुन समाई हुई जान पड़ती है कि हम मनमानी भाषा लिखें और लोग उसे आर्ष-प्रयोग मानें। निराशा-वादियों का कहना तो यहाँ तक है कि हिन्दी में आज तक ऐसा कोई ग्रन्थ ही नहीं लिखा गया जिसकी भाषा पूर्णतया शुद्ध हो। हिन्दी की छपाई के विषय में ये लोग कहते हैं कि इस भाषा के छापेख़ानों को अभी बारह बरस तक और अपना काम सीखना चाहिए।

लेखकों के विषय में निराशा-वादी लोग बहुत ही निराश हैं। जिस योग्यता के लेखक अन्यान्य भाषाओं में हुए हैं और हैं, वह योग्यता हिन्दी-लेखकों से अभी कोसों दूर है। हिन्दी में तो जो लोग "आप का भवदीय" लिख लेते हैं वही लेखक समझ लिये जाते हैं! दूसरी भाषाओं में जिस कोटि के लोग साहित्य-मन्दिर के द्वारपाल होने के भी अधिकारी नहीं, उस कोटि के लोग हिन्दी में महन्त बने हुए भाषा-देवी का चरणामृत बाँट रहे हैं! हिन्दा के इन स्वयम्भू लेखकों के लिए प्रत्येक विषय पर लेखनी चलाना और बड़े बड़े विदेशी लेखकों के लेखांश उद्धृत

करना बायें हाथ का खेल है। अँगरेजी-पढ़े हिन्दी-लेखकों की यह दशा है कि आप उनकी खिचड़ी भाषा ही न समझ सकेंगे और न वे स्वयं इस बात को समझ सकेंगे कि आप उनकी भाषा नहीं समझते। लेखक तो टिड्डी-दल की तरह बढ़ रहे हैं; पर वे करते क्या हैं—अनुवाद, छायानुवाद, भावानुवाद अथवा सारानुवाद! इतने बड़े हरिश्चन्द्र तक को तो मिश्र-बन्धु महोदयों ने अच्छा "अनुवादक" कह डाला है। निराशावादी लोगों को हिन्दी-लेखकों और पाठकों की गुण-ग्राहकता भी बड़ी विचित्र जान पड़ती है। ये लोग अपने भाइयों को उपाधियाँ देने में बड़े उदार हैं, यहाँ तक कि बे-सिर-पैर की लम्बी चौड़ी हाँकनेवालों को ये स्काट का अवतार मानने में संकोच नहीं करते! सौभाग्य की बात इतनी ही है कि ये अपनी दूषित उपमाओं से केवल विदेशियों को कलङ्कित करते हैं; अपने देश के रत्नों को घूरे पर नहीं फेंकते।

ग्रन्थों की बढ़ती को निराशा-वादी लोग हिन्दी की यथार्थ बढ़ती नहीं मानते। वे कहते हैं कि अनुवादित [अथवा अनूदित] ग्रन्थों से किसी भाषा अथवा जाति को गौरव प्राप्त नहीं होता। आप जिस भाषा से अनुवाद करते हैं उसके सामने अपनी भाषा की क्या कुछ बड़ाई कर सकते हैं? अथवा उसके बोलनेवालों के सामने अपनी जाति की क्या प्रतिष्ठा बढ़ा सकते हैं? सभ्यता की प्रदर्शिनी में ऐसे लेखकों और उनके ग्रन्थों को सदैव नीचा स्थान मिलेगा। फिर अनुवादित ग्रन्थों में आप अपने निज के विश्वास, संस्कार, रीति-भाँति, वेश-भूषा, बोल-चाल, आदि कैसे व्यक्त कर सकते हैं? साहित्य के द्वारा आपको अपनी समाज का चित्र खींचना है; और यह बात तभी हो सकती है, जब आप में मौलिक ग्रन्थ लिखने की योग्यता है। धरोहर के धन से आप धनी नहीं हो सकते।

हिन्दी के प्रेमियों और सहायकों की संख्या की बढ़ती से निराशा-वादियों को विशेष आनन्द नहीं; क्योंकि यदि बारह करोड़ हिन्दी-भाषा-भाषियों में से कुछ हज़ार लोग इसकी ओर प्रवृत्त हुए भी तो क्या! सौ में निन्यानवे हिन्दी-भाषा-भाषी तो अशिक्षित हैं और हज़ार में जो दस-पाँच किसी प्रकार शिक्षित हैं उनमें बहुतेरे यह भी नहीं जानते कि हमारी मातृ-भाषा हिन्दी है और उसकी बढ़ती के लिए हमें कोई उद्योग करना चाहिए। फिर, अभी तक, कई एक शिक्षितों की यही धारणा है कि हिन्दी के बदले उर्दू को अपनी मातृ-भाषा बतलाने में विशेष गौरव और प्रतिष्ठा है तथा पदवी प्राप्त होती है। जो इने-गिने लोग इस भाषा की ओर प्रवृत्त हैं उनमें अधिकांश कर्त्तव्य का विशेष विचार न करके केवल इसीलिए हिन्दी-प्रेमी बने हुए हैं कि ऐसा होना समय के अनुकूल और बड़े बड़े लोगों की इच्छा के अनुसार है। ऐसी अवस्था में हिन्दी-प्रेमियों की संख्या की बढ़ती एक प्रकार के भेड़िया-धसान का उदाहरण है।

निराशा-वादियों को प्रकाशकों से भी सन्तोष नहीं है। ये लोग आज तक अनुवाद ही करा रहे हैं; और पुस्तक-प्रकाशन को इन्होंने निरा व्यवसाय ही समझ लिया है। यदि अश्लील पुस्तकों की अच्छी बिक्री होती है तो ये लोग उन्हें भी छपा डालते हैं; शिष्टता का कुछ भी विचार नहीं करते। कई एकों को तो यह भी ज्ञान नहीं कि हिन्दी-साहित्य में किन किन विषयों की कमी है; और कौन कौन लेखक उन विषयों पर पुस्तकें लिख सकते हैं। इन लोगों में ऐसे थोड़े ही हैं जो पुस्तकों के गुण-दोषों का विवेचन स्वयं कर सकते हों। इस प्रकार के प्रकाशक उच्च कोटि के ग्रन्थों का संग्रह कहाँ तक कर सकते हैं! इन्हें तो केवल पुस्तकों के दाम नियत करना आता है।

जिन नाटक-मण्डलियों ने हिन्दी को आश्रय दिया है उनकी संख्या उँगलियों पर गिनी जाने के

योग्य है और उनमें अधिकांश पात्रों की मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है। इसलिए भाषा की शुद्धता की दृष्टि से ये मण्डलियाँ लाभ के बदले हानि कर रही हैं। जिन के पात्रों की मातृ-भाषा हिन्दी है, ऐसी नाटक-मण्डलियाँ प्रायः नहीं के बराबर हैं और जो हैं उन पर, लोभ के वश, उर्दू और बाज़ारी नाटकों का भूत सवार है। इस विषय में केवल इतना ही कहना बस होगा कि हिन्दी ने कुछ भी उन्नति नहीं की। निराशा-वादियों को सब से अधिक दुख इसी बात का है। हिन्दी में न सच्चे नाटक-कार हैं, न नट हैं, न सूत्रधार हैं और न प्रतिष्ठित नाटक-मण्डलियाँ हैं। ये सब दोष दूर हो सकते हैं; पर इनकी ओर ध्यान देना कोई अपना कर्त्तव्य ही नहीं समझता। हम लोगों में से बहुत से अभी तक नाटकों की रचना और अभिनय को निन्दित ही समझ रहे हैं और संस्थायें स्थापित करना तथा चलाना हमारे लिए प्रायः दुःसाध्य है।

सभा-समाजों और लिखा-पढ़ी में हिन्दी का प्रचार देखकर निराशा-वादी अवश्य कुछ आशा-वादी हुए हैं; पर उन्हें पूर्ण सन्तोष तभी होगा जब वे राष्ट्रीय महासभा के सभापति का भाषण हिन्दी में सुनेंगे। अभी तक तो बहुत से हिन्दी प्रेमी कहलानेवाले ऐसे पाये जाते हैं जो हिन्दी लिखने में अपनी अप्रतिष्ठा समझते हैं। आशा है कि निराशा-वादी इस विषय में आगे को और भी आशावान् होंगे।

भारतवर्ष के अन्यान्य प्रान्तों में राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी का जो आदर हो रहा है उससे भी निराशा-वादियों को आनन्द है। यद्यपि कई लोग हिन्दी की योग्यता पर, ईर्षा अथवा अज्ञान के कारण, कटाक्ष करते हैं तो भी अधिकांश शिक्षित लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि हिन्दी या हिन्दी के सदृश कोई व्यापक भाषा ही हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा हो सकती है। इस विषय में हिन्दी और उर्दू का विरोध होता ही रहेगा; पर अन्त में जीत उसी की होगी जिसका पक्ष सत्य और साधार होगा। किसी एक भाषा के व्यापक होने के लाभों को समझ कर ऐसा कौन होगा जो अपनी भाषा के लिए वह गौरव प्राप्त कराने का उद्योग न करे। हम लोगों को भी इसी भाव से प्रेरित होकर सतत उद्योग करना चाहिए। जय-पराजय तो ईश्वर के हाथ है।

सरकार ने पाठशालाओं के बाहर हिन्दी को जो थोड़ा सा आश्रय दिया है वह मृग-जल के समान है। युद्ध-समाचार और युद्ध-ऋण से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञापनों में सरकार शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करने लगी है और रामायण की चौपाइयों को अपने अर्थ के अनुकूल घटाने-बढ़ाने भी लगी है; परन्तु कचहरियों में वही पुरानी नवाबी बरती जाती है। यदि सरकार को इस बात का विश्वास है—और यह विश्वास स्पष्ट दिखाई देता है—तो उसे क़ानूनी भाषा में, एकदम नहीं, तो धीरे धीरे (अपनी ही नीति और प्रतिज्ञा के अनुसार) सरलता के लिए परिवर्त्तन करना चाहिए। सरकार की ओर से दो भिन्न भिन्न प्रकार की भाषा-शैलियों का प्रचार लोगों के मन में सन्देह उत्पन्न करता है जो प्रजा-रञ्जन के तत्त्व के विपरीत है। निराशा-वादियों को इस विषय में विशेष आशा नहीं देख पड़ती। जन्म-सिद्ध और और अधिकारों की प्राप्ति के लिए जैसा नियमशील आन्दोलन किया जाता है वैसा हमें अपनी भाषा के अधिकार के लिए भी करना चाहिए।

अपने लेख को समाप्त करने के पूर्व अब हमें यह देखना है कि भविष्यत् में हिन्दी अपने प्रचार के लिए कौनसा रूप धारण करे। इस विषय से सम्बन्ध रखने-वाली कुछ बातें अभी अगस्त १९१८ की सरस्वती के "हिन्दी और उर्दू के विरोध" में आई हैं। लेखक का कहना है कि "भविष्य की राष्ट्र-भाषा का रूप न तो हिन्दी ही होगा और न उर्दू ही। वह एक ऐसी भाषा होगी जिसमें वर्त्तमान समय की सब भाषाओं का

कुछ न कुछ अंश अवश्य होगा। लेखक महाशय के ये विचार उर्दू के सम्बन्ध में भी हैं; क्योंकि आप एक जगह यह भी लिखते हैं कि "यदि लेखक ने प्रचलित फ़ारसी (या अँगरेज़ी) शब्दों का थोड़ा भी प्रयोग किया, तो वह भाषा को अशुद्ध बनाने का दोषी समझा जाता है"। इसमें सन्देह नहीं कि भविष्यत् की हिन्दी में भारतवर्ष की (और विदेशी) भाषाओं के शब्द आवश्यकतानुसार अवश्य आवेंगे; पर उर्दू के शब्द तो इसमें अभी तक आवश्यकता से अधिक भरे हुए हैं, जिनके कारण सार्थक, सरल और स्वाभाविक हिन्दी-शब्दों का लोप सा हो रहा है। यदि प्रचलित शब्दों के साथ साथ हम को उर्दू के शब्दों की और भी आवश्यकता हुई तो हमारी हिन्दी फिर एक बार उर्दू हो जायगी और तब इसका पुनरुद्धार कठिन हो जायगा। लेखक महाशय जिनको "प्रचलित फ़ारसी शब्द" कहते हैं, वे सभी की दृष्टि में "प्रचलित" नहीं हैं; क्योंकि उनमें से अनेक शब्दों के पर्यायवाचक हिन्दी-शब्द पहलेही से हमारी भाषा में विद्यमान हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि फ़ारसी के कुछ ऐसे शब्द हिन्दी में मिलते हैं जिनके पर्यायवाची हिन्दी-शब्द सुनने ही में नहीं आते। ऐसे शब्दों को छोड़ दूसरे फ़ारसी-शब्दों को अपने मन से "प्रचलित" समझ कर उनका उपयोग करना सच मुच भाषा को अशुद्ध बनाने का दोषी होना है।

हमारी भाषा में किसी भी भाषा के कितने ही शब्द क्यों न आवें, हमें अभी केवल यह देखना है कि आगे को हमारी भाषा-शैली कैसी होगी। आज कल कुछ समय से हिन्दी में बहुधा चार प्रकार की शैलियाँ पाई जाती हैं; यथा, (१) संस्कृत शब्द-मय (२) हिन्दी शब्द-मय (३) फ़ारसी (और अँगरेज़ी) शब्द-मय (४) खिचड़ी। इनमें से पहली तीन शैलियों में तो लेखकों का शुद्ध या अशुद्ध सिद्धान्त पाया जाता है; परन्तु चौथी शैली के लेखक अपने को किसी गुरु के चेले नहीं मानते। इनकी शैली में बहुधा गङ्गा-मदार का जोड़ा रहता है, जो भाषा-रचना के तत्त्वों के विरुद्ध है। अभाग्यवश लोगों की यह धारणा सी हो रही है कि भविष्यत् में यही खिचड़ी-शैली सफल होगी और इसके अनुयायी भी बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार की दूषित शैली को कुछ ऐसे लेखक और वक्ता भी उत्तेजन दे रहे हैं जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है। ये लोग भाषा का ठीक ठीक ज्ञान न रखने के कारण मन-माने शब्दों और प्रयोगों का प्रचार करते हैं; और हिन्दी की स्वाभाविकता को नष्ट कर रहे हैं। हिन्दी के प्रति इन लोगों का आदर देख कर हमारे उदार हिन्दी-भाषा-भाषी भाई अपनी भाषा को इन्हीं लोगों के लिए सरल करने के विचार से खिचड़ी-शैली की भविष्य सफलता का स्वप्न देखने लगे हैं। निराशा-वादी लोग इस गड़बड़ शैली को भाषा की स्थिरता के लिए बड़ी ही हानिकारक समझते हैं। इस शैली से भाषा व्यापक भले ही हो जाय, परन्तु वह स्वेच्छाचारिणी होकर अनेक रूप धारण किये हुए विचरेगी और उसके सेवकों को उसे पहचानना कठिन हो जायगा।

पहली तीन शैलियों में केवल दूसरी ही अनुकरणीय है; क्योंकि उसी में हिन्दी हिन्दी रह सकती है। इसमें संस्कृत और फ़ारसी-शब्द तभी मिलाये जायँ जब हिन्दी शब्द न मिलें अथवा उनसे काम न चले। जिस समय संस्कृत और फ़ारसी-शब्दों में प्रयोग के सम्बन्ध से झगड़ा होने लगे उस समय हमें स्वभाव ही से संस्कृत-शब्दों का पक्ष लेना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से हम केवल अपनी ही सहायता न करेंगे, किन्तु अपने बहु-संख्यक देश-भाइयों को भी सहायता पहुँचा सकेंगे।

कामताप्रसाद गुरु

———

धर्म्मान्ध्य ।

[समालोचना]
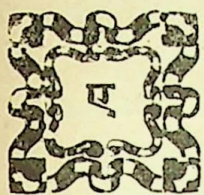
एक दिन हमें कानपुर के चौक-बाज़ार जाना पड़ा । वहाँ एक महाशय ने "शास्त्रार्थत्रय" नाम की एक पुस्तक की एक कापी हमें दी । हमने उसे सादर ले लिया और दाता महोदय को हृदय से धन्यवाद दिया । पुस्तक घर ला कर यत्र तत्र उसे देखा, मनही मन दुःखानुभव किया और रख दिया ।

इसी पुस्तक की एक और कापी हमें १८ सितम्बर १९१८ को मिली । इसे पण्डित कालूराम शास्त्री ने भेजने की कृपा की है । आप इसी (कानपुर) ज़िले के निवासी हैं । आपही के मौज़े के कोई पण्डित कामताप्रसाद दीक्षित इसे बेचते हैं । आपकी बनाई हुई, सभी पुस्तकें ये दीक्षितजी ही बेचते हैं । कुतुबफ़रोशी का काम इन्हीं के सिपुर्द है । प्रकाशन इस पुस्तक का कानपुर की श्रीमर्य्यादापुरुषोत्तम-सनातनधर्म्म-सभा के मन्त्रीजी ने किया है ।

कुछ दिन हुए, कानपुर में सनातनधर्म्म और आर्य्य-समाज के अनुयायियों में परस्पर शब्द-शस्त्रों की झनकार हुई थी । यह सङ्ग्राम तीन दिन तक हुआ था । पुराण वैदिक हैं या अवैदिक, इस पर पहले दिन बहस हुई । श्राद्ध मुर्दों का करना चाहिए या ज़िन्दों का, इस पर दूसरे दिन ; और मूर्ति—पूजा करनी चाहिए या नहीं, इस पर तीसरे दिन । यह शास्त्रार्थ क्यों, वितण्डावाद, सनातनधर्म्म और आर्य्यसमाज (रेल-बाज़ार) के अनुयायियों में हुआ । तीनों दिन भट-प्रतिभटता की योजना इस प्रकार थी—

दिन	सनातनधर्म्म	आर्य्यसमाज
पहला	पण्डित गिरिधर शर्म्मा महाशय	व्रजमोहन झा
दूसरा	पण्डित कालूराम शास्त्री	,, ,,
तीसरा	,,	,, ,,

इस पुस्तक में शास्त्रार्थ ही नहीं, दोनों दलों के पत्र-व्यवहार और सनातनधर्म्म-सभा के मन्त्री साहब की लिखी हुई टीका-टिप्पणियाँ और तीन लेख भी हैं । इन लेखों के नाम हैं—(१) आर्य्यसमाज का घोर पराजय, (२) शास्त्रार्थ-फल-ज्ञान और (३) शास्त्रार्थ-फल-दर्शन । शास्त्रार्थ, ने तो थोड़ी ही जगह ली है ; इन लेखों ने ही पुस्तक का अधिकांश कलेवर घेर रक्खा है । इस लेख-विस्तार की ज़रूरत थी, क्योंकि धर्म्म-धन मनुष्यों को समझ कैसे पड़ता कि कौन जीता, कौन हारा । दूसरे दल ने भी कोई ऐसी ही पुस्तक प्रकाशित की है, क्योंकि उसका हवाला इस पुस्तक में है और उसकी कितनी ही उक्तियों पर आक्षेप भी हैं ।

पुस्तक के टाइटिल पेज पर लिखा है कि इसके "लेखक" सनातनधर्म्म-सभा के मन्त्रीजी हैं । यह हो सकता है । पर हमें तो इसके लेखक नहीं, तो प्रेरक, कोई बहुत बड़े धर्म्म-धुरीण महाशय जान पड़ते हैं । क्योंकि जिस लेखनी के द्वारा सनातनधर्म्म-सभा की ओर से की गई अधिकांश वकालत लिपि-बद्ध की गई है उसी के द्वारा फलप्रदर्शन आदि भी किया गया जान पड़ता है ।

पण्डित कालूराम शास्त्री की आज्ञा है कि हम इस पुस्तक की समालोचना करें, क्योंकि इसे "समालोचनार्थ" ही उन्होंने भेजा है । पर हम आपकी आज्ञा के परिपालन में बहुत कुछ असमर्थ हैं । आप धर्म्मज्ञ हैं और हम अज्ञ । हम तो विश्वास पर चलनेवाले हैं । धर्म्म-शास्त्रों की पंक्तियाँ और प्रतीक देख देख कर अपने आचरण का नियमन करना हमारे लिए सम्भव नहीं । हमें धर्म्म की सूक्ष्म गतियों का ज्ञान ही नहीं । हमें तो श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों और उपनिषदों का सार, तुलसीदास की बदौलत, उनके एक दोहे में ही मिल जाता है—

अपने अपने कर थपें लिखि पूजें तिय भीत ।
सकल फलै मनकामना तुलसी प्रेम-प्रतीत ॥

तथापि, आपकी भेजी हुई पुस्तक देखने पर, शास्त्रीय धर्म्म-संस्कारों से सर्वथा कोरे हमारे हृदय में, मोटी मोटी जिन दो चार बातों का उत्थान हुआ है उन्हें हम लिखे देते हैं ।

आज कल भिन्न भिन्न धर्म्मों और सम्प्रदायों के अनुयायियों में जो शास्त्रार्थ होते हैं वे धर्म्म-ज्ञान की प्राप्ति अथवा भ्रमपूर्ण विचारों के निरसन के लिए नहीं होते । होते हैं अपने विपक्षी को नीचा दिखाने के लिए । इन शास्त्रार्थों में आज तक न किसी ने हार मानी और न कभी आगे हार मानने की सम्भावना । इस दृष्टि से ये शास्त्रार्थ सर्वथा निष्फल हैं । अतएव जिन्होंने कानपुर में ये शास्त्रार्थ

किये उन्होंने अपना समय व्यर्थ खोया । जिन्होंने उन्हें सुना उनका भी समय व्यर्थ गया । ख़र्च यदि कुछ हुआ, और ज़रूर ही हुआ होगा, तो वह भी व्यर्थ गया समझिए । और भी हानियाँ हुईं । इस पुस्तक के प्रकाशन से विवेकशील जनों को दोनों पक्षों की कमज़ोरी और कुरुचि का भी ज्ञान हो गया । जो धर्म्मज्ञ या जो पण्डित अपने प्रतिपक्षी को 'झूठा', 'मिथ्यावादी', 'निर्लज्ज', 'नास्तिक', 'कपटी', 'छली', 'धोखेबाज़', 'मूर्ख', 'अधर्म्मी' और 'परमपातकी' तक कह डालने में सङ्कोच नहीं करता वह बेचारा धर्म्मोपदेश भला क्या करेगा और उसकी बात का असरही विपक्षी पर कितना पड़ेगा ? भगवान् ही ऐसे उपदेशकों से समाज की रक्षा करे । और, यह सब कुछ करके भी जो यही कहता चला जाय कि मैंने एक भी गाली नहीं दी, एक भी कटुवाक्य का प्रयोग नहीं किया, एक बार भी अशिष्टता नहीं दिखाई उसकी धार्म्मिकता का विचार धर्म्मराज ही कर सकेगा । हाय, धर्म्म का अधःपात तो देखिए । जिनकी बुद्धि, विवेक, जिह्वा और लेखनी का यह हाल है उन्हीं को भोले भाले लोग धर्म्म का रहस्य समझाने के लिए बुलाते हैं, उनपर शाल-दुशाले डालते हैं, उन्हें मालपुवे खिलाते हैं और बिदा करते समय उनकी मुट्ठी भी गरम करते हैं । भगवन्, यदि तुम्हें कल्कि-अवतार लेना है तो लेते क्यों नहीं । इस काम के लिए यही तो उपयुक्त समय है । तुम समझते होगे कि तुम्हारा धर्म्म-वृष अब तक एक पैर के बल खड़ा है । अरविन्द-नेत्र, उसका वह पैर भी तोड़ डाला गया । अब तो वह पृथ्वी पर पड़ा छटपटा रहा है । उसके प्राणान्त होने में अब देर नहीं । तुम शायद पूछो कि उसका वह बचा बचाया पैर किसने तोड़ा । तोड़ा किसने ? तोड़ा धर्म्म-प्राण भारत के धर्म्म-ध्वजी पण्डितों ने ! जो भाष्यकार के—

"प्रतिमा प्रतिमानं उपमानं किञ्चिद्वस्तु नास्ति"

इस भाष्यांश में "प्रतिमानं" और "उपमानं" का अर्थ मूर्ति करते हैं उन्होंने । और किसने ? जो काव्यप्रकाश-कार की—

"त्रिधा अश्लीलं व्रीडा-जुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वात्"

इस उक्ति को धता बता कर "अश्लील" का अर्थ केवल गँवारू करते हैं और "ग्राम्यं (यत्केवले लोके स्थितं)" पर जो एकदम ही हरताल पोत देते हैं उन्होंने । और किसने ? क्या ऐसे लोग भी शास्त्रार्थ करने और धर्म्म-रहस्य समझाने के अधिकारी हैं ? जो लोग पत्र-व्यवहार तक में शिष्टाचार की रक्षा नहीं करते उनके उपदेशों और उनके बताये हुए शास्त्र-तत्त्वों का महत्त्व ही कितना ? जो स्त्रियाँ एकाग्र-चित्त होकर, सच्चे विश्वास से, घण्टों पीपल की प्रदक्षिणा करती हैं अथवा जो मनुष्य गङ्गाष्टक, आदित्यहृदय, महिम्न, गजेन्द्रमोक्ष और प्रह्लाद-स्तुति आदि का पाठ करते समय, भक्ति-विह्वल होकर, आँसू बहाते हैं उनको चाहे भगवान् की प्राप्ति न सही, सत्ता की झलक ही मिल जाय । पर इन सदा-विजयी विद्वद्वरों को उसकी प्राप्ति दुर्लभ ही समझिए । क्योंकि योगवाशिष्ठ के अनुसार जब तक अहङ्कार का अङ्कुर हृदय में बना हुआ है तब तक मनुष्य की सद्गति नहीं । और ये विद्वच्चक्रचूडामणि ठहरे अहङ्कार के प्रत्यक्ष अवतार । इनकी हुङ्कार है—प्रलय-पर्य्यन्त मेरे प्रश्न का उत्तर देनेवाला पैदा न होगा ! भूमण्डल में है ऐसा कौन जो मेरे साथ तर्क में प्रवृत्त हो सके !! त्रिलोकी उजाड़ पड़ी हुई है; आबाद हो तो कोई निकल आवे और मुझसे शास्त्रार्थ कर ले !!! भर्तृहरि मानों ये पंक्तियाँ इन्हीं के लिए लिख कर छोड़ गये हैं—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।

इसी से यदि कोई 'ग्रहण' को 'गृहण' लिख दे तो ऐसे लोग उसकी आँख में उँगली कोंचने चलते हैं और पद पद पर उसकी हँसी उड़ाते हैं; पर आप अपनी आद्यन्त त्रुटिपूर्ण रचना पर दृक्पात तक नहीं करते । जिनको शब्द-शुद्धि तक का ज्ञान नहीं उनके साथ, फिर, आप शास्त्रार्थ करते क्यों हैं ? उनकी उपेक्षा क्यों नहीं करते ?—"सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतम्" मर्य्यादा-पुरुषोत्तम राम, कुछ ऐसा करो, जिसमें कभी यही लोग यह कहने लगें—

यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥

इस पुस्तक के शास्त्रार्थवाले अंश तक में कुत्सा और कदर्थना पाई जाती है । उसमें भी तर्क का अंश कम है; कुतर्क, तर्काभास, छल और वितण्डा ही का अधिक ।

पुस्तक के पृष्ठ २२ पर लिखा है—"पुराण नवीन नहीं, किन्तु प्राचीन और ईश्वर-कृत हैं" । लीजिए, अब तक वेद

ही ईश्वर-कृत थे; अब पुराण भी हो गये। धर्म्माचार्य्यों के मौजी मनो-मन्दिर के कँगूरों पर ईश्वर की कोई नई आयत उतर आई ! इस पर विपक्षी यदि यह कहता है कि फिर इन ईश्वर-प्रणीत पोथियों में तारा और शशलाञ्छन तथा अहल्या और इन्द्र के आख्यान कैसे ? वे तो अश्लील हैं ! तो उत्तर मिलता है कि क्या तुम्हारे (हमारे और तुम्हारे दोनों के नहीं, सिर्फ़ तुम्हारे !) वेद उससे ख़ाली हैं—"पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन्" इत्यादि "मन्त्रों में क्या अश्लीलता नहीं ?" प्रतिपक्षी यदि शान्तं पापं कह कर दुहाई देता है और कहता है कि महाराज, वेद तो हम दोनों के पूज्य हैं; उन पर तो रहम करते; तो तत्काल उत्तर मिलता है—अश्लीलता का अर्थ है—गँवारूपन। अर्थात् वेद और पुराण के उन उन स्थलों से न जुगुप्सा व्यञ्जित होती है, न व्रीडा; उनसे सिर्फ़ गँवारूपन झलकता है। वेद के उन मन्त्रों का यथार्थ अर्थ क्या है ? उनमें कोई रूपक तो नहीं छिपा ? इसके विचार की मुतलक़ ज़रूरत नहीं। अर्थ कुछ भी हो और रूपक हो या न हो, शास्त्रार्थ करनेवाले की बला से। विपक्षी का "घोर पराजय" तो उसने कर दिया !

इसी तरह के शास्त्रार्थों से धर्म्म की उलझी हुई गाँठें सुलझाई जाती हैं और इसी तरह की गहरी न्यायनिष्ठा का आश्रय लेकर संशयालुओं की शङ्का-निवृत्ति की जाती है ! ऐसों के लिए त्रिलोकी को सचमुच ही शून्य समझना चाहिए। उनको समझाने या हरानेवाला कहाँ ? जिसे शङ्कानिवृत्ति करानी होगी वह समित्पाणि हो कर किसी सद्गुरु से

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्

कहेगा या पटैले और छुरे पर घी-गुड़ चढ़ानेवालों और तद्विषयक शुष्क वितण्डावाद में अपना तथा अन्य हज़ारों आदमियों का वक़्त बरबाद करनेवालों का पारस्परिक जल्पना-जाल सुनने आवेगा ?

बात बात में दुर्वचन, बात बात में कटूक्ति, बात बात में विषम व्यङ्ग्य, बात बात में गन्दी दिल्लगी ! ख़ूब शास्त्रार्थ हुआ ! ख़ूब धर्म्माराधना हुई ! शास्त्रज्ञता का ख़ूब ही नक़ारा बजा। इस पुस्तक से तो यही सूचित होता है कि इस गुण-विशेष में वही पक्ष प्रबल रहा जिसकी कृपा से हमें प्रस्तुत पुस्तक समालोचनार्थ प्राप्त हुई है। पर दूसरे पक्ष ने भी इस अलौकिक गुण का तिरस्कार नहीं किया। सम्भव है, उसकी प्रकाशित पुस्तक में इस देवदुर्लभ मधुरालाप का विशेष विस्तार हुआ हो।

इन धर्म्मध्वजियों के मुक़ाबिले में तो हम ब्रह्म-समाज और राधास्वामी-सम्प्रदाय के अनुयायियों को ही भले कहेंगे। वे मर्म्म-भेदी भाषण तो नहीं करते, कुत्सा और कदर्थना से तो दूर रहते हैं, शास्त्रार्थ के लिए लोगों को ललकारते तो नहीं फिरते, अपने सिद्धान्तों के अनुसार जिसे वे धर्म्म समझते हैं उसका चुपचाप अनुष्ठान तो करते हैं। हाँ, शुद्ध भाव से यदि कोई उनसे कुछ पूछता है तो उसकी शङ्का का समाधान भी कर देते हैं।

हिन्दू-समाज की बुरी दशा है ! उसके यों ही अनेक टुकड़े हो गये हैं। शाखा-प्रशाखाओं और भेद-भावों से वह कमज़ोर हो रहा है। इस कारण, इस समाज के अनुयायियों में बहुत कम एकता पाई जाती है। और, एकता का महत्त्व कितना है, यह कौन नहीं जानता। इस दशा में इस तरह के शास्त्रार्थों से लाभ तो कुछ भी नहीं, हानि बहुत अधिक हो रही है। इनके कारण पारस्परिक ईर्षा-द्वेष बढ़ता है। एक पक्षवाला दूसरे पक्ष के दोष देखने में सहस्राक्ष बनने की चेष्टा करता है। विद्वेषाग्नि बढ़ती है; एकता और भी कम होती है; पारस्परिक प्रेम दूर भागता है। इस दुर्दशा के दर्शन से बचने के लिए ऐसे शास्त्रार्थों का एक दम बन्द हो जाना ही हितकर है। समाज का कल्याण इसी में है। कोई पक्ष अपने धार्म्मिक विचार न छोड़े। जिसे जो पथ श्रेयस्कर समझ पड़े वह उसीका अनुसरण करे और उसकी वह मनमानी प्रशंसा भी करे। बस वह इतनी ही कृपा करे कि दूसरों के धार्म्मिक विचारों, धर्म्म-पुस्तकों और धर्म्मानुष्ठानों की निन्दा से बचा रहे।

किसी को व्यर्थ पीड़ा पहुँचाना—उसे पातकी, कपटी, अनृत-वादी आदि कहना—कोई पुण्य-कार्य्य नहीं। उससे पुण्य-प्राप्ति नहीं होती; कुछ और ही होता है। इस तरह का व्यवहार मनुष्य के बनाये हुए पीनल कोड में भी अपराध माना गया है। ईश्वर के क़ानून की तो कथा ही क्या। क्या ही अच्छा हो, यदि दोनों पक्षवाले अपने इस कार्य्य पर पश्चात्ताप करके अब बारी बारी से यह कहें—

(१) क्षन्तव्यो मेऽपराधो दशरथतनय श्रीपते रामचन्द्र।
(२) क्षन्तव्यो मेऽपराधस्तनुजनुरहित श्रीश सर्वान्तरात्मन्।

कोर कसर

चौतुका

देस का दुख न देखनेवाले । देख पाये कहीं न तुम जैसे ।
आँख ऊँची न रख सके जब तो । आँख ऊँची भला रहे कैसे ॥ १ ॥
वे बिचारी फूल जैसी लड़कियाँ। जो नहीं बलिदान होते भी अड़ीं ।
आँखवाले हम तुम्हें कैसे कहें । जब नहीं आँखें अभी उन पर पड़ीं ॥ २ ॥
जब कि कस ली पत गँवाने पर कमर । पत उतरने में रहा तब कौन डर ।
बे परद क्यों हों न परदेवालियाँ । पड़ गया परदा तुम्हारी आँख पर ॥ ३ ॥
हम कहें कैसे कि आँखें हैं खुली । सामने जब साँसतें हैं हो रही ।
निज बुरी गत देख कर नहिँ देखते । आँख का है बन्द कर लेना यही ॥ ४ ॥
नित कचूमर है धरम का कढ़ रहा । है भली करनी कलपती दुख भरी ।
जो गई हैं बाहरी आँखें बिगड़ । तो गईं क्यों फूट आँखें भीतरी ॥ ५ ॥
लड़ पड़े पोत के लिये सग से । दूसरे लूट ले चले मोती ।
एक क्या लाख बार देखे भी । आँख इसकी हमें नहीं होती ॥ ६ ॥
जब कि दबते गये दबाने से । लोग कैसे न तब दबावेंगे ।
जब कि हम आँख देख लेवेंगे । लोग आँखें न क्यों दिखावेंगे ॥ ७ ॥
दिन गये सिंह मार लेने के । है भला कौन मार मन पाता ।
मारते हैं जमा पराई अब । है हमें आँख मारना आता ॥ ८ ॥
मिट चले हैं एक दिन मिट जायँगे । सहेंगे फूटी, न आँजी सहेंगे ।
क्या बचायेंगे किसी बे दीन को । हम सदा आँखें बचाते रहेंगे ॥ ९ ॥
बिदअतें देख देख अपनों की । चोट जीने न भूलकर खाई ।
डूबता देख जाति का बेड़ा । कब कभी आँख डब डबा आई ॥ १० ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

संस्कृत-नाटकों की उत्पत्ति तथा परिणति

[१]

प्रसिद्ध ही है कि हिन्दुओं के प्रायः समस्त शास्त्र देवताओं से प्राप्त हुए हैं। ऋषियों ने तपोबल से देवताओं के पास जा जा कर विशेष विशेष शास्त्रों को अधिगत किया है। भरत मुनि ने ब्रह्मा से नाट्य-शास्त्र प्राप्त किया तथा उन्हीं से इसे वेद की उपाधि मिली। इस नाट्यवेद में चारों वेदों से उपकरण सङ्ग्रह किया गया है—अर्थात् ऋग्वेद से वाक्यावली, साम से गायन-भाग, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस-सङ्ग्रह। यथा—

सङ्कल्प्य भगवानेवं सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चैकं चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामेभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

भरत-नाट्यशास्त्र अ० १-१६-१७

अभिनवगुप्ताचार्य ने नवीं शताब्दी में नाट्य-शास्त्र की जो टीका बनाई उसका नाम उन्होंने "भरतनाट्यवेदविवृति" रक्खा। ये महाशय भी भरत ही को नाट्यवेद का रचयिता या प्रयोजक समझते हैं। संस्कृतनाटकों के अभिनेता "भरतपुत्र" या "भरतशिष्य" कहलाते हैं। संस्कृतनाटकों के अन्तिम आशीर्वादवाक्यों को "भरतवाक्य" कहते हैं। भरतमुनि संस्कृतनाटकों का प्रयोग स्वर्ग में किया करते थे, यह बात नाटकों में ही कहीं कहीं लिखी है। कालिदास के विक्रमोर्वशी नाटक के तृतीयाङ्क में भरत के दो शिष्य आपस में बात-चीत करते हुए कहते हैं—"अपि गुरोः प्रयोगेण दिव्या परिषदाराधिता"—अर्थात् गुरु-देव के अभिनय-कौशल से स्वर्गस्थ देवता सन्तुष्ट हुए या नहीं ? भवभूतिकृत उत्तररामचरित के चौथे अङ्क में, लव के वचन में भी, इसका प्रमाण पाया जाता है—"तच्च स्वहस्तलिखितं मुनिर्भगवान् व्यसृजत् भगवतो भरतस्य मुनेस्तौर्यत्रिकसूत्रकार-स्य"। वाल्मीकि ने भी रामायण में अभिनय की चर्चा करते हुए भरत को तौर्यत्रिकसूत्रकार तथा नृत्यगीतवादित्रशास्त्राचार्य कहा है। इन बातों से विदित है कि भरत मुनि ही नाट्यशास्त्र के प्रथम प्रयोजक थे।

नाट्यों का प्रयोग—नाट्यवेदरचना के पीछे भरत मुनि ने ब्रह्मा से पूछा कि भगवन् ! इस नाट्य-वेद को हम क्या करें ? ब्रह्मा ने कहा कि इन्द्रध्वज नामक पूजा-महोत्सव उपस्थित है। उसी समय इसका अभिनय कीजिए। (ना०, अ० १, श्लोक २१)

पहले पहल "देवताओं द्वारा असुरों का परा-जय" नामक नाटक खेला गया। इससे सुर प्रसन्न, असुर क्रुद्ध हुए। राक्षसों ने दल बाँधकर उपद्रव मचाना आरम्भ किया। फल यह हुआ कि पात्रों के वाक्यों में अशुद्धियाँ होने लगीं ; स्मृति का ह्रास भी होने लगा। नाटक में इस प्रकार बाधा होते देख, इन्द्र ने समाधि द्वारा इसका कारण जानना चाहा। यथार्थ कारण ज्ञात होने पर इन्द्र ने अपना ध्वज लेकर उसके प्रहारों से असुरों को ऐसा जर्जर किया कि वे भाग गये। तभी से उस ध्वज का नाम जर्जर पड़ा। (नाट्यशास्त्र—१-३९।)

जब भरत ने देखा कि राक्षस लोग नाटक में विघ्न डालना किसी तरह नहीं छोड़ते तब वे शिष्यों समेत ब्रह्मा के पास जाकर बोले—"........रक्षा-विधिं सम्यगाज्ञापय सुरेश्वर (नाट्यशास्त्र—१-४४) अर्थात्, हे सुरेश्वर, हमारी रक्षा का उपाय बताइए। ब्रह्मा ने यह सोच कर कि किसी विशेष उपाय के अभाव में राक्षस लोग बार बार बाधा डालते ही रहेंगे, विश्वकर्मा को बुलाया। उसे उन्होंने सर्वगुणों या लक्षणों से सम्पन्न एक नाट्य-गृह बनाने की आज्ञा दी (कुरु लक्षणसंयुक्तं नाट्य-वेश्म महामते—नाट्यशास्त्र १—४५।)

नाट्यवेश्म (थियेटर)। नाटक-घर बन जाने पर ब्रह्मा ने उसे स्वयं जाकर देखा और उसके भिन्न भिन्न भागों पर अलग अलग देवों को रक्षा के लिए नियुक्त किया। चन्द्रदेव को मण्डप की रक्षा का काम मिला। नेपथ्य की रक्षा के लिए मित्र नियुक्त किये गये। अग्नि को वेदी की रक्षा सौंपी गई। द्वारदेश, धारण, शाला, देहली, रङ्गपीठ (नृत्यस्थान) मत्तवारुणी इत्यादि भागों पर शेष देवगण नियुक्त किये गये। रङ्गपीठ की रक्षा करना इन्द्र ने स्वीकृत किया। यक्ष, गुह्यक आदि रङ्गपीठ के नीचे के भाग की रक्षा करने लगे। जर्जर-दण्ड की रक्षा के लिए ५ देव नियुक्त हुए। वासवदत्ता में 'मत्तवारुणी' शब्द मिलता है। हलायुध की अभिधान-रत्नमाला में 'मत्तवारुणी' का अर्थ अपा-श्रय लिखा है, जिसका उल्लेख रामायण में भी पाया जाता है। इस (अपाश्रय) का आधुनिक अर्थ चँदोवा (An awning spread over a court yard : M. Williams) होता है।

इस तरह जब दैत्यों ने देखा कि नाटक में बाधा डालना कठिन है, तब वे ब्रह्मा के पास जाकर कहने लगे (नाट्यशास्त्र, १·७०) कि हमारा अपमान करने के लिए आपने यह उपाय क्यों सोचा? क्या देवताओं की तरह हम आपकी सृष्टि नहीं? ब्रह्मा ने उन्हें समझाया कि नाटकों का उद्देश देवताओं का उत्कर्ष तथा तुम्हारा अपकर्ष दिखाना नहीं। उसके द्वारा सभी को उपदेश दिया गया है। जो जो भाव प्राणी के मन में उदित होते हैं उनको यथार्थ रूप में दिखाना ही साधारणतया नाटक का मुख्य उद्देश है। अतः उनसे सभी ज्ञान-सम्पादन कर सकते हैं—

दुःखार्तानासमर्थानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम्॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥

ना० अ० १—८०-८१।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि हिन्दुओं में नाट्यगृह, रङ्गपीठ इत्यादि न थे और नाटक राज-प्रासाद अथवा खुले मैदानों में किया जाता था। किन्तु प्रेक्षागृह, नाट्यवेश्म, नेपथ्यगृह, रङ्गपीठ, मत्तवारणी इत्यादि शब्द इसके विरुद्ध साक्षी देते हैं। नाट्यशास्त्र में नाना प्रकार के मण्डप तथा प्रेक्षागृह बनाने की विधि भी लिखी है, जिससे स्पष्ट है कि पूर्वोक्त कथन प्रमाणनीय नहीं।

नाट्य-मण्डप के आकार-भेद—नाट्य-मण्डप तीन प्रकार का होता है—अर्थात् (१) विकृष्ट या वृत्ताभास (Eliptical), (२) त्र्यग या त्रि-कोण (Triangular), (३) चतुरस्र या चतुष्कोण (Rectangular)। त्रिकोण प्रेक्षागृह कनिष्ठ, चतुरस्र मध्यम और विकृष्ट ज्येष्ठ होता है। प्रथम, अर्थात् विकृष्ट, देवताओं के लिए (देवानां तु भवेज्ज्येष्ठम्), चतुरस्र राजाओं के लिए (नृपाणां मध्यमं भवेत्) और त्रिकोण साधारण लोगों के लिए निश्चित किया गया है।

नाट्य-मण्डप का विस्तार (Dimension) विश्वकर्मा देवताओं के इञ्जीनियर थे। उन्होंने परिमाण के अनुसार, नियमित रूप से नाप कर, प्रेक्षागृह बनाये। उनके परिमाण का विभाग इस प्रकार है—

८ अणु = १ रज	८ यूका = १ यव
८ रज = १ बाल	८ यव = १ अंगुल
८ बाल = १ लिक्षा	२४ अंगुल = १ हाथ
८ लिक्षा = १ यूका	४ हाथ = १ दण्ड

ना० शा० अध्याय २

अणवाष्टौ रजः प्रोक्तं तान्यष्टौ बाल उच्यते।
बालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा, यूका लिक्षाष्टकं भवेत्॥
यूकास्त्वष्टौ यवो ज्ञेयो यवास्त्वष्टौ तथाङ्गुलम्।
अङ्गुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशतिरुच्यते॥
चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः।
अनेनैव प्रमाणेन वक्ष्याम्येव विनिर्णयम्॥

नाट्य०, अ० २, श्लो० १७—१९

पहले प्रकार के प्रेक्षागृह की लम्बाई १०८ हाथ, दूसरे की लम्बाई चौड़ाई ६४ × ३२ हाथ और तीसरे की ३२ हाथ। प्रेक्षागृह का विस्तार इससे अधिक न होना चाहिए, क्योंकि अधिक विस्तार से पात्रों को उच्च स्वर से बोलना पड़ता है। उससे स्वर में विकार आ जाता है। मुख, नेत्रादि द्वारा भावों के प्रकाशन में कठिनता पड़ती है तथा दूर-स्थित दर्शकों को स्पष्ट नहीं दिखाई देता। अतएव चतुष्कोण प्रेक्षागृह आदरणीय है (प्रेक्षा-गृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यम इष्यते, ना० २-२१-४४)

रङ्गपीठ (स्टेज) भूमि सम, स्थिर, कठिन, काली होनी चाहिए। अस्थियाँ, कीलें, तृण, गुल्म इत्यादि निकाल डालना चाहिए। बिना गाँठ की एक रस्सी से ६४ हाथ लम्बी तथा ३२ हाथ चौड़ी भूमि नाप लेनी चाहिए। लम्बाई के आधे

भाग में प्रेक्षक-परिषद् तथा आधे में रङ्गपीठ होना चाहिए। रङ्गपीठ के सबसे पिछले भाग में, ४ हाथ लम्बे, लकड़ी के ६ खम्भों पर रङ्गशीर्ष बनाना चाहिए। उसमें नानाविध देवताओं की पूजा होती है। रङ्गशीर्ष के बाद नेपथ्य बनाना चाहिए। रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्य के बीच दो द्वार होते हैं। नाट्य-मण्डप दोमंज़िला होता है। स्वर्ग या आकाश की घटनाओं को ऊपर के खण्ड में दिखाते हैं; पृथ्वी की समस्त घटनायें नीचे के खण्ड में। ऊपर के खण्ड में छोटी छोटी खिड़कियाँ होती हैं, क्योंकि बड़ी खिड़कियाँ होने से बाजों का गम्भीर शब्द रुक नहीं सकता, जिससे स्वर की गम्भीरता नष्ट होती है। भीतों पर पलस्तर (plaster) किया जाता है। फिर वे चूने से पोती जाती हैं। भीतों के सूख जाने पर नाना प्रकार के चित्र उन पर अङ्कित किये जाते हैं।

प्रेक्षक परिषद्—ऊपर कहा ही जा चुका है कि नाट्य-मण्डप के दूसरे अर्ध-भाग में प्रेक्षक-परिषद् बनाई जाती है। उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों के बैठने की जगह रहती है। बैठक की बनावट सीढ़ियों के सदृश होती है। आसन ईंट या लकड़ी के बनाये जाते हैं। प्रत्येक पंक्ति की श्रेणी दूसरी से एक हाथ ऊँची रहती है—

इष्टकैर्दारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ।
हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः ॥
रङ्गपीठावलोक्यन्तु कुर्यादासनजं विधिम् ॥
नाट्य० अ० २-७९—८१

समस्त आसन इस तरह बनाने चाहिए जिसमें प्रेक्षक अच्छी तरह रङ्गपीठ देख सकें। सामने ब्राह्मणों का आसन होता है। वहाँ श्वेत स्तभ होते हैं। उसके बाद क्षत्रियों का, जिसमें रक्त-वर्ण स्तम्भ होते हैं। क्षत्रियों के पीछे जो स्थान बचता है, उसको दो भागों में विभक्त करते हैं—पश्चिमोत्तर-भाग में वैश्य बैठते हैं, जहाँ खम्भे पीले होते हैं और पूर्वोत्तर-भाग में शूद्र, जहाँ नीले खम्भे होते हैं (ना० शा० अ० २-४८-५१)

गृह-प्रवेश—नाट्य-मण्डप बन जाने पर एक सप्ताह तक उसमें जप-पारायण आदि ब्राह्मणों का, तथा वास गायों का होता है। इसके पीछे नाटका-ध्यक्ष, त्रिरात्र उपवास द्वारा शुद्धि प्राप्त करके, अखण्ड (छिद्र-रहित अर्थात् नूतन) वस्त्र पहन कर, विशेष मन्त्रोच्चारण के साथ, निम्नलिखित देवताओं की पूजा करता है—महादेव, पितामह ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सरस्वती, लक्ष्मी सिद्धि, मेधा, धृति, मति, सोम, सूर्य, मरुत, लोकपाल, अश्विनी-कुमार, वरुण, अग्नि, रुद्र, काल, कलि, मृत्यु, नियति, नागराज वासुकि। इसके अनन्तर स्वर, वर्ण, विष्णु, प्रहरण, यक्ष, गुह्यक, भूतगण, नाट्य-कुमारी और ग्रामाधिपति की पूजा करके नाटका-ध्यक्ष प्रार्थना करता है—आप लोग आकर नाटक की सिद्धि में रात को सहायता दीजिए। फिर जर्जर-पूजा होती है। ऊपर हम कही चुके हैं कि इन्द्रध्वज का नाम जर्जर कैसे पड़ा। जर्जर-पूजा का मन्त्र यह है—

महेन्द्रस्य प्रहरणं त्वं दानवनिपूदन ।
नमितस्तु सर्वदेवैः सर्वविघ्ननिबर्हण ॥
नृपस्य विजयं शंस रिपूणाञ्च पराजयम् ।
गोब्राह्मणशिवं चैव नाट्यस्य च विवर्धनम् ॥
शिरस्तु रक्षतु ब्रह्मा सर्वदेवगणैः सह ।
द्वितीयं च हरः पर्व तृतीयं तु जनार्दनः ॥
चतुर्थं तु कुमाराश्च पञ्चमं पन्नगोत्तमाः ॥
नित्यं सर्वेऽपि यान्तु त्वां पुनस्त्वञ्च शिवो भव ।
(ना० शा० अ० ३-११-१२, ७१, ७२)

फिर अग्नि में होम करके नाट्याचार्य रङ्गमध्य में पूर्ण कुम्भ फोड़ता है। रङ्गस्थान (थियेटर) उज्ज्वल दीपों से प्रदीप्त किया जाता है। रङ्गस्थान में पूजा न करके जो नाटक का प्रयोग करता है उसका

कार्य सफल नहीं होता और वह तिर्यग्योनि को प्राप्त होता है।

(असमाप्त)

सरस्वतीतनय काले, एम ए०

साख।

(१)

क ठण्ढी साँस भर कर मथुराप्रसाद चन्दो की माँ से बोले—क्या कहूँ! रुपयों का तो कहीं दूर तक पता नहीं और चन्दो का विवाह निकट आ रहा है। अब क्या उपाय करें? लछमन बेईमान ने तो पूरा धोखा दिया। मैं तो उसे अपना मित्र समझता था—ग़रीब ब्राह्मण से विश्वासघात करना और वह भी कन्या के मुआमिले में?

चन्दो की माँ ने भी एक लम्बी साँस ली और बोली—मैं क्या बताऊँ? तुमसे अधिक मैं क्या सोच समझ सकती हूँ? कम से कम पान सौ रुपै तो हो; इस से कम में काम न चलेगा।

मथुराप्रसाद—पाँच सौ रुपये तो तब पूरा पाड़ सकते हैं जब बड़ी कंजूसी से काम किया जाय; नहीं तौ सात आठ सौ से कम न लगेंगे। और यहाँ सात आठ सौ क्या, सौ पचास का भी ठिकाना नहीं।

चन्दो की माँ—न हो लछमन के पास एक बेर फिर जाओ।

मथुरा—जाने को तो कहो मैं बीस बेर चला जाऊँ किन्तु वह देगा नहीं। क्या मैंने तुमसे बताया नहीं? अरे वह कल लड़ने को खड़ा हो गया; कहने लगा—जाओ, नहीं देते, जो करना हो करो, हमारे पास जब होंगे तब देंगे।

चन्दो की माँ—तो फिर क्या होगा?

मथुरा—यही तो मैं भी सोच रहा हूँ। अब तो आबरू ईश्वर के हाथ है। अच्छी अभागी लड़की पैदा हुई। जब से हुई तब से एक दिन भी चैन से बैठने को न मिला।

चन्दो की माँ—लड़की का क्या दोख? दोख तो अपने भाग का है।

मथुरा—उसके ग्रह ही नीच के पड़े हैं। लड़का ढूँढ़ने में जब आकाश-पाताल एक किया तब कहीं मिला। लड़का मिल गया तो यह मुसीबत पड़ी।

चन्दो की माँ—और मैंने कितनी बेर मना किया कि रुपै न दो न दो। हजार पान सौ की पूँजी ही क्या। न जाने कैसा बखत पड़े कैसा नहीं। पास पैसा होने से अच्छा होता है।

मथुरा—तो मैं क्या जानता था कि वह आये दिन पर दगा देगा। मैंने तो मित्र समझ कर उस समय काम निकाल दिया। देखा था, कितनी खुशामद करता था और कहता था कि इस समय दे दो, फिर जिस समय माँगोगे उसी समय दे दूँगा। ख़ैर, नेकी नेकश बदी बदश।

चन्दो की माँ—तो अब क्या वह रुपै न देगा?

मथुरा—अजी राम भजो, ऐसा भला कहीं हो सकता है। देगा नहीं तो जायगा कहाँ? किन्तु फिर दिया तो क्या? हमें तो इसी समय चाहिए।

चन्दो की माँ—तो न हो तब तक किसी से उधार ले लो। जब वह दे दे देना।

मथुरा—उधार भला कौन देगा? न हमारे पास कोई जायदाद न कोई वसीला। और कोई समय होता हो गहना गिरवी रख देते। पर यह विवाह का काम है। इसमें गहने, कपड़े की तो आवश्यकता ही रहेगी।

चन्दो की माँ—मेरे पिता कहा करते थे कि उनके बाबा ने एक बेर अपनी मूँछ का बाल गिरवी धर कर रुपै लिये थे।

मथुरा—अरे तुम भी बाबा आदम के ज़माने की बातें करती हो। वह ज़माने गये। अब वह समय कहाँ? अब तो विना गहना अथवा ज़मीन धरे कोई एक रुपया भी उधार नहीं देता। और दे भी कैसे। एक एक पैसे पर लोग झूठी गङ्गा उठाते हैं।

चन्दो की माँ—पर तुमने तो लछमन को योंही आठ सौ रुपै उठा दिये।

मथुरा—अरे तो सब हमारे से गधे थोड़े ही हैं। उसी

समय एक १२, १३ वर्ष की लड़की उस स्थान पर आ गई।

लड़की को देखते ही चन्दो की माँ बोली—क्या है, चन्दो ?

चन्दो—पिता जी आप को नीचे कालीचरण चाचा बुला रहे हैं।

"ऐं, कालीचरण"—यह कह कर मथुराप्रसाद चारपाई पर उछल कर बैठ गये।

(२)

"ओ हो! भाई कालीचरण, तुम कहाँ ? तुम तो मिर्ज़ापुर गये थे।"

कालीचरण ने कन्धे पर पड़े हुए दुपट्टे से मुँह पोछते हुए उत्तर दिया—हाँ, बनारस से जो चिट्ठी मैंने तुम्हारे पास भेजी थी उसमें तो यही लिखा था। पर फिर यहाँ एक ज़रूरी काम आ पड़ा। इसलिए यहाँ आना पड़ा। अब दो तीन दिन में जाऊँगा। भई, अब तो गरमी पड़ने लगी।

मथुरा—हाँ, गरमी तो पड़ने लगी (आवाज़ देकर) अरी चन्दो, ज़रा पंखा तो दे जा। (मथुरा से) जल वल तो न पियोगे ?

कालीचरण—नहीं, खा पी कर आया हूँ।

चन्दो पंखा ले आई।

मथुरा—(चन्दो से) चाचा के पंखा झल।

चन्दो पंखा झलने लगी।

कालीचरण—नहीं बेटी तू रहने दे। ला मुझे दे दे। यह कह कर कालीचरण ने चन्दो के हाथ से पंखा ले लिया और झलने लगे।

मथुरा—(चन्दो से) अच्छा तो, तू जा।

चन्दो के चले जाने पर कालीचरण बोले—भई ऐसी सीधी और लक्ष्मीरूपिणी लड़की मैंने एक भी नहीं देखी। ईश्वर इसे चिरायु करे। मैं तो इसे देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ।

मथुरा—भाई, सीधी लक्ष्मीरूपिणी चाहे जितनी हो। किन्तु है भाग्य की हेठी। इसके कारण मुझे महाकष्ट मिल रहा है।

कालीचरण—तुम भी क्या लचर बात मुँह से निकालते हो। भाग्य की हेठी है, तुम्हें यह बेचारी क्या कष्ट देती है ? अरे, हाँ, यह तो बताओ, इसके व्याह की कौन तिथि नियत हुई ?

मथुरा—तिथि नियत हो गई है। आज से पूरा डेढ़ महीना है। मैं तो तुम्हें चिट्ठी लिखनेवाला था।

कालीचरण—क्यों ?

मथुराप्रसाद—भाई, मेरी स्थिति तो तुम्हें मालूम ही है। ५० रुपये मासिक पाता हूँ। वह खाने पहनने ही भर को होता है। ख़ैर, किसी न किसी प्रकार पेट काट कर ८००) रुपये जमा किये थे। वे भले बुरे समय के लिए पड़े थे। सो एक दिन लछमनप्रसाद हाथ पैर जोड़ कर माँग ले गये। कह गये थे कि जब माँगोगे दे दूँगा। ख़ैर—उन्हीं के भरोसे मैंने विवाह ठीक ठाक कर लिया। अब जो लछमन से रुपये माँगे तो साफ़ जवाब दे दिया। कहने लगे—इस समय हैं नहीं। बहुत कुछ कहा सुना। किन्तु एक न मानें; उलटा लड़ने पर तैयार हो गये। घर में कौड़ी नहीं, विवाह कैसे हो। आबरू कैसे रहे। विवाह निश्चित न हुआ होता तो दो चार महीने और टाल ले जाता। किन्तु अब तो लगन वगन सब जा चुकी है। अब टल ही नहीं सकता।

कालीचरण—(सोच में पड़ कर) हूँ, निस्संदेह कष्ट की बात है।

मथुराप्रसाद—क्या बताऊँ। सोच के मारे मुझे तो खाना पीना हराम हो रहा है। कोई जायदाद होती तो गिरवी रख देता। केवल हज़ार बारह सौ का गहना है। सो इसे धर दूँ तो विवाह में स्त्री क्या पहनेगी। चार अपने पराये जमा होंगे। उस समय नङ्गी घूमेगी तो लोग क्या कहेंगे ?

कालीचरण—नहीं जी, ऐसे समय में गहना क्या गिरवी करोगे। अच्छा तो तुम ने क्या सोचा है ?

मथुराप्रसाद—क्या बताऊँ ? (आँखों में आँसू भर कर) मेरे मित्र कहो, भाई कहो, सहायक कहो, जो कहो सो तुम हो। लछमन को भी मैं ऐसा ही समझता था। किन्तु उसने जो किया सो अच्छा ही किया। अब इस समय तुम्हारे सिवा मुझे और कोई मददगार नहीं दिखाई पड़ता।

कालीचरण—क्या कहूँ, मेरी दशा भी तुम्हें मालूम ही है। मेरे ऊपर भी तो ईश्वर का कोप है। जब से यह मुक़द्दमा पीछे लगा, मैं एक एक पैसे के लिए तङ्ग हो रहा हूँ।

मथुराप्रसाद—यही सोच समझ कर तो मैंने तुम्हें कुछ लिखा नहीं। चन्दो की माँ ने कई बेर कहा भी। किन्तु, भाई, मुझे लज्जा आती थी कि ऐसे समय में हो सके तो तुम्हारी कुछ सहायता करनी चाहिए, न कि उलटा तुम्हीं को तंग करूँ। तुम तो आपही कष्ट में हो। इसी लिए मैंने सोचा कि चाहे जो हो, तुम्हें परेशान न करूँगा।

कालीचरण—ख़ैर, मुझ पर तो जो पड़ रही है वह भुगत ही रहा हूँ। किन्तु इस समय मैं अपना कष्ट भूल गया। अब तो मुझे तुम्हारी पड़ रही है। भाई, चाहे मेरे पास इस समय एक कौड़ी भी न हो, किन्तु तुम्हारी दया से बाज़ार में इतनी साख है कि जिस महाजन से कह दूँ, हज़ार पाँच सौ योंही उठा दे। पर, भाई, समय बुरा है, दम का भरोसा नहीं। किसी का लेकर मर गये तो परलोक भी बिगड़ा और इस लोक में भी नक्कू बने। यही सोच कर आज तक मैंने किसी से एक पैसा तक उधार नहीं लिया। खुद कष्ट भोग रहा हूँ, पर दूसरे से नहीं माँगता।

मथुराप्रसाद मित्र की बात सुन कर मन ही मन बड़े हताश हुए। सोचा—जो अपने लिए उधार लेना पसन्द नहीं करता वह हमारे लिए क्या प्रबन्ध करेगा? कुछ क्षण तक चुप रह कर कालीचरण बोले—अच्छा तुम ज़रा मेरे साथ चलो।

मथुराप्रसाद—इसी समय?

कालीचरण—हाँ इसी समय।

मथुराप्रसाद—कहाँ चलोगे?

कालीचरण—कहाँ, पूछो। चुपचाप चले चलो।

अब मथुराप्रसाद को कुछ आशा बँधी। शीघ्रता-पूर्वक उठ कर वे अन्दर गये और चन्दो की माँ से चार बीड़े पान लगाने के लिए कह कर स्वयं कपड़े पहनने लगे। चलते समय चन्दो की माँ ने पति के हाथ में पान देकर पूछा—ऐसी दुपहर में कहाँ चले?

मथुराप्रसाद—कालीचरण आये हैं। उनसे मैंने अपना सब हाल कहा था। वही अब कहीं लिवाये जा रहे हैं। जान पड़ता है, रुपयों का प्रबन्ध करेंगे।

चन्दो की माँ आँखों में आनन्दाश्रु भर कर बोली—भगवान उसे दूधपूत से सुखी रक्खे। बड़े सङ्कट में काम आया।

मथुराप्रसाद पत्नी के वाक्य मन ही मन दुहराते बाहर आये।

(३)

मथुराप्रसाद को लेकर कालीचरण बनारसीदास महाजन के यहाँ पहुँचे। कालीचरण को देखते ही लाला बनारसीदास बोले—ओ हो! पण्डतजी, कहाँ चले गये थे। भोत दिनों पीछे दर्सन भये।

कालीचरण—क्या बताऊँ लालाजी, उसी मुक़द्दमे के फेर में मारा मारा फिरता हूँ।

बनारसीदास—अभी कुछ तोड़ नहीं भया?

कालीचरण—अभी कहाँ। हाईकोर्ट में अपील कर रक्खी है।

बनारसीदास—अच्छा, परागराज पहोंच गये। चलो इसी बहाने तिरबेनी जी न्हा लिये।

कालीचरण और मथुराप्रसाद दोनों ने अपने मन में कहा—मर, कमबख़्त। कहता है, इसी बहाने नहा लिये। अच्छा बहाना है। ईश्वर न करे किसी को ऐसा बहाना मिले।

बनारसीदास—अब तो आप जादातर कांसीजी में ही रहते हो।

कालीचरण—हाँ, वहीं कुछ काम काज छेड़ा है।

बनारसीदास—चलो, अच्छी बात है। अब की बुढ़वामङ्गल पर म्हारी इच्छा भी उधर आवने की है।

कालीचरण—अच्छी बात है, अवश्य आना।

बनारसीदास—और कहिए। लड़ाई की क्या खबर है?

कालीचरण—अजी लड़ाई की ख़बरें सब वैसी ही हैं। अच्छा, ये बातें तो हुआ ही करेंगी इस समय आप से एक ज़रूरी काम है।

बनारसीदास—कहिए, हुकम?

कालीचरण—इस समय हमें एक हज़ार रुपये की बड़ी ज़रूरत है।

बनारसीदास—बस, कुल। जे कौन बात है। अभी लो (मुनीमजी की ओर ताली फेंक कर) मुनीम जी, जरा तिजोरी खोल के एक हज्जार रुपै तो निकालो।

कालीचरण—अरे भई नोट नहीं है? रुपये कौन लाद के ले जायगा?

बनारसीदास—नोट होंगे तो जरूर पर पूरे हज्जार के ना होंगे; कुछ कम होंगे।

कालीचरण—अच्छा जितने नोट हों दे दो। बाक़ी रुपये।

कालीचरण का प्रभाव देख कर मथुराप्रसाद चकित होगये। सोचने लगे, साख भी क्या चीज़ है। इसी की वदौलत आज यह एक तोड़ा किस सुगमता से मिला। जिसकी साख नहीं, उसे तो कोई एक रुपया भी नहीं देता।

रुपये सँभालते हुए कालीचरण बोले—भई बनारसीदासजी, यदि तुम्हें कुछ खटका हो तो मैं हुण्डी लिख दूँ।

बनारसीदास—अजी राम राम पण्डतजी। क्या बातां करो हो। हम तो थ्हारे दास हैं। हज्जार पान सौ की बात क्या है। थ्हारी जुबान ही हुण्डी से जादां है। थ्हारे ऐसा ईमानदार कोई हो तो ले। मुझे तो आज तक कोई मिला नहीं। (मथुराप्रसाद की ओर इशारा करके) आपकी तारीप।

कालीचरण—ये हमारे मित्र हैं। नाम मथुराप्रसाद है। गवर्नमेण्ट स्कूल में मास्टर हैं।

बनारसीदास—अच्छा, जे कहो। म्हारा रामसरन भी गवरमिण्ट मे पढ़े है।

मथुराप्रसाद—रामसरन आपही का पुत्र है? वह तो मेरे ही दर्जे में पढ़ता है।

बनारसीदास—(हँस कर) चलो यह और भी अच्छी बात भई। पण्डतजी, जरा उसे धमकाया करो। पढ़ने में चित नहीं लगावे है।

मथुराप्रसाद—चित्त तो लगाता है। यों तो सभी लड़के खिलाड़ी होते हैं।

बनारसीदास—हाँ, या तो तमने ठीक कही। पण्डतजी एक किरपा करो तो बड़ी अच्छी बात हो।

मथुराप्रसाद—कहिए।

बनारसीदास—उसे एक घण्टा घर पे भी पढ़ा दिया करो।

कालीचरण—अजी ये तो घर के आदमी हैं। कृपा की क्या बात है। जब से कहो आजावें।

बनारसीदास—कोई अच्छा महूरत देख के आजाना। मैं तहारे देने काबल तो हूँ नहीं। पर दस रुपै पान खाने को दिया करूँगा।

कालीचरण—यार तुम भी कभी कभी लालापन पर उतर आते हो। दस पांच के खोलने की क्या आवश्यकता थी? कह दिया कि ये अपने ही आदमी हैं। जो दे दोगे लेलेंगे।

बनारसीदास—जे तो आपकी किरपा है। हम तो थ्हारे गुलाम हैं। देने लायक कहाँ हैं?

(४)

चन्दो का विवाह हुए तीन मास बीत गये। कालीचरण अपने मुक़द्दमे में ऐसे फँसे रहे कि विवाह में भी न आ सके। विवाह होने के दो मास बाद तक तो उनके पत्र मथुराप्रसाद के पास आते रहे; परन्तु इधर एक महीने से उनका कोई पत्र नहीं आया। मथुराप्रसाद बड़े चिन्तित रहते हैं।

एक दिन नियत समय पर मथुराप्रसाद बनारसीदास के यहाँ पढ़ाने गये। उन्हें देखते ही बनारसीदास बोले—पण्डतजी कुछ और भी सुना?

मथुराप्रसाद—नहीं तो। क्या हुआ?

बनारसीदास—आपके मित्र पण्डत कालीचरण का पीछा होगया।

मथुराप्रसाद पर वज्रपात हुआ। ऐं, कह कर वे काष्ठवत् बैठे रह गये। कुछ चणों के लिए उनकी इन्द्रियाँ स्तब्ध होगईं।

बनारसीदास कहने लगे—आज एक आदमी कांसीजी से आया। उससे जे हाल मालूम भया। सुना पिलेग हो गया था। सिरफ दस घण्टे में मर गए (कुछ चण तक ठहर कर) अब हमारे रुपै तो पण्डतजी डूब ही गये। हुण्डी लिखी भई होती तो उनके घरवालों से भी वसूल हो सकते थे। क्या कहूँ, उन्होंने तो कहा था। पर मैंने ही हुण्डी नहीं लिखाई। बड़ी भूल की। सोचा कि ईमानदार आदमी है। क्या हुण्डी लिखाऊँ। वे तो कुछ कह सुन गये नहीं। वह आदमी कहता था कि खाट पर गिरने के घण्टा भर पीछे ही बोल बन्द होगया था। भगवान जाने झूठ है या सच। मैंने तो आज से कसम खाली कि किसी का इतबार ना करूँगा। ईमानदारी संसार से उठ गई। रुपै लेने के तीन चार महीने पीछे मरे। देना चाहते तो दे ही देते। पर

उन्होंने तो कुछ ख़बर ही ना ली—व्याज तक नहीं भेजा। ख़ैर, अब तो जो होना था हो गया। आगे से हुसियार रहूँगा। आज कल अपने बाप का इतबार करना भी मूरखताई है।

मथुराप्रसाद ने इसका कुछ उत्तर न दिया। चुपचाप उठे और यह कह कर—"आज मैं पढ़ा नहीं सकता, कल आऊँगा"—चल दिये।

घर पहुँच कर इन्होंने यह शोक-समाचार चन्दो की माँ को सुनाया। उसने भी बड़ा दुःख प्रकट किया।

मथुराप्रसाद बोले—ऐसा मित्र अब कहाँ मिलेगा? हाय कैसे सङ्कट में काम आया था। हा भगवान, यह कैसा अनर्थ हुआ!

दो तीन दिन तक मथुराप्रसाद मित्र के शोक में अधीर रहे। बनारसीदास के यहाँ पढ़ाने भी न गये। अन्त को शोक का वेग कम हुआ। अब उन्हें बनारसीदास के रुपयों का ध्यान आया। सोचे कि रुपये तो कालीचरण ही ने लिये थे। हम से क्या मतलब? हमसे तो वह कुछ कही नहीं सकता। फिर सोचे, कि यदि रुपये होते तो दे ही देते। परन्तु यहाँ तो डौल ही नहीं।

चन्दो की माँ से बोले—क्या कहें, लछमन दुष्ट का पता ही नहीं। नहीं तो उससे रुपये लेकर दे देते। आठ सौ वह दे देता। ढाई सौ रुपया १ हज़ार में से बचा रक्खा है। काम चल जाता।

चन्दो की माँ ने पूछा—क्या तुम्हारे ही नाम से रुपये लिये थे।

मथुराप्रसाद—यही तो ख़ैर हुई। उन्होंने अपने ही नाम से लिये थे। हुण्डी पुर्ज़ा भी कुछ नहीं लिखा। वह किसी से वसूल नहीं कर सकता। उसके पास कोई प्रमाण ही नहीं। ख़ाली बही में लिख लिये होंगे। परन्तु, यह कोई प्रबल प्रमाण नहीं। ख़ैर। रुपयों की तो फ़िक्र टली। यदि कभी आ गये तो देही देंगे। नहीं तो हरि इच्छा। उसकी बातों से मालूम होता था कि वह इस विषय में कुछ करे धरेगा नहीं। सब्र करके बैठ जायगा। बेचारे कालीचरण के पास रुपये न आये होंगे। नहीं तो अब तक दे ही देते।

चन्दो की माँ—अच्छा चलो रुपयों की चिन्ता तो हटी। देखा जायगा।

मथुराप्रसाद—हाँ, रुपयों की चिन्ता तो टली।

उसी दिन रात को मथुराप्रसाद ने स्वप्न देखा—कालीचरण उनके घर आये हैं। उन्हें देखते ही मथुराप्रसाद प्रसन्न हो कर बोले—भाई, बहुत दिनों बाद आये। कोई पत्र भी नहीं भेजा। मैं तो बहुत चिन्तित था।

कालीचरण—क्या कहूँ, भाई, उसी मुक़द्दमे में लगा हुआ था। अब राम राम करके उससे छुट्टी मिली है।

मथुराप्रसाद—क्या फ़ैसला हुआ?

कालीचरण—हम जीत गये।

मथुराप्रसाद—बड़ी ख़ुशी की बात हुई।

कालीचरण—परन्तु, भाई, एक नई व्याधि खड़ी हुई है।

मथुराप्रसाद—वह क्या?

कालीचरण—बनारसीदास के रुपये नहीं पहुँचे। अभी तक तो मैं टालता रहा। किन्तु अब वह नहीं मानता।

मथुराप्रसाद—क्या कहता है?

कालीचरण—नालिश करने कहता है। गवाही में तुम्हें तलब करावेगा।

मथुराप्रसाद—अरे नहीं।

कालीचरण—ईश्वर जाने, सच बात है।

मथुराप्रसाद—तो फिर क्या किया जाय?

कालीचरण—कुछ तो करना ही पड़ेगा। ईश्वर न करे यदि कहीं नालिश हो गई तो बड़ी बेजा बात होगी, मेरी सारी ईमानदारी मिट्टी में मिल जायगी। आज तक किसी ने मेरी ओर उँगली नहीं उठाई। यदि यह बात हुई तो मैं कैसे मुँह दिखाऊँगा।

मथुराप्रसाद—तो फिर क्या किया जाय?

कालीचरण—देखो, कुछ न कुछ प्रबन्ध तो करूँगा ही। अच्छा, चलता हूँ। फिर मिलूँगा।

मथुराप्रसाद—कुछ कहने ही को थे कि उनकी आँख खुल गई।

आँख खुलते ही उनका चित्त बहुत घबराया। इनके हृदय में बनारसीदास के रुपयों की समस्या फिर से ताज़ी हो गई। सोचने लगे, इस स्वप्न का क्या अर्थ है, कुछ समझ में नहीं आता। कालीचरण को तो अब इन रुपयों

से कुछ सरोकार ही नहीं। उनकी आत्मा न जाने कहाँ हो। फिर यह स्वप्न कैसा? अरे! कल दिन भर रुपयों की बात सोचते रहे। इसी से वही बात स्वप्न में भी दिखाई दी। किन्तु—किन्तु, कहीं उनकी आत्मा को तो कोई कष्ट नहीं पहुँचा। अजी यह सब ढकोसला है। कौन जाने मरने के बाद क्या होता है। यह आत्मा वात्मा सब अँधेरे की ढेलेबाज़ी है। हटाओ भी झगड़ा। कैसे रुपये। अब हम से ले कौन सकता है?

यह सोच कर वे सोने का उद्योग करने लगे किन्तु नींद न आई। हृदय में बार बार रुपयों का प्रश्न उठने लगा। इसी उधेड़बुन में उन्हें बनारसीदास के वे वाक्य याद आये जो उन्होंने कालीचरण से कहे थे।

तुम्हारी ज़बान ही हुण्डी है। तुम्हारा सा ईमानदार कोई हो तो लो, मुझे तो कोई आज तक मिला नहीं। साथ ही वे बातें भी याद आईं जो उसने स्वयं उन से कही थीं—किसी का इतबार न करूँगा। ईमानदारी संसार से उठ गई—आज कल अपने बाप का इतबार करना भी मूर्खताई है।

उन्होंने कहा—सच तो कहता था। हमारा यह काम क्या ईमानदारी का है? क्या हमको नहीं मालूम कि कालीचरण ने हमारे ही लिए रुपये लिये थे? नहीं उन्हें क्या पड़ी थी। न्याय से तो हमीं उसके देनदार हैं। कालीचरण से क्या मतलब? वे तो निमित्त मात्र थे। यह उनकी कृपा थी कि उन्होंने बही में हमारा नाम नहीं लिखाया। अपना ही लिखा दिया। उफ़! हम सरासर बेईमानी कर रहे हैं। इस से बढ़ कर और बेईमानी क्या हो सकती है? फिर यदि बनारसीदास यह कहता था कि—ईमानदारी संसार से उठ गई—तो क्या बेजा कहता था? नहीं, बिलकुल ठीक कहता था।

ये विचार आते ही उनका हृदय ज्वालापूर्ण हो गया। रात भर पड़े तड़पते रहे। एक क्षण के लिए भी नींद न आई।

(५)

लाला बनारसीदास बैठे हुए मुनीम जी से बातें कर रहे थे उसी समय मथुराप्रसाद ने झट से रुपयों की थैली उन के सामने रख दी।

लाला ने विस्मित होकर पूछा पण्डतजी, जे क्या?

गम्भीर होकर मथुराप्रसाद बोले—आपके रुपये जो मेरे मित्र कालीचरण ने लिये थे।

अरे! कह कर बनारसीदास बोले—तो क्या वे आप को रुपै दे गये थे?

मथुराप्रसाद—अब इससे आपको क्या? आप अपने रुपये सँभाल लीजिए।

बनारसीदास—(मुसकरा कर) नहीं पण्डत जी, कुछ दाल में काला ज़रूर है। कुछ तो बताओ।

मथुराप्रसाद—क्या बताऊँ?

बनारसीदास—नहीं पण्डत जी, म्हारी खातर से बता दो।

विवश होकर मथुराप्रसाद ने सब हाल कह दिया।

बनारसीदास सुन कर चकित हो गया। उसने जी खोल कर उनकी ईमानदारी की प्रशंसा की, और जो वाक्य उसने कालीचरण के विषय में कहे थे उन पर बड़ा पश्चात्ताप किया। अन्त में उसने कहा—क्यों नहीं, जो कालीचरण आपको ऐसा न समझते तो ऐसा जोखम का काम करते ही क्यों? कि अपना नाम लिखा कर आपको रुपया दिलाते।

× × × ×

चन्दो की माँ सूखी हँसी हँस कर बोली—गहना तो चला गया।

मथुराप्रसाद प्रसन्नमुख बोले—जाने दो, ईश्वर चाहेगा तो छूट ही जायगा। मैंने बेचा तो है नहीं। गिरो रख कर महाजन का रुपया दिया है।

चन्दो की माँ—पर इस समय तो चला गया।

मथुराप्रसाद—चला कहाँ गया। उसके बदले में एक बड़ी अमूल्य वस्तु मिली।

चन्दो की माँ उत्सुक होकर बोली—वह क्या?

मथुराप्रसाद—साख, ईमानदारी।

चन्दो की माँ ने मुसकरा कर अपना सिर पति के कन्धे पर रख दिया।

उसी समय नीचे से किसी ने आवाज़ दी—मथुराप्रसाद!

मथुराप्रसाद ने पूछा—कौन है?

आवाज़ आई—अरे भाई, मैं हूँ लछमन; लो नीचे आकर अपने रुपये सँभाल लो।

मथुराप्रसाद बोले—लो अब तो गहना भी छूट गया।

चन्दो की माँ प्रसन्न होकर बोली—भगवान तू धन्य है!

मथुराप्रसाद—न्याय तू धन्य है! ईमानदारी तू धन्य है!

विश्वम्भरनाथ शर्म्मा कौशिक

पङ्कज।

उपज पङ्क से और उसीसे पोषित होता है जो नित्य
जिसका नाल विकट कण्टकमय, अन्तश्छिद्रों से परिपूर्ण
लिपटा हुआ सघन शैवल से, मैले जल की सङ्गति में
खिलता पङ्कज, अमल, मनोहर, रूप-रङ्ग रस-सुरभि सना
प्रचुर परागागार और जो है मञ्जुल मरन्द का कोष
करता रहता है जो इनका मुक्त हृदय से अविरल दान
जिसे मान कर सुमनशिरोमणि सेवन करते अमर सदा
जिसकी सुरभि वहन कर गर्वित मारुत है मन्तर चलता
तम का नाम नहीं जब रहता सत्व व्याप्त होता सब ओर
पाकर दिनकर का प्रकाश तब जो करता है हास-विलास
जिसका दरस हृदय-सरसिज को सत्वर करता है अम्लान
अहो! तोड़नेवालों को भी देता है जो अति आमोद
जिसे देख आराध्य-वदन का ध्यान भक्त जन करते हैं
जिसे अमरगण तक रखते हैं अपने सिर पर आदर से
जिसका रूप बीचियों की वह हलचल सकती नहीं बिगाड़
जो जल में रह कर भी उसमें कभी नहीं होता है लिप्त
रजनी होने पर होता है जो कि योग-निद्रा में लीन
वृत्ति-समूह-सदृश दल सम्पुट करके, मनोमधुप को रोक
नीच वंश में पैदा होकर, नीचों में ही रहकर भी
होते महामहिम सज्जन हैं अति उदार, शुचि, शान्त-हृदय

कृष्णदास

भारतवर्ष का इतिहास और उसका मनन।

उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखण्ड है,
चढ़ता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तण्ड है।—

भारत-भारती

बहुत से महानुभावों का यह सिद्धान्त है कि सृष्टि के आदि से ही मनुष्य-जाति की सभ्यता उन्नति की ओर अग्रसर होती जा रही है। जब यह उन्नति की मध्यान्ह रेखा पर पहुँच जायगी तब सहसा उसका ह्रास हो जायगा। इसी तरह उद्भव, स्थिति और प्रलय के सिद्धान्त भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार से निश्चित हुए हैं पर विषय अत्यन्त गूढ़ और विवादास्पद होने के कारण कोई एक सिद्धान्त निश्चित नहीं हुआ। यद्यपि कई अंशों में यह कथन ठीक माना जा सकता है, तोभी इसके साथ ही बहुत सी जातियों अथवा देशों के इतिहास में अवनति के उदाहरणों का भी अभाव नहीं। महात्मा सुक़रात और वीरवर सिकन्दर के समय का यूनान अब वह यूनान नहीं। भगवान् बुद्ध और महाराज अशोक के समय का भारत अब वह भारत नहीं। इसी से कहना पड़ता है कि जहाँ उन्नति है वहाँ अवनति भी अवश्यम्भावी है। हो सकता है कि अन्यान्य प्रतिबन्धकों के कारण सभ्यता की गति कभी रुक जाय और मानव-जाति की उन्नति में, समय समय पर, रुकावट आ पड़े। सम्भव है कि किसी राष्ट्र-विशेष की अवनति का प्रभाव समस्त संसार पर पड़े। उदाहरण में भारतवर्ष के इतिहास को ही लीजिए। संसार को उन्नति के कण्टकपूर्ण मार्ग पर सफलतापूर्वक चढ़ानेवाले, सब देशों के आदि-गुरु, भारतवर्ष को गिरे शताब्दियाँ बीत गईं। इसके नेतृत्व में संसार की अन्यान्य जातियों ने अपने अपने मुख उज्ज्वल किये, पर बेचारा भारत अभी तक नहीं उठ पाया। भारत बड़ा हुआ था तो और भी बड़ा क्यों न हुआ? हम पूछते हैं—प्रभातकाल की लालिमा दिखा कर उसके बाद उज्ज्वल मध्याह्न क्यों न हुआ? इतिहास के पाठकों से इसका कारण छिपा नहीं। जब कभी इसने उठने के प्रयत्न किये तभी इसे असाधारण अवरोधों का सामना करना पड़ा। विदेशी शासकों के लगा-

तार आघात से इसका शरीर जर्जर और शक्ति-हीन हो गया। अब उदार ब्रिटिश जाति ने इसका हाथ पकड़ा है। उसी के सहारे यह धीरे धीरे उठने की चेष्टा कर रहा है। ईश्वर इसकी सहायता करे।

पश्चिम से आई हुई धूमिल चन्द्र-ज्योति में हम अपने प्यारे देश का इतिहास मनन करने बैठे हैं। पर जिधर दृष्टि जाती है उधर ही पहले की अपेक्षा हम अपने को गिरा हुआ पाते हैं। हमारी धार्म्मिक, सामाजिक और नैतिक सभी अवस्थायें शोचनीय हैं। देश का इतिहास मनन करनेवाले सभी सहृदय पाठकों के मुख से यही आवाज़ निकलती है कि "हम क्या थे और क्या हो गये?" परन्तु इस अन्धकार में भी हमें आशा की एक ज्योति देख पड़ती है। अवस्था शोचनीय होने पर भी, हमें हताश होने का कोई कारण नहीं। हमारी सभी अवनतियाँ एक ही कारण से हैं, जिसे हम साफ़ देख रहे हैं। यदि फिर कोई विघ्न न हुआ तो हम उस कारण को दूर करके, साहस और उद्यम द्वारा, भारतवर्ष की गति बदल सकते हैं। अतएव सबसे पहले हमें अपनी स्थिति का पता लगाना आवश्यक है। और यह पता हमको अपने देश के इतिहास से ही लगेगा।

पर ज्यों ज्यों हम भारतवर्ष के इतिहास की खोज में आगे बढ़ते हैं त्यों त्यों अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। आरम्भ में ही हमें यह मालूम होता है कि हमारे देश का कोई प्रामाणिक इतिहास ही नहीं। संस्कृत-ग्रन्थों के सम्पूर्ण भण्डार में बारहवीं शताब्दी की "राजतरङ्गिणी" के अतिरिक्त और किसी इतिहास का पता ही नहीं चलता। तब क्या हमारे पूर्वज, जिन्होंने ज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं में प्रभूत उन्नति की थी, इतिहास लिखना न जानते थे? क्या दर्शन, विज्ञान, न्याय, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष, गणित आदि विद्याओं के गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्तों पर तर्क वितर्क करनेवाले हमारे आर्य्य ग्रन्थकार इतिहास के महत्त्व से बिलकुल ही अनभिज्ञ थे? विद्यायें प्रायः सभी परस्पर आश्रित हैं। तो क्या यह सम्भव प्रतीत होता है कि अन्य विद्याओं की कुछ भी अभिज्ञता प्राप्त किये बिना ही हम किसी विद्या में निपुण हो सकते थे? कभी नहीं। तो फिर क्या बात है कि हमें एक भी प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ प्राप्य नहीं?

प्रायः सभी देशों के इतिहास में राजनैतिक अवस्था की पुनरावृत्ति हुआ करती है (History repeats itself)। इस ऐतिहासिक सिद्धान्त का भारतवर्ष पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। आरम्भ से ही यह देश छोटे छोटे राज्यों में विभक्त है। इसी से आधिपत्य स्थापित करने के लिए उनमें परस्पर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। उनमें से जो शक्तिशाली होते वे अपना प्रभुत्व जमा लेते थे। पर ज्योंही उन देशों में शक्तिहीन और अनीतिज्ञ राजाओं का शासन होता त्योंही फिर अशान्ति फैल जाती थी। इस अवस्था में दो बातों का होना सम्भव था। या तो साम्राज्य किसी अन्य घराने के हाथ चला जाता या फिर भी छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो जाता था। यदि दूसरी बात होती तो ऐक्य न रहने के कारण देश शक्तिहीन हो जाता। इस बात के होने ही से उत्तर की ओर से आकर आक्रमणकारियों के दल ने बड़ा उत्पात मचाया। आने के समय उनका प्रधान उद्देश लूट पाट करना था। पर भारतवर्ष को नन्दनवन सा देख कर वे प्रायः बस गये और अवसर पाकर साम्राज्य भी हस्तगत कर लिया। परन्तु देश के जलवायु और प्राकृतिक सङ्गठन ने उन पर शीघ्र ही असर डाला और वे बलहीन होगये। उनकी जगह पर देशी अथवा अन्य विदेशी आक्रमण-कारियों ने अपना सिक्का जमा लिया। बात यह है कि देश का जलवायु और प्राकृतिक सीमा राष्ट्र के विकाश पर बहुत बड़ा प्रभाव डालती है। भारतवर्ष साम्राज्य के रूप में बहुत दिनों तक क्यों न रहा? उत्तर यह है कि प्रकृति ने ही इसे छोटे छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया है। विन्ध्यांचल पर्व्वत सम्पूर्ण भारतवर्ष को स्थूलरूप से दो बड़े बड़े भागों में बाँटता है, और इन दोनों भागों के भी अनेक विभाग हैं। ये सब जलवायु, प्राकृतिक दृश्य और उपज आदि में परस्पर भिन्न हैं। नपोलियन और सीजर आदि ने सम्पूर्ण यूरप को एक झण्डे के नीचे लाना चाहा। पर चेष्टा करने पर भी वे फलीभूत न हुए। क्यों? क्योंकि यूरप को प्रकृति ने ही छोटे छोटे टुकड़ों में बाँट दिया है। मुसलमानों ने दक्षिणावर्त्त और आर्य्यावर्त्त को एक छत्र में लाने की हज़ार चेष्टायें कीं, पर सफलमनोरथ न हुए। मुग़लों से भी यह बात न हुई। यही कारण है कि जभी भारतवर्ष में बलपूर्वक एक साम्राज्य स्थापित किया गया तभी कुछ, दिन के बाद, वह भिन्न भिन्न हो गया।

इस ऐतिहासिक सिद्धान्त का प्रमाण पद पद पर मिलता है। हिन्दुओं के प्राचीन साम्राज्य के भङ्ग हो जाने पर पठान लोगों के हृदय में धन-लाभ की अतृप्त पिपासा जाग उठी। जहाँ तक उनकी शक्ति ने काम दिया उन्होंने निर्दोष भारतवर्ष को अपने बल का परिचय दिया। परन्तु शीघ्र ही उन्हें मुग़लों के आगे सिर झुकाना पड़ा। पूर्ववत् मुग़लों का साम्राज्य भी टूट गया। उसके भग्नावशेषों पर महाराष्ट्रों ने कुछ दिन तक आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा की। अन्त में ब्रिटिश जाति ने उन सब राज्यों को एक में सङ्गठित किया।

देखिए हमारे देश में कैसे कैसे परिवर्त्तन हुए और उसे कँपा देनेवाली कैसी कैसी आपत्तियाँ उठानी पड़ीं। तात्पर्य्य यह कि इन्हीं आवर्त्तनों में पड़ कर हमारे ऐतिहासिक ग्रन्थ लुप्तप्राय हो गये। तैमूर लङ्ग, महमूद गज़नवी, नादिरशाह, अलाउद्दीन आदि के आक्रमणों से हमारा देश छिन्न भिन्न ही नहीं हुआ, साथ ही हमारे प्राचीन गौरव की स्मृति भी नष्ट हो गई।

प्रश्न हो सकता है कि विनष्टप्राय होने पर भी हमें संस्कृत के थोड़े से अन्यान्य ग्रन्थ मिलते तो हैं, पर ऐतिहासिक ग्रन्थ बिलकुल ही क्यों न बचे? इसके उत्तर में हमें यही कहना है कि प्राचीन काल में इतिहास के लेखक प्रायः राज-कर्म्मचारी हुआ करते थे और उनके ग्रन्थ राजपुस्तकालयों में ही एकत्र रहते थे। आक्रमणकारियों के दल विशेषतः राजधानियों पर ही धावा करते, राज-कोष लूटते और सरकारी काग़ज़ात जलाते थे। अब आपही सोचिए कि हमारे ग्रन्थ बचते तो कैसे?

आपने अकबर के प्रसिद्ध राजमन्त्री अबुलफ़ज़ल का नाम सुना होगा। आप शायद यह भी जानते होंगे कि उसने प्राचीन भारत का एक संक्षिप्त इतिहास लिखा है। मानसियर अबल रेमुसात (Monsieur Abel Remusat) के साथ ही हम भी आप से पूछते हैं कि हिन्दुस्तान का प्राचीन इतिहास लिखने के लिए अबुलफ़ज़ल ने सामग्री कहाँ से पाई? यदि उसकी रचना काल्पनिक नहीं तो उसने अवश्य आर्य्यग्रन्थों से सहायता ली होगी।

प्रसिद्ध चीनी तीर्थयात्री ह्यूनेसङ्ग भारतवर्ष में, ईसा के ६३० वर्ष बाद, आया था। उसके यात्रावृत्तान्त का अनुवाद अब अँगरेज़ी और फ्रेंच आदि भाषाओं में भी हो गया है। उसने जो बातें यहाँ के विषय में लिखी हैं उनकी सत्यता में किसी को सन्देह नहीं। देखिए वह क्या लिखता है। "घटनाओं के लिखने का कार्य्य राज्य के अलग अलग कर्म्मचारियों के हाथ में है × × × × × ये काग़ज़ात 'नीलापित' के नाम से प्रसिद्ध हैं—इत्यादि।" जिन पुस्तकों में घटनाओं का उल्लेख हो वे इतिहास नहीं तो और क्या कही जा सकती हैं?

चन्दबरदाई और उसके पृथ्वीराजरासो से आप अवश्य परिचित होंगे। इस कवि ने रासो के सदृश अन्यान्य कवियों और उनके विरचित काव्यों का वर्णन किया है। वे पुस्तकें उस समय मिलती थीं, पर अब अप्राप्य हैं। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि कुछ कवियों और वन्दी जनों का काम इतिहास-रचना था। इनके काव्य यदि उस समय के संक्षिप्त इतिहास नहीं तो क्या थे?

ऐसी ऐसी अनेकों तर्कनायें इस बात को सिद्ध करती हैं कि हमारे पूर्वज इतिहास लेखन से अनभिज्ञ न थे। यदि अति प्राचीन काल से नहीं तो कम से कम ईसा के छः सौ वर्ष पूर्व से हमारे देश में इतिहास की रचना अवश्य होती थी। बिम्बसार के राजत्व-काल में जब फ़ारिस के राजा डाडोरियस का आक्रमण भारतवर्ष पर हुआ था तब से हमारे देश का इतिहास क्रमशः प्रकाश में आया है। इससे पहले प्रामाणिक इतिहास, हमारी समझ में, शायद ही संसार के किसी अन्य देश का मिलता हो। यूरप का सब से पुराना राज्य ग्रीस है और ग्रीस का ऐतिहासिक काल भी ईसा के लगभग ७७६ वर्ष पूर्व, प्रथम ओलिम्पियड (Olympiad) से आरम्भ होता है। यों तो इतिहास—प्रामाणिक इतिहास—का मनन, योरप में फ्रेंच रिवोल्यूशन (फरासीसी ग़दर) के समय से आरम्भ हुआ, कहा जाना चाहिए।

जो हो, हमारे पूर्वज इतिहास लिखना जानते थे या नहीं; इस विषय का विवाद छोड़ कर हमारा कर्त्तव्य है कि अपने अतीत गौरव का उद्‌घाटन करें। किन किन कारणों से हमारा देश उन्नति के पथ से गिर कर अवनतिगामी हुआ, इसे जानने के लिए इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है। रोगी के लिए ओषधि प्रयोग करने के पहले रोग का निदान अवश्य मालूम कर लेना चाहिए। हमारा अतीत उज्ज्वल

और उत्कर्षपूर्ण था, इसमें सन्देह नहीं। पर हमारे देश का इतिहास कुछ सङ्कुचित-हृदय विदेशियों के हाथ में पड़ कर कई स्थानों में कलुषित हो गया है। उन लोगों ने परिश्रम-पूर्वक भारतवर्ष के इतिहास की रचना की है, इसके लिए हम उनके कृतज्ञ अवश्य हैं। पर साथ ही हम लोग इससे कहीं बढ़ कर ऋणी 'सत्य' के हैं। भारतीयों का धर्म्म ही 'सत्य' है। अतएव हमारा कर्त्तव्य है कि हम भ्रम से लिखे गये कलुषित अंशों का संशोधन कर डालें।

अतएव अपने देश के इतिहास का मनन कीजिए—वह देश जो किसी समय महाकवि वाल्मीकि और व्यास, सब से बड़े वैयाकरण पाणिनि और पतञ्जलि, धर्म संस्थापक गौतम-बुद्ध और शङ्कराचार्य्य की पुण्यलीला-भूमि थी। इन लोगों ने हमें अमूल्य सम्पत्तियों का उत्तराधिकारी बनाया है, जिसके कारण आज इस गिरी हुई अवस्था में भी हम अपना सिर ऊँचा कर सकते हैं।

हमारे पूर्व्वजों ने गणित-शास्त्र का ज्ञान सब से पहले प्राप्त किया। दशमलव का सब से प्रथम आविष्कार हिन्दुओं ने ही किया, यह बात अब सभी खुले दिल से स्वीकार करते हैं। हिन्दुओं ने ज्यामिति के उन कठिन कठिन अभ्यासों को हल किया था जो यूरोप में सोलहवीं शताब्दी तक किसी को भी मालूम न थे, बीजगणित के आदि आविष्कारक आर्य्य ही हुए, और अरबवालों ने उसे यहीं से लेकर यूरप के यूनान आदि देशों में फैलाया। यूनान का सब से पहला बीजगणित जाननेवाला डायोफांटस (Diophantus) था। मिस्टर बोम्बेली (Mr. Bombelli) ने उसकी किताबों के आधार पर बीजगणित की एक पुस्तक लिखी है। खुले हृदय से उसमें वे स्वीकार करते हैं कि डायोफांटस ने अपनी किताबों में प्रायः हिन्दू गणितज्ञों के ही उदाहरण दिये हैं। रसायनशास्त्र में भी हिन्दुओं ने सब से पहले योग्यता दिखाई। अरबवालों ने उसे यहीं से लेकर यूरप में उसका प्रचार किया। उस प्राचीन समय में भी भारतवर्ष और यूरप के साथ व्यापार होता था। परन्तु वहाँ के लोगों का सीधा संसर्ग इस देश से न था। व्यापार अरबवालों के ही हाथ में था। ये लोग भारतवर्ष से रेशम, मसाले और बहुमूल्य हीरे आदि लेकर जेनोआ और वेनिसवालों के हाथ बेंचते और वहाँवाले अधिक लाभ पर पोर्चुगल, स्पेन आदि के व्यापारियों को देते थे। यही कारण है कि भारतीय विद्याओं का प्रचार यूरप में अरबवालों ही के द्वारा हुआ।

वैद्यक शास्त्र में भी हमारे आर्य्य अद्वितीय थे। ख़लीफ़ा हारूँ-नुर्रशीद के दरबार में साले और मंका नामक दो हिन्दू वैद्य थे। सर हेनरी इलियट और प्रोफ़ेसर विलसन जैसे विद्वानों की राय है कि प्राचीन समय के हिन्दुओं में बन्दूक़ चलाना भी प्रचलित था। उनके कथन की पुष्टि कई यूनानी विद्वानों (Philostratus, Themistius, और Clasias और Œlian) ने की है। दर्शन-शास्त्र के विषय में तो कहना ही व्यर्थ होगा, क्योंकि सभी देशवासी एकस्वर से स्वीकार करते हैं कि हिन्दू लोग स्वभाव ही से दार्शनिक हैं (Indians are born Philosophers)

इस प्रकार इतिहास से मनुष्य-ज्ञान की सभी शाखाओं में हिन्दुओं की श्रेष्ठता प्रकट होती है। साहित्य, विज्ञान आदि की बात छोड़ दीजिए, हमारी धार्म्मिक और नैतिक उन्नति के भी ज्वलन्त उदाहरण इतिहास में पाये जाते हैं। किस देश के इतिहास में महात्मा बुद्ध सा मनुष्य-जाति का मुकुट-मणि मिलता है? कौन सा धर्म्म तीन चार शताब्दियों के अनन्तर ही संसार की आधे से अधिक जन-संख्या में फैला है? हम पूछते हैं, कौन सा महाकाव्य रामायण और महाभारत के सदृश नीति और उपदेश से, पूर्ण है? सदाचार-सम्बन्धी शिक्षा रामायण से बढ़ कर संसार के और किस ग्रन्थ में है? कुछ दिन हुए, पायनियर पत्र के एक संवाददाता ने उक्त पत्र में लिखा था कि "भारतवर्ष के पुनरुत्थान के लिए भारतवासियों को उपन्यास (Waverly Novels) और शेक्सपियर (Shakespeare) के ग्रन्थों से धर्म्माचरण-सम्बन्धिनी शिक्षा लेनी चाहिए। क्षमा कीजिए—शेक्सपियर के एडमंड (Edmund) और स्काट के विलड्रेक (Wildrake) के सदाचार का आदर्श हमें न चाहिए। हमारे धर्म्म-ग्रन्थ मर्य्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र और सत्यवादी महाराज युधिष्ठिर आदि पुरुषव्याघ्रों के आदर्श से भरे पड़े हैं।

उपसंहार में हमें इतना ही कहना है कि आप अपने अतीत गौरव को ध्यान में रख कर अपना कर्त्तव्य करते जाइए। भारतवर्ष के आकाश में उन्नति के सूर्य्य की लालिमा दिखाई दे रही है। हमारा आपका लक्ष्य चाहे कुछ हो, पर सब का जातीय लक्ष्य एक ही होना चाहिए। हमारा देश धर्म्म-प्रधान

देश है। हमारी उन्नति का सूत्र भी धर्म्म ही है। उसी को पकड़ने से हम अपनी शोचनीय अवस्था का सुधार कर सकेंगे। रोम अपने आधिपत्य को लक्ष्य में रख कर बड़ा हुआ था। कार्थेज धन को लक्ष्य में रख कर बड़ा हुआ था। भारतवर्ष धर्म्म को लक्ष्य करके बड़ा हुआ था, और अब भी जब बड़ा होगा तब धर्म्म ही की बदौलत। ब्रिटिश राज्य की छत्रच्छाया में शान्तिपूर्वक निवास करते हुए हम क्रमशः सभी नष्ट हुई शक्तियों के पुनर्वार अधिकारी हो सकते हैं—

है ब्रिटिश शासन की कृपा ही यह कि हम कुछ जग गये,
स्वाधीन हैं हम धर्म्म में, सब भय हमारे भग गये।
(भारत-भारती)

दिनेशप्रसाद वर्म्मा
और
नन्दकुमारसिंह

तिबत के रीति-रवाज

आज मैं तिब्बत का थोड़ा सा हाल लिखता हूँ। यह हाल मैंने अँगरेज़ी की एक पुस्तक (Three years in Tibet) से लिया है, जोकि एक जापानी महाशय (Ekai Kawaguchi) ने लिखी है। उन्होंने तीन वर्ष तिबत में रह कर वहाँ का आँखों देखा हाल लिखा है। उनकी पुस्तक आद्योपान्त दिलचस्प है। उसी के आधार पर मैं तिबत की कुछ रीति-रस्मों का वर्णन करता हूँ।

कावागुची महाशय लिखते हैं कि जिस रईस के घर में मैं टिका था उसके यहाँ प्रायः बीस नौकर थे। परन्तु मेरे वास्ते जिस प्याले में चाय आती थी वह कभी धोया न जाता था। यदि मैं किसी नौकर से उसको धोने के लिए कहता तो वह शीघ्र ही यह उत्तर देता था कि कलही तो आपने इसमें चाय पी थी; मैला कैसे हो सकता है। तिबत-वाले उसी समय बर्तन को मैला समझते हैं जो वर्षों से पड़ा हुआ हो अथवा जिसको कोई ऐसा व्यक्ति काम में लावे जो पदवी में बहुत छोटा अर्थात् नौकर-चाकर या कोई नीच जाति का हो। यदि इस पर भी मैं धोने के लिए हठ करता तो वह अपने कुर्ते की अस्तीन से, जो रूमाल की भाँति व्यवहार करते करते चमकदार और काली पड़गई थी, पोछ डालता। इतना करके वह तुरन्त ही उस प्याले में चाय डाल देता। अधिक दबाना भी मैं न चाहता था क्योंकि भेद खुलजाने का भय था। मैं तो वहाँ तिबतवासी ही समझा जाता था। यदि कोई जान पाता कि मैं जापानी हूँ तो मृत्युदण्ड के अतिरिक्त और कोई दण्ड ही न था। खाने पीने के बर्तनों का न धोना तो एक साधारण बात है; ये लोग नित्य कर्म के पीछे अपने शरीर को भी नहीं धोते। इस रीति को वहाँ का बड़े से बड़ा लामा और छोटे से छोटा चरवाहा तक काम में लाता है। जब वहाँ के लोगों को मालूम हुआ कि मैं जापानी ढंग से अपने शरीर को स्वच्छ करता हूँ, तो क्या बड़े और क्या छोटे सभी मेरा परिहास करने लगे। इस परिहास से मैं दुःखित तो अवश्य होता था, परन्तु इस रीति का अनुयायी होना मुझसे न बन पड़ा।

तिबतवाले कभी नहाते भी नहीं। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो उत्पन्न होने के दिन से एक दफ़े भी नहीं नहाये। वे लोग जन्म भर न नहाने का बड़ा गर्व करते हैं। यदि वहाँ कोई अपने हाथ भी धो डाले तो उसका उपहास किया जाता है। शरीर भर में हथेली और आँखें दोही अवयव ऐसे हैं जिनके ऊपर मैल नहीं दिखलाई देता। शेष शरीर मैल चढ़े रहने के कारण काला दिखलाई देता है। हाँ, शहर के रहनेवाले, सभ्य और पुरोहित लोग, कभी कभी मुख और हाथ को धो डालते हैं। शेष शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है। यदि उनकी गर्दन और पीठ इत्यादि देखी जाय तो आफ़्रिका के हबशी मालूम पड़ेंगे। इन लोगों के हाथ साफ़ होने का कारण धोना नहीं, किन्तु ये लोग खाने के लिए जो आटा गूंधते हैं उसमें मैल चला जाता है। इससे हाथ साफ़ रहा करते हैं। इन लोगों में मूढ़ विश्वास है कि यदि वे अपने शरीर को धो डालें तो दुर्भाग्य उनको आ घेरेगा।

सगाई होने के समय लड़की का केवल मुख देखने ही से काम नहीं चलता। यह भी देखना पड़ता है कि उसके शरीर पर कितना मैल जमा हुआ है। यदि उसकी आँखों के अतिरिक्त और सब जगह पर मैल जमा हुआ है और उसके कपड़े मैल और मक्खन के जमते रहने के कारण चमक रहे

हैं तो वह बड़ी भाग्यवती बहू होगी । यदि उसका मुख और हाथ साफ़ हैं तो वह बड़ी अभागी है, क्योंकि उसका भाग्य धुल गया है । लड़कियाँ भी इसी मूढ़ विश्वास की माननेवाली होती हैं। वे भी ऐसे ही स्वामी को चाहती हैं जो अधिक से अधिक मैल शरीर पर रख सकता हो।

नीचे दरजे के लोग अपने कपड़े कभी नहीं बदलते। यदि वे अपनी नाक साफ़ करना चाहते हैं तो अपने कपड़ों ही में साफ़ कर लेते हैं । कपड़ों के ऊपर यह मैल और मक्खन इत्यादि लग कर चमड़े के सदृश हो जाता है । परन्तु ऊँचे दरजे के लोगों में यह बात नहीं है । वे हाथ मुँह भी धोते हैं और कपड़े भी साफ़ करलेते हैं।

तिबत में गेहूँ और जौ इत्यादि की खेती होती है। वहाँ बर्फ़ बहुत गिरती है। अतएव यहाँ ऐसी खेती नहीं होती जैसी भारतवर्ष में होती है । बहुधा ओले भी पड़ा करते हैं, जिससे खेती को बड़ी हानि पहुँचती है । ओलों से वहाँ के लोग बहुत भयभीत रहा करते हैं । यही कारण है कि खेती को ओलों से बचाने के लिए उन्होंने एक विचित्र रीति निकाली है ।

तिबत-निवासियों को लामा नाम के पुरोहितों पर बड़ा विश्वास है। लामाओं ने उन लोगों को समझा रक्खा है कि आठ राक्षस हैं जो मनुष्य को हानि पहुँचाते हैं। यही राक्षस स्वर्ग में ऊपर, जाड़े के दिनों में जब बर्फ़ बहुत गिरती है, उसको इकट्ठी करके ओले बना कर रख छोड़ते हैं। गर्मियों में जब खेती पकती है तब वही ओले खेती के ऊपर फेंकते हैं। इस कारण लामाओं को एकान्त में, मिट्टी के ओले बनाने पड़ते हैं । मिट्टी के ओले बना कर उन पर वे मन्त्र पढ़ते हैं और आवश्यकता पड़ने पर हथियारों के सदृश काम में लाते हैं। इस काम के लिए चुने हुए और पवित्र लामाही नियुक्त हुआ करते हैं । प्रायः एक गांव में एक लामा इस काम के लिए रक्खा जाता है।

गाँव के बाहर किसी पहाड़ी पर एक मन्दिर बना दिया जाता है । उसी में पवित्र लामा का वास रहता है । जाड़े के दिनों में लामा महाशय मन्त्र पढ़ते हुए उन मिट्टी के ओलों को बनाया करते हैं। मार्च, अप्रैल में, जब खेती का काम आरम्भ होता है, लामा निरन्तर उसी मन्दिर में रह कर ओला गिरना रोकने के लिए तैयार रहते हैं । जिस समय ओले गिरना आरम्भ होता है उसी समय लामा अपनी माला हाथ में लिये हुए मन्दिर से बाहर निकल आता है और ठीक, उसी तरह शरीर सञ्चालन करता है जैसे कोई अपने वैरी से युद्ध कर रहा हो । यदि ऐसा करने से ओले बन्द हो गये तो ठीक है, नहीं तो वह और भी अधिक क्रुद्ध होता हुआ अपने मन्त्रित गुल्लों को फेंक फेंक कर मारता है। लामा को देखने से ऐसा ज्ञात होता है मानों वह अपने उन मिट्टी के ओलों से बादलों को चूर्ण कर देगा । यदि ऐसा करने से भी ओले बन्द न हुए तो वह अपने कपड़े फाड़ फाड़कर आकाश में फेंकता है और बिलकुल पागलों की सी चेष्टायें करने लगता है ।

यदि इतना करने पर ओले बन्द हो गये तो गाँव के लोग उसके परिश्रम पर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और यथाशक्ति उसको भेंट देते हैं। यदि उसके इस परिश्रम से भी ओले बन्द न हुए और उन्होंने खेती का सत्यानाश कर ही दिया तो पुरोहित जी से दण्डस्वरूप कुछ रुपया लिया जाता है । केवल रुपया ही नहीं, यदि खेती को अधिक हानि पहुँची तो कभी कभी पुरोहित जी को कोड़े भी खाने पड़ते हैं । परन्तु इतना दण्ड मिलने पर भी इन लोगों को इतनी भेंटें मिल जाया करती हैं जिसके कारण मितव्ययिता उनके पास तक नहीं आने पाती ।

तिबत में विवाह की रीतियाँ भी विचित्र हैं। वहाँ की प्रथायें और किसी देश से नहीं मिलतीं । यह बात बहुत लोगों को ज्ञात होगी कि वहाँ एक मनुष्य कई स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकता, किन्तु एक स्त्री कई पुरुषों से विवाह कर सकती है। यह काम तीन प्रकार से होता है। अर्थात् एक तो ऐसी अवस्था में कि पुरुष कई भाई हों और एक स्त्री से विवाह करने में सहमत हों। दूसरी अवस्था यह है कि कई मनुष्य चाहे वे भाई भाई न हों परन्तु आपस में एक ही स्त्री से विवाह करने में सहमत हों। तीसरी अवस्था यह है कि स्त्री अपने स्वामी पर इतना प्रभाव रखती हो कि वह और पुरुषों से विवाह करने के लिए अपने स्वामी को राज़ी कर ले। जब किसी कुटुम्ब की माता मर जाय तब चाहे पिता, चाहे पुत्र, दूसरा विवाह कर सकता है और वही स्त्री कुटुम्ब भर की स्त्री हो सकती है। किसी भी सभ्य देश में ऐसी चाल नहीं है। पर इस काम को यहाँवाले कुछ भी लज्जा-

जनक नहीं समझते। फिर भी कुछ कुछ रुकावटें हैं—अर्थात् सगे भाई-बहन अथवा चचेरे भाई-बहन में विवाह नहीं हो सकता।

पत्नी के जो अधिकार पति के ऊपर हैं वे भी विचित्र हैं। स्त्री के जितने स्वामी हैं वे सब रुपया कमा कर स्त्री को सौंप देते हैं। यदि इन स्वामियों में से कोई ऐसा हो जो और स्वामियों से कम रुपया लाता हो तो स्त्री को अधिकार है कि वह उस स्वामी को अपने इच्छानुसार बुरा भला कह सकती है। जब किसी स्वामी को कुछ रुपयों की आवश्यकता होगी तब वह स्त्री के पास जाकर कहेगा कि इतना रुपया मुझको अमुक काम के लिए आवश्यक है। इस बात को वह ऐसे भाव से कहेगा जैसे कोई पुत्र अपनी माता से कहता है। यदि स्त्री को ज्ञात हो जाय कि मेरा अमुक स्वामी अपनी सब कमाई मुझे नहीं सौंप देता तो वह क्रोध में आकर उस के थप्पड़ तक मार सकती है। संक्षेप में, स्त्री अपने स्वामियों की आज्ञाकारिणी नहीं है, किन्तु स्वामी ही उसके वशवर्ती हैं।

स्त्री अपने स्वामियों को दूकान पर जाने अथवा उनसे और और काम कराने की अधिकारिणी है। स्वामी का धर्म केवल इतना ही है कि पत्नी जो आज्ञा दे उसके अनुसार काम करके पत्नी को प्रसन्न रखने की चेष्टा करता रहे। यदि दो अथवा अधिक मनुष्यों में किसी बात का निबटारा नहीं हो सकता तो वे अपने घर दौड़ते हैं और स्त्री से सलाह करने पर जो कुछ तै होता है उसी के अनुसार काम करते हैं।

तिबत में विवाह-सम्बन्ध तोड़ देना भी कुछ कठिन काम नहीं। पति को स्त्री न चाहे अथवा स्त्री को पति न चाहे तो केवल इतने ही से विवाह-सम्बन्ध टूट सकता है। यदि स्त्री के पुत्र होता है तो स्वामियों में सबसे बड़ा भाई उसका पिता माना जाता है। शेष भाई उसके चचा माने जाते हैं।

विवाह प्रायः २०—२५ वर्ष की उम्र में होता है। स्त्री अपने पति को नहीं चुनती। यह काम उसके माता-पिता का है। इस विषय में सलाह लेने की तो बात ही क्या, लड़की को विवाह के दिन तक यह भी नहीं मालूम होने पाता कि उसका विवाह किस पुरुष के साथ होगा। इसके विपरीत कहीं कहीं ऐसा भी देखने में आया है कि लड़की अपने वर को चुन कर माता-पिता को बतला देती है। परन्तु यह रीति बहुत ही कम प्रचलित है।

यह काम माता पिता का है कि वे अपने बराबरवाले कुटुम्ब को खोज कर लड़की का विवाह कर दें। जब ऐसा कुटुम्ब मिल जाता है तब पुत्र का पिता पुत्री के पिता के पास किसी मनुष्य द्वारा संवाद भेजता है कि क्या वह अपनी पुत्री के साथ उसके पुत्र का विवाह कर सकता है? यदि लड़की का पिता केवल इनकार कर देता है तो मध्यस्थ समझ लेता है कि यह काम नहीं होगा और यदि वह कहता है—'देखा जायगा'—अथवा ऐसा ही कोई और उत्तर देता है तो मध्यस्थ बार बार उसके पास जाता है और भाँति भाँति से पिता और पुत्र की प्रशंसा करता है। मध्यस्थ के बार बार जाने से लड़की का पिता किसी विशेष शर्त पर विवाह करने को सहमत हो जाता है और किसी ज्योतिषी अथवा किसी उच्च लामा के पास जाकर इस विषय में पूछपाछ करता है कि यह विवाह अनिष्टकारक तो नहीं। ज्योतिषी अथवा लामा से पूछ लेने पर मध्यस्थ को ठीक उत्तर दिया जाता है।

ये सब बातें लड़के और लड़की दोनों ही से छिपाई जाती हैं। विवाह के दिन तक जब दो में से किसी को नहीं मालूम होता कि उसका विवाह है। लड़के की ओर से कोई तैयारी नहीं होती। लड़की अवश्य खूब सजाई जाती है, क्योंकि ऐसा न करने से लड़कीवाले की बुराई होती है। लड़के का पिता कुछ रुपया लड़की के पिता को, दूध-पिलाई के नाम से, भेजता है।

विवाह के दिन सबेरे लड़की के माता पिता, जिनको मालूम होता है कि मध्यस्थ मनुष्य कब लड़के के घर से आवेगा, सहसा लड़की से कहते हैं कि आज का दिन बहुत अच्छा है। अतएव हमारी इच्छा है कि मन्दिर को चलें। तुम भी हमारे साथ चलो। अपने हाथ मुँह धो डालो और बाल गुँधवालो। क्योंकि वहाँ लिंका की ज्योनार होगी। अथवा इसी तरह की और कोई बात कहते हैं। यह सुन कर लड़की बहुत प्रसन्न होती है। वह अपने बाल गुँधवा कर अच्छे कपड़े पहन लेती है। परन्तु कोई कोई लड़की अपनी प्रखर बुद्धि के बल से समझ लेती है कि वह पिता के घर से बिदा होनेवाली है। अतएव रोने धोने लगती है। जो

लड़की इस बात से अनभिज्ञ होती है वह खूब शृङ्गार करती है।

यद्यपि तिबत में सर्वसाधारण कभी हाथ मुँह नहीं धोते, परन्तु धनी मनुष्य सबेरे उठ कर हाथ मुँह धोते हैं। जिस तरह वे अपना मुख धोते हैं वह भी विचित्र है। जब वे सो कर उठते हैं तब दास अथवा दासी एक बर्तन में गरम पानी लाती है। धनी उसमें से थोड़ा सा पानी लेकर मुख में रख लेते हैं। थोड़ी देर पानी को मुख में रखने के पीछे उसे फिर हाथ पर उगल देते हैं। उसी मुख से निकले हुए पानी से वे चेहरा धोते हैं। जब मुँह में पानी नहीं रहता तब हथेली पर थूक कर उससे मुँह स्वच्छ करते हैं।

लड़की इन चालाकियों को कुछ न समझ कर बड़ी प्रसन्न होती है और शृङ्गार करती है। जब वह अपने पुराने कंघे से बाल काढ़ कर पिन लगाती है तब माता-पिता नये कंघे, पिन और शृङ्गार की और वस्तुयें उसके पास लाते हैं, जो गुप्त भाव से दूल्हे के घर से आती हैं और जिनको मध्यस्थ मनुष्य लाता है। उन्हें लड़की के पास लाकर वे कहते हैं कि बेटी, तुम्हारा यह कंघा और पिन इत्यादि बिलकुल पुराने हो गये हैं। हम तुम्हारे लिए और नये लाये हैं। बढ़िया तेल भी सिर के लिए लाये हैं। अब तुम भली भाँति शृङ्गार करलो। शृङ्गार हो चुकने पर माता-पिता लड़की से कहते हैं कि अमुक युवा से तुम्हारा सम्बन्ध हो गया है। आज तुम्हारा उससे विवाह होगा।

जो लड़की माता-पिता के बिना कहे ही समझ लेती है कि उसका विवाह है वह अपने बाल इत्यादि नहीं सँभालती। वरन् रोती चिल्लाती और कहती है कि हाय हाय मैं अपना घर नहीं छोड़ूँगी। मेरे माता-पिता ने यह काम अच्छा नहीं किया कि ऐसे पुरुष से विवाह करते हैं जिसको सम्भव है कि मैं न चाहूँ। इससे मेरा कैसे छुटकारा होगा। इतना कह कर वह बहुत दुःखित होती है और अपने शृङ्गार की ओर ध्यान नहीं देती। ऐसी अवस्था में उसकी सहेलियाँ उसको प्रसन्न करने की चेष्टा करती हैं और समझाती हैं।

इस तैयारी के पीछे ज्योनारें प्रायः दो सप्ताह तक होती रहती हैं। ये भोज निर्धन मनुष्यों में बहुधा नहीं हुआ करते। जिस दिन विवाह होगा उसकी सन्ध्या को लड़के के माता-पिता अपने कुछ आदमियों और मध्यस्थ को, कुछ नौकरों के साथ, लड़की के घर उसको लिवा लाने के लिए भेजते हैं। ये लोग अपने साथ कुछ रुपया लाते हैं, जो लड़की के दूध की पिलाई के नाम से उसके माता-पिता को दिया जाता है। वे लोग यह रुपया लेने में बहुत कुछ आनाकानी करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है मानों वे उस रुपये को नहीं लेना चाहते। परन्तु कुछ देर शिष्टाचार दिखला-कर वे लेलेते हैं। इन रुपयों की तादाद ७ से १२०० रुपये तक, लड़केवाले की आर्थिक दशा के अनुसार, हुआ करती है। कोई कोई यह रुपया नहीं भी लेते।

इसके पीछे मध्यस्थ मनुष्य दुलहन के पहनने के लिए कपड़े, कमरपट्टा, जूते और जो वस्तुयें विवाह में आवश्यक होती हैं वे सब देता है। ये वस्तुयें यदि दुलहन के शरीर पर ठीक न भी हों तो भी उसे पहननी पड़ती हैं। इन वस्तुओं में एक बहु-मूल्य रत्न भी हुआ करता है यह रत्न सौभाग्यवती स्त्री का चिह्नस्वरूप है और लासा में प्रायः सभी स्त्रियाँ उसे सिर पर पहनती हैं। अब तो ब्याही लड़-कियाँ भी पहनने लगी हैं। जब कोई मनुष्य अपनी स्त्री को छोड़ना चाहता है तब राजद्वार में न जाकर केवल पत्नी के सिर का वह रत्न उतार देता है। केवल इतने ही काम से स्त्री पति से अलग समझ ली जाती है।

जो वस्तुयें लड़के के घर से आई हैं उनके अतिरिक्त लड़की के माता-पिता और भी वस्तुयें अपनी बेटी को देते हैं, जिनमें से मुख्य ५-६ आभूषण हैं। रात को लड़के के घर के लोग कहीं रहते हैं और घरवालों के साथ मदिरा इत्यादि पीते हैं।

इस रात को मध्यस्थ और उसके साथियों को सावधानी से रहना पड़ता है। यदि वे लोग मदिरा पीकर अचेत हो जायँ तो लड़कीवालों का यह धर्म है कि उनकी जो वस्तु पावें चुरा लें। यदि लड़कीवाले इस काम में कृतकार्य हो जाते हैं तो प्रातःकाल, जब सब मेहमान एकत्र होते हैं, वे चुराई हुई वस्तुयें सामने लाई जाती हैं और बीस टंक तिबत के अथवा २॥ डालर अमेरिका के दण्डस्वरूप लड़केवालों से लेते हैं। अतएव लड़केवाले जहाँ तक बनता है मदिरा नहीं पीते, और लड़कीवाले उनकी आनाकानी को बिलकुल नहीं मानते हैं। जहाँ तक बनता है, खूब ही मदिरा पिलाते

हैं। पाठक समझ सकते हैं कि इस खेंचातानी में कहाँ तक झगड़ा-बखेड़ा और गड़बड़ न होती होगी। परन्तु यह सब होने पर भी लड़कीवाले अपनी पुरानी रीतियों की हद के बाहर नहीं होते। यदि कोई काम रीति के विपरीत हो जाय तो जन्म भर लज्जासागर में डूबना पड़े। लड़केवाले मदिरा न पीने के लिए विशेषरूप से बहाने बनाते हैं। वे कहते हैं, "चर्ग से बढ़ कर संसार में कोई विष नहीं है। यह वस्तु झगड़े को उत्पन्न करनेवाली और ज्ञान का लोप करनेवाली है।" इसी तरह की और भी बहुत सी बातें, उनको, अपने बचाव के लिए कहनी पड़ती हैं। परन्तु पुरानी रीति-रवाज के बाहर कोई बात नहीं होने पाती। फिर भी यदि मदिरा पीने पिलाने में झगड़ा न हुआ तो वे लोग समझते हैं कि कुछ न हुआ।

विवाह के दिन प्रातःकाल लड़की के घर भोज होता है। इसी समय लामा, जो बैंजनी टोपीवाले अथवा लाल टोपीवाले कहलाते हैं, बुलाये जाते हैं। उनसे कहा जाता है कि गाँव के नाम से और कुटुम्ब के देवताओं के नाम से पूजा करो। इस पूजा का यह आशय है कि देवताओं से यह प्रार्थना की जाय कि आज हमारी लड़की ससुराल जाती है। देवता लोग हमारी रक्षा करें। इसके बदले में वे देवताओं को भेंट चढ़ाने और धर्मपुस्तक पढ़ कर सुनाने का प्रण करते हैं। तिबत में सर्वत्र यह विश्वास है कि यदि देवता अप्रसन्न हो जायगा तो कुटुम्ब भर का सत्यानाश कर देगा। क्योंकि वह देवता जोकि लड़की से प्रेम करता था लड़की के साथ चला जायगा और कुटुम्ब के ऊपर विपद आ पड़ेगी।

जब भोज समाप्त होता है तब एक मनुष्य, जिसने कि पहले ही से उपदेश की बातें याद करली हैं, लड़की को उपदेश देता है। वह उपदेश नीचे लिखे अनुसार है:—

"जब तुम अपने स्वामी के घर जाओ तब सब लोगों के ऊपर दयालुभाव रखना। अपने से बड़ों का कहना मानना। केवल स्वामी के माता-पिता ही नहीं, स्वामी और उसके भाई बहनों से भी वैसा ही भाव रखना जैसा तुम अपने भाई बहनों से रखती हो। नौकरों के साथ ऐसा व्यवहार करना मानों वे तुम्हारे पुत्र हैं।"

इन बातों के बीच में कहनेवाला कहानियाँ भी कहता है, जिससे लड़की के हृदय पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। जब उपदेशक अपना काम पूरा कर चुकता है तब लड़की के माता-पिता आकर लड़की के सामने बैठते हैं, और आँखों में आँसू भर कर वही उपदेश सुनाते हैं। उनके पीछे आत्मीयजन और कुटुम्बी आते हैं और उच्च स्वर से रो रोकर लड़की का हाथ पकड़ कर उपदेश देते हैं। इन रीतियों के हो चुकने पर लड़की अपने घर से बिदा होती है। दहेज देने का कोई नियम नहीं है। जो धनी हैं वे अपनी पुत्री को धनरत्न और धरती तक देते हैं। जो निर्धन हैं वे कुछ कपड़े ही देकर सन्तुष्ट हो जाते हैं।

लड़की बिदा होते समय उच्च स्वर से रोती है। उसको घोड़े पर बिठाना दुष्कर कार्य होता है। वह धरती पर गिर पड़ती है और वहाँ से न उठने के लिए यथासाध्य हठ करती है। उस समय उसकी सूरत ऐसी हो जाती है मानों वह सचमुच ही अपने माता-पिता से अलग होना नहीं चाहती। ऐसी अवस्था में उसके कुटुम्बी उसे पकड़ कर घोड़े पर बिठा देते हैं। तिबत की स्त्रियाँ घोड़े पर अँगरेज़ स्त्रियों की तरह सवार नहीं होतीं। वे पुरुषों ही की तरह दोनों ओर पैर लटका कर सवार होती हैं। रकाबें बहुत छोटी होती हैं। पहले पहल जब मैं तिबत की रीति के अनुसार सवार हुआ था तो थोड़ी ही दूर चलने में बहुत पीड़ा होने लगी थी।

जब लड़की घोड़े पर सवार होकर ससुराल को बिदा होती है तब उसके शरीर पर वही कपड़े होते हैं जो उसके ससुर के यहाँ से उसके लिए आते हैं। आभूषण पिता के यहाँ से मिलते हैं। उसके सिर और मुख पर एक ऊनी कपड़ा पड़ा रहता है। यह बहुमूल्य कपड़ा भेड़ की ऊन से बनाया जाता है। इसमें लाल, पीली, काली, हरी और श्वेत धारियाँ होती हैं। इस कपड़े के पड़े रहने के कारण लड़की का मुख दिखाई नहीं देता। रेशमी धारीदार कपड़े का एक झण्डा पीछे गर्दन पर लगाया जाता है, जिससे गर्दन ढकी रहती है। यह सौभाग्य का झण्डा कहलाता है।

जब लड़की बिदा होती है तब जो बिदा कराने आये हैं और जो बिदा कर रहे हैं, दोनों ही ओर के लोग, अपने अपने घोड़ों पर सवार होकर साथ साथ जाते हैं। राह में दोनों ओर से छः भोज होते हैं। तीन लड़कीवाले की ओर से और तीन लड़केवाले की ओर से होते हैं। दो दो तीन तीन

मील की दूरी के हिसाब से, ये ज्योंनारें दी जाती हैं। अन्तिम भोज के पीछे ही लड़के का घर आता है। इन ज्योंनारों में मदिरा बहुत थोड़ी पीजाती है, क्योंकि सब लोग समझते हैं कि एक बड़ा भारी काम कर रहे हैं। इसके उत्तर-दाता हम लोग ही हैं। हमारा धर्म है कि बहू अपने घर आराम से पहुँच जाय। अतएव कोई किसी को अधिक मदिरा पिलाने के लिए दबाव नहीं डालता।

जब बहू अपनी ससुराल के समीप पहुँचती है तब कुछ लोग उसको लेने के लिए आते हैं। परन्तु जब वह द्वार पर पहुँचती है तब देखती है कि द्वार भीतर से बन्द है। जो आदमी लेने आते हैं उनमें एक ऐसा होता है जिसके पास आटे इत्यादि की बनी हुई एक तलवार होती है, जिसको टोरमा कहते हैं। इस टोरमा के ऊपर लाल रङ्ग चढ़ा रहता है। जिस मनुष्य के पास यह होती है उसके अतिरिक्त और किसी को नहीं मालूम होता कि टोरमा किसके पास है। यह तलवार किसी लामा के हाथ से बनवाई जाती है और मन्त्र से मन्त्रित होती है। इस मनुष्य का यह काम है कि बहू के साथ बाहर से जो दुष्ट आत्मायें अथवा उड़नी बीमारियाँ आ रही हों उनको मार भगावे। ज्योंही बहू आगे बढ़ती हुई उस मनुष्य के पास पहुँचती है त्यों ही वह अपनी टोरमा फेंक कर बहू के मुख पर मारता है। टोरमा मुख पर लगते ही टूट कर खण्ड खण्ड हो जाती है और मुख पर का कपड़ा रक्त-वर्ण हो जाता है। वह मनुष्य टोरमा मार कर घर के भीतर भाग जाता है। तुरन्त ही द्वार उसके लिए खुल जाता है और ज्योंही वह भीतर पहुँचा त्योंही द्वार फिर बन्द हो जाता है। इस रीति का कारण लोग यह बतलाते हैं कि लड़की जब अपने घर से बिदा होती है तब उसके घर के और गाँव के देवता उसका साथ छोड़ देते हैं। राह में जब उसका कोई रक्षक नहीं रहता तब बाहर के भूत प्रेत और उड़नी बीमारियाँ उसके साथ लग जाती हैं। यदि ऐसी ही अवस्था में बहू घर के भीतर चली जाय तो वे भूत प्रेत इत्यादि भी घर में चले जाते हैं और नवीन दम्पति को हानि पहुँचाते हैं। इसी से टोरमा का प्रयोग होता है। टोरमा फेंकनेवाले मनुष्य के घर के भीतर चले जाने पर लड़की के घर के लोग, जो उसके साथ आये हैं उन लोगों को पकड़ने की चेष्टा करते हैं जो बहू को लेने आये हैं। जितने मनुष्यों को लड़कीवाले पकड़ लेते हैं उनसे २० टंका प्रति मनुष्य दण्ड लिया जाता है। इसी भय से टोरमावाला मनुष्य पहले ही घर के भीतर भाग जाता है। टोरमावाले मनुष्य के भीतर चले जाने पर घर के भीतर-वाले मनुष्य लड़कीवालों से घर के भीतर से ही कहते हैं कि हमको 'शेया' कह कर सुनाओ, तब हम बहू को भीतर घुसने देंगे। शेया में कुछ अच्छे शब्दों का प्रयोग और घरवालों की प्रशंसा होती है। लड़की के साथवालों में जिसका काम शेया कहने का होता है वह उत्तर देता है कि हम शेया कहना तो चाहते हैं परन्तु 'काटा' नहीं है, इससे नहीं कह सकते। यह सुन कर घर के भीतरवाला पुरुष खिड़की में से 'काटा' दिखला कर शीघ्र ही छिपा लेता है। काटा एक प्रकार का रेशम का फ़ीता होता है। इस काटा को छिपाने का अभिप्राय यह है कि यदि उसको लड़की के घर का कोई मनुष्य पकड़ ले तो घर के भीतरवाला मनुष्य उस पकड़नेवाले को बीस टंका दण्ड देकर छुट्टी पाता है। इसी लिए काटा दिखला कर शीघ्र ही छिपा लिया जाता है। काटा देख कर शेया कहनेवाला इस भाँति आरम्भ करता है—"इसी द्वार से भाण्डार को राह गई है। वहाँ बहुत सी बहुमूल्य वस्तुयें रक्खी हैं। उसके खम्भे सोने के और द्वार चाँदी का है। उसके भीतर महल बना हुआ है, जिसमें ऐसे मनुष्य रहते हैं जो गुणों में देवताओं के समान हैं।"

एक और भी रीति है कि जब बहू किसी गाँव से होकर निकलती है तब गाँववाले उसको इसलिए पकड़ कर अपने घर ले जाते हैं कि उसके साथ के भूत-प्रेतादिक उस गाँव को और उसकी खेती को हानि पहुँचावेंगे। अतएव उसके साथी जब उस हानि की पूर्तिस्वरूप कुछ रुपया दे देते हैं तब बहू छोड़ी जाती है।

जब घर का द्वार खुलता है तब लड़के की माता थोड़ा दही और चेमा (एक प्रकार की खाद्य सामग्री) लेकर बाहर आती है। उसमें से थोड़ा थोड़ा सबको दिया जाता है। ये दोनों वस्तुयें पानेवाले की हथेली पर रख दी जाती हैं। पानेवाला तुरन्त ही खालेता है। घर में सब लोगों के पहुँचने पर घर के देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि एक बहू और बढ़ी है। इसकी रक्षा का भार भी तुम्हारे ऊपर है। इसके पीछे भोज इत्यादि होते हैं।

यदि दूल्हा के कोई भाई हुआ तो इस विवाह के हो

जाने के छः महीने से बारह महीने के भीतर ही उससे भी विवाह हो जाता है। यह विवाह इसी घर में हो जाता है। कोई धूमधाम नहीं होती। मध्यस्थ का काम दूल्हा की माता करती है। यह विवाह उस समय होता है जब असली स्वामी कहीं बाहर गया हुआ होता है। यदि वे कई भाई हों तो भी कोई कठिनता नहीं होती। प्रत्येक भाई से बारी बारी से विवाह हो जाता है।

बहुधा देखा गया है कि इन स्वामियों में से प्रायः एकही भाई घर पर रहता है। बारी बारी से प्रत्येक भाई घर आता है।

तिबत में मृतक की अन्त्येष्टि-क्रिया भी विचित्र है। जिस समय मैं सेरा के विहार में पढ़ रहा था, एक विद्यार्थी मर गया। अतएव मुझको भी उसकी, अन्त्येष्टि-क्रिया के समय उपस्थित रहना पड़ा। ऐसी भयानक क्रिया मैंने संसार में कहीं नहीं देखी। वहाँ न कफ़न की आवश्यकता है न टिकटी की। केवल दो लम्बी लकड़ियों पर आड़ी आड़ी दो लकड़ियाँ बाँध दी जाती हैं। इस चौखटे-स्वरूप लकड़ी पर रस्सी लपेट दी जाती है। इसी के ऊपर एक कपड़ा बिछा कर मृत शरीर रख दिया जाता है। मुर्दे के ऊपर श्वेत रङ्ग का एक कपड़ा डाल दिया जाता है। इसी को दो मनुष्य उठा ले जाते हैं।

मृत शरीर की अन्त्येष्टि-क्रिया मरने के तीन चार दिन पीछे हुआ करती है। सबसे पहले एक लामा को बुला कर अन्त्येष्टि-क्रिया के लिए शुभ मुहूर्त पूछा जाता है। चार तरह से क्रिया की जाती है—अर्थात् पानी में बहाना, अग्नि में जलाना, धरती में गाड़ना और पक्षियों को खिलाना। इनमें से अन्तिम क्रिया ही सबसे अच्छी समझी जाती है।

दूसरे नम्बर पर अग्निदाह, तीसरे पर पानी में डुबाना और चौथे नम्बर पर क़ब्र में गाड़ना समझा जाता है। यह अन्तिम क्रिया तभी काम में लाई जाती है जब मनुष्य चेचक से मरा हो। यह भी न जाने भाग्य से अथवा कैसे उनकी समझ में आ गया है कि चेचक से मरे हुए को यदि पक्षी खा जायँ अथवा वह नदी में बहाया जाय तो यह रोग गाँव में फैल जाता है। अतएव उसको धरती में गाड़ देते हैं। चेचक से मरे हुए को जलाना भी अच्छा समझा जाता है। परन्तु यह काम धनी लोग ही करते हैं, क्योंकि तिब्बत में ईंधन की बहुत कमी है। पानी में शरीर के खण्ड खण्ड करके डालते हैं। यह रीति इसलिए है कि यदि समस्त शरीर पानी में डाल दिया जाय तो उसको आँखों की ओट होते देर लगेगी।

हम लोग उस विद्यार्थी को एक नदी के किनारे लेगये। नदी के किनारे एक पहाड़ी थी, जिस पर सहस्रों मांसाहारी पक्षी बैठे हुए थे। शव को ले जाकर एक बारह गज़ ऊँचे पत्थर पर रक्खा। यह पत्थर ऊपर से चौरस था। यह स्थान इस क्रिया के लिए ही बनाया गया था। शव को चटान के ऊपर रख कर उसके ऊपर का कपड़ा हटा लिया गया और धर्मपुस्तक के मन्त्र बाजे गाजे के साथ पढ़े जाने लगे। इसी समय एक मनुष्य एक बहुत चौड़ी तलवार लेकर शव के पास गया और उसका पेट फाड़ कर आँतें बाहर निकालीं। तत्पश्चात् प्रत्येक अङ्ग अलग अलग किया गया। इतना हो चुकने पर एक पुरोहित और कई और मनुष्यों ने आकर हड्डी से मांस को पृथक् किया, जैसे क़साई किया करते हैं। इस इतने समय में गिद्ध उतर उतर कर नीचे इकट्ठे हो गये। मांस के बड़े बड़े टुकड़े गिद्धों के सामने फेंके जाने लगे। मांस फेंकने में देर थी, गिद्धों को उसे उठाने में देर न लगी। मांस शेष होने पर हड्डी की बारी आई। परन्तु हड्डी इस भाँति नहीं फेंकी गई। इस चटान पर छोटे छोटे दस गड्ढे थे। उनमें से एक गड्ढे में हड्डियाँ डाली गईं और एक भारी पत्थर से उनका चूर्ण किया गया। जब उन हड्डियों का बारीक चूर्ण होगया तब उसमें थोड़ा सा पका हुआ आटा मिलाया गया। आटा मिल जाने पर वह बढ़िया भोजन गिद्धों की भेंट किया गया। यदि कोई वस्तु बची थी तो वह मुर्दे के बाल थे।

वास्तव में तिबतवासी एक प्रकार के मनुष्य-भक्षक हैं। मैं इस रीति को देख कर भौंचका रह गया। कफ़न का कपड़ा क़ब्र खोदनेवालों को दे दिया गया। यद्यपि इन लोगों का नाम क़ब्र खोदनेवाले रक्खा गया है, परन्तु वास्तव में उनका काम हड्डी का चूर्ण करना है। पुरोहित लोग भी इनको इस काम में सहायता देते हैं। क्योंकि हड्डी का पीसना कोई सहज काम नहीं। जब हड्डी पीसनेवाले पीसते पीसते थक जाते थे तब वे उस काम को छोड़ कर चाय पीने लगते थे। इस बीच में पुरोहित महाशय यह काम करते थे। चाय तैयार करने से पहले रक्त भरे हाथ धोने की कोई आवश्यकता नहीं

होती। यदि हाथों में रक्त बहुत लगा हो तो उसे झाड़ देना ही यथेष्ट है। मैंने उन लोगों से कहा कि चाय बनाने से पहले हाथ धो डालना चाहिए, तो इन्होंने, मेरा परिहास करते हुए कहा कि इन ही हाथों से तो चाय सुस्वादु मालूम होती है। यदि मुर्दे के शरीर का कुछ अंश हम लोगों के पेट में चला जाय तो मुर्दा बड़ा प्रसन्न होता है।

उच्चपदाधिकारियों के शव सन्दूक में रक्खे जाते हैं। नमक डाल कर शव सुखा लिया जाता है, जिससे वह बहुत दिनों तक रक्खा रहता है।

गुलज़ारीलाल चतुर्वेदी

विविध विषय।

१—काग़ज़ी रुपये की बढ़ती।

सरकार को रुपये की ज़रूरत है। वह क़र्ज़ ले रही है। यह क़र्ज़ लड़ाई के ख़र्च के लिए है। रँगरूट तो लड़ने के लिए चाहिए, रुपया चाहिए गोला-बारूद आदि के लिए। समझदार आदमी, सरकारी क़र्ज़ के क़ाग़ज़ों में, ख़ुशी से रुपया लगा रहे हैं। इससे उनका रुपया भी महफ़ूज़ रहता है, सूद की शकल में वह बढ़ता भी है और जर्मनी के नाश-साधन में सहायक भी होता है। इससे भारत का बहुत कुछ हित होता है। विपरीत इसके जो लोग अपनी बचत को क़र्ज़ में नहीं लगाते उनका रुपया पड़े पड़े या गाड़ रखने से मैला हो जाता है; उसके उठ जाने का डर भी रहता है; उस पर सूद भी नहीं मिलता। इसके सिवा रुपया व्यर्थ पड़ा रहने से परोक्ष भाव से जर्मनी को गोया मदद मिलती है। इस तरह की दलीलें अख़बारों में बहुधा पढ़ने को मिलती हैं।

परन्तु कुछ लोग इन बातों को नहीं समझते। वे उलटा कहते हैं कि सरकार ने एक रुपये और ढाई रुपये के नोट व्यर्थ ही चलाये हैं। लोग देहात में नोट लेकर क्या करें। ३ आने का तेल लेते हैं तो तेली एक रुपये का नोट लेकर १३ आने नहीं लौटाता। कहता है, हमें पैसे चाहिए, काग़ज़ का टुकड़ा नहीं। नमक, अनाज, गुड़, मसाला बेचनेवाले भी यही कहते हैं। सराफों के पास नोट ले जाइए तो भी वे बहुत तङ्ग करते हैं। कभी कभी नोट के बदले रुपया देते ही नहीं; कोई कोई देते हैं तो बट्टा मांगते हैं। अब लोग क्या करें; देहात में रुपये के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं। हम को जानना चाहिए कि ये नोट भी रुपया ही हैं। सरकार की साख पर ये रुपये ही की तरह चलते हैं। इन्हें लेने से किसी को इनकार न करना चाहिए। इन्हें जो चाहे करंसी आफ़िस में जाकर भुनाले। इनके प्रचार से और और लाभों के सिवा यह लाभ भी है कि लोगों की आदत रुपया गाड़ रखने की कम हो जायगी। इनसे जगह भी कम रुकेगी; बोझ भी न बढ़ेगा। सौ सौ रुपये के सौ नोट आसानी से जेब में रक्खे जा सकते हैं; पर सौ रुपये बांध कर ले चलना भी बोझ मालूम होता है। एक लाभ और भी है। इनकी बदौलत अपढ़ तेली, तमोली शायद कुछ अक्षर और हिन्दसे पहचानना भी सीख जायँ। नोटों की इबारत न सही, रक़म पढ़ने के लिए वे लोग गिनती सीखने की कोशिश करें तो आश्चर्य्य नहीं। नई बात से लोग घबराते हैं। घबराना न चाहिए। उससे निपटने की आदत डालनी चाहिए। धीरे धीरे यही नोट अच्छे लगने लगेंगे और सब लोग, ख़ुशी ख़ुशी, इन्हें लेंगे। ज़रा इसी देश के गोवा-प्रान्त की तरफ़ देखिए। वहां पुर्तगाल का राज्य है। उसने एक रुपये का ही नहीं, आठ आने और चार आने तक के भी नोट जारी कर दिये हैं। इसे सच समझिए। उस दिन—टाइम्स आव् इंडिया, इलस्ट्रेटेड वीकली—में गोवा के चार आने वाले नोट का एक चित्र हमने स्वयं देखा है। उसके सम्बन्ध में उस पत्र के एडीटर का नोट भी था। उसमें लिखा था कि सम्भव है, शायद किसी दिन भारत में भी आठ आने और चार आने के नोट निकलें। ज़माना काग़ज़ का है। काग़ज़ के नोट देख कर घबराना न चाहिए। देहात में उन का ज़ोर न होता तो अच्छा ही था। पर हुआ तो होने दीजिए। नोट लेने, रखने और ख़र्च करने की आदत डालिए। इससे बचने का कोई इलाज नहीं।

२—आर्म्स-ऐक्ट पर आलाप।

११ सितंबर १९१८ को बड़े लाट की कौंसिल में

सूबे बरार के माननीय खापर्डे महाशय ने आर्म्स-ऐक्ट पर एक प्रस्ताव उपस्थित किया। आर्म्स-ऐक्ट उस क़ानून को कहते हैं जिसका सम्बन्ध हथियारों से है। आपने कहा हथियार रखने, न रखने के विषय में जाति-भेद का बन्धन दूर कर दिया जाय। मुअज़्ज़िज़ रईसों को लैसंस लेने के लिए महीनों दिक़्क़तें उठानी पड़ें और यः कश्चित् किरानी कन्धे पर बन्दूक़ रक्खे हुए बेधड़क घूमा करें। यह कोई बात है। ऐसा न होना चाहिए। विलायत का जैसा क़ानून यहाँ भी जारी होना चाहिए। बस, डाकख़ाने में या और कहीं कुछ थोड़ी सी रक़म जमा कर दी; लैसंस मिल गया। उसे दिखा कर बन्दूक़, तलवार, तमंचा जो चाहा ले लिया। फिर कोई झगड़ा-बखेड़ा नहीं। जहाँ चाहो हथियार बाँधे चले जाव और जब तक चाहो रक्खे रहो। उत्तर में सरकार के एक मन्त्री ने कहा—भगवन्, ऐसा न कहिए, इसी क़ानून की बदौलत भारत में अमन चैन है। ग़दर की बात याद कीजिए। उस समय जिन प्रान्तों में हथियार रखने की मुमानियत न थी उन्हीं के निवासियों ने सबसे अधिक उपद्रव और उत्पात मचाया, उसे जाने दीजिए, ज़रा कलकत्ते और आरे के दङ्गों का ही स्मरण कर लीजिए। यह क़ानून जैसा है वैसा ही यदि न होता तो न मालूम कितनी अधिक ख़ून-ख़राबियाँ हो जातीं। एक बात और भी तो है। यह क़ानून ढीला कर देने से अब की अपेक्षा बहुत अधिक सेना भारत में रखनी पड़ेगी। उसका ख़र्च भी भारतीयों ही को देना पड़ेगा। वह कहाँ से आवेगा? अवस्था सचमुच ऐसी ही है। परन्तु सरकार इस क़ानून की सीमा को कुछ सङ्कुचित अवश्य करना चाहती है। वह जाति-भेद भी उठा देने को तैयार है। लैसन्स लेने में जो दिक़्क़तें अभी उठानी पड़ती हैं उन्हें भी वह कम कर देने के विचार में है। प्रान्तीय गवर्नमेंटों से राय माँगी गई है। ज़रा धीरज धरिए। उनकी सम्मतियाँ मालूम होजाने दीजिए, फिर गवर्नमेंट आपसे भी सलाह लेगी और जो कुछ निश्चय होगा, किया जायगा।

बात उस दिन यहीं तक रही। आगे जो कुछ हो।

३—जैन विद्वानों की लिखी हुई पुस्तकों का उद्धार।

एक बात का विचार करने पर बहुत सन्तोष होता है। वह है पुरानी पुस्तकों के उद्धार की बात। पुस्तकों में उनके लिखनेवालों ही का ज्ञानानुभव सञ्चित नहीं रहता। उनके पूर्ववर्ती विद्वानों के ज्ञान का भी बहुत कुछ सञ्चय रहता है। और, ज्ञान-ज्ञान से कितना उपकार होता है यह बताने की ज़रूरत नहीं। पुस्तकों में सञ्चित ज्ञान बिना उन पुस्तकों के प्रचार के नष्ट जाता है। नहीं भी नष्ट जाता तो थोड़ी ही सीमा के भीतर सङ्कुचित पड़ा रहता है। इस दशा में प्राचीन पुस्तकों के प्रकाशन और प्रचार की सदा आवश्यकता बनी रहती है।

कुछ पुण्यशील और उदारचरित सज्जनों की सलाह से सेठ देवचन्द लालभाई ने बहुत सा रुपया पुण्यार्थ अलग कर दिया। उनके मरने के बाद एक लाख रुपये का "ट्रस्ट" बना। उसके ब्याज से यह निश्चय हुआ कि श्वेताम्बर जैनों के लिखे हुए अथवा उनके लिए उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन और प्रचार किया जाय। इस ट्रस्ट के ट्रस्टियों का दफ़्तर बम्बई के ४२६ नंबर जौहरी बाज़ार में है। इसकी एक रिपोर्ट हमें मिली है, जिससे मालूम होता है कि यह ट्रस्ट अपना उद्दिष्ट काम अच्छी तरह कर रहा है। आज तक इसने अनेक ग्रन्थों और निबन्धों का प्रकाशन किया है। कितनी ही पुस्तकें इसने पुण्यार्थ भी बाँटी हैं। यदि इसका कार्य्य इसी तरह चला गया तो इसकी बदौलत जैनों के अनेक ग्रन्थों का पुनरुद्धार हो जायगा। अन्य प्रान्तों में भी यदि इस तरह के उदाराशय पुरुष निकल आवें तो भारत के प्राचीन ज्ञान-भाण्डार का बहुत कुछ अंश नष्ट होने से बच जाय। पर एक बात न हो तो अच्छा। वह है धार्म्मिक सङ्कोच-भाव। पुस्तक किसी भी धर्म्म या पन्थ के अनुयायी की क्यों न हो, यदि उससे उपकार की सम्भावना है तो धर्म्म-विश्वास को उसके प्रकाशन का बाधक न बनाना चाहिए।

४—चीन और भारत के सामाजिक जीवन में साम्य।

अनेक भारतवासियों का ख़याल है कि जातिभेद, सम्मिलित-परिवार-प्रथा, समाज में स्त्रियों का निम्न पद इत्यादि कुछ सामाजिक नियम हमारे यहाँ ऐसे हैं जिनका पता और देशों में नहीं। पर उनका यह ख़याल ग़लत है। इन विषयों में चीन और भारतवर्ष की सामाजिक दशा में बहुत कुछ साम्य है। श्रीयुत लेंग और टो नाम के चीनी

विद्वानों ने चीन के सामाजिक जीवन पर एक पुस्तक अँगरेज़ी में, लिखी है। उसका नाम है—Village and Town Life in China. उसे देखने से पता लगता है कि यहाँ और वहाँ के वर्तमान सामाजिक जीवन में, कितनी ही बातों में, समता है। भारतवर्ष में भिन्न भिन्न सैकड़ों धर्म-सम्प्रदाय हैं। चीन में भी यही हाल है। जाति-पाँति का जो भेद-भाव यहाँ देख पड़ता है, चीन भी उससे ख़ाली नहीं। भारत में अब भी प्राचीन सभ्यता के आदर्शों की पूजा होती है। चीन भी इस विषय में भारत ही की तरह पिछड़ा हुआ है। भारत में अभी तक भौतिक साधनों अर्थात् अस्त्र-शस्त्र, यन्त्रादिक की उन्नति नहीं हो पाई। चीन भी इस विषय में भारत से बहुत आगे नहीं बढ़ा। भारत कृषि-प्रधान देश है; चीन में भी खेती अधिक होती है। भारत की संयुक्त-कुटुम्ब-प्रणाली तो प्रसिद्ध ही है। चीन भी इस विषय में भारत का साथी है। पूर्वोक्त पुस्तक-लेखक लिखते हैं—"सन्तान और उनकी विवाह वृद्धि के साथ ही साथ परिवार की भी वृद्धि होती जाती है। एक कुटुम्ब में ४-५ पीढ़ियों तक के मनुष्य एक ही साथ रहते हैं। माता-पिता के बूढ़े हो जाने पर उनका पुत्र और कभी कभी पुत्री भी घर का ख़र्च चलाती है। कुटुम्ब का प्रत्येक मनुष्य अपने लिए नहीं, बल्कि समग्र परिवार के लिए कमाता है।"

हमारे समाज में स्त्रियों का जो दर्जा है; चीन में भी उनका दर्जा प्रायः वैसा ही है। वहाँ वैसे तो परिवार का सर्वोपरि सञ्चालक पिता समझा जाता है; पर असल में, घर के काम-काज में माता का ही प्राधान्य होता है। घरेलू मामलों में पिता नाम-मात्र के लिए बड़ा माना जाता है। माता ही प्रायः सभी महत्त्व-पूर्ण कामों का निश्चय करती है। रिश्ते-दारियों के रस्म-रिवाजों का पालन करना इत्यादि सब माता ही के अधीन है। भारतवर्ष में भी स्त्रियों को यह अधिकार प्राप्त हैं।

इस थोड़े से वर्णन से ज्ञात होता है कि चीन का सामाजिक जीवन भारतवर्ष के सामाजिक जीवन से कुछ कुछ मिलता-जुलता है। चीन हमारा पड़ोसी है। पर आज तक अधिकांश भारतवासी वहाँ की आन्तरिक स्थिति से बहुत कम परिचित हैं। इसका कारण है चीनी-भाषा की क्लिष्टता। फिर भारत में उसकी शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं। अँगरेज़ी भाषा में चीन के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है उसी से हम चीन के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अब चीनी विद्वानों ने स्वयं ही अपने देश पर अँगरेज़ी में पुस्तकें लिखने का उपक्रम किया है। इससे अब चीन के सम्बन्ध की अधिक बातें जानने का द्वार खुल जायगा।

५—हीरे का उपयोग।

जितना हीरा संसार में पैदा होता है उसका ९५ फ़ी सैकड़ा उपयोग ज़ेवर और जवाहिरात में होता है। पर इसके अतिरिक्त वह और काम भी देता है। अन्य कामों में यद्यपि वह बहुत ही कम ख़र्च होता है तथापि इससे उसके उपयोग की महत्ता कम नहीं होती। हीरा पालिश करने के काम आता है। उससे काँच भी काटा जाता है। यह दूसरा उपयोग सर्वसाधारण से बहुत करके छिपा नहीं। इस काम के लिए हीरे के छोटे छोटे टुकड़ों, अर्थात् हीरा कनी से काम लिया जाता है। ऐनकों के काँच हीरे ही से चिकने किये जाते हैं। ईसपात के टुकड़े में हीरा लगा कर यह काम किया जाता है। चटानें तोड़ने अर्थात् सुरङ्गें लगाने में भी हीरा काम आता है। हीरे के द्वारा यह जाना जाता है कि चटान किस तरह की है, उसका सिलसिला कैसा है, और सुरङ्ग कहाँ लगानी चाहिए। इस काम में हीरे का उपयोग दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। आटा और सुर्ख़ी वग़ैरह पीसने के कारख़ानों में भी हीरा काम देता है। चक्कियों के पत्थर इसी से खुरदरे किये जाते हैं। बिजली के तार खींचने में भी हीरे से काम लिया जाता है। इनके सिवा और भी कितने ही काम उससे निकलते हैं।

६—आयुर्वेद-चिकित्सा पर सरकार की सम्मति।

हम पिछली संख्या में उस आलोचना के विषय में लिख चुके हैं जो मदरास गवर्नमेंट की क़ानूनी कौंसिल में आयुर्वेद-चिकित्सा की हुई थी। मदरास प्रान्त के प्रतिनिधि माननीय मीर असदअली ख़ानबहादुर वाइसराय की क़ानूनी कौंसिल के मेम्बर हैं। उन्होंने इस देश की चिकित्सा-प्रणालियों के विषय में भारत-सरकार से गत २७ फ़र्वरी को कुछ प्रश्न किये थे। गत पाँचवीं आक्टोबर की कौंसिल में उन्होंने अपने प्रश्नों का हवाला दे कर सरकार से यह

पूँछा कि प्रान्तीय गवर्नमेंटों की इस देश की चिकित्सा-प्रणालियों के विषय में क्या राय है। माननीय सर विलियम विन्सेन्ट ने सरकार की ओर से एक बयान पेश किया जिसमें सब प्रान्तीय गवर्नमेंटों के मतों का सार है। बयान इस तरह है। "सब प्रान्तीय गवर्नमेंटों का इस विषय में एक मत है और वह यह कि इस देश की चिकित्सा-प्रणालियों का वैज्ञानिक आधार पर संस्थित किया जाना असम्भव सा है। जो ज्ञान इस देश की चिकित्सा-प्रणालियों में है कुछ वैसा ही किसी समय में योरप में भी फैला हुआ था। परन्तु वहाँ तो कई सौ वर्ष के वैज्ञानिक खोज और आविष्कारों ने उसे दबा दिया। पूर्वोक्त शिक्षा-प्रणालियों में कुछ ऐसे ही ज्ञान का अवशिष्टांश है। उनमें उन वैज्ञानिक यन्त्रों का अभाव है जिनके द्वारा ही आधुनिक औषध शल्यशस्त्रों की उत्पत्ति और उन्नति हुई है। जिन सिद्धान्तों पर इस देश की चिकित्सा-प्रणालियाँ संस्थित हैं वे निर्बल हैं। आज कल भी बहुत से चिकित्सक ऐसे हैं जिन्होंने पाश्चात्य-चिकित्साज्ञान प्राप्त किया है अथवा पाश्चात्य-चिकित्सा-शास्त्र में पण्डित होने के अनन्तर आयुर्वेद का अध्ययन किया है परन्तु इस बात का सबूत है कि ऐसे वैद्यों या डाक्टरों पर लोगों की इतनी श्रद्धा और विश्वास नहीं है जितना उन वैद्यों पर जिन्होंने केवल आयुर्वेद में शिक्षा पाई है और ऐसे वैद्य जो केवल आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सा करते हैं नहीं चाहते कि उनके मामले में गवर्नमेंट किसी प्रकार का हस्तक्षेप करे। यदि आयुर्वेद के अनुसार एतद्देशीय चिकित्सा-प्रणाली का संशोधन किया जाना अभीष्ट है तो यह आवश्यक है कि इस विषय में उस प्रणाली के चिकित्सकों की ओर से योजना की जाय और उसका समर्थन भी जनता की ओर से हो। परन्तु अभी न कहीं ऐसी योजना ही के चिह्न नज़र आते हैं और न इस विषय में लोक-मत ही प्रबल है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन चिकित्सा-प्रणालियों का प्रभाव सर्वसाधारण लोगों पर बहुत है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि लोगों को अताइयों की औषधियों में अन्धविश्वास है। यह दशा यहीं नहीं है, पाश्चात्य देशों में भी यही हाल है, यद्यपि वहाँ इस देश की अपेक्षा शिक्षा का प्रचार बहुत है और अताइयों के इलाज से होनेवाली हानि ख़ूब दिखलाई जाती है। प्राचीन चाल की चिकित्सा लोग बहुत पसन्द करते हैं, इसका दूसरा कारण—और यही मुख्य है, वैद्यों का थोड़ी सी फ़ीस ले लेना है। पाश्चात्य चिकित्सा सीखने में ख़र्च बहुत पड़ता है। इसलिए डाक्टरों को ज़्यादा फ़ीस लेनी ही पड़ती है। सरकारी हस्पतालों और दवाख़ानों में जहाँ मुफ़्त इलाज किया जाता है वहाँ बहुत रोगी आते हैं। इनकी संख्या से सिद्ध होता है कि पाश्चात्य चिकित्सा की वे बड़ी क़द्र करते हैं। इसलिए गवर्नमेंट को यह नीति स्वीकार करनी पड़ी कि ऐसी चिकित्सा कराने के लिए लोगों को विशेष सुविधा कर दी जाय। तो फिर उस धन का जो पाश्चात्य-चिकित्सा के निमित्त है ऐसी चिकित्सा प्रणालियों के उत्तेजना देने में ख़र्च कर देना जिन्हें सरकार निस्सार समझती है केवल घोर अपव्यय है।

हाँ, एक प्रकार की खोज में सफलता हो सकती है। वह है इस देश की ओषधियों जड़ी-बूटियों वग़ैरह के गुणों का पता लगाना। कई प्रान्तीय गवर्नमेंटों ने इस प्रकार के खोज करने के लिए कुछ उपाय सोचे भी हैं परन्तु लड़ाई के समय में योग्य औषधतत्त्ववेत्ताओं का मिलना असम्भव है। इसलिए उन्हें इस कार्य्य को कुछ दिनों के लिए उठा रखना पड़ा।

माननीय मीर साहब के प्रश्न के उत्तर में भारत-सरकार का बस यही बयान है। देखें भारतवर्षीय आयुर्वैदिक सम्मेलन और यूनानी तिब्बी कान्फ़रन्स अपने अपने पक्ष के समर्थन में कुछ कहती हैं या 'मौनं सर्वार्थसाधनं' वाली नीति का ऐसे समय में भी अवलम्बन करेंगी।

७—रेल के तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों के कष्ट दूर करने के लिए सरकार की ओर से आदेश।

माननीय मीर असदअली ख़ानबहादुर ने गत पाँचवीं आक्टोबर की वाइसराय की कौंसिल में एक और मुफ़ीद सवाल पूँछा। रेल के तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों के कष्ट कौन नहीं जानता? परन्तु उनके दूर करने के लिए कितने लोग उद्योग करते हैं। उन्हीं कष्टों की निवृत्ति के लिए माननीय मीर साहब का प्रश्न था। हर्ष की बात है कि रेलवे बोर्ड ने हिन्दुस्तान के सब रेलों के प्रबन्धकर्त्ताओं को निम्नलिखित आदेश भेजे हैं।

(१) जिन स्टेशनों पर हर वक्त टिकट बाँटने का हुक्म है वहाँ भी देखा जाता है कि अकसर बाबू लोग मुसाफ़िरों को टाल देते हैं। गाड़ी रवाना होने के कुछ ही देर पहले टिकट बाँटने शुरू करते हैं। जिस समय मुसाफ़िर टिकट माँगते हैं उन्हें नहीं दिये जाते। ऐसा न होना चाहिए। रेल के अफ़सर सिर्फ़ नियम ही बना कर सन्तोष न कर लिया करें इसके लिए भी प्रबन्ध करें कि वे ठीक ठीक बर्ते जाते हैं या नहीं। अफ़सरों को चाहिए कि वे देखें कि बाबू लोग अपनी जगहों पर हर वक्त रहते हैं या नहीं।

(२) बाज़ स्टेशनों पर कभी कम मुसाफ़िर चलते हैं कभी मेले त्योंहारों की वजह से ज़्यादह। अफ़सरों को इसका पहले से अनुसन्धान कर लेना चाहिए और जब भम्भड़ बहुत हो तब टिकट-बाबुओं और टिकट-घरों या खिड़कियों की संख्या बढ़ा देनी चाहिए।

(३) टिकट-बाबुओं को वेतन भी योग्य देना उचित है। उन बेचारों को हर महीने कुछ न कुछ डेबिट घटी अपनी तनख़्वाह से पूरी करनी पड़ती है। टिकट का काम करने के लिए उन्हें पहले से शिक्षा मिलनी चाहिए। और वही बाबू इस काम के लिए नियुक्त किये जायँ जो साधारण बाबुओं से कुछ विशेष पढ़े लिखे हों।

(४) टिकट-बाबुओं को अपना काम बड़ी देर तक करना पड़ता है इसीसे वे असावधान हो जाते हैं। और बाबू लोग इसी कारण इस काम को पसन्द भी नहीं करते। टिकट-बाबुओं के काम करने का समय कुछ घटा देना चाहिए।

(५) मुसाफ़िर पहले से प्लेटफ़ार्मों पर आने नहीं पाते। जब फाटक खुलता है बड़ी भम्भड़ मचती है। ऐसा होना ठीक नहीं। मुसाफ़िरों को प्लेटफ़ार्म पर आने की उसी वक्त से इजाज़त हो जानी चाहिए जिस वक्त वे टिकट ख़रीद लें। हाँ अगर कोई ख़ास मौक़ा है या प्लेटफ़ार्म छोटा है तो दूसरी बात है। ऐसा करने से फाटकों पर बाबू लोगों को देर तक रहना पड़ेगा परन्तु मुसाफ़िरों को इससे आराम मिलेगा। कोई ऐसा अफ़सर भी रहना चाहिए जो प्लेटफ़ार्म पर मुसाफ़िरों को एक ही जगह इकट्ठे न होने दे किन्तु एक दूसरे से कुछ फ़ासले पर बिठा दे ताकि गाड़ी के आने पर सवार होने में सबको सुविधा हो।

(६) जिन स्टेशनों से गाड़ियाँ रवाना होती हैं वहाँ बहुत पहले से उन्हें प्लेटफ़ार्म पर लगा देनी चाहिए ताकि मुसाफ़िर अपने सुविधानुसार सवार होते जाया करें। इस मामले में तेल या गेस की किफ़ायत अच्छी नहीं।

(७) यद्यपि मुसाफ़िरों के भोजन की सामग्री पहले से अब अच्छी होती है तथापि इस विषय में भी सुधार की बड़ी आवश्यकता है। इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि हर धर्म्म और जाति के लोग मुसाफ़िरों में होते हैं। स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, ग़रीब, अमीर सभों को रेल की यात्रा करनी पड़ती है। इसलिए भोजन की सामग्री ऐसी होनी चाहिए जो सभी लोगों के अनुकूल हो। इसमें कम्पनी का कोई घाटा नहीं चाहे वह स्वयं प्रबन्ध करे या ठेकेदारों से करावे। इस मामले में स्टेशनों के पास रहनेवाले प्रतिष्ठित पुरुषों से सम्मति और सहायता लेनी चाहिए। वे ठीक ठीक बतला सकेंगे कि लोगों के अनुकूल किस तरह का भोजन है।

(८) मुसाफ़िरों को पानी पहुँचने में भी विशेष सुविधा होनी चाहिए। गर्मी के दिनों में कुछ पानी पिलानेवालों के बढ़ा देने से काम नहीं चलता। यह भी तो देखना चाहिए कि वे अपने काम में सावधान रहते हैं या नहीं। अधिक पाइप या नलों से भी दुःख दूर नहीं होता। गर्मी के दिनों में उनसे गर्म पानी निकलता है। पानी भर कर पहले से ठंढा कर लेना उचित है। यदि यथेष्ट रूप में ठंढा जल मुसाफ़िरों को मिला करे तो इससे भी उनकी यात्रा का कुछ कष्ट निवृत्त हो।

८—इँगलेंड में दत्तक पुत्र।

वर्तमान महायुद्ध योरप की सामाजिक स्थिति में भी बड़ा परिवर्तन कर देगा! इँगलेंड में लड़कों के गोद लिये जाने की चाल नहीं है। कम से कम वहाँ के क़ानून के अनुसार गोद लिया जाना ना-जायज़ है। माता-पिता को सर्वदा अधिकार रहता है कि वे अपने बच्चे को किसी समय भी वापस लेलें, चाहे गोद लेनेवाले ने उसके पालन-पोषण या शिक्षा में कितना ही धन क्यों न ख़र्च किया हो और चाहे वह दत्तक अपने कृत्रिम कुटुम्बियों के सङ्ग कितने ही दिन क्यों न रहा हो। शायद इसी डर से लोग दूसरे के बच्चों को गोद लेना अच्छा न समझते थे।

फ़्रान्स और जर्मनी के क़ानून की दृष्टि में तो गोद लिया जाना पहले से ही जायज़ था, पर अब इँगलेंड में भी ऐसी प्रथा चल निकले तो आश्चर्य्य नहीं। महायुद्ध ने बहुतेरे बच्चों को अनाथ कर दिया। बहुतेरे माता-पिता भी पुत्र-हीन हो गये। इसी लिए वहाँ यह विचार होने लगा है कि पुत्र-हीन अनाथों को क्यों न गोद लेलें। ज़रूरत सभी कुछ करालेती है।

९—ऊँचे उहदों पर हिन्दुस्तानी।

१८ सितम्बर १९१८ की व्यवस्थापक सभा में आनरेबल महाराज सर मणीन्द्रचन्द्र नन्दी ने भारत सरकार से इन्डियन सिविलसर्विस के बारे में एक प्रश्न किया। उसके उत्तर में सरकार की तरफ़ से निम्नलिखित नक़शा पेश किया गया। इस नक़शे से मालूम होता है कि १३४१ उहदों में से हिन्दुस्तानियों के हिस्से में सिर्फ़ १४८ जगहें पड़ीं। इसमें से भी ऊँचे दरजे पर सिर्फ़ ९३ ही हिन्दुस्तानी हैं। यह संख्या इस देश के रहनेवालों के लिए सन्तोषजनक नहीं हो सकती। आशा है कि शासनसुधार की स्कीम स्वीकृत हो जाने पर ऊँचे उहदों पर हिन्दुस्तानियों की संख्या यथेष्ट कर दीजायगी।

नक़शा।

प्रदेश	अफ़सरों की मंज़ूरी	वर्तमान अफ़सरों की संख्या	ऊँचे उहदे	नीचे दरजे के उहदे	ऊँचे उहदों पर हिन्दुस्तानी		नीचे उहदों पर हिन्दुस्तानी	
					इन्डियन सि० स०	दूसरे उहदे	इन्डियन सि० स०	दूसरे उहदे
मद्रास	१८९	१६९	१०२	९७	६	९	७	१
बम्बई	१७३	१७६	९२	९०	४	५	९	३
बङ्गाल	२०२	१७३	११०	१०३	१०	१०	६	१
संयुक्त प्रदेश	२३७	२३२	१२७	१२१	३	१०	१३	१
पञ्जाब	१५२	१६३	८६	७८	२	११	३	१
वर्म्मा	१७३	१६२	९२	८७	२	४	१	...
विहार और उड़ीसा	१२१	११७	६६	६२	३	५	३	१
मध्यप्रदेश	१११	९८	६२	५६	२	७	३	...
आसाम	५१	५१	२५	२६	...	...	२	...
	१४०९	१३४१	७६६	७२०	३२	६१	४७	८

पुस्तक-परिचय।

१—सुन्दरसार—इस पुस्तक की पृष्ठ-संख्या कोई ३०० और मूल्य केवल १) है। छपाई और काग़ज़ बहुत साधारण है! काग़ज़ की पतली जिल्द चढ़ी हुई है। आकार मध्यम है। प्रकाशकर्त्री काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा से यह मिलती है। इसमें प्रसिद्ध साधु सुन्दरदास के ग्रन्थों के अच्छे अच्छे अंशों का संग्रह है। उनके लिखे हुए बहुत से ग्रन्थ हैं। वे सब सुलभ नहीं। मिल भी जायँ तो सब के पारायण और मनन के लिए बहुत समय चाहिए। पुरोहित

हरिनारायणजी, बी० ए०, ने इस संग्रह में सुन्दर के अनेक ग्रन्थों का मन्थन करके उनका सार रख दिया है। यह बहुत अच्छा हुआ। ब्रह्म-ज्ञानामृत के पिपासुओं को इसे पढ़ कर अपनी पिपासा-निवृत्ति की चेष्टा करनी चाहिए। अजमेर के पण्डित चन्द्रिकाप्रसादजी त्रिपाठी दादू और सुन्दर के ग्रन्थों के नामी ज्ञाता हैं। उनको इस पुस्तक पर, विशेष कर इसकी भूमिका पर, एक नज़र अवश्य डालने की कृपा करनी चाहिए।

✲

२—Indian Directory Vol Part.

इलाहाबाद में—दि एन साइक्लोपीडिक इंडियन डाइरेक्टरी—नाम की कोई कम्पनी है। उसका दफ़्र २८, हिबटरोड में है। उसने ख़ास ख़ास शहरों की ज्ञातव्य बातों से पूर्ण कोश (डाइरेक्टरी) प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया है। उसके इस काम का यह पहला नमूना है। पुस्तक अँगरेज़ी भाषा में है। आकार कुछ बड़ा है। छपाई और काग़ज़ अच्छा नहीं। पृष्ठ-संख्या १०४ और मूल्य १) है। प्रस्तुत पुस्तक इलाहाबाद पर है। इसके सम्पादक हैं—हरनारायण प्रसाद, बी० ए०, महाशय! इसमें इलाहाबाद का संक्षिप्त इतिहास; पुरानी इमारतें—स्तम्भ और मकबरे आदि; स्कूल, कालेज, पाठशालायें मकतब, बोर्डिंगहौस आदि; ख़ास ख़ास व्यवसायी और दूकानदार, लेजिस्लेटिव कौंसिल, वकील बारिस्टर; म्यूनीसिपैलिटी, अस्पताल और शफ़ाख़ाने आदि; तार और डाक; सामयिक पुस्तकें, अख़बार, साहित्य-सम्बन्धिनी संस्थायें तथा ग्रन्थकार; धार्म्मिक मेले, यात्रायें, मन्दिर आदि; सरकारी दफ़्र, अफ़सर और बड़े बड़े कर्म्मचारी; राजा और रईस आदि इन्हीं सब बातों का संक्षिप्त उल्लेख है। पुस्तक काम की है। इससे इलाहाबाद की बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं। अनभिज्ञ और अपरिचित आदमी इससे अवश्य लाभ उठा सकता है। पर सम्पादन इसका सावधानता-पूर्वक नहीं किया गया। ग़लतियाँ रह गई हैं। कुछ ग़लतियाँ हाथ से दुरुस्त करनी पड़ी हैं। फिर भी भूलें रह गई हैं। है तो यह इलाहाबाद की डाइरेक्टरी, परन्तु लखनऊ तक की ख़बर इसने ली है। पोस्टमास्टर जनरल और उनका दफ़्र लखनऊ में है। क्वेडिश सोसायटियों के रजिस्ट्रार भी वहीं रहते हैं। पर उनके भी नाम इसमें हैं! और भी इसी तरह की मनमानी की गई है। सेक्रेटेरियट और अकौंटेंट जनरल के दफ़्रों में कितने ही कर्म्मचारी अच्छी अच्छी तनख़्वाहें पाते हैं और अच्छे अच्छे पदों पर भी हैं। पर उनके नाम इसमें नहीं। आशा है, अगले संस्करणों में इसके सम्पादक इसे और भी उपयोगी बनाने की चेष्टा करेंगे।

✲

३—**सौभाग्यरत्नमाला**। इसका आकार मँझोला, छपाई साधारण, आवरण-पृष्ठ सुन्दर, पृष्ठ-संख्या ११० और मूल्य ८ आने है। इसे पण्डिता चन्दाबाई ने लिखा और आरा के प्रेम-मन्दिर ने प्रकाशित किया है। इसमें सत्यता, आहार-विहार, सत्सङ्गति, ब्रह्मचर्य्य और पातिव्रत आदि ६ निबन्ध हैं, जो स्त्रियों और वयस्क बालिकाओं के पढ़ने और उपदेश ग्रहण करने लायक हैं। लेखिका की भाषा सर्वथा उनके अनुकूल है। पर 'रजस्वला' शब्द की बार बार आवृत्ति खटकती है। उसका आशय और तरह प्रकट किया जा सकता था।

✲

४—**महादेव गोविन्द रानडे**। इसे "भारतीय" नामक किसी महाशय ने लिखा और दीक्षित और द्विवेदी, दारागञ्ज, प्रयाग ने प्रकाशित किया है। छपाई साधारण और मूल्य ॥=) है। आकार मध्यम और पृष्ठ-संख्या २०० के लगभग है। पुस्तक संवत् १९७४ की छपी हुई है। कई पुस्तकों के आधार पर लिखी गई है। रानडे महाशय के जीवनचरित से सम्बन्ध रखनेवाली सभी मोटी मोटी बातें इसमें आ गई हैं। न्यायमूर्ति रानडे देशभक्त, वक्ता, लेखक, समाज-सुधारक, धर्म्मिष्ठ सभी कुछ थे। उनके चरित से अनेक शिक्षायें मिलती हैं। ऐसे पुण्यात्मा पुरुष के चरित-पाठ से अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

✲

५—**पञ्चाध्यायी**। यह बड़े आकार की बहुत बड़ी पुस्तक है। पृष्ठ-संख्या ५६८ और मूल्य ५॥) है, जिल्ददार है, छपाई और काग़ज़ उत्तम है। किसी प्राचीन जैन-पण्डित की रचना है। टीकाकार का अनुमान है कि शायद अमृतचन्द्राचार्य्य इसके कर्त्ता हैं। उनका समय विक्रम-संवत् ९६२ है। नामानुसार पुस्तक में ५ अध्याय होने चाहिएं; पर इसमें दो ही अध्याय हैं।

दूसरा अध्याय भी पूरा नहीं । इतना ही ग्रन्थ प्राप्य है । इसकी कोई संस्कृत-टीका भी प्राप्य नहीं । इस इतने की श्लोक-संख्या १६१३ है । ऊपर मूल संस्कृत-श्लोक बड़े टाइप में हैं, नीचे उसका अर्थ हिन्दी में । तदनन्तर भावार्थ भी विस्तारपूर्वक, हिन्दी में ही, लिखा गया है । हस्तिनापुर के ऋषभब्रह्मचर्य्याश्रम के पण्डित मक्खनलाल शास्त्री ने यह अर्थ और भावार्थ लिखा है और नाम रक्खा है सुबोधिनी टीका । मूल ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में द्रव्य और द्वितीय में सम्यक्त्व का विवेचन है । इस विवेचन में अपने अपने विषय के भिन्न भिन्न अङ्गों का निरूपण बड़े विस्तार से किया गया है । आकर-ग्रन्थ है । सब के समझने योग्य न था, इसी से इसकी टीका लिखी गई है । बिना किसी अन्य टीका की सहायता के इसे लिख कर टीकाकार ने बड़ा काम किया है । इस टीका से अब इस ग्रन्थ में निरूपित बातें साधारण जनों के लिए भी सुलभ हो गईं । इसके पाठ से जैनेतर जनों को भी जैनों के अध्यात्म विचारों का परिचय प्राप्त हो सकेगा । टीकाकार ने मूल का आशय अच्छी तरह समझाया है और आवश्यकतानुसार पाद-टीकायें भी दी हैं । भाषा आपकी न बहुत सरल और न बहुत कठिन है ।

× ×
×

नीचे जिनके नाम दिये गये हैं वे पुस्तकें भी पहुँच गईं हैं । भेजनेवाले सज्जनों को धन्यवाद—

१—विक्रम-पुस्तकालय (कानपुर) की चतुर्थ वार्षिक रिपोर्ट—प्रकाशक, बाबू देवीप्रसाद मन्त्री ।

२—मिथ्या कलङ्क—लेखक, पण्डित बजरङ्गदत्त शर्म्मा, गया ।

३—श्री ब्रह्मसूत्रम्—"सच्चिदानन्द-बाल-ब्रह्मचारिणा श्रुतं प्रकाशितञ्च" ।

४—हृदय-तरङ्ग—लेखक, पण्डित गङ्गानारायण द्विवेदी, इलाहाबाद ।

५—तुलजापुर-मोफत-वाचनालयाचा प्रथम वार्षिक वृत्तान्त—प्रकाशक, गांधी माणिकचन्द्र बालचन्द तुलगापुर ।

६—जैनसिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता की संक्षिप्त रिपोर्ट—प्रकाशक, श्रीलाल जैन, कलकत्ता ।

७—परोपकारिणी सभा ब्यावर, की रिपोर्ट—प्रकाशक, पं० जयदेवप्रसाद शर्म्मा, ब्यावर ।

८—वीर चूड़ावत सर्दार—लेखक; बाबू परमेष्ठीदास जैन ।

९—Pamphlet No.-4, Vocational Education.
१०—Pamphlet No. 3, Natural Science, Education of
} Published by Bureau of Education, Gort.of India

चित्र-परिचय ।

(१)

आतिथ्य ।

सरस्वती पर कृपा करनेवाले चित्रकार, बाबू रामेश्वर-प्रसाद वर्म्मा इस संख्या के रङ्गीन चित्र "आतिथ्य" के निर्म्माता हैं । चित्र में एक अच्छे गृहस्थ के अन्तःपुर का एक दृश्य दिखाया गया है । एक महिला अपनी सखी के घर आई है । उसे सुन्दर आसन पर बिठा कर गृह-स्वामिनी उसी के पास बैठी हुई उससे सदालाप कर रही है । अन्य स्त्रियाँ पीछे खड़ी हुई आतिथ्य में लगी हुई हैं । कुछ सामने बैठी हुई गा बजाकर सभागत स्त्री का मनोरञ्जन कर रही हैं । दृश्य आज कल का नहीं, मुसल्मानी ज़माने का है । इसी से वस्त्राच्छादन सब उसी समय की प्रथा के अनुसार हैं । चित्र का रंग ढंग, भाव, सौन्दर्य्य सब स्वदेशी है, जैसा कि भारतीय चित्र-कला में होना चाहिए । चित्रकला के ज्ञाताओं के ध्यान में चित्र की यह खूबी अवश्यही आ जायगी ।

(२)

जैनों की स्तूप-पूजा के दृश्य ।

किसी समय मथुरा में जैनों के अनेक मन्दिर, स्तूप और इमारतें थीं । यह आज से कोई दो हज़ार वर्ष पहले

की बात है। इन इमारतों के भग्नांश अब तक भूगर्भ में दबे हुए पड़े हैं। खोदने से कितने ही निकल भी चुके हैं। ऐसे भग्नांशों के कुछ टुकड़े लखनऊ के अजायब घर में भी रक्खे हैं। तोरण के ऐसे ही दो भागों के दृश्य इस संख्या में प्रकाशित हैं। पहले दृश्य में, बीच में, एक स्तूप है। उसकी पूजा सुपर्ण और किन्नर कर रहे हैं। दूसरे में रथ, हाथी और घोड़ों पर सवार कुछ लोग पूजा करने जा रहे हैं। इन दृश्यों से पुराने ज़माने के वस्त्राच्छादन का बहुत कुछ हाल मालूम हो सकता है। उस ज़माने में हाथियों और घोड़ों के साजो-सामान कैसे होते थे और

जैनों की स्तूप-पूजा का दृश्य (तोरण का एक भाग)।

जैनों की स्तूप-पूजा का दृश्य (तोरण का दूसरा भाग)।

रथ तथा गाड़ियाँ कैसी बनाई जाती थीं, इसका भी अनुमान इन दृश्यों से किया जा सकता है। अतएव इस तरह के भग्नांशों का संग्रह और उनके दृश्यों का प्रकाशन, ऐतिहासिक दृष्टि से, बड़े महत्त्व का है।

(३)

इसी संख्या में प्राचीन जैन-स्तूप का एक और भी उत्तम दृश्य प्रकाशित है। इस दृश्य में आयागपट के नीचे का भाग दिखाया गया है। यह आयागपट भी मथुरा ही में प्राप्त हुआ था और लखनऊ के अजायब घर में रक्खा है। इस दृश्य में प्रदक्षिण-मार्ग, जँगला, तोरण और चार सीढ़ियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। यह सब पत्थर का है। तोरण की कारीगरी बहुत अच्छी है। उसके बीच में नीचे माला लटक रही है। पट के दोनों ओर एक नर्तकी स्त्री खड़ी है। इसका नाम शिवयशा था। इसी ने इस आयागपट की प्रतिष्ठा की थी। इसके नीचे जो लेख है वह सन् ईसवी से बहुत पहले का है। लेख यह है:—

नमो अर्हतानं फगुयशस
नतकस भयाये शिवयशा
आयागपटो कारितो
अर्हत पूजाये।

प्राचीन जैन-स्तूप का एक दृश्य (आयागपट के नीचे का भाग)।

Printed and published by Apurwa Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad.

लेख-सूची

पृष्ठ

चित्र-सूची

भाग १९, खण्ड २] नवम्बर १९१८—मार्गशीर्ष १९७५ [संख्या ५, पूर्ण संख्या २२७

स्वयमागत।

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं ?

द्वारपाल भय दिखलाते हैं,
कुछ ही जन जाने पाते हैं;
शेष सभी धक्के खाते हैं
कैसे घुसने पाऊँ मैं ?

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?

मुझ में सभी दैन्य-दूषण हैं,
न तो वस्त्र हैं न विभूषण हैं;
लज्जित किन्तु यहाँ पूषण हैं
अपना क्या दिखलाऊँ मैं ?

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?

मुझ में तेरा आकर्षण है,
किन्तु यहाँ घन सङ्घर्षण है;
इसी लिए दुर्द्धर धर्षण है,
क्यों कर तुझे बुलाऊँ मैं ?

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?

तेरी विभव-कल्पना कर के
उसके वर्णन से मन भर के
भूल रहे हैं जन बाहर के
कैसे तुझे भुलाऊँ मैं ?

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?

बीत चुकी है बेला सारी
आई किन्तु न मेरी बारी
करूँ कुटी की अब तैयारी
वहीं बैठ पछताऊँ मैं !

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?

कुटी खोल भीतर आता हूँ,
तो वैसा ही रह जाता हूँ;
तुझको यह कहते पाता हूँ—
"अतिथि, कहो, क्या लाऊँ मैं ?"
तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?

मैथिलीशरण गुप्त

——

आधुनिक धनकुबेर जान पियरपान्ट मार्गन।

संसार में केवल अपने उद्योग से करोड़ दो करोड़ रुपयों की सम्पत्ति कमा कर धनवान बन जाना साधारण लोगों के लिए एक बड़ा कठिन कार्य है। अच्छे कामों के लिए एक दो करोड़ रुपयों का सात्विक दान करने की शक्ति प्राप्त कर लेना और भी अधिक कठिन है। परन्तु संसार के साम्पत्तिक और व्यावसायिक वायुमण्डल पर अपना पूरा पूरा प्रभाव जमाकर संसार के लक्ष्मीपुत्रों में अग्रगण्य बन जाना एक ऐसा महान् कठिन कार्य है जिसे विरला ही मनुष्य कर सकता है। यह कार्य केवल सौभाग्य अथवा उत्तम प्रारम्भिक स्थिति के होने से ही नहीं हो जाता। इसके लिए योग्यता सम्पादन करनी पड़ती है, वर्षों तक लगातार परिश्रम करके महत्त्वपूर्ण बातों के रहस्य का अध्ययन और मनन करना पड़ता है। व्यापार, उद्योग और सफलता के अङ्ग-प्रत्यङ्गों और कल-पुर्ज़ों का सूक्ष्म निरीक्षण करना पड़ता है। आज हम एक ऐसे महान् पुरुष का थोड़ा सा हाल सुनाना चाहते हैं जिसने अपनी बुद्धि और उद्योग-शक्ति का उचित मेल करके अपने को आधुनिक धनकुबेर बना लिया और जिसने संसार को यह बतला दिया था कि व्यवसाय के मार्ग में केवल उचित उपायों का ही अवलम्बन करके एक साधारण मनुष्य संसार के साम्पत्तिक क्षेत्र का कहाँ तक मालिक बन सकता है। इस मनुष्य का नाम जान पियर-पान्ट मार्गन था। अपने समय में इसका इतना प्रभाव और मान था जितना बहुतेरे राजा-महाराजाओं और बड़े बड़े अधिकारियों का भी कदाचित् न रहा हो। यह सब होकर उसमें विशेष प्रशंसनीय बात यह थी कि इसका आचरण सरल, सज्जनता-पूर्ण और कुटिलता-रहित था।

मार्गन का जन्म एक उच्च और कुलीन वंश में, सन् १८३७ में, हुआ था। उसके पिता आदि पूर्व-पुरुष बड़े विख्यात थे; उनमें से कोई धर्मोपदेशक, कोई कवि, कोई देश भक्त और कोई विद्वान् हो गया था। यद्यपि यह एक नियम सा है कि सज्जन और बुद्धिमान् पिता का वंशज मूर्ख और दुराचारी निकलता है तथापि मार्गन इस नियम का अपवाद था। उसके लिए उत्तम शिक्षा का प्रबन्ध तो किया गया था; परन्तु अपने पिता के प्रबन्ध से जितनी शिक्षा मिली थी उससे उसे सन्तोष नहीं हुआ। अतएव कालेज के अतिरिक्त उसने व्याव-हारिक कार्य-क्षेत्र में भी स्वयं बहुत सा ज्ञान सम्पादित किया। वह सहसा उन्नति कर डालने का और अचानक सफलता प्राप्त करने का पक्षपाती न था क्योंकि वह जानता था कि संयम, सहनशीलता और शान्ति के साथ कुछ वर्षों तक लगातार परि-श्रमपूर्वक ज्ञान प्राप्त किये विना किसी प्रकार की सफलता की कुंजी नहीं मिल सकती। ज्ञान-सम्पादन की अवधि में वह मालिक और अगुआ न बन कर सेवक और आज्ञाकारी बनना चाहता था। इस तरह उसने लगातार ४० वर्षों तक सफलता के रहस्य का ज्ञान पुस्तकीय विद्या और व्यावहारिक अनुभव के द्वारा सम्पादित किया। यही उसकी तैयारी थी। इस पूर्व तैयारी के कारण ही आगे चल कर व्यावसायिक सफलता उसकी दासी हो गई। जिन लोगों का यह सिद्धान्त हो कि किसी भी

काम में तैयारी, अभ्यास, अनुभव और परिश्रम के बिना केवल भाग्य अथवा द्रव्य के भरोसे सफलता मिल सकती है उन्हें मार्गन के जीवन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

मार्गन के सम्बन्ध में एक बात अच्छी न थी; वह यह कि मार्गन अपने जन्म-समय से ही धनवान् था। यद्यपि यह बात सच है कि उसने स्वयं जितना अपार धन कमाया उसके हिसाब से उसके पिता की पूँजी न कुछ के बराबर थी; तथापि अन्य साधारण मनुष्यों की तुलना से उसका पिता अपने व्यापार के कारण धनवान् ही गिना जाता था। धनवान् आदमी का पुत्र होना बड़ी ही भयावह बात है। आज कल संसार में ऐसे बहुत से आदमी मिलेंगे जो बड़े रईस गिने जाते हैं; परन्तु वे जन्म से ग़रीब और धनहीन थे; साथ ही वे अपने बचपन की दरिद्रता को बड़े अभिमान और गौरव की दृष्टि से देखते हैं। कुछ बड़े व्यापारियों की यह इच्छा देखी जाती है कि वे अपनी दुकान में बड़े आदमियों के लड़कों को नौकर न रख कर धनहीन युवकों को अपने काम में लगाया करते हैं। इसका कारण यही है कि वे जानते हैं कि धनवान् मनुष्य अपने पुत्र को धन के सिवा और कुछ नहीं देता और मनुष्य-जीवन के आरम्भ में बहुत सा धन मिल जाना बहुधा अनिष्टकारक होता है। सफलता की फ़सल ग़रीबी के खेत में होती है। अपनी ज़िन्दगी में आरम्भ से ही दरिद्रता से कुश्ती लड़ना अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करना है, क्योंकि मनुष्य स्वभाव ही से ऐसा होता है कि बिना किसी अभाव अथवा आवश्यकता के वह कोई उच्च आकांक्षा अथवा परिश्रम नहीं करना चाहता। इन सब बातों की सचाई का पता भारतवर्ष में खूब लग सकता है। यहाँ इस समय जो थोड़े बहुत नेता और काम करनेवाले पुरुष हैं उनमें से अधिकांश धनहीन पिता के पुत्र हैं। और, श्रीमान् लोगों के लड़कों का हाल तो किसी से छिपा ही नहीं। सभी जानते हैं कि भारतवर्ष के किसी रईस का लड़का जब पढ़ने के लिए पाठशाला जाता है तब उसे मोटर की आवश्यकता तो होती ही है; परन्तु मोटर से उतर कर स्कूल तक किताबें पहुँचाने के लिए उसे एक अलग नौकर भी ले जाना पड़ता है। अस्तु।

लगातार ४० वर्षों के परिश्रम और ज्ञान-सम्पादन के बाद मार्गन ने अपने जीवन के उद्देश और निश्चित मार्ग के अनुसार कार्य आरम्भ किया। आज अमेरिका की जो व्यापक, दृढ़ और शक्ति-सम्पन्न स्थिति दिखाई पड़ती है उसके कुछ इने गिने कर्त्ता धर्त्ता और विधाताओं में मार्गन भी एक था। विशेषतः सुविशाल अमेरिका के, और साधारणतः समस्त संसार के, बड़े बड़े उद्योग-धन्धों और व्यापार-व्यवसायों में ऐसा एक भी व्यापार न था जिसकी चोटी इसके हाथ में न रही हो। पृथ्वीमण्डल के बड़े बड़े बैंकों, रेलवे-कम्पनियों, जहाज़-कम्पनियों, प्रभावशाली साहूकारों, अगुआ व्यापारियों और बड़े बड़े राजा-महाराजाओं का कार्य केवल एक मार्गन के इशारे से चलता था। उसके समय में उसकी विशाल साम्पत्तिक शक्ति से प्रतिद्वन्द्विता करनेवाला कोई पैदा ही न हुआ था। उसके उद्योग-धन्धों की वृद्धि के कारण अमेरिका में सैकड़ों-हज़ारों बड़ी बड़ी पूँजी के रोज़गार चल निकले और अमेरिका का व्यापार और लाभ संसार के अन्य भागों से विशेष बढ़ गया। लक्ष्मी देवी का जो निवास आज अमेरिका में देख पड़ता है उसका प्रधान कारण मार्गन की अद्भुत शक्ति ही है। अमेरिका कृषिप्रधान देश था। पर उसे व्यापार और व्यवसाय का प्रधान देश अकेले मार्गन ने ही बनाया है। ऐसे उद्योगी सत्पुत्र को पाकर अमेरिका धन्य हो गया।

परन्तु मार्गन जिस तरह अचल सम्पत्ति कमानेवाला था उसी तरह वह ख़र्च करनेवाला भी था। भारतवर्ष में एक तो धनवान् मनुष्य ही बहुत कम हैं;

जो थोड़े-बहुत हैं भी, वे अपने धन का हिसाब-किताब रखने में अपने अमूल्य मनुष्य-जीवन को नष्ट कर देते हैं और उसका किसी भी तरह सदुपयोग किये बिना अपने अधिकारियों को मरते समय उसका चार्ज भर दे जाते हैं। मार्गन यह न जानता था कि कंजूसी क्या चीज़ है। व्यापारी और साहूकार की हैसियत से वह धन कमाता था, पर केवल धन इकट्ठा करने के नीच उद्देश से नहीं—वह ईश्वर का उत्पन्न किया हुआ एक प्राणी था, इसलिए वह मनुष्य की हैसियत से उत्तम कार्यों के लिए जी खोलकर दान दिया करता था। साथ ही देश, काल और पात्र का विचार किये बिना वह किसी को एक कौड़ी भी न देता था। उसने ऐसा दान कभी नहीं किया जिससे भविष्य में किसी मनुष्य, समाज, संस्था अथवा देश की कोई हानि हो। वह जो कुछ देता था उसे उदारता और स्वतन्त्रता के साथ जल्दी दे डालता था। यह अन्दाज़ा लगाया जाता है कि इस अर्व-खर्व कमानेवाले ने अपने वारिसों को जितना दिया था प्रायः उतना ही धन उसने उत्तम कार्यों में भी ख़र्च कर दिया था।

वह इतना महान् शक्तिशाली पुरुष होकर भी बड़ा सज्जन था। यदि वह चाहता तो छोटे मोटे करोड़-पतियों और कम्पनियों को अपने क्रोध अथवा द्वेष से मिट्टी में मिला सकता था, परन्तु उसने ऐसा कभी नहीं किया। यहाँ तक कि जिन्हें रुपये की बड़ी ही ज़रूरत थी उनसे भी उसने व्याज, कमीशन अथवा बट्टे में अधिक रक़म चूस लेना कभी उचित नहीं समझा। उसकी सारी सफलताओं का रहस्य केवल एक बात में है। वह यह है कि लोगों को उसकी ईमानदारी, आचरण, सिद्धान्त और सच्चे अगुआपन में पूरा पूरा विश्वास था। उसके "नहीं" का अर्थ "नहीं" और "हाँ" का अर्थ सचमुच "हाँ" होता था। वह निश्चित और स्पष्ट बात कहना पसन्द करता था; परन्तु वह कभी अधिक न बोलना चाहता था। उसने कभी व्याख्यान नहीं दिया। करोड़ों और अरबों का काम वह एक क्षण में चुपचाप कर लिया करता था। उसके एक छोटे से शब्द के विश्वास पर बुद्धिमान् व्यापारी लोग अपनी सारी सम्पत्ति को साहसपूर्वक ख़तरे में डाल देते थे पर उन्हें घाटा सहने का मौक़ा कभी न आता था। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि लोग उस पर पूरा विश्वास करते थे; परन्तु इससे यह भी सिद्ध होता है कि मार्गन के एक शब्द में ही यथेष्ट अनुभव, ज्ञान, निश्चय, निर्णय और दूर-दर्शिता कूट कूट कर भरी रहती थी।

इतना अतुल शक्तिशाली होने पर भी उसका आचरण ऐसा था जिसे देख कर कोई यह नहीं कह सकता था कि वह किस देश का विशेष पक्षपाती है। अमेरिका में जन्म होने के कारण उस पर प्रेम होना स्वाभाविक है परन्तु यथार्थ पूछा जाय तो वह समस्त संसाररूपी एक बड़े शहर का नागरिक था। उदार-चरित मनुष्यों में यह गुण पाया जाता है कि वे इस वसुधा मात्र को अपना कुटुम्ब समझते हैं—इस विश्वबन्धुत्व का मार्गन में अभाव न था। मार्गन में ऐसे अनेक सद्गुणों का संमिश्रण है, जिन्हें देख कर आश्चर्य और पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है और जो हमारे भारतवर्ष के इने गिने धनिकों के लिए सर्वथा अनुकरणीय है।

मार्गन ने अपने पिता के एक दफ़्तर में छोटे से मुनीम के दर्जे से जीवन आरम्भ किया था। अपने ७६ वर्ष के जीवनकाल में उसने अपने को उस समय के लक्ष्मी-पुत्रों का मुकुटमणि बना लिया। उसने पहले ४० वर्षों तक तैयारी की और अन्तिम ३६ वर्षों में कार्य-साधन किया। इससे यह सहज ही मालूम हो सकता है कि तैयारी करने और अनुभव तथा व्यावहारिक ज्ञान सम्पादन करने का महत्त्व कितना अधिक है। मार्गन ने अपनी शक्तियों और योग्यताओं का सदुपयोग करके अमेरिका आदि

देशों को सहकारिता और मिल कर काम करने का जो पाठ पढ़ाया है उसे वे देश प्रलय-काल तक कभी नहीं भूल सकते। ऐसे ही उद्योग-मूर्त्ति सुपूतों से किसी भी देश का मस्तक सदा के लिए ऊँचा हो सकता है। सच है; अपार धन कमा कर उसका ऐसा उत्तम उपयोग करनेवाला भाग्यवान् संसार में विरला ही पैदा होता है।

मौलिप्रसाद श्रीवास्तव

तक्षशिला का इतिहास।

प्राचीन समय में तक्षशिला बहुत प्रसिद्ध नगर था। वहाँ विश्वविद्यालय भी था। दूर दूर के विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आकर वहाँ वर्षों निवास करते थे। अनुमान है कि चन्द्रगुप्त मौर्य उसी विश्वविद्यालय का विद्यार्थी था। चाणक्य कदाचित् उसी विश्वविद्यालय के किसी कालेज में अध्यापक रहा होगा। जो हो इस प्राचीन नगर के खँडहर अब तक मिलते हैं। रावलपिण्डी से २० मील पर जो सरायकाला स्टेशन है उस से थोड़ी ही दूर पर, उत्तर पूर्व की ओर, ३-४ मील के घेरे में वे फैले हुए हैं। तक्षशिला जिस स्थान पर बसा हुआ था वह पहाड़ की एक बहुत ही रमणीक तराई है। इस तराई में हरो नदी, तथा अन्य छोटी छोटी नदियाँ बहती हैं, जिससे यह स्थान और भी हरा भरा तथा रमणीक हो गया है। इसके चारों ओर पहाड़ों की शृङ्खलायें हैं—उत्तर और पूर्व की ओर हज़ारा और मरी के बर्फ़वाले पहाड़ तथा दक्षिण और पश्चिम में मर्गला की घाटी और कई छोटे छोटे पहाड़ हैं। इसके अलावा यह नगर उस सड़क पर बसा हुआ था जो हिन्दुस्तान से सीधी मध्य एशिया (Central Asia) तथा पश्चिमीय एशिया (Western Asia) को जाती थी। इसी सड़क के द्वारा मध्य तथा पश्चिमीय एशिया और भारत के बीच, प्राचीन समय में, व्यापार होता था। इन्हीं सब बातों के कारण, कोई आश्चर्य नहीं, जो यह नगर, प्राचीन समय में, इतने महत्त्व का समझा जाता रहा हो। एरिअन नाम का एक ग्रीक इतिहास-लेखक ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी में होगया है। उसने भारतवर्ष तथा सिकन्दर के भारत-आक्रमण का वर्णन किया है। ईसा के पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी के भारतवर्ष के इतिहास की सामग्री उस वर्णन में खूब है। तक्षशिला के विषय में वह लिखता है—"सिकन्दर के समय में वह बहुत बड़ा तथा ऐश्वर्यशाली नगर था। इसमें सन्देह नहीं कि सिन्धु और झेलम नदियों के बीच जितने नगर थे उनमें वह, सब से बड़ा और सब से अधिक महत्त्व का नगर समझा जाता था"। ईसा की सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग नाम का चीनी बौद्ध यात्री भारतवर्ष में आया था। वह भी तक्षशिला की उपजाऊ भूमि तथा हरियाली की प्रशंसा कर गया है।

इस तराई को पार करता हुआ, छोटे छोटे पहाड़ों का एक सिलसिला भी है। उसका पश्चिमी भाग, जहाँ पर इस पर्वतश्रेणी का अन्त होजाता है, हथिआल के नाम से प्रसिद्ध है। हथिआल-पर्वत के कारण इस तराई का पूर्वी हिस्सा दो अर्ध भागों में बँट गया है। इसके उत्तरी अर्ध भाग में हरो नदी बहती है, जिससे यह भाग बहुत ही उपजाऊ और हरा भरा है। इसका दक्षिणी अर्ध-भाग उतना उपजाऊ और हरा भरा नहीं। यह भाग ऊबड़-खाबड़ और पथरीला है। इस भाग में बहुत से प्राचीन स्तूपों और विहारों के खँडहर पाये जाते हैं। इसी भाग में ताम्र नाला बहता है, जिसे ग्रीक लेखकों ने (Tiberonalio) के नाम से लिखा है। इसी रमणीक तराई के बीचोबीच प्राचीन तक्षशिला नगर बसा हुआ था, जिसकी खुदाई पुरातत्त्वविभाग के डाइरेक्टर जनरल सर जान मार्शल कई साल से करा रहे हैं। अभी हाल में, उन्हीं की लिखी हुई, तक्षशिला के विषय में, एक पुस्तक निकली है, जिसका नाम है "A Guide to Taxila" अर्थात् "तक्षशिला का मार्ग-प्रदर्शक"। अब तक तक्षशिला के विषय में जो खोज हुई है उसका वर्णन संक्षेप में दिया गया है। यह पुस्तक ९ अध्यायों में विभक्त और २९ चित्रों से अलङ्कृत है। इसके पहले अध्याय में तक्षशिला का भौगोलिक तथा दूसरे में ऐतिहासिक वर्णन है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है तक्षशिला के खँडहर ३-४ मील के घेरे में फैले हुए हैं। ये खँडहर तीन भिन्न भिन्न नगरों

के अंश हैं। एक नगर जब उजड़ गया तब दूसरा बसाया गया और दूसरे के उजड़ जाने के बाद तीसरा नगर बसा। इस तरह तक्षशिला तीन बार उजड़ा और एक दूसरे से कुछ हट कर तीन बार भिन्न भिन्न स्थानों में बसाया गया। इन तीनों में सब से पुराना स्थान भिड़-टीला (Bhir Mound) है। यह टीला ६० या ७० फुट ऊँचा होगा। इसकी लम्बाई १२१० गज़ और चौड़ाई ७३० गज़ होगी। इस टीले की खुदाई अभी पूरी तरह नहीं हुई। परीक्षा के तौर पर मार्शल साहब ने यहाँ एक दो स्थानों पर खुदाई की, जिसमें मिट्टी के बहुत से बर्तन, मिट्टी के खिलौने, सिक्के तथा सोने-चाँदी के गहने पाये गये। ये सब चीज़ें मौर्यकाल की अर्थात् ईसा के पूर्व तीन चार सौ वर्ष की हैं। इन में सब से अधिक महत्त्व की जो चीज़ निकली वह एक गड़ा हुआ ख़ज़ाना है। उसमें चाँदी के पंचमार्क्ड* (Punch marked) १६० सिक्के, ऐन्टिओकस दूसरे (Antio-Chos II) का एक सोने का सिक्का (जो सेल्यूकस का पोता था और सीरिया की राजगद्दी पर ईसा के पूर्व २६१ (261 B. C.) में बैठा था), एक सोने का कड़ा, शेर के पञ्जे के आकार का एक सोने का कर्ण-फूल, सोने का एक छोटा डिब्बा तथा अन्य सोने-चाँदी के गहने और मोती-मूँगे इत्यादि थे। कर्णफूल और डिब्बा उस समय की कारीगरी के बहुत उत्तम उदाहरण हैं। ऐन्टिओ-कस का सिक्का तथा पंचमार्क्ड सिक्के इस बात को सूचित करते हैं कि ये सब चीज़ें ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी के उत्तर भाग में गाड़ी गई होंगी। इन सब चीज़ों के पास ही सोना गलाने का एक पात्र भी मिला, जिससे पता लगता है यह किसी सुनार का मकान रहा होगा। पास ही खोद कर निकाले गये एक दूसरे कमरे में कोई ५० के लगभग उलटे हुए मिट्टी के घड़े भी मिले। ये चीज़ें मौर्यकाल की हैं, जब तक्षशिला नगर भिड़-टीले पर बसा हुआ था। ये चीज़ें सतह से केवल १५ या २० फुट नीचे मिली थीं। अनुमान है कि इतना ही और भी नीचे जाने से मौर्यकाल से भी पुरानी चीज़ें यहां मिल सकती हैं। आशा है, यहां पर फिर भी कभी खुदाई होगी और मौर्यकाल के पूर्व का दुर्लभ इतिहास सुलभ हो जायगा। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के आरम्भ में यह नगर उजड़ गया था। यहां से हटा कर ग्रीक लोगों (Indo Greeks) ने ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में के तक्षशिला नगर को, आज कल के सिरकप नामक स्थान पर, बसाया जो भिड़-टीले से कोई आध मील पर होगा।

सिरकपवाला तक्षशिला नगर हथियाल पहाड़ी के पश्चिम ओर, उसी पहाड़ी की उपत्यका में बसा हुआ था। इस नगर की चहार-दीवारी अब तक मौजूद है। एक ओर यह दीवार हथियाल पहाड़ी को पार करती हुई गई है। चारों ओर मिला कर यह दीवार लग भग ६००० गज़ लम्बी होगी। इसकी चौड़ाई १५ फुट से लगाकर २१ फुट तक होगी। दीवार की मज़बूती तथा नगर की रक्षा के लिए, दीवार के बीच बीच छोटे छोटे क़िले भी हैं। दीवार तथा क़िले, इन दोनों की ऊँचाई २० और ३० फुट के बीच होगी। अनुमान है कि ये क़िले दो मञ्ज़िले रहे होंगे, जिनकी ऊपरी मञ्ज़िल निशाना लगाने तथा शत्रुओं की देख भाल के लिए छेददार रही होगी।

जैसा कहा जा चुका है कि सिरकपवाला तक्षशिला नगर ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में, पञ्जाब तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त पर आक्रमण करनेवाले तथा उस पर राज्य करनेवाले एशियाई ग्रीकों ने बसाया था। ग्रीकों के बाद वहाँ पार्थियन* तथा कुषान नाम की जातियों ने राज्य किया। कुषानवंशी राजा कडफाइसेस दूसरे (८५ से १२० ईसवी) के समय तक यह नगर बसा हुआ था। इसके बाद यह उजड़ने लगा। सिरकप में ग्रीक, पार्थियन और कुषान, इन तीनों जातियों के

---

* पंचमार्क्ड सिक्के वे हैं जो ढाले नहीं जाते, उन पर किसी औज़ार से कुछ चिह्न कर दिया जाता है। ये सिक्के बहुत भद्दे होते हैं और भारतवर्ष के सब से प्राचीन सिक्के समझे जाते हैं। इन सिक्कों का प्रचार मौर्यकाल में अर्थात् ईसा के पूर्व की तीन चार शताब्दियों में, बहुत था।

* फारिस के रेगिस्तान के आसपास कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व में प्राचीन पार्थिया देश था। वहीं के रहने-वाले पार्थियन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन लोगों ने पञ्जाब, तथा तक्षशिला में प्रायः दो सौ वर्ष तक राज्य किया। इनको परास्त करके कडफाइसेस दूसरे ने कुषान राज्य की स्थापना, पञ्जाब तथा तक्षशिला में, की।

सिक्के तथा अन्य चिह्न मिलते हैं। कुषानवंश के कडफाइसेस दूसरे के बाद की चीज़ें यहां नहीं मिलतीं।

यदि आप हथियाल की पहाड़ी से उतर कर सिरकप-नगर की ओर आवें तो दूरही से आपको एक चौड़ा रास्ता या सड़क जो खोद कर निकाली गई है, उत्तर से दक्खिन की ओर जाती हुई दिखलाई पड़ेगी। ज़रा आगे बढ़िए तो इस सड़क के दोनों ओर आप को खोद कर निकाले गये मकान और स्तूप लगातार मिलेंगे। पहला मकान जो आप को मिलेगा वह एक महल का खँडहर है। यह महल एक ऐसे स्थान पर बना हुआ था, जहां पर उत्तर और पश्चिम से दो सड़कें आकर मिलती थीं। इस महल की लम्बाई ३५२ फुट और चौड़ाई २५० फुट है। इस महल में स्त्रियों के रहने का स्थान, स्नानागार, राजाओं के बैठने उठने का कमरा, दरबार-घर इत्यादि के चिह्न मिलते हैं। इस महल का क्रम प्राचीन एसीरिया, अथवा मेसोपोटेमिया के महलों से बहुत कुछ मिलता जुलता है। ऐसा अनुमान है कि एशियाई ग्रीकों अथवा पार्थियन राजाओं ने इस महल को मेसोपोटेमिया के महलों के तर्ज़ पर बनवाया होगा।

महल से आगे बढ़ने पर आपको, सड़क के दोनों ओर, स्तूपों और मकानों की क़तार मिलेगी। दो दो तीन तीन मकानों के बाद छोटी छोटी गलियाँ भी मिलती हैं। इन सब मकानों का तर्ज़ एक सा है। मकान के बीच में एक खुला आंगन और आंगन के चारों ओर कमरे और कोठरियाँ रहती थीं। इन मकानों के बाहरी कमरों में, जो सड़क के किनारे रहते थे, प्रायः दूकानें हुआ करती थीं। इन मकानों के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि जितने कमरे या कोठरियाँ हैं सब में मकान के अन्दर जाने या मकान से बाहर आने के लिए कोई दरवाज़ा नहीं है। एक कमरे का सम्बन्ध दूसरे कमरे के साथ रहता था, क्योंकि एक से दूसरे में जाने के लिए दरवाज़ों के चिह्न मिलते हैं। पर कमरे या कोठरी से मकान के अन्दर अथवा मकान के बाहर आने जाने के लिए दरवाज़े का कोई चिह्न नहीं मिलता। अनुमान किया जाता है कि ये सब कमरे और कोठरियां तहख़ाने के आकार के थे। इनमें लोग सीढ़ी द्वारा ऊपर के कमरे से उतरते थे। बाहर से मकान एक मञ्ज़िले मालूम पड़ते थे, पर यदि कोई भीतर जाकर देखे तो वास्तव में वे दो मञ्ज़िले दिखाई पड़ते थे। क्योंकि एक मञ्ज़िल ज़मीन के नीचे तहख़ाने के रूप में, रहती थी। यही कारण है कि तक्षशिला के सिरकप नगर में जितने मकान खोद कर निकाले गये हैं प्रायः सभी में दरवाज़ों के चिह्न नहीं। ये मकान जिस सड़क पर हैं वह सड़क उत्तरी फाटक की ओर जाती है। यह फाटक अभी खोदा जा रहा है। जब यहां पर पूरी तरह खुदाई हो जायगी तब मालूम पड़ेगा कि प्राचीन समय में क़िलों के फाटक किस तरह के होते थे और उनके चारों ओर किस तरह की क़िलेबन्दी रहती थी।

सिरकप के एक मकान से पत्थर का एक अष्टकोण स्तम्भ खोद कर निकाला गया है। उस पर १२ सतरों का एक शिला-लेख एरेमिक लिपि में खुदा हुआ है। यह स्तम्भ दो कमरों के बीच की एक दीवार में लगा हुआ था। इस शिलालेख की भाषा और अक्षर दोनों एरेमिक हैं। एरेमिक वह भाषा है जो प्राचीन समय में चैल्डिया और सीरिया में बोली जाती थी। इस के अक्षरों से सिद्ध होता है कि यह शिला-लेख ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी का है। इस लेख का क्या अर्थ है और यह किस विषय का है, यह अभी निश्चित ज्ञात नहीं है। कई विद्वानों का मत है कि खरोष्ठी-लिपि की उत्पत्ति तक्षशिला प्रान्त में, एरेमिक लिपि से उस समय हुई थी जब ईसा के पूर्व, पाँचवीं शताब्दी में, भारतवर्ष का पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त तथा तक्षशिला पर्शियनों के अधिकार में था। तक्षशिला के इस एरेमिक शिला-लेख से इस मत की और भी पुष्टि होती है। इसके अलावा न मालूम कितने सिक्के, मिट्टी के बर्त्तन तथा खिलौने, मूर्तियाँ, लोहे की चीज़ें, अस्त्र-शस्त्र, और बहुमूल्य सोने चाँदी के आभूषण सिरकप से निकले हैं।

तक्षशिला का तीसरा नगर सिरसुख है। यह सिरकप के उजड़ जाने के बाद बसाया गया था। सिरसुख में कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव नाम के कुषान-वंशी राजाओं के सिक्के अधिकता से निकले हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि यह नगर कुषानों के समय और कदाचित् कनिष्क के समय में बसाया गया था। इस के भी चारों तरफ़ एक दीवार थी। दीवार की लम्बाई लग-

धर्म्मराजिक-स्तूप में प्राप्त हुए चेहरे।
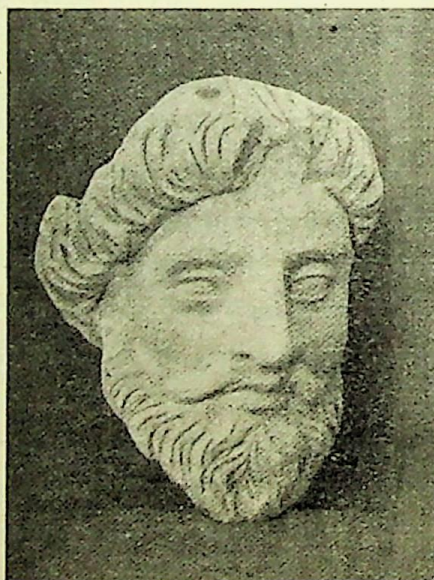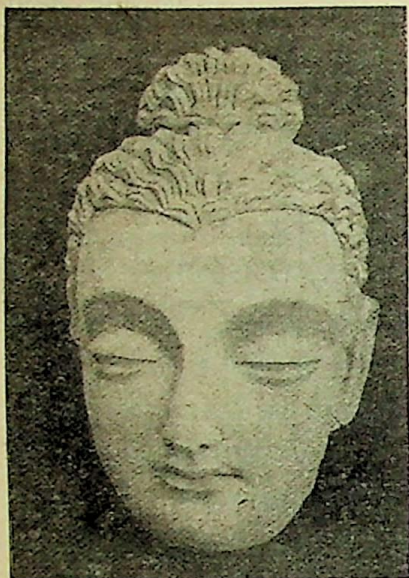
भग ३ मील और चौड़ाई कोई १८ फुट होगी। दीवार की मज़बूती तथा शत्रुओं से नगर की रक्षा करने के लिए, इस में भी बीच बीच छोटे छोटे क़िले बने हैं। एक क़िले या गुरगुज़ से दूसरे के बीच का अन्तर कोई ६० फुट है। सिरकप की तरह यह नगर पहाड़ी टीले पर नहीं, किन्तु सिरकप से डेढ़ मील पर, मैदान में, बसा हुआ था। यह नगर सिरकप की तरह गोलाकार नहीं, चौकोर है। दूसरी नई बात इस नगर में यह है कि इसकी दीवार में शत्रुओं पर निशाना लगाने तथा उन्हें देखने के लिए लगातार छेद हैं; सिरकप की तरह गुरगुज़ चौकोर नहीं, अर्द्धचन्द्राकार हैं। आजकल इस नगर के प्राचीन खँडहरों पर तीन छोटे छोटे गांव बसे हुए हैं। मुसलमानों का कब-रिस्तान भी यहीं पर है। इससे यहां खुदाई कराना इतना आसान नहीं, जितना सिरकप या अन्य स्थानों में है।

ईसा की पांचवीं शताब्दी में हूणों ने इस नगर पर हमला करके इसे नष्ट किया। तभी से सिरसुख नगर उजड़ने लगा और उसके साथही प्राचीन तक्षशिला का भी लोप हो गया।

इन तीन नगरों के अलावा तक्षशिला में बहुत से प्राचीन स्तूप और विहार भी हैं, जहां पुरातत्त्वविभाग की ओर से हाल में खुदाई हुई है। इनमें से मुख्य मुख्य ये हैं:—धर्मराजिक-स्तूप, कुनालस्तूप, जँडिआले का अग्नि-मन्दिर, मोड़ामोराढ़ू, और भल्लड़ स्तूप।

पहले आप धर्मराजिक-स्तूप पर आइए जो सिरकप से कोई दो मील होगा। इस स्तूप का दूसरा नाम "चिर-टोप" भी है, क्योंकि यह स्तूप चिरा हुआ है अर्थात् पहले के किसी पुरातत्त्वान्वेषी ने इसके बीचोबीच सुरङ्ग लगा कर देखा था कि इस स्तूप में क्या है। यह स्तूप एक ऊँचे टीले पर है और बहुत जीर्ण हो गया है। आकार इसका गोल है। चारों ओर एक ऊँचा चबूतरा है, जिस पर चढ़ने के लिए चारों दिशाओं में चार चार सीढ़ियाँ हैं। यह चबूतरा, स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा करने के लिए "प्रदक्षिणापथ" का काम देता है। एक "प्रदक्षिणापथ" स्तूप के आधार के चारों ओर भी है। ऐसा अनुमान है कि यह स्तूप पहले पहल ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी में बना होगा, जब तक्षशिला में पार्थिअन राजाओं का राज्य था। इसके बाद, कुषान-काल में, इसकी मरम्मत और वृद्धि भी हुई। ईसा की चौथी शताब्दी तक इस की मरम्मत होती रही है। इस प्रधान स्तूप के चारों ओर बहुत से छोटे छोटे स्तूप, मन्दिर और भिक्षुओं के रहने की कोठरियां भी खोद कर निकाली गई हैं। इन सब छोटे छोटे स्तूपों और मन्दिरों को ईसा की प्रथम शताब्दी से लगा कर पाँचवीं शताब्दी तक, भिन्न भिन्न समयों में, भिन्न भिन्न मनुष्यों ने, प्रधान स्तूप के चारों ओर, बनवाया था। इनमें से जब एक मन्दिर खोदा जा रहा था तब एक बहुत ही महत्त्व की वस्तु प्राप्त हुई। यह पोर्सलीन अथवा चीनी मिट्टी की एक डब्बी थी। इस के भीतर चांदी की एक और डब्बी थी। चांदी की डब्बी के भीतर एक सोने की डब्बी और एक लपेटा हुआ पत्र मिला जिस पर खरोष्ठी-अक्षर में एक लेख है। सोने की डब्बी में बुद्ध भग-वान् की अस्थि के कुछ छोटे छोटे टुकड़े हैं। खरोष्ठी लेख यह है:—

लाइन (१)—स १०० + २० + १० + ४ + १ + १ अयस अषडस मसस दिवसे १० + ४ + १, इश दिवसे प्रदिस्तवित भगवतो धतु (ओ) डर (स)—

लाइन (२)—केन लोतफ्रिअ—पुत्रन बहिलिएन नोअचए नगरे वस्तवेन तेन इमे प्रदिस्तवित भगवतो धतुओ धमर—

लाइन (३) इए तच्छशिए तनुवए बोधिसत्वगहमि महरजस रजतिरजस देवपुत्रस कुषनस अरोग दच्छिनए

लाइन (४)—सर्वबुधन पुयए प्रचग-बुधन पुयए अरह (त) न पुयए सर्वस (त्व) न पुयए मतपितु पुयए मित्र—मच—अति—स—

लाइन (५) लोहितन पुयए अत्मनो अरोगदच्छिनए निअ नए होतु (अ) दे समपरिचगो..........

अर्थात्—अयस (एज़ेस्—Azes) के संवत् के १३६ वें साल में (अर्थात् सन् ७८ ईसवी में) आषाढ़ महीने के १५ वें दिन बुद्ध भगवान् की धातु (अस्थि) को नोअच नगर के रहनेवाले, बाह्लीक देश-निवासी, लोतफ्रिअ के पुत्र डरसक ने, तनुव नामक ज़िले में, जो तक्षशिला नगर है उसमें, धर्मराजिक-स्तूप के एक बोधिसत्त्व के मन्दिर में प्रतिष्ठापित की। यह प्रतिष्ठापना महाराज राजाधिराज देव-

पुत्र कुपन की आरोग्य-वृद्धि के लिए, सब बुद्धों की पूजा के लिए, अलग अलग प्रत्येक बुद्ध की पूजा के लिए, अर्हतों की पूजा के लिए, सब प्राणियों की पूजा के लिए, माता-पिता की पूजा के लिए, अपने मित्र, मन्त्री, रिश्तेदार और कुटुम्ब की पूजा के लिए, तथा अपने आरोग्य लाभ के लिए की गई है। यह दान हो......"

धर्मराजिक-स्तूप से उतर कर अब आप उत्तर की ओर चलिए और हथिआल पहाड़ के एक दर्रे को पार करके बनवाया गया होगा। कुनाल-स्तूप के पास ही, पश्चिम ओर, भिक्षुओं तथा विद्यार्थियों के रहने के लिए एक विहार भी खोद कर निकाला गया है। इस विहार के बीच में एक खुला हुआ आँगन है और आँगन के चारों ओर छोटी छोटी कोठरियां हैं; जिनमें चिराग़ रखने के लिए एक एक आला भी है। अनुमान है कि इन कोठरियों में विद्यार्थी लोग रहते रहे होंगे।

कथानक है कि इस स्तूप को अशोक ने अपने पुत्र
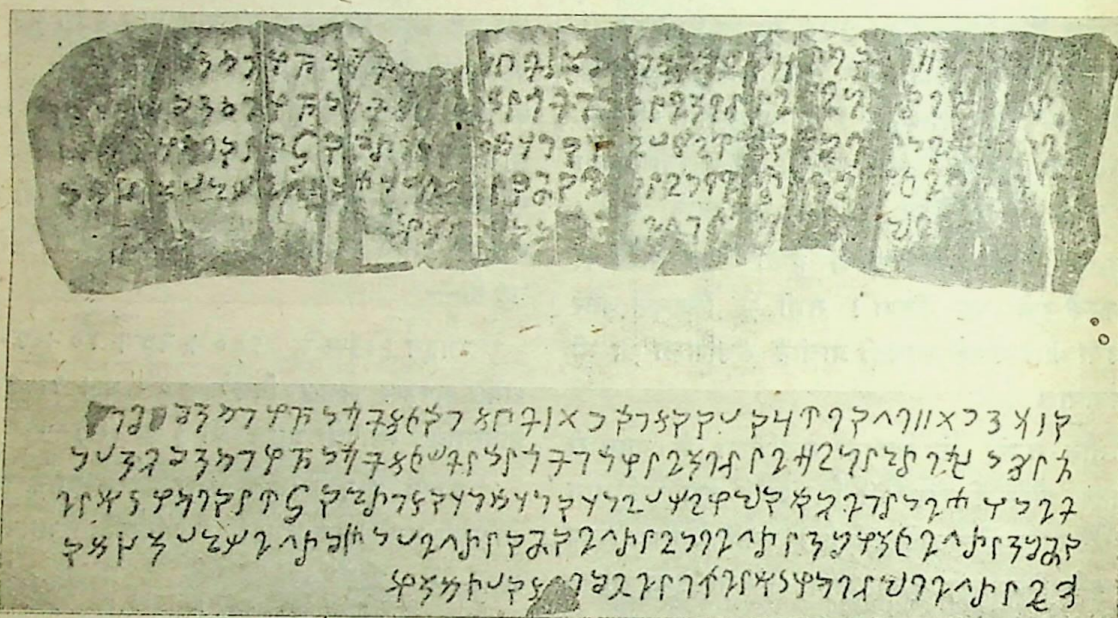
धर्म्मराजिक-स्तूप में प्राप्त हुआ लेख।

उस पहाड़ी पर आइए जिस पर कुनालस्तूप स्थित है। धर्मराजिक-स्तूप और कुनाल-स्तूप के बीच केवल सवा मील का फ़ासिला होगा, परन्तु रास्ता बहुत ही पथरीला और ऊबड़खाबड़ है। कुनाल-स्तूप उस पहाड़ी पर है जो सिरकप-नगर के दक्षिण, बिलकुल ऊपर, है। यह स्तूप एक ऊँचे चबूतरे पर स्थित है, जो लम्बाई में १०५ फुट १ इञ्च और चौड़ाई में ६३ फुट ९ इञ्च है। यह स्तूप ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के पहले का नहीं। इसे खोदने से इसके गर्भ में एक छोटा सा स्तूप और मिला, जो वास्तव में असली कुनाल-स्तूप है। बाद को किसी ने इसके ऊपर एक बड़ा स्तूप निर्माण करा दिया। इस छोटे स्तूप की बनावट से प्रकट होता है कि यह ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में कुनाल की यादगार में बनवाया था। कुनाल की सौतेली मा तिष्यरक्षिता ने उस पर प्रेमासक्त होकर उसे फँसाना चाहा। पर वह अपने धर्म पर दृढ़ रहा। इस पर रानी ने अशोक पर ज़ोर डाल कर उसे तक्षशिला में राजा का प्रतिनिधि बना कर भिजवा दिया। कुछ दिनों बाद रानी ने राजा से चुरा कर तक्षशिला के मन्त्रियों को राजा की ओर से पत्र लिखा कि कुनाल की आँखें निकाल ली जायँ। इस पत्र पर रानी ने चुरा कर राजा की मुहर भी लगा दी थी। मन्त्रियों ने राजा की आज्ञा पालन करने से इनकार किया। पर कुनाल ने स्वयं इस बात पर ज़ोर दिया कि राजा की आज्ञा का पालन किया जाय और उसकी आँखें फ़ौरन निकाल ली जायँ। इसके बाद अन्धा होकर

वह अपनी स्त्री के साथ भीख मांगता हुआ पाटलिपुत्र पहुँचा। वहाँ अशोक ने उसकी आवाज़ से उसे पहचान लिया। राजा ने सब हाल सुना तो रानी को फांसी की सज़ा दी और घोष नाम के बौद्ध अर्हत् की कृपा से बुद्धगया में कुनाल ने फिर अपने नेत्रों को प्राप्त किया। यह दन्त-कथा कहां तक ठीक है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। परन्तु इतना तो अवश्य निश्चित है कि वह स्थान जहां पर यह स्तूप बना हुआ है बहुत प्राचीन है और कुनाल से कुछ सम्बन्ध अवश्य रखता है।

कुनालस्तूप से उतर कर, और सिरकप को पार कर के, अब हम जँड़िआले के मन्दिर की ओर चलते हैं। यह मन्दिर एक ऊँचे टीले पर बना हुआ है और सिरकप-नगर के उत्तरी फाटक के बिलकुल सामने है। इस मन्दिर का ढँग भारतवर्ष के प्राचीन अथवा नवीन किसी भी मन्दिर से नहीं मिलता। इसका तर्ज़ बिलकुल प्राचीन ग्रीस के मन्दिरों से मिलता है। इस मन्दिर के द्वार पर दो खम्भे वैसे ही हैं जैसे प्रायः प्राचीन ग्रीस के सब मन्दिरों के द्वार पर पाये जाते हैं। इस मन्दिर पर एक "टावर" या शिखर (उत्सेध) भी रहा होगा, जो अब गिर गया है। टावर पर जाने के लिए मन्दिर के पीछे एक सीढ़ी भी है। इस टावर की उँचाई ४० फुट तक रही होगी।

यह अद्वितीय मन्दिर किस धर्म या सम्प्रदाय का है, इस विषय में केवल अनुमान से काम लिया जा सकता है। यह बौद्ध धर्म का मन्दिर तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी न तो कोई मूर्त्ति और न कोई अन्य वस्तु ही यहां मिली है। इसका ढङ्ग भी बौद्ध-धर्म के जितने मन्दिर अब तक मिले हैं सबसे भिन्न हैं। इन्हीं कारणों से यह जैन अथवा हिन्दू-धर्म-सम्बन्धी मन्दिर भी नहीं हो सकता। ऐसा अनुमान है कि यह ज़ोरास्ट्रियनों (Zoroastrian) अथवा अग्निपूजकों का मन्दिर है। मन्दिर के शिखर अथवा टावर पर चढ़ कर अग्निपूजक लोग सूर्य, चन्द्रमा, तथा ईश्वर की ओर चित्त आकर्षण करनेवाले अन्य प्राकृतिक और तेजस्वी पदार्थों की पूजा करते रहे होंगे। मन्दिर के भीतर एक वेदी रही होगी, जिस पर सर्वदा अग्नि जलती रही होगी। यह मन्दिर उस समय का है जब तक्षशिला-नगर सिरकप में था और पार्थियन अथवा पर्शियन इस पर राज्य करते थे। पार्थियनों के समय में तक्षशिला में अवश्य ही ज़ोरास्ट्रियन धर्म का प्रचार रहा होगा और थोड़े बहुत अग्निपूजक वहां ज़रूर बसते रहे होंगे। अतएव आश्चर्य नहीं, यदि तक्षशिला में अग्निपूजकों का भी मन्दिर मिल जाय।

जँडियाले का अग्निमन्दिर देखने के बाद आप मोंड़ा-मोरादू की ओर बढ़ें। मोंड़ामोरादू सिरसुख से दक्षिण-पूर्व एक मील के फ़ासिले पर है। मोंड़ामोरादू पहाड़ की तराई है और बहुत ही हरा भरा स्थान है। यहां पर एक ऊँचा चबूतरा है जिस पर एक स्तूप और भिक्षुओं के रहने के लिए एक विहार अथवा मठ है। स्तूप और मठ दोनों ईसवी सन् की तीसरी या चौथी शताब्दी के होंगे। इस स्तूप और मठ की प्रधान विशेषता यह है कि इन दोनों की दीवारों में, ऊपर से लगा कर नीचे तक, मूर्तियां ही मूर्तियां बनी हुई हैं, जो रङ्गीन भी हैं और प्रायः सब की सब अच्छी हालत में हैं। ये सब मूर्तियां बुद्ध भगवान् तथा बोधिसत्वों की हैं और गान्धार मूर्त्तिकारी के बड़े उत्तम नमूने हैं। जब स्तूप और मठ दोनों बन कर तैयार हुए होंगे तब इनकी अपूर्व ही शोभा रही होगी। इस तरह का सुन्दर स्तूप तक्षशिला में क्या भारतवर्ष भर में नहीं।

मोंड़ामोरादू के पास एक गांव जौलिआं है। वहां भी एक स्तूप और एक मठ खोद कर निकाले गये हैं। इन दोनों की दीवारों में भी वैसी ही मूर्त्तियां हैं जैसी कि मोंड़ामोरादू में है और ये भी उसी समय की हैं। जौलियाँ के स्तूप और मठ में जली हुई लकड़ी और कोयले तथा दीवारों में आग लगने के चिह्न पाये जाते हैं, जिससे सिद्ध है कि ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी में हूणों ने इसमें आग लगाई होगी। हस्त-लिखित भोजपत्र भी यहां पर मिले हैं। इन पत्रों का लेख गुप्त काल की ब्राह्मी लिपि में है। खोदने से अब तक कहीं भी हस्तलिखित पत्र नहीं निकले। यह इस तरह का पहला ही हस्तलिखित लेख है। किन्तु यह भोजपत्र भी अग्नि से बहुत कुछ जल गया है। पर आशा है कि कदाचित् इसका कुछ भाग पढ़ा जा सके। इस हस्तलिखित भोजपत्र के पास एक मुहर भी मिली है, जिस पर, गुप्तकाल के ब्राह्मी अक्षरों में, "श्रीकुलेश्वरदासी" लिखा हुआ है।

अन्तिम स्थान, जो तक्षशिला में देखने लायक है, भल्लड़स्तूप है। यह स्तूप सरायकाला से कोई ४ मील होगा। एक बहुत ही ऊँची पहाड़ी पर यह स्थित है। यह इतने ऊँचे स्थान पर बना हुआ है और इतना भव्य है कि दूर ही से यह दिखलाई पड़ता है। ऐसी दन्तकथा है कि भगवान् बुद्ध ने अपने किसी पूर्व जन्म में इस स्थान पर अपना सिर, एक भूखे सिंह की भूख बुझाने के लिए, अर्पण किया था। उसी घटना की स्मृति में अशोक ने यहाँ पर एक स्तूप बनवाया था। परन्तु अशोक के बनवाये हुए स्तूप का अब कोई चिह्न बाक़ी नहीं। वर्त्तमान स्तूप ईसा की तीसरी शताब्दी से पहले का नहीं।

यहाँ तक हमने आपको तक्षशिला का भौगोलिक वर्णन, सुनाया। अब उसका थोड़ा सा ऐतिहासिक वर्णन सुनिए।

प्राचीन समय में तक्षशिला यद्यपि धन और विद्या दोनों के लिए प्रसिद्ध था, तथापि किसी भी प्राचीन भारतीय ग्रन्थ में उसका ऐतिहासिक वर्णन नहीं मिलता। थोड़ा बहुत ऐतिहासिक वर्णन ग्रीक इतिहास-लेखकों और चीनी बौद्ध-यात्रियों के भ्रमणवृत्तान्तों से तथा सिक्कों और शिलालेखों से अवश्य जाना जाता है। तक्षशिला के अस्तित्व का प्रारम्भ कब से हुआ, उसका पता नहीं लगता। केवल महाभारत में जनमेजय के सर्पसत्र के सम्बन्ध में इस नगर का नामोल्लेख मिलता है।

बाद को, ईसा के पूर्व पाँचवीं शताब्दी में, यह नगर पर्शियनों के अधिकार में आया। पर्सिपोलिस और नक़्श-ई-रुस्तम नाम के दो स्थानों पर, पर्शिया के बादशाह दारा का जो शिलालेख है उससे पता लगता है कि उस समय सिन्धु नदी के पूर्व की ओर पञ्जाब और सिन्धु पर्शियन साम्राज्य के अधिकार में थे। पर्शियन साम्राज्य का यह हिस्सा, धन में और आबादी में भी, सब से बड़ा समझा जाता था। सिन्धु नदी के पूर्व, पञ्जाब में, तक्षशिला ही का प्रान्त ऐसा था जो उस समय सब से अधिक धनी और आबाद था। तक्षशिला में जो एरेमिक शिलालेख निकला है उससे भी यही साबित होता है कि ईसा के पूर्व पाँचवीं शताब्दी में, वहाँ पर्शियनों का अधिकार था। बुद्ध की जातक-कथाओं से पता लगता है कि ईसा के पूर्व पाँचवीं शताब्दी में, तथा उसके बाद की कई शताब्दियों में भी, तक्षशिला एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। वहाँ उस समय जितनी विद्यायें या कलाकौशल प्रचलित थे सब का पठन-पाठन होता था। भारतवर्ष के दूर दूर के प्रान्तों से वहाँ विद्याध्ययन के लिए विद्यार्थी आते और वर्षों निवास करते थे। इसके सिवा सिकन्दर के भारत-आक्रमण के पूर्व का तक्षशिला का इतिहास बिलकुल अन्धकार में है।

सिकन्दर ईसा के पूर्व ३२६ में पञ्जाब में आया था। उस समय तक्षशिला में आम्भी नाम का राजा राज्य करता था। झेलम के उस पार, पञ्जाब में, पोरस अथवा पौरव का राज्य था। आम्भी और पोरस में उस समय बड़ी गहरी शत्रुता थी। इस लिए पोरस के विरुद्ध आम्भी सिकन्दर से जा मिला और उसका आधिपत्य स्वीकार किया। पोरस के विरुद्ध आक्रमण करने के पूर्व सिकन्दर कई सप्ताहों तक तक्षशिला में ठहरा था और वहीं आक्रमण की तैयारी की थी। इस आक्रमण में आम्भी ने सिकन्दर की हर प्रकार की सहायता की। इसके बदले में, सिकन्दर ने, जब वह भारतवर्ष से स्वदेश को लौटने लगा, तब आम्भी को उसका राज्य तो लौटा ल ही दिया, उसे और भी नया राज्य दिया और पोरस से उसकी मित्रता करा दी। सिकन्दर के साथ जो इतिहास-लेखक आये थे वे उसके भारत-आक्रमण का वर्णन लिख गये हैं। तक्षशिला के विषय में वे लिखते हैं कि यह बहुत ही धनी और आबाद शहर था तथा इसका राज्यशासन बहुत अच्छी तरह होता था। लोग बड़े प्रसन्न, सुखी और चिन्ता-रहित मालूम होते थे। तक्षशिला का राज्य-विस्तार सिन्धु नदी से झेलम नदी तक था। वहाँ बहु-विवाह और सती की रीति का भी प्रचार था। जिन लड़कियों के माँ बाप बहुत ग़रीब होते थे वे अपनी लड़कियों को बाज़ार में बेच भी देते थे। मनुष्यों के मृत शरीर मैदान में छोड़ दिये जाते थे और उन्हें चील तथा गिद्ध खा जाते थे।

ईसा के पूर्व ३२३ में, सिकन्दर की मृत्यु होने के थोड़े ही दिन बाद, चन्द्रगुप्त ने ग्रीकों को पञ्जाब से निकाल

बाहर किया और तक्षशिला तथा पञ्जाब के अन्य राज्यों को मगध राज्य में मिला कर अपने अधिकार में कर लिया। तक्षशिला चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में उत्तरी प्रान्त की राजधानी थी। यहीं उसका एक प्रतिनिधि रहा करता था। चन्द्रगुप्त का पोता अशोक भी बहुत दिनों तक अपने पिता बिन्दुसार का प्रतिनिधि और युवराज होकर तक्षशिला में रहा था। उस समय तक्षशिला भिड़टीले पर बसा हुआ था। तक्षशिला में और उसके आस पास जो बौद्धधर्म का इतना प्रचार हुआ उसका बड़ा भारी कारण अशोक का व्यक्तिगत प्रभाव भी है।

ईसा के पूर्व २३१ के लगभग, अशोक की मृत्यु होते ही, मौर्य साम्राज्य बिलकुल छिन्न भिन्न हो गया। उसके दूरवर्त्ती प्रान्त स्वतन्त्र होकर अलग अलग राज्य बन गये। इस मौक़े को देख कर बैक्ट्रिया के ग्रीक राजाओं ने, जो इतिहास में इन्डो-ग्रीक (Indo-Greeks) के नाम से प्रसिद्ध हैं, उत्तरी पञ्जाब पर आक्रमण करके तक्षशिला पर अपना अधिकार जमा लिया। डेमेट्रिअस पहला ग्रीक राजा है, जिसने तक्षशिला पर राज्य किया। उसके बाद बहुत से ग्रीक राजाओं ने तक्षशिला में राज्य किया, जिनमें से युक्रटाइडेस्, अपोलोडोटस और मिनैन्डर (मिलिन्द) मुख्य हैं। प्रायः सौ वर्ष तक तक्षशिला इन ग्रीक राजाओं के आधिपत्य में रहा।

ग्रीकों के हाथ से तक्षशिला पार्थियनों के हाथ में आया। कुछ अधिक सौ वर्ष तक पार्थिअन राजाओं ने भी यहां राज्य किया। ईसा के पूर्व १२० के लगभग मोएस अथवा मोग नाम के पार्थिअन राजा ने तक्षशिला को विजय किया और उस पर राज्य करने लगा। उसके बाद कई पार्थिअन राजाओं ने वहां राज्य किया, जिनमें से एज़ेस प्रथम, एज़ेस द्वितीय और एन्डोफरेस मुख्य हैं।

पार्थिअनों के बाद कुषान अथवा इन्डोसीदिअन जाति का आधिपत्य हुआ। कुषान अथवा सीदियन उस ख़ानाबदोश जाति को कहते थे जो चीनी-तुर्किस्तान से, भोजन और जीवन-निर्वाह की तलाश में, घूमती फिरती भारतवर्ष में आ निकली थी। इस जाति का पहला राजा कडफ़ाइसिस प्रथम था, जिसने सन् २० ईसवी में तक्षशिला और पन्जाब का आधिपत्य पार्थिअनों से छीन कर अपने हस्तगत कर लिया। इसके बाद कडफ़ाइसेस द्वितीय, कनिष्क हुविष्क तथा वासुदेव नाम के और चार कुषान-राजाओं ने तक्षशिला में राज्य किया। मोटे तौर पर इन कुषान-राजाओं का समय ईसवी सन् की प्रथम तीन शताब्दियां माना जाता है। इन राजाओं के समय में तक्षशिला बहुत उन्नत अवस्था में था। विशेष कर कुषानों के आधिपत्य में तक्षशिला तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में भारतीय मूर्तिकारी की बड़ी उन्नति हुई। वासुदेव की मृत्यु के बाद कुषान साम्राज्य के अधःपतन का आरम्भ होने लगा। उसका अन्त हूणों के आक्रमण से हुआ। सन् ४५५ ईसवी के बाद से हूणों का हमला होने लगा था। सन् ५०० ईसवी के लगभग हूणों के नेता तोरमान ने एक बड़ा भारी आक्रमण तक्षशिला और पञ्जाब पर किया जिससे तक्षशिला बिलकुल तहस नहस हो गया। शहर का शहर इन लोगों ने लूट लिया और जला भी दिया। पुरुष, स्त्री और बच्चे, बिना किसी विचार के, मार डाले गये। हूणों के आक्रमण से तक्षशिला का अन्त हो गया। इस घटना के बाद तक्षशिला फिर कभी उन्नत दशा में नहीं आया; धीरे धीरे इसका ह्रास ही होता गया। जब सातवीं शताब्दी में ह्वेन्त्संग भारतवर्ष में आया था तब यह काश्मीर के अधिकार में था और इसके बहुत से स्तूप, मठ और मकान नष्ट भ्रष्ट और उजाड़ पड़े थे। वही तक्षशिला नगर जो अपने समय का सबसे बड़ा, सब से धनी और सब से प्रसिद्ध नगर था आज मार्शल साहेब के फावड़ों का शिकार हो रहा है। जिसके ऐश्वर्य की बड़ाई सुन कर न जाने कितनी जातियों और राजाओं ने इसपर हमला किया और राज्य भी किया वही आज इतना नष्ट होकर मिट्टी में मिल गया कि सिवा थोड़े से पुरातत्त्व और इतिहास के प्रेमियों के इसका कोई नाम भी नहीं जानता। काल की विचित्र गति है।

जनार्दन भट्ट, एम० ए०

संस्कृत-नाटकों की उत्पत्ति तथा परिणति।

[२]

नाटक—नाट्य मण्डप बन जाने पर ब्रह्मा ने कहा कि मेरा बनाया हुआ धर्म, कर्म तथा अर्थ का साधक 'अमृत-मन्थन' नामक नाटक खेला जाय। इस नवीन नाटक को देख कर देवगण बहुत प्रसन्न हुए। अनन्तर ब्रह्मा ने महादेव जी से भी प्रार्थना की कि आप भी एक बार आकर नाटकाभिनय देखिए। यह बात महादेव जी ने स्वीकार की। इस पर पितामह ने भरत शिष्यों को नाटक खेलने की आज्ञा दी। उन्होंने सुन्दर सघन आम्र-वृक्षों से आकीर्ण, मनोरम कन्दराओं तथा झरनों से सुशोभित और अनेक समृद्ध नगरों से युक्त हिमाचल पर 'त्रिपुरदाह' नामक नाटक का खेल किया।

नृत्य—नाटक देख कर महादेव अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे ब्रह्मा से बोले कि प्रयोग बहुत अच्छा हुआ। परन्तु इसमें नृत्य का अभाव दिखाई देता है। पूर्व रङ्ग-प्रयोग शुद्ध है। अतः इसमें नृत्य को भी जोड़ कर चित्र बनाइए। यह सुन कर चतुर्मुख ने कहा कि महाराज सब प्रकार के नृत्य करनेवाले आप ही हैं। सो आप ही नृत्य के सब अङ्गहारादिकों को दिखाइए। इस पर महादेव जी ने तण्डू को बुला कर उसे भरत को सम्पूर्ण नृत्य दिखाने की आज्ञा दी। उसने आज्ञा का यथोचित पालन किया और सब नृत्य भरत को बताये। तण्डू से ही ये नृत्य प्राप्त हुए। अतः इनका नाम ताण्डव पड़ा।

(ना० शा०, अ० ४—२४३)

नृत्य की परिभाषा तथा प्रकार-भेद—भिन्न भिन्न भावों का प्रकाशन करने के लिए विविध नृत्य, हाथ और पैर के संयोग से, होते हैं। चरण-हस्तादिकों को एकत्र करना नृत्यों का करण कहाता है। दो करणों की एक नृत्त-मातृका होती है। दो, तीन अथवा चार मातृकाओं का एक अङ्गहार होता है। भरत मुनि ने स्थिरहस्त, अपविद्ध, विष्कम्भ पर्यन्तिक, मत्ताक्रीड़, आक्षिप्त, अपराजित, स्वस्तिक, सूचीविद्ध, उद्योतित इत्यादि ३२ प्रकार के अङ्गहारों की गणना की है। करण भी १०८ प्रकार के होते हैं, जैसे पुष्पपुट, वलितोरु, विक्षिप्ताक्षिप्त, भुजङ्गलासित, घूर्णित, दण्डपक्ष, व्यंसित, ललाट-तिलक, गज-क्रीडितक, गरुड़ प्लुतक, गृधावलीनक इत्यादि। सुन्दर भावों द्वारा नृत्य के विराम दिखाने को रेचक कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है—अर्थात् पादरेचक, कटिरेचक, तृतीय और चतुर्थरेचक। दक्ष-यज्ञ-विनाश के अनन्तर महादेव ने समस्त देव-गणों के साथ नृत्य किया था। नन्दी और प्रमथ-गणों ने उसका नाम पिण्डीबन्ध रक्खा। भरत मुनि ने इन समस्त नृत्यों की शिक्षा प्राप्त कर के उनका प्रयोग नाटक में भी किया। नृत्य नाटकीय वस्तु की केवल सहायता ही नहीं करता, किन्तु नाटक की सुन्दरता को भी बढ़ाता है। साधारण जन भी उत्सवों में नाच गान करते हैं। बुन्देलखंड में अब भी शूद्रों में बिना नाच के विवाह ही नहीं होता। नृत्य-ध्वनि आनन्द-दायिनी है। अतः नाटकों को लोकप्रिय बनाने के लिए उनमें नृत्य का प्रयोग भी रहता है (भ० ना०, अ० ४—२४६--२४८)

पूर्व रङ्ग—इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह निम्नलिखित रीति से ठीक किया जाता है—

प्रत्याहार—वाद्यों आदि को उचित स्थान पर रखना।

अवतरण—गायकों तथा बजानेवालों को यथास्थान बिठाना।

आरम्भ—सुस्वर का प्रारम्भ।

आश्रावणविधि--वाद्यों की परीक्षा ।
वक्त्रपाणि--वाद्य और कण्ठ स्वर का मेल ।
परिघट्टना--वीणा और कण्ठस्वर का मेल ।
संस्वेदनाविधि--बाजों पर हाथ फेरना ।
मार्गसारित--वीणा और अन्य वाद्यों का मेल ।
आसादित क्रिया--तालरक्षा ।
गीतविधि--देवताओं का गुण-कीर्तन ।
(ना० ५-११-२१)

यह सब परदे के भीतर होता है । जवनिका उठते ही नान्दी पाठक रङ्गपीठ में प्रवेश करता है और चारों ओर घूम कर लोकपालों की वन्दना करता है तथा नान्दीपाठ करता है । भरत ने नान्दी-लक्षण इस प्रकार लिखा है—

आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ।

इसी को पूर्व रङ्ग कहते हैं । यदि इसके साथ नृत्य हो तो यह चित्र पूर्वरङ्ग कहलाता है । पूर्वोक्त पूर्व रङ्ग के साधारण विषय हैं । इसके अनन्तर सूत्र-धार का प्रवेश होता है जो विशेष अनुष्ठानों को करता है ।

सूत्रधार तथा पारिपार्श्विक—जवनिका उठने पर हाथों में फूल लेकर सूत्रधार प्रवेश करता है और भृङ्गार तथा जर्जर लिये हुए दो पारिपार्श्विक भी । प्रथम ब्रह्मा की पूजा होती है । फिर सूत्रधार रङ्गपीठ से पाँच क़दम आगे बढ़ कर ब्रह्ममण्डली पर पुष्पवृष्टि करता है । अनन्तर तीन बार ब्रह्मा को प्रणाम कर के बीच गृह में खड़ा होकर एक बार घूमता है । फिर ब्रह्ममण्डली की प्रदक्षिणा करके पारि-पार्श्विकों के हाथ से भृङ्गार और जर्जर ग्रहण करता है । पीछे बाजों की ध्वनि के साथ पाँच क़दम फिर आगे बढ़ कर तथा घूम कर इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर को प्रणाम करता है । इसी समय एक नट हाथों में पुष्प लेकर प्रवेश करता है और जर्जर, भृङ्गार तथा सूत्रधार की पूजा करके ताल-लय के साथ अङ्गों के हाव भाव दिखाता हुआ निष्क्रान्त होता है । फिर सूत्रधार नान्दीपाठ करता है—

नमोस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यः शुभं तथा ।
जितं सामेन वै राज्ञा शिवं गोब्राह्मणाय च ॥
ब्रह्मान्तरं तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा ।
प्रशास्त्वेमां महाराज पृथिवीं च ससागराम् ॥
राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव रङ्गस्याशा समृध्यतु ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान् धर्मो भवतु ब्रह्मभावितः ॥
काव्यकर्तुर्यशश्चास्तु धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।
इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति ॥
(ना० ५-९९-१०२)

पाठ करते समय प्रत्येक पद के अन्त में पारि-पार्श्विक 'एवमार्य' (ऐसा ही हो) अर्थात् (Amen) कहता है । तदनन्तर सूत्रधार आर्या छन्द में शृङ्गार-रस-प्रधान श्लोक पाठ करके, हाव, भाव, विलासादि दिखाता हुआ पाँच क़दम आगे बढ़ता है । इसको महाचारी कहते हैं । इसके पीछे प्ररोचना होती है ।

प्ररोचना—इसके द्वारा श्रोताओं को आम-न्त्रण दिया जाता है और काव्य-बन्ध (Plot) का निरूपण होता है । तब सूत्रधार दोनों पारिपार्श्विकों के साथ निष्क्रान्त होता है । पूर्व रङ्ग का विस्तार अधिक न होना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से दर्शकों तथा प्रयोक्ताओं को खेद होता है और ऐसा होने से नाटक का अभिनय ठीक नहीं होता ।

स्थापक—सूत्रधार तथा पारिपार्श्विकों के निकल जाने पर रङ्गपीठ में स्थापक प्रवेश करता है । वह अनेक ताललयों से युक्त सुन्दर वाक्यों का उच्चा-रण करता हुआ दर्शकों को प्रसन्न करता है और प्रस्ता-वना द्वारा नाटकारम्भ की सूचना दे कर निकल जाता है । अनन्तर अभिनय कार्य होता है (५-१५०-१५४)

नाटकीय परिभाषा—भरत-कृत नाट्य-शास्त्र के छठे अध्याय में रस-भाव-संग्रह, कारिका, निरुक्त, और निघण्टु का परिचय देकर लिखा है—

"नाट्य-शास्त्र का अन्तर्धान होना सम्भव नहीं। शिल्प-कला की तरह उसमें भी भावों का आनन्त्य (Endlessness) है। संक्षिप्त गुण का स्वीकार करता हुआ मैं सूत्रों में रस और भाव का उपदेश करता हूँ"।

यह सूत्राकार ग्रन्थ ३७ अथवा ३८ अध्याययुक्त नाट्य-शास्त्र है। इसमें रस आठ ही माने गये हैं—शृङ्गारवीरकरुणा, रौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतसंज्ञाश्चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट ने भी प्रधानतः आठ ही की गणना की है जैसा कि उसके "शान्तोऽपि नवमो रसः" से प्रकट है। भाव ३ प्रकार के अर्थात् स्थायी, सञ्चारी और सात्विक होते हैं। अभिनय चतुर्धा होता है (आङ्गिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक) तथा प्रकृति भी चार प्रकार की अर्थात् आचण्डी, दाक्षिणात्या, अर्धमागधी और पाञ्चाली। वृत्ति भी चतुर्विध कही गई है—आरभटी, कौशिकी, सात्वती और भारती। निघण्टु वह है जिसमें अन्यान्य नाट्याचार्य के सिद्धान्त, ताल-लय-युक्त संपूर्ण शब्दार्थ को लेकर, द्वैध मत से प्रयुक्त होते हैं। निरुक्त वह है जो समस्त शब्दार्थ सम्बन्ध में कोई सन्देह उपस्थित नहीं करता। सिद्धि दो प्रकार की होती है—दैवी तथा मानुषी। आतोद्य ४ प्रकार का कहा गया है—तत, अवनद्ध, घन, सुषिर। गान पञ्चविध बताया गया है, यथा प्रवेशक, आक्षेपक, निष्क्रामक, प्राप्त और ध्रुवा योग। इस प्रकार और भी अनेक शब्द नाट्यशास्त्र में व्यवहृत हैं।

नाट्य-शास्त्र के छठे तथा सातवें अध्याय में रस और भाव का विस्तृत वर्णन है। आठवें में उपाङ्गाभिनय, नवें में अङ्गाभिनय, दसवें में चारी-विधान, बारहवें में पाद-प्रचार, तेरहवें में कर-मुक्ति, चौदहवें में शब्दाभिधान, पन्द्रहवें में पिङ्गल, सोलहवें में नाटक के अलङ्कार, सत्रहवें में वागाभिनय, अठारहवें में लास्य, तेईसवें में नेपथ्याभिधान। इस प्रकार भिन्न भिन्न अध्यायों में अभिनयादि का विस्तृत वर्णन है।

भरत-नाट्यशास्त्र के पूर्व बहुत से नाट्य-ग्रन्थ विद्यमान थे। यह बात भरत ही की उक्ति से व्यक्त होती है। नाट्य-शास्त्र में वर्णित विषयों को देखने तथा मनन करने से ज्ञात होता है कि नाट्य-शास्त्र की रचना के पूर्व ही संस्कृत-नाटकों की पूर्ण परिणति हो चुकी थी।

संस्कृत-नाटकों की वर्तमान अवस्था में परिणति—ऊपर कहा ही जा चुका है कि पूर्व रङ्ग में सूत्रधार दो पारिपार्श्विकों के साथ, बातचीत के बहाने, नाटक की प्ररोचना करता है और स्थापक उसकी स्थापना का आरम्भ करता है। यह भी कहा जा चुका है कि पूर्व रङ्ग का विस्तार अधिक न होना चाहिए। साधारणतः आज कल जो नाटक मिलते हैं उनमें पूर्व में ही नान्दीपाठ मिलता है। अनन्तर सूत्रधार अन्य दो एक जनों के साथ कथोपकथन के बहाने नाटक की प्रस्तावना करता है। स्थापक का प्रवेश कहीं नहीं दिखाई देता। उपोद्घात भी प्रस्तावना द्वारा कहा जाता है। पूर्व रङ्ग भी विस्तृत मिलता है। नाट्यकारगण पूर्व रङ्ग के अभिनयों को, सङ्कुचित करके, प्रस्तावना ही में समाप्त कर देते हैं। कालिदासकृत शाकुन्तल के नान्दीपाठ—'या सृष्टुः सृष्टिराद्या' में किसी प्रकार की पूजा का प्रसङ्ग नहीं है अथवा यदि यह कहें कि उसमें पूजा का भावाभाव-निर्णय करना भी कठिन है तो भी अत्युक्ति न होगी। उत्तर-रामचरित में 'कालप्रियनाथस्य यात्रा' की कथा का उल्लेख है। वह भी पूजा नहीं कही जा सकती। शाकुन्तल में परिषद की प्रार्थना की चेष्टा की गई है और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' शब्द से ही वस्तु-निर्देश व्यक्त किया गया है। 'कालिदासग्रथित वस्तुना' से सूत्रधार कवि का नाम निर्देश करता है और फिर नटी के

गीतमाधुर्य में मुग्ध होकर नाटकाभिनय का रूप तथा स्वकर्तव्य भूल जाता है। इसके द्वारा दुष्यन्त के प्रेम में मुग्ध शकुन्तला का, तपोवन के कर्तव्यों में, त्रुटि दिखाना इत्यादि नाटक का आख्यान-भाग बताया गया है। फिर 'तवास्मि गीतरागेण' से नाटकारम्भ सूचित करके सूत्रधार जाता है। समस्त उपोद्घात प्रस्तावना ही कहे गये हैं; 'प्ररोचना' या 'स्थापना' का पृथक् निर्देश नहीं। महाराजा ट्रावङ्कोर की कृपा से भास कवि के बनाये जो नाटक प्रकाशित हुए हैं उनमें प्रस्तावना के स्थान पर प्ररोचना का उल्लेख उपलब्ध होता है। भास कवि कालिदास के बहुत पूर्व हो गये हैं अर्थात् ईसा के पूर्व चौथी या पाँचवीं शताब्दी में। [ट्रावंकोर संस्कृत-पुस्तक-माला के प्रकाशक टी० गणपति शास्त्री का मत है कि भास पाणिनि के भी पूर्व हुए हैं, अर्थात् ईसा पू० छठीं अथवा सातवीं शताब्दी।] उनके नाटकों में नान्दी का श्लोक नहीं मिलता। फिर भी "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" वाक्य से प्रकट है कि नान्दी पाठ था अवश्य। भासकृत स्वप्नवासवदत्ता तथा प्रतिमा-नाटकों का आरम्भ—नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः—ऐसा हुआ है। स्वप्नवासवदत्ता में सूत्रधार "भृत्यैर्मगधराजस्य स्निग्धैः कन्यानुसारिभिः। धृष्टमुत्सार्यते सर्वस्तपोवनगतो जनः"॥ श्लोक में नाटक के प्रथम दृश्य की घटना की सूचना देकर चला जाता है। इसी को स्थापना कहते हैं। ग्रन्थ में नान्दीपाठ का अभाव, सूत्रधार द्वारा ही नान्दी का आरम्भ और स्थापना, यही भासकृत नाटकों में अन्य नाटकों से विशेषता है। बाणभट्ट ने हर्षचरित की उपक्रमणिका में लिखा है "सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः। सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥" अतः अर्वाचीन नाटकों में उस समय के उपोद्घातों का अंश मात्र प्रस्तावना में परिणत हो गया है, अन्य परिवर्तन विशेषतः दृष्टिगोचर नहीं होता। नृत्यनिदर्शन मालविकाग्निमित्र में मिलता है। शाकुन्तल के पाँचवें अङ्क में सङ्गीत का भी परिचय मिलता है। रानी हंसपदिका गायन का अभ्यास कर रही है। राजा से विदूषक कहता है—"हे वयस्य सङ्गीतशाला की ओर ध्यान दो। कुछ अच्छे गीत के स्वर सुनाई दे रहे हैं। जान पड़ता है भगवती हंसपदिका वर्णपरिचय कर रही है।" सङ्गीत का विशेष वर्णन ना० शा० के २८ वें तथा २९ वें अध्याय में है। वर्ण चार प्रकार के होते हैं—आरोही, अवरोही, स्थायी, सञ्चारी।

पृथिवी पर नाटकों का प्रचार—प्रथम भरत मुनि तथा उनके शिष्य स्वर्ग ही में नाटकों का प्रयोग करते थे। अनन्तर देव तथा अप्सराएं भी नाटक में भूमिका (पार्ट) लेने तथा खेल करने लगीं। यह प्रचार इतना बढ़ा कि स्वयं नट लोग नाटकों की रचना करने लगे। इससे ऋषियों ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि अभिनेतागण शूद्राचारी हों और नाट्य-शास्त्र का ज्ञान नष्ट हो जाय, ना० अ० ३६-२३-२४। भरत मुनि इन्द्रादि देवताओं को स्वयं साथ लेकर ऋषियों के पास गये और बहुत विनती करके उनका क्रोध शान्त किया। ऋषियों ने दूसरे शाप का नाश किया परन्तु पहला वैसा ही रहा। जब राजा नहुष ने स्वर्ग जीत कर वहाँ के नाटक देखे तब उन्हें भी इच्छा हुई कि नाटक हमारी नगरी में भी खेले जायँ। अतः वे भरत मुनि से बोले—"इदमिच्छामि भगवन्नाट्यमुर्व्यां प्रवर्तितुम्" इस पर भरत ने निज शिष्यों को बुलाकर कहा—

> "अयं हि नहुषो राजा याचते नः कृताञ्जलिः।
> गम्यतां सहितैर्भूमिं प्रयोक्तुं नाट्यमेवहि।
> करिष्यामश्च शापान्तं यस्मिन्सम्यक् प्रयोजिते।
> ब्राह्मणानां नृपाणाञ्च भविष्यथ न कुत्सिताः।
> तत्र गत्वा प्रयुञ्जन्तां प्रयोगो वसुधातले॥
>
> (ना० ३७-१४-१५)

शापान्त होने पर भरत शिष्यों सहित स्वर्ग को गये! वे कुछ देव शिष्यों को यहाँ छोड़ गये। उन्होंने

यहाँ नाटकों का प्रचार किया। कोलाहल या कोहेल ने यहाँ नाट्य-विद्या का प्रचार किया। फिर वत्स, शाण्डिल्य, भैरव-मूर्ति इत्यादि और भी कई नाट्य-शास्त्र के प्रयोक्ता हुए, परन्तु जैसे मनुस्मृति भृगु-प्रोक्त है, उसी तरह भारतीय नाट्य-शास्त्र कोहलादि-प्रोक्त है।

प्राचीन नाटककार—छठे अध्याय के ३२ वें श्लोक में भरत ने कहा है—"एवमेषोऽल्प सूत्रार्थो निर्दिष्टो नाट्यसङ्ग्रहः। अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थ-विकल्पनम्"॥ इससे मालूम होता है कि भरतकृत नाट्य-शास्त्र अन्य नाटक-शास्त्रों का सङ्ग्रह मात्र है, क्योंकि उसके पहले भी अन्य नाटक सूत्रग्रन्थ विद्यमान थे। महर्षि पाणिनि ने जो ईसा के पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी के हैं, अपनी अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ में दो नट सूत्रकारों का कथन किया है। अष्टाध्यायी के चतुर्थाध्याय, तृतीय पाद के ११० तथा १११ सूत्रों में शिलालिन् और कृशाश्व नामक नटसूत्रकारों का उल्लेख है। यथा—

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। कर्मन्दकृशाश्वादिनिः। पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयन्ते पाराशरिणो भिक्षवः।

शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रमधीयन्ते शैलालिनो नटाः।

कर्मन्दकृशाश्वादिनिः—इस सूत्र पर भट्टोजी दीक्षित ने 'भिक्षुनटसूत्रयोरित्येव' अनुवृत्ति मान कर 'कृशाश्वेन प्रोक्तं नटसूत्रमधीयन्ते इति कृशाश्विनो नटाः' कहा है।

शिलालिप्रोक्तं नट सूत्रमधीयन्ते शैलालिनो नटाः।

नाटककारों का प्रभाव—मनु के समय में समाज पर नाट्यकारों का बहुत प्रभाव था, जिस से बहुधा अनिष्ट भी हो जाया करता था। अतएव मनु महाराज को व्यवस्था लिखनी पड़ी जो मनुस्मृति के तृतीयाध्याय के ५·११ वें श्लोक में है। मनुस्मृति के चतुर्थाध्याय के २१४ वें श्लोक में 'कुशीलव' शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। मनु की व्यवस्था देख कर प्रतीत होता है कि शापानुसार अवश्य ही अभिनयकर्त्ता-गण दुर्वृत्त और दुराचारी हो गये होंगे। सम्भव है, इस की व्युत्पत्ति इस प्रकार हो—कुत्सितं शीलं येषां ते कुशीलाः, कुशीलान् वान्ति रक्षन्ति (धातूनामनेकार्थत्वात्) ते कुशीलवाः—इनको श्राद्ध में निमन्त्रित न करना चाहिए। नट का दिया हुआ अन्न ब्राह्मण ग्रहण न करे (म० ४—२१५)। रङ्गावतारक का दिया हुआ भी अन्न ब्राह्मण ग्रहण नहीं करता (म० ८—६५)—"रङ्गावतारस्य नटगायन-व्यतिरिक्तस्य रङ्गावतारणजीविन इति कुल्लूकभट्टः—अर्थात् नाटक करना जिनका पेशा है वे रङ्गावतारक कहलाते हैं। कुशीलव की साक्षी भी अग्राह्य है (म० ८—३६२)। मनु-संहिता से प्राचीनतर ग्रन्थ कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में भी रङ्गालय का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के समय में कुशीलवों की एक प्रबल जाति हो गई थी। वे शूद्र समझे जाते थे। उनको रङ्गोपजीवी पुरुष, और स्त्रियों को रङ्गोप-जीविनी गणिका कहते थे। इन लोगों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने भी (अर्थ० २—२७ में) विशेष व्यवस्था की है। अर्थशास्त्र के एक समूचे प्रकरण का नाम गणिकाध्यक्ष है। प्राचीन काल में समाज पर नाटकों तथा अभिनेताओं का कैसा प्रभाव था, यह अन्य ग्रन्थों से भी मालूम हो सकता है।

नाट्यशास्त्र की रचना का समय—प्रायः ६५ वर्ष पूर्व कर्नल आऊसली ने परगने राम-गढ़ में दो विचित्र कन्दरायें ढूँढ़ निकालीं। उनमें दो शिलालेख भी मिले जो अशोक-लिपि में हैं। उनसे ज्ञात होता है कि यहाँ कोई ऐतिहासिक अथवा धार्मिक शासन न था। डाक्टर ब्लाक इसे नाट्य-सम्बन्धी कहते हैं। शिलालेख में 'लुपदखे' शब्द आया है, जिसका अर्थ अभिनय-कुशल है। एक कन्दरा में उन्होंने रङ्गालय भी देखा, जिसमें लीला-वती का अच्छा प्रमाण मिलता है। प्रेक्षकों की बैठकें, गेलरी के सदृश, बनी हुई हैं। विद्वानों का अनुमान है कि यह कन्दरा तथा शिलालेख ईसा के

पूर्व द्वितीय शताब्दी के हैं। इनका सविस्तर वर्णन डाक्टर ब्लाक के आर्क्यालाजिकल मेनुअल नं० ९—१९०९ में मिलेगा। नाट्यशास्त्र के २१ वें अध्याय के श्लोक ८८।८९ में लिखा है कि किरात, बर्बर, आन्ध्र, द्रविड़, पुलिन्द तथा दाक्षिणात्य जातियों का 'पार्ट' काले रङ्ग से रँगा जाय; और शक, यवन पाह्लव, बाल्हीक, गौर वर्ण से। मनुस्मृति में भी ये नाम मिलते हैं। (१० अ० ४४) यथा—पुण्ड्काश्चोण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पाल्हवाश्चीनाः किराता दरदास्तथा। ये लोग पहले क्षत्रिय थे; परन्तु द्विज-कर्म न करने से शूद्र हो गये थे। नोल्ड के महाशय का मत है कि ईसा के पूर्व पहली शताब्दी में पल्हव शब्द उत्पन्न न हुआ था। ईसवी सन् २१—२२ में खुदे हुए रुद्र दामा के गिरनारवाले शिलालेख में पल्हव शब्द मिलता है। इस युक्ति के आधार पर लोग मनुस्मृति के ईसा की द्वितीय शताब्दी में बनी मानते हैं। पल्हव शब्द पार्थिव या पाहलव का रूपान्तर प्रतीत होता है। नाट्यशास्त्र में यह पाह्लव रूप में मिलता है। अतः ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में अथवा तृतीय शताब्दी के अन्त में बना होगा। रामगढ़ की रङ्गालय-कन्दरा भी इसी समय की होगी। नाट्यशास्त्र के प्राचीनतर होने का प्रमाण इस ग्रन्थ में ही विद्यमान है। नाट्य-मण्डप बन जाने पर काषाय वस्त्र पहने हुए भिक्षुओं अथवा पाखण्डियों को वहाँ होकर न जाने देना चाहिए।—उत्सार्याणि त्वनिष्टानि पाषण्डा श्रमिणस्तथा। काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः॥ ना० अ० २—४० ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी में बौद्धों का प्रभाव लुप्त न हुआ था, किन्तु घटा अवश्य था। नाट्यशास्त्र में सभी स्थानों पर ब्राह्मण-प्रभाव पाया जाता है। बौद्ध धर्म के प्रधान सहायक अशोक की मृत्यु ईसा के पूर्व २३१ में हुई और पुष्य मित्र शुङ्ग ने ईसा के पूर्व १८४ में मौर्य-वंश का नाश किया। पुष्यमित्र ने एक अश्वमेध यज्ञ भी किया था, जिसका उल्लेख भाष्यकार पतञ्जलि ने 'इह पुष्यमित्रं याज्यामः' वाक्य द्वारा किया है। मालविकाग्निमित्र नाटक के पाँचवें अङ्क में इस यज्ञ का उल्लेख है। उस नाटक का नायक अग्निमित्र भी इसी पुष्यमित्र का पुत्र था। वह विदिशा तथा मालवा में राजप्रतिनिधि था। इन्हीं की सहायता से ब्राह्मणधर्म फिर चमक उठा। अतः इस काल में बौद्धमतावलम्बियों के प्रति समाज में घृणा उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं। सम्भव है, इस के कुछ ही पूर्व अथवा इसी समय नाट्यशास्त्र बना हो।

ऊपर के कथन से स्पष्ट है कि इन्द्रध्वज-महोत्सव के साथ ही संस्कृत-नाटकों की उत्पत्ति हुई। जर्जर नाटक का स्थान निदर्शनीय हुआ। कहते हैं कि पहले इन्द्रध्वज की स्थापना करके लोग आनन्द मनाया करते थे। विलायत में पोल नाम का खेल कुछ कुछ इसी तरह का है। नेपाल में, स्थान स्थान पर, भुजा उठाये हुए इन्द्र की मूर्ति स्थापन करके लोग पूजा, नाच, गाना, अभिनय किया करते थे। दाक्षिणात्यों में अब भी चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को ध्वज खड़ा किया जाता है जिसकी पूजा होती है। भागवत-पुराण में वर्णित इन्द्र के क्रोध का कारण यही हुआ होगा कि गोपों ने, कृष्ण के उपयोगितावादात्मक उपदेश के कारण, इन्द्रपूजा छोड़ कर गोवर्धन पूजा का स्वीकार किया था।

लोगों का यह कथन कि भारतीय नाट्यकला पर ग्रीक लोगों का प्रभाव पड़ा, असङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि प्रथम तो स्मिथ तथा मैकडानल महाशयों ने ही उसका खण्डन कर डाला है। दूसरे हमारे यहाँ पाणिनि से भी प्राचीन काल में नाट्य-कला का आदर था और नाट्य-शास्त्र के ग्रन्थ भी विद्यमान थे, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। भरत का नाट्य-शास्त्र सङ्ग्रह-ग्रन्थ मात्र है।

सरस्वतीतनय काले, एम० ए०

अँधेरी रात का पथिक ।

(१)

यद्यपि है यह काली रात, होवे ही गा किन्तु प्रभात ।
इसकी चिन्ता करो नहीं तुम, कभी किसी से डरो नहीं तुम ।
चाहे कुछ हो बढ़ना होगा, मन गिरि पर भी चढ़ना होगा ॥

(२)

नभ में काले घन घिरने दे, ओले पानी भी गिरने दे ।
चमक रही है चपला तो क्या ? घर से निकला इकला तो क्या ?
करना होगा मञ्जिल पार, तरना होगा पारावार ॥

(३)

अरुण नेत्र कटि-तट तक केश, करके भूत-भयङ्कर वेश ।
रोकें यदि मन तेरे मग को, खींच खींचकर तेरे पग को ।
तो तू उन पर पड़ना टूट, जिसमें छक्के जावें छूट ॥

(४)

देखो भूक रहे हैं श्वान, आगे बढ़ते तुझको जान ।
तुझे देख निर्बल भगते हैं, सोये हुए सिंह जगते हैं ।
और बढ़ा दे अपनी चाल, मन मत कह तू मन के हाल ॥

(५)

झिल्ली झींगुर करते शोर, झंझा-वायु चली है घोर ।
नभ में तारे टूट रहे हैं, एक अन्य से छूट रहे हैं ।
पर इसकी क्या है परवाह ? तुझे काटनी है निज राह ॥

(६)

देख बह रहे हैं नद नाले, ऊपर उज्ज्वल भीतर काले ।
लहरें कैसी उमड़ रही हैं, भौंरें कैसी घुमड़ रही हैं ? ।
मकर लगाते चक्कर कैसे, तर जा इनको जैसे तैसे ॥

(७)

पथ पर काँटे लगे हुए हैं, क्रुद्ध सर्प विष-पगे हुए हैं ।
अगल बगल गहरी खन्दक हैं, यद्यपि तेरी प्रतिबन्धक है ।
सँभल सँभल तू बढ़ जा आगे, जलें विरोधी हृदय अभागे ॥

(८)

भूमि काँप कर फट भी जावे, आग लगे आंधी भी आवे ।
थल का जल हो, थल हो जल का, गिरि-गण उड़ जावे हो हलका ।
पर तू मत कर निज गति बन्द, हाथ पकड़ ले दिनकर चन्द ।

(९)

विघ्न निकट हो क्या कर लेगा ? यम भी चेला बन सुख देगा ।
ज्ञान-नेत्र जब तुझे मिलेगा, अनल-कुण्ड में कमल खिलेगा ।
अभी दूर है वह सुख-धाम, अरे चला चल आठों याम ॥

(१०)

थोड़ा चल कर बैठ न जाना, मोह-गुफ़ा में घुस मत जाना ।
विघ्न देख पीछे मत हटना, कर दिखलाना अघटित घटना ।
मन मत होना कभी निराश, पहुँच जायगा कर विश्वास ॥

रामचरित उपाध्याय

निसर्ग और सभ्यता ।

निसर्ग अर्थात् प्रकृति और सभ्यता में प्रायः उतना ही विरोध देख पड़ता है जितना कि पूर्व और पश्चिम या अन्धकार और प्रकाश में पाया जाता है ।

प्रकृति (Nature) कहती है कि प्राणी जिस स्वरूप में उत्पन्न हुआ है उसी स्वरूप में रह कर अपनी उन्नति करे । मैंने जो शक्तियाँ, जो साधन जिस स्वरूप में उसे दिये हैं उसी स्वरूप में उनका उपयोग करके वह विकसित होता रहे । मनुष्य प्राणी है । अतएव उस पर भी यह नियम घटता है । मनुष्य नग्न और अकेला उत्पन्न होता है । अतएव उसे दिगम्बर और एकाकी रहना चाहिए । फूल, फल, पौधे, अनाज, जल, मिट्टी, पत्थर इत्यादि जिस स्वरूप में उसे प्राप्त हुए हैं उसी स्वरूप में उनका उपयोग करके वह जीवित रहे और अपनी उन्नति करे । उसके विकास के लिए सब आवश्यक साधन मैंने उसे दिये हैं । बनावटी साधनों और उपायों की उसे आवश्यकता नहीं । कृत्रिमता उसकी स्वाभाविक उन्नति की बाधक है । भूख के समय जो मन आवे खा ले, प्यास लगने पर जैसी रुचि हो पानी पीले, निद्रा आने लगे तब सो जाय, इच्छानुसार सन्तानोत्पत्ति कर ले । कपड़े-लत्ते की उसे कोई ज़रूरत नहीं । यदि होती तो मैं उसे बने-बनाये देती ।

सारांश यह कि मनुष्य को न स्वादिष्ट भोजन की ज़रूरत है न जाति या विवाहबन्धन इत्यादि की ज़रूरत है। कृत्रिमता को उसे पास न फटकने देना चाहिए।

पर सभ्यता कहती है कि नहीं, तुम भूलती हो। और प्राणियों के लिए तो तुम्हारी यह बात ठीक है; पर मनुष्य के लिए नहीं। मनुष्य भी प्राणी है यह सच; परन्तु अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह बड़ी भारी विशेषता रखता है। उसमें विवेक और बुद्धि है। इसी की बदौलत वह अन्य सभी प्राणियों से श्रेष्ठ समझा जाता है। इसके प्रधान काम दो हैं—कार्य या वस्तु को यथावत् समझ लेना और (२) सर्वोत्तम प्रकार से कौशलपूर्वक उसका सञ्चालन करना। विवेक बुद्धि की पहली शक्ति से वह पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है और दूसरी से उस ज्ञान का सदुपयोग करता है। कृत्रिमता और सामाजिकता का आश्रय लिये बिना यह हो नहीं सकता।

किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करके उसका सदुपयोग करने को—उसका सर्वोत्तम परिणाम निकालने को—कला कहते हैं। या यों कहें कि कला बुद्धि-उपयोगिता का परिणाम है। अतएव कला कृत्रिमता और सामाजिकता की आश्रित है। कृत्रिमता एवं समाज-शीलता और कला का आधार-आधेय सम्बन्ध है। तुम कहती हो कि कृत्रिमता की ज़रूरत मनुष्य को नहीं। पर मैं कहती हूँ कि कृत्रिमता के बिना उसकी बुद्धि निष्फल हो जाती है।

इससे मालूम हुआ कि कृत्रिमता का और मनुष्य-बुद्धि या मनुष्यता का गहरा सम्बन्ध है। क्योंकि बुद्धि ही मनुष्यता का एकमात्र चिह्न है। समाजशीलता और मनुष्यता का भी प्रगाढ़ सम्बन्ध है। कृत्रिमता और सामाजिकता भी परस्पर सम्बद्ध हैं। समाजशील हुए बिना मनुष्य की बुद्धि व्यापक नहीं हो सकती और कृत्रिमता के अवलम्बन बिना वह अपना जौहर प्रकट नहीं कर सकती। जब तक बुद्धि व्यापक और मर्मज्ञ न होगी तब तक मनुष्य अपनी स्थिति का यथार्थ ज्ञान और भावी उन्नति की कल्पना नहीं कर सकता। या यों कहें कि समाजशील हुए बिना वह अपनी उन्नति नहीं कर सकता। समाजशीलता उसे उदार, नियमनिष्ठ, सदाचारशील, सहकारिता-प्रेमी बनावेगी। उदारता उसे अपने प्रेमियों और हितचिन्तकों के छोटे बड़े दुर्गुणों, और दुर्व्यवहारों की उपेक्षा करने की शिक्षा देगी; नियम-निष्ठा एक दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण या बाधक होने से बचावेगी; सदाचरण-शीलता उन्हें शान्ति का पाठ पढ़ावेगी और सहकारिता उन्नति की ओर अग्रसर करेगी। इन सब सद्गुणों का समष्टिरूप से जो परिणाम होगा वही सहानुभूति और प्रेम है।

इस विवेचन से यह जान पड़ता है कि रुचि-वैचित्र्य, मत-भेद, इत्यादि के रहते हुए भी मनुष्य अपनी बुद्धि के सदुपयोग द्वारा उच्च चिर और प्रकृत प्रेम का आदर्श उपस्थित कर सकता है।

मनुष्य-समाज में ही रह कर मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है, अन्यथा नहीं। इसी लिए वह समाजशील कहाता है। समाजशील जन के लिए, समाज के नियमों और बन्धनों का पालन करना आवश्यक है। दो मनुष्य विशेष विशेष नियमों का पालन किये बिना एक साथ अधिक काल तक नहीं रह सकते। फिर समाज में रहने के लिए तो नियमों का पालन करना अनिवार्य है।

आपने प्रकृति और सभ्यता दोनों की दलीलें सुन लीं। प्रकृति तो कृत्रिमता की शत्रु है; कला-कौशल की उसके बिना गुज़र नहीं। कला-कौशल और सामाजिकता सभ्यता के प्रधान अङ्ग हैं। इनके बिना सभ्यता कोई चीज़ ही नहीं। कला-कौशल और समाज-शीलता अप्राकृतिक—प्रकृतिविरुद्ध—

हैं। अतएव सभ्यता भी सर्वांश में नहीं तो अल्पांश में प्रकृति-विरुद्ध अवश्य है। प्रकृति कहती है कि मनुष्य नङ्गा और अकेला रहे—उसे वस्त्र, घर, बरतन, गहने, स्त्री आदि की आवश्यकता नहीं; जाति-पाँति का प्रयोजन नहीं। तरह तरह के स्वादिष्ट भोजनों की उसे आवश्यकता नहीं। अर्थात् मनुष्य पशु बन जाय—बुद्धि के रहते हुए भी पशुवत् आचरण करे। विपक्ष में सभ्यता कहती है कि नहीं; मनुष्य बुद्धि-प्रयोग-पूर्वक जीवन व्यतीत करे। वह समाजप्रिय है। समाज के बिना उसका काम नहीं चल सकता। जाति पाँति, विवाह बन्धन इत्यादि के नियमों का पालन उसे अवश्य करना पड़ेगा। प्रत्येक विषय में अपने बुद्धिबल का प्रयोग करके वह उन्नति प्राप्त करे। अर्थात् वह मनुष्य बन कर रहे। प्रकृति कहती है मनुष्य असभ्य रह कर अपनी उन्नति करे और सभ्यता कहती है कि सभ्य बन कर वह अपनी उन्नति करे।

अब यह प्रश्न है कि हम किसका अनुगमन करें? प्रकृति का या सभ्यता का? इसका उत्तर बहुत कठिन नहीं। उन्नति तो प्रकृति और सभ्यता दोनों को अभीष्ट है। मत-भेद जो है वह मार्गों में है। ध्येय एक है; साधन भिन्न भिन्न हैं। अतएव आइए, हम दोनों के साधनों की जाँच करें कि इस बीसवीं सदी में—संसार की वर्त्तमान अवस्था में—कौन से साधन हमारे लिए उपयुक्त हैं।

संसार में आज जितनी जातियाँ विद्यमान हैं उनका प्राचीनतम इतिहास देखिए। जो अब नहीं हैं उनकी भी आदिम अवस्था की जाँच कीजिए। आप इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि प्रायः सब के पूर्वज प्राकृतिक नियमों के क़ायल अधिक, सभ्यता के नियमों के पाबन्द कम थे। तब से आज तक उनकी वंशधर जातियों की दशाओं में जो परिवर्तन हुए उन पर ध्यान दीजिए। आप देखिएगा कि आगे की प्रायः सभी पीढ़ियाँ प्राकृतिक नियमों की अनुसारिणी कम और सभ्यता की अनुसारिणी अधिक हैं। इतिहासकारों के शब्दों में समस्त जातियों की गति का वर्णन समष्टि रूप से यों कर सकते हैं कि वे असभ्य से सभ्य होती आई हैं, अर्थात् सभ्यता का प्रचार दिन पर दिन बढ़ता गया है और अब भी बढ़ता जा रहा है। इस सभ्यता-वृद्धि की ही बदौलत कल की योरपीय जातियाँ प्रतिष्ठित समझी जाती हैं। आज सभ्य जातियों का वह आतङ्क—वह प्रभुत्व—संसार पर छाया हुआ है कि जिसकी हद नहीं। जो जाति आज सभ्यता में जितनी बढ़ी चढ़ी है संसार में उसका उतना ही अधिक प्रभाव है। जातियों और देशों की योग्यता की माप प्रायः सभ्यता ही हो रही है। कृत्रिमता का चारों ओर साम्राज्य है। भोजन, वस्त्र, पात्र, आभूषण, सजावट इत्यादि सभी को कृत्रिम साधनों द्वारा सर्वोत्कृष्ट बनाने का विश्व-व्यापार हो रहा है। ऐसे समय में भी कभी जर्मनी, कभी अमेरिका, कभी फ़ान्स इत्यादि से प्रकृति-प्रणयियों की ऊँची आवाज़ कानों में भनक उठती है। अभी उस दिन हमने एक किताब पढ़ी 'Return to Nature.' लेखक महाशय डाक्टर हैं। जर्मनी के कूने साहब की तरह ये भी रोगी थे। प्राकृतिक इलाज से प्राकृतिक नियमों का पालन करने से वे रोग-मुक्त हो गये। उसी इलाज की सविस्तर चर्चा उक्त पुस्तक में है। प्रकृति के अनुगमन की सलाह देनेवाले प्रायः सभी लोग डाक्टर—वैद्य—हैं। वे आरोग्य-संरक्षण और आरोग्य-लाभ के ही लिए विशेष कर प्राकृतिक नियमों का पालन करने की राय देते हैं। पर केवल नीरोग रहने से ही मनुष्य की उन्नति हो सकती है—यह बात बुद्धि नहीं क़बूल करती। उन्नति का प्रधान सम्बन्ध मन से है। मन या बुद्धि का विकास ही उन्नति का प्रधान साधन है। बुद्धि का विकास बिना शिक्षा के नहीं हो सकता। और शिक्षा के

लिए समाज तथा कलाकौशल के आश्रय की आवश्यकता होती है। अर्थात् बिना सभ्यता का आश्रय ग्रहण किये मनुष्य अपनी उन्नति नहीं कर सकता। यदि यह कहें कि सभ्यता की वृद्धि ही उन्नति है तो अयथार्थ नहीं।

संसार इस समय सभ्यता की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील है। कृत्रिमता का डङ्का चारों ओर पिट रहा है। इस दशा में प्राकृतिक नियमों का पालन करके सफलता प्राप्त करना हमें तो असम्भव ज्ञात होता है। माना कि प्रकृति की शरण में जा कर लोग नीरोग या स्वस्थ हो गये। तो इससे हुआ क्या? शिक्षा के द्वारा उन्हें जब तक सुसंस्कृत न किया जायगा तब तक उनकी उन्नति हो कैसे सकेगी? और यह भी सच है मनुष्य जितना ही स्वस्थ होगा उसकी बुद्धि भी उतनी ही अधिक प्रखर होगी। इससे उसकी उन्नति में विशेष सहायता मिलेगी। परन्तु रोग का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं, मन से भी है। मानसिक चिन्तायें भी मनुष्य के शरीर को रोगी बना सकती हैं। विपक्ष में मन की दृढ़ता से रोगी शरीर भी आरोग्य लाभ कर सकता है। मानसिक शक्तियों की अपेक्षा शारीरिक शक्तियाँ हीन ही मानी जाती हैं। शरीर और मन हैं यद्यपि परस्पर सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित; पर मन प्रधान है, शरीर नहीं। मानसिक शक्ति के अद्भुत चमत्कार हम प्रति दिन देख रहे हैं। अतएव मन को संस्कृत करना ही उन्नति है। और यह बिना सभ्यता का आश्रय ग्रहण किये नहीं हो सकता।

इस विवेचन से यदि यह परिणाम भी निकाला जाय कि प्राकृतिक नियमों के पालन से प्रधानतः शरीर की उन्नति होती है और सभ्यता के अंशभूत समाज के नियमों का पाबन्द रहने से मुख्यतः मन की उन्नति होती है। अर्थात् प्रकृति को शरीर-प्रधान उन्नति अभीष्ट है और सभ्यता को मनः-प्रधान उन्नति।

कलह समष्टि की उन्नति का विघातक है; शान्ति उसकी पोषक है। निसर्ग का उद्देश है जीवनार्थ कलह और समाज का अन्तिम साध्य है कलह-शान्ति। निसर्ग का साम्राज्य होने पर जिसकी लाठी उसकी भैंस का क़ानून काम में लाया जाने लगेगा। पशुताप्रधान शरीर-बल की दुहाइयाँ दी जाने लगेंगी। इससे कलह बढ़ेगा। कलह से उन्नति में रुकावटें आती हैं। सभ्यता का ग्रहण करने पर प्रत्येक सभ्य को समाज के नियमों के अनुसार चलना पड़ेगा। इससे समाज में शान्ति की वृद्धि होगी। शान्ति की वृद्धि से उन्नति की गति बढ़ जायगी। अतएव निसर्ग-नियम की अपेक्षा सभ्यता के नियम अर्थात् नीति और सदाचार के नियमों का पालन करना ही श्रेयस्कर है। इसके साथ ही साथ इन प्राकृतिक नियमों का भी अवलम्बन करते रहना चाहिए जो समाज की शान्ति को भङ्ग न करते हों। अर्थात् सभ्यता की वृद्धि में सहायक, कम से कम अबाधक, प्राकृतिक नियमों का पालन करना हमें उचित है। प्रकृति ने मनुष्य को बुद्धि प्रदान करके स्वयं उसे सभ्यता का प्रेमी बना दिया है। सभ्यता यदि संसार में न रहे तो उसका सलोनापन नष्ट हो जाय। प्रकृति संसार की जननी है और सभ्यता उसका भूषण है। जब तक सभ्यता संसार में रहेगी प्रकृति से उसका झगड़ा होता ही रहेगा।

हरिभाऊ उपाध्याय

गोस्वामी तुलसीदास का आत्मचरित।
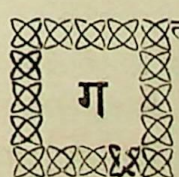
गत मार्च मास की सरस्वती में 'मिश्र' नामक किन्हीं महाशय ने कवित्त-रामायण के कुछ पद्यों के आधार पर यह दिखाया है कि गोस्वामी तुलसीदासजी किसी नीच अन्त्यज जाति में उत्पन्न हुए थे और वे "किसी ऐसे घोर

पापकर्म की सन्तान थे जिसे लिखने में वे स्वयं भी समर्थ न हुए"—अर्थात् वे जारज थे। इनमें से पहली बात के प्रमाण में गुसाईंजी के आत्मावमान-सूचक अनेक पद्यांश दिये गये हैं जिनमें उन्होंने अपने लिए 'पतित' 'अपावन' 'नीच' 'निरादर-भाजन' आदि लिखा है और दूसरी (जारजत्व) के प्रमाण में 'मातु पिता जग जाय तज्यो' और 'जायो कुल मंगन बधावनों बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को' इन पद्यांशों का विशेष उल्लेख है। इस लेख के प्रतिवाद में गत जूलाई १९१८ की संख्या में दो लेख छप भी चुके हैं। जिनमें श्रीयुत बालकरामजी का लेख विशेष विचार-पूर्ण है। आपने गुसाईंजी को ब्राह्मण सिद्ध किया है और 'दरिद्रता-वश पालन-पोषण में असमर्थ होने के कारण' माता-पिता-द्वारा उनका परित्यक्त होना बताया है। आज हमें उक्त दोनों सज्जनों की सेवा में विनयपूर्वक कुछ निवेदन करना है।

गुसाईंजी कौन थे और क्या थे, इसपर पर्याप्त विचार हो चुका है। काफ़ी छानवीन और प्रबल प्रमाणों से अनेक सज्जनों ने उनका ब्राह्मण होना सिद्ध किया है। श्रीयुत बालकरामजी ने भी इस पर कई अच्छी युक्तियाँ दी हैं, अतः हम अन्य बातों को छोड़ कर केवल उन्हीं आक्षेपों और उनके कारणों पर विचार करेंगे जिनसे गुसाईंजी के विषय में विरुद्ध विचार उत्पन्न हुए हैं।

सब से पहले अभ्युपगम सिद्धान्त के अनुसार हम आक्षेपकर्ता महाशय की दोनों बातें मान लेते हैं—हम यह माने लेते हैं कि गुसाईंजी किसी ऐसी अस्पृश्य जाति में उत्पन्न हुए थे जिसकी छाया का छूना भी बुरा समझा जाता था और यह भी स्वीकार किये लेते हैं कि वे जारज थे। एवम् मिश्रजी की जिस पर बड़ी आस्था है वही पाठ (जायो कुल मङ्गन बधावो न बजायो सुनि) भी हमें स्वीकार है (वस्तुतः यह अपपाठ है) और उनके इस कथन से भी हम सहमत हैं कि—"तुलसीदासजी के माता-पिता को पाप का परिताप ऐसा हुआ कि बधावा तक न बजाया और नव-जात पुत्र को छोड़ दिया कि पुत्रोत्पत्ति की ख़बर भी किसी को न हो।"—परन्तु प्रश्न यह है कि यदि उक्त सब बातें ठीक हैं तो तुलसीदासजी को—जो पैदा होते ही इस तरह छोड़ दिये गये थे कि उनके जन्म की किसी को ख़बर भी न हो—यह कैसे मालूम हुआ कि हम मङ्गन कुल के हैं? हमारे जन्म पर माता-पिता ने बधावा नहीं बजवाया, या बधावा बजता सुन कर उन्हें पाप का परिताप हुआ और उन्हों ने हमें पैदा होते ही छोड़ दिया? उन्होंने यह कैसे जाना कि हमारी माता का नाम 'हुलसी' है, और जिसका उन्होंने मुँह तक नहीं देखा था उस पापिनी माता के साथ उन्हें हित कैसे हुआ?

उन्होंने यह क्यों लिखा कि 'तुलसिदास हिय हित हुलसी सी'। इतना ही नहीं इस प्रच्छन्न पापिनी का नाम संसार भर में विख्यात कैसे हो गया? अब्दुलरहीम ख़ानख़ानः ने इसी पापिनी का नाम लेकर तुलसीदासजी को प्रसन्न करने के लिए समस्यापूर्ति क्यों की? "गर्भ लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय।" इस रहिमन के दोहे में ऐसी दुश्चरित्रा का उल्लेख क्यों किया गया? जिसे पुत्रोत्पत्ति पर इतना पाप का परिताप हो कि नवजात शिशु का प्रच्छन्न रूप से परित्याग करे, क्या वह उसी पाप-गर्भ को लिये "हुलसी" (आनन्द मनाती) फिरेगी?

मिश्र महाशय ने 'जायो कुल मङ्गन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को' इसका अर्थ किया है कि "माता पिता जो मङ्गन कुल के थे, उन्हें बधावा बजता सुन अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की ख़बर पाकर पाप का परिताप हुआ और उन्हों ने बालक को जन्मते ही छोड़ दिया" अब प्रश्न यह है कि क्या माता और पिता दोनों ही ने कोई पाप किया था, जिसका परिताप दोनों को हुआ? जारज पुत्र होने से माता को अपने पिछले पापों पर पश्चात्ताप होना स्वभाव-सिद्ध है। परन्तु पिता को किस बात का पश्चात्ताप हुआ? उन्हें अपनी पत्नी की दुश्चरित्रता पर क्रोध होना चाहिए था या पश्चात्ताप? फिर यदि स्त्री दुष्टा थी तो उसी का परित्याग करना चाहिए था। निरपराध निरीह नवजात शिशु का त्याग दोनों (माता-पिता) ने क्यों किया? क्या इसीसे दोनों की शत्रुता थी, इसके अतिरिक्त वह कौन सा 'पाप कर्म' था जिसका परिताप **बधावा बजता सुन कर** हुआ? क्या बधावा बजने से पहले इस गर्भ की ख़बर उन्हें थी ही नहीं? यदि नहीं तो बधावा क्यों बजवाया?

यदि थी तो भी पाप कर्म की सन्तान के लिए—जिसे छिपा कर छोड़ना—अभीष्ट है—बधावा कैसा ?

यह सम्भव है कि पिता को बधावा बजता सुन कर पुत्रोत्पत्ति की ख़बर हुई हो, परन्तु क्या बधावा सुनने से पहले माता को भी यह ख़बर नहीं थी कि मेरे पुत्र हुआ है ? यदि थी तो आपका यह अर्थ (उक्त पद्य का) करना कि "बधावा बजता सुन कर अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की ख़बर पाकर माता-पिता को पाप का परिताप हुआ" कैसे सङ्गत हो सकता है ? श्रीयुत बालकरामजी की यह बात बहुत ठीक है कि 'परिताप पाप' इस शब्द से पाप का परिताप, यह अर्थ नहीं निकल सकता—यह नियम-विरुद्ध है—इस अर्थ में समास अनुपपन्न है।

उक्त पद्य के उक्त अर्थ से आपने (मिश्रजी ने) दो बातें निकाली हैं—एक तो यह कि गुसाईंजी किसी नीच मङ्गन (मँगता = भिखारी) जाति के थे—दूसरे पाप कर्म की सन्तान होने के कारण वे उत्पन्न होते ही छोड़ दिये गये थे। ये दोनों बातें विप्रतिषिद्ध हैं—दोनों सत्य नहीं हो सकतीं। यदि इन्हें नीच जाति का माना जाय तो परित्याग नहीं बनता। जिस नीच मङ्गन जाति की ओर आपका इशारा है उसकी स्त्रियां सती साध्वी और पातिव्रत्यनिरत नहीं होतीं—उनका एक पति को छोड़ कर दूसरे के यहां जाना और पहले पति की सन्तान का दूसरे पति के यहां पालन-पोषण करना साधारण बात है। उनमें इतनी चरित्रभीरुता नहीं होती जो दोनों पति-पत्नी मिल कर जारज पुत्र को छिपा कर छोड़ने जायँ। और यदि यह मान लें कि वे 'पाप-कर्म' की सन्तान होने के कारण परित्यक्त हुए थे तो उनका नीच जाति में जन्म होना नहीं सिद्ध होता। यह प्रथा उन्हीं द्विजातियों में है जिनमें पुनर्विवाह या करावे का रवाज नहीं है।

श्रीयुत बालकरामजी की सम्मति है कि दरिद्रतावश भरण-पोषण में असमर्थ होने के कारण माता-पिता ने गुसाईंजी का त्याग किया था। परन्तु हमें यह मत ठीक नहीं जँचता। जन्मते ही भरण-पोषण की क्या चिन्ता आ पड़ी ? जो शिशु दूध मात्र पीता है उसका भरण-पोषण ही क्या ? गुसाईंजी की माता उन्हें छोड़ कर सेना में तो भर्ती होही नहीं गई थीं। यदि भिक्षा ही मांगनी थी तब तो शिशु का होना और भी उपयोगी था। आपकी इस सम्मति से कि गुसाईंजी "शैशवावस्था में परित्यक्त नहीं हो सकते" हम सहमत नहीं हो सकते। 'मातु-पिता जग जाय तज्यो' 'केवल जन्म हेतु पितु माता' "बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार" इत्यादिक अनेक पद्यों का स्वारसिक अर्थ उक्त मत में बाधा देता है। आपका यह भी कहना है कि 'परिताप पाप' शब्द मुहाविरे में एक साथ आते हैं और इनका एक ही अर्थ है—परन्तु ऐसा मुहाविरा न तो संस्कृत में ही देखने में आता है न हिन्दी में ही, अतः ग्राह्य नहीं हो सकता। आप इस पद (पाप) का दूसरा अन्वय 'जननी-जनक' के साथ भी करते हैं—तुलसीदासजी ने अपने माता-पिता को 'क्षुब्ध-चित्त हो कर' 'पाप' कहा है, क्योंकि उन्होंने उन्हें क्रूरतापूर्वक छोड़ दिया। इस पर हमारा निवेदन है कि जब गुसाईं जी का त्याग किया गया था उस समय उनमें माता-पिता के इस व्यवहार पर क्षुब्ध होने की योग्यताही नहीं थी और जब यह पद्य लिखा गया था तब क्षुब्ध होने के सब कारण दूर हो चुके थे। वे नितान्त शान्त स्वभाव हो चुके थे। इसके अतिरिक्त माता पर उनकी पूर्ण श्रद्धा-भक्ति थी—जिसका प्रमाण 'तुलसिदास हिय हित हुलसी' है, अतः माता के लिए उनका 'पाप' लिखना अत्यन्त असम्भव है।

हमारी सम्मति में उक्त पद्य का अन्वय समझने में भूल हुई है—उसी से ये सब उपद्रव उठ खड़े हुए हैं। वस्तुतः 'पाप' शब्द का सम्बन्ध न 'परिताप' के साथ है न 'जननी-जनक' के साथ। उसका सीधा सम्बन्ध 'सुनि' क्रिया के साथ है। छन्द के अनुरोध से 'पाप' शब्द 'परिताप' के पीछे पढ़ा गया है। यही व्यतिक्रम भ्रम का कारण हुआ है। पद्य के प्रथम चरण का अन्वय तीन वाक्यों में करना चाहिए, दो में नहीं। यथा—१ 'मंगन कुल जायो' 'बधावनो बजायो' 'पाप सुनि जननीजनक को परिताप भयो'। १ मङ्गन कुल में जन्म हुआ और २ माता-पिता आदि ने बधावना बजवाया—यहां तक ख़ैर रही—अब यथाक्रम घड़ी मुहूर्त पूछने की बारी आई और ज्योतिषी जी के मुखारविन्द या मुख-कुहर से 'पाप' का ऐलान सुन कर लोगों के कलेजे दहल गये। माता और पिता दोनों को अत्यन्त सन्ताप

(परितः—ताप) हुआ और इसके बाद 'मातु-पिता जग जाय तज्यो' या 'जननि जनक जनमि तज्यो' का नम्बर आया। यही ऐसा 'पाप' था जिसकी ख़बर ग्रहगोचर का फल सुनने के पहले न माता को थी न पिता को। 'पाप' शब्द का अर्थ ऐसे अवसर पर क्या होता है, यह बात संस्कृत-काव्यों के जाननेवालों से छिपी नहीं है। जिन्होंने संस्कृत के नाटकों में अनेक जगह "शान्तं पापम्" "प्रतिहतममङ्गलम्" पढ़ा है वे जानते हैं कि 'पाप' शब्द अनिष्ट और अमङ्गल का वाचक है। प्रकृत में भी दैवज्ञ (ज्योतिषीजी) ने अनिष्ट और अमङ्गलकारी (पितृघातक या सर्वस्वनाशक) दैव की सूचना दी थी—इस पद्य का उत्तरार्ध पढ़ने से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। सम्पूर्ण पद्य इस प्रकार है—

"जायो कुल मङ्गन बधावनो बजायो
सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को॥
बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन।
जानत हौं चार फल चारिहि चनक को॥
तुलसी सो साहब समर्थ को सुसेवकहि।
सुनत सिहाय सोच बिधिहूँ गनक को॥
नाम राम रावरो सयानो कि धौं बावरो।
जो करत गिरी ते गरू तृन ते तनक को"॥

यह बात सर्वसम्मत है कि गो० तुलसीदासजी परम भक्त थे—राम-नाम के अनन्य उपासक थे—इस पद्य में भी उन्हों ने राम-नाम की महिमा अनोखे ढङ्ग से दिखाई है—यहां पूर्वार्ध में गुसाईंजी ने अपनी प्रारब्धहीनता का विचित्र चित्र खूब खींचा है। तीसरे चरण में राम-नाम की महिमा से जो महत्त्व उन्हें प्राप्त हुआ था उसकी चर्चा की है। 'सो' = वही अति दीन—प्रारब्धहीन 'तुलसी' 'समर्थ' 'साहब' (स्वामी = राम) का 'सुसेवक' हुआ—इसे सुन कर सब तो 'सिहाने' = प्रसन्न हुए—परन्तु 'विधि' = ब्रह्माजी और 'गनक' = (गणक) ज्योतिषी को सोच हुआ—दैव और दैवज्ञ दोनों सोच में पड़ गये। क्यों? उत्तर स्पष्ट है। विधाता ने जिसे प्रारब्धहीन बनाया था और ज्योतिषी ने जिसके अमङ्गलमूर्तित्व का ऐलान किया था उसे मङ्गलमय होते देख कर उन दोनों को सोच होना स्वाभाविक है। परन्तु तुलसीदासजी अपने इस महत्त्व को राम-ना की महिमा का फल समझ कर बड़े ढङ्ग से चतुर्थ चरण में पूछते हैं कि हे 'राम' 'रावरो' = आपका 'नाम' 'सयानो' होशियार है या 'बावरो' बाउला है? आपही बताइए कि जो आप का नाम 'तृनते' = तिनके से भी 'तनक' = छोटे = तुलसी जैसे प्रारब्धहीन को 'करत गिरी ते गरू' अत्यन्त उच्च पद पर बिठाता है—जो दैव की लिखी ललाट-लिपि को भी मेटता है वह सयाना है या बावला? इस पद्य के तीसरे चरण से हमारे उक्त अर्थ की पुष्टि होती है। यदि 'परिताप पाप' के कारण गुसाईंजी छिपा कर छोड़े गये थे तो 'विधि' और 'गणक' को किस बात का सोच हुआ? गणक से तो मतलब ही क्या? हम नहीं समझते कि 'मिश्र' जी इससे अधिक 'स्पष्ट' गुसाईंजी से और क्या कहाना चाहते हैं।

यदि गुसाईंजी जारज होते तो 'माता को' किसी से कुछ सुन कर 'परिताप पाप' करने की ज़रूरत न होती = उन्हें अपनी करतूतों का हाल पहले से ही विदित होता और न उस दशा में पिता बधावा बजवाते, बल्कि गर्भ का ज्ञान होतेही—उन्हें गर्भिणी दशा में ही—तिलाञ्जलि दे देते। अपने अपयश का ढँढोरा न पीटते। एवं यदि अति दरिद्र होते तो भी बधावा बजवा कर परिताप न करते। जिस पद्य को मिश्र महाशय गुसाईंजी की निन्दनीयता का प्रमाण समझते हैं, वही विचार करने पर उनकी उज्ज्वलता का प्रबल प्रमाण ठहरता है। यह कहना कि मुहूर्तचिन्तामणि तुलसीदासजी का समकालिक ग्रन्थ है, कुछ अर्थ नहीं रखता। मु० चिं० म० कार ने जो कुछ लिखा है वह उनका कपोल-कल्पित नहीं है, प्रत्युत प्राचीन प्रामाणिक सिद्धान्तों का सङ्ग्रह है। अतः 'जातं शिशुं तत्र परित्यजेत्' यह बात उस समय अवश्य प्रचलित थी—अक्षर चाहें और रहे हों।

घर में रह कर यह नहीं हो सकता कि पिता मुँह न देखे अतः माता ने भी उनका परित्याग किया। परन्तु जिन वैरागी महात्मा के अर्पण इन्हें किया था उनके स्थान पर या अन्यत्र माता इनसे मिलती अवश्य रहीं और अत्यन्त हित करती रही थीं। उन्हीं से उन्हें अपने जन्म का सब हाल मालूम हुआ और उसी के आधार पर 'तुलसिदास हिय हित हुलसी' लिखा गया। पिता कभी नहीं मिले मालूम होते—संभव है ८ वर्ष के भीतर ही उनका

देहावसान हो गया हो। इसी से उनके हित की चर्चा नहीं दीखती। गुसाईंजी इस त्याग को कुरीति-जन्य नहीं समझते थे, बल्कि शास्त्र की आज्ञा का पालन—घोरतर पालन—समझते थे। अतएव उन्होंने अन्य कुरीतियों के साथ इसे 'फटकार' नहीं बताई।

तुलसीदासजी पाप-कर्म की सन्तान की तरह परित्यक्त नहीं हुए थे, बल्कि किसी महात्मा की सेवा में समर्पित हुए थे। उन्हीं ने उनका नाम 'रामबोला' रक्खा और उन्हीं के साथ वे देश-देशान्तरों में भिक्षा माँगते फिरे, जिससे उनका मनस्वी हृदय अनेक वार मर्म्माहत हुआ और उसी के उद्गार 'बारे ते ललात' इत्यादिक हैं।

गुसाईंजी के माता-पिता की आर्थिक दशा शोचनीय नहीं थी, जिसका प्रमाण 'बधावनो बजायो' है। दरिद्रता के वर्णन में उन्होंने सर्वत्र अपना ही ज़िक्र किया है। उनके पिता के अवश्य बाग़ आदि रहे होंगे परन्तु पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का कुछ अधिकार न देख कर लोगों ने उनके प्रारब्ध की निन्दा की होगी कि इसके प्रारब्ध में एक पेड़ (बिरवा या बरवा) तक नहीं। उसी की चर्चा उन्होंने 'लोक कहै विधिहू न लिख्यो सपनेहु नहीं अपने बरवा है' में की है। मिश्रजी ने 'बरवा' का अर्थ 'बाल' किया है। सो ठीक नहीं, क्या गुसाईंजी की देह में बाल भी नहीं थे?

मिश्रजी एक ओर तो 'मेरे जाति पांति न' के आधार पर यह कहते हैं कि 'तुलसीदासजी को अपनी जाति पांति गोत्र आदि का कुछ पता न था' और दूसरी ओर 'जायो कुल मङ्गन' से यह बताने की चेष्टा करते हैं कि 'वे मङ्गन कुल के थे—पाप कर्म की सन्तान थे–माता-पिता से जन्म ही से परित्यक्त थे' इत्यादि। यह परस्पर विरोध है।

आप कहते हैं कि "जब उन्होंने 'पेटागिवश' = भूख के कारण 'जाति के अजाति (चण्डाल) के कुजाति के' 'टूक' खाये थे, तो उनकी जाति पांति होही क्या सकती थी?" इस पर हमारा निवेदन है कि गुसाईंजी का वैरागी होना तो सर्व-सम्मत है और वैरागी साधु आज भी किसी के यहाँ की रोटी नहीं लेते। 'टूक' की तो बातही क्या। आटा आदि माँगना और बना के खाना उनका सम्प्रदाय-सिद्ध है, अतः उक्त 'टूक' का अर्थ 'रोटी के टुकड़े' नहीं हैं, जिससे उनके जाति भ्रष्ट होने की आशङ्का हो। "वे द्वार द्वार रोटी के टुकड़े माँगते फिरते थे" यह मिश्रजी का कथन निर्मूल है। जो किसी का अन्न खाकर पलता है उसे उसका नमक-ख्वार (यद्यपि वह केवल नमक ही नहीं खाता) या टुकड़े खानेवाला कहते हैं। इनमें अन्तिम प्रयोग निरादर सूचन करता है।

अब मिश्रजी का केवल एक प्रश्न और है। वह यह है कि—"यदि तुलसीदास ब्राह्मण होते तो 'मेरी जाति पाँति न' 'अपत उतार' 'सब अङ्गहीन' 'जाके छाँह छुए' इत्यादि पद अपने लिए क्यों लिखते?"

इस पर हमारा विनय है कि तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है वह काव्य है, इतिहास नहीं, अतः उसकी आलोचना भी साहित्य-दृष्टि से होनी चाहिए, ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं। मिश्र महाशय ने जो कुछ लिखा है वह ऐतिहासिक दृष्टि से विचार कर के लिखा है। यही कारण है कि आपका लेख भ्रामक और परस्पर विरुद्ध होगया है। साहित्य दृष्टि और ऐतिहासिक दृष्टि में बड़ा अन्तर है। एक दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध हैं। इतिहास में अभिधावृत्ति का बड़ा आदर है—स्पष्ट बात सब से अच्छी समझी जाती है। परन्तु काव्य में वर्णनीय बात को अभिधा से कहना दोष है। जिस अभिधा-वृत्ति के आधार पर आपने तुलसीदासजी को उन्हीं के शब्दों से 'पतित' 'अपावन' 'नीच' 'जाति-पाँति-हीन' सिद्ध किया है, यदि उसी ढङ्ग से विचार किया जाय तो कोई सुधारक या संशोधक महाशय कह सकते हैं कि तुलसीदासजी मनुष्य नहीं थे—'कूकर' थे! उन्होंने अपने लिए स्पष्ट ही कूकर लिखा है—'कूकर टूकनि लाग लगाई'। एवं उनके न हाथ थे न पांव। न कोई और अङ्ग, क्योंकि उन्होंने अपने लिए 'सब अङ्गहीन' लिखा है। और सूरदासजी? वे सूकर थे!! और उनके समय में उनसे बढ़ कर कोई दुष्ट न था। न कोई उनके समान कपटी और कामी था। प्रमाण? उन्हीं के वचन। "मो सम कौन कुटिल खल कामी"। अब रहे कालिदास। वे कौन थे? महामूर्ख!!! 'मन्दः कवियशःप्रार्थी'। इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि न तो तुलसीकृत रामायण तुलसीदासजी की बनाई हुई है और न सूरसागर सूरदासजी की रचना है। क्योंकि

'सब अङ्गहीन कूकर' और 'सूकर' में ग्रन्थ बनाने की योग्यता ही नहीं होती। कालिदासजी के ग्रन्थ भी किसी और के बनाये होंगे, क्योंकि वे स्वयं तो मूर्ख थे। यदि अभिधा-वृत्ति के आधार पर विचार किया गया तो साहित्य-संसार में इसी प्रकार का घोर विप्लव उपस्थित हो जायगा।

साहित्य का अच्छा ज्ञान हुए बिना काव्य की छोटी से छोटी बात की भी यथावत् विवेचना नहीं हो सकती—काव्यों में व्यञ्जनावृत्ति का साम्राज्य रहता है। जो भाव सब से प्रधान रखना होता है उसका नाम लेना तक बुरा समझा जाता है—उसे व्यञ्जना से ही अभिव्यक्त करना होता है। मिश्र महाशय ने जो पद्य उद्धृत किये हैं उन पर विचार करने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि उनमें कौनसा भाव प्रधान है और कौनसा उपकारक या उपस्कारक। इसके बिना कुछ कह बैठना अनधिकार-चेष्टा होगी। लेख लम्बा होगया है, अतः हम मिश्रजी के उद्धृत प्रधान पद्य के अर्थ का दिग्दर्शन कराके इसे समाप्त कर देंगे।

"अपत उतार अपकार को अगार जग जाके छांह छुए सहमत व्याध बाध को। पातक पुहुमि पालिबे को सहसानन सो कानन कपट को पयोधि अपराध को। तुलसी से वाम को भो दाहिनो दया-निधान सुनत सिहात सब सिद्धि साधु साधु को। रामनाम ललित ललाम कियो लाखन को बड़ो कूर कायर कपूत कौड़ी आध को।" ६ कवितावली—उत्तरकांड।

इस पद्य से कवि हृदयनिष्ठ रामनाम-विषयक+ रतिभाव (भक्ति) प्रधानतया अभिव्यक्त होता है। रामनाम का लोकोत्तर महत्त्व (वर्ण्यमान) उसका उपस्कारक है। 'दयानिधान' होना महत्त्व का उपकारक है और तुलसी से वाम (कुटिल) के ऊपर भी दाहिना (अनुकूल) होना दया की पराकाष्ठा का द्योतक है। 'वाम' और 'दाहिनो' शब्दों में विरोधाभास भी है। इस प्रकार, तुलसी की वामता जितनी ही अधिक होगी उतना ही राम या राम नाम का दाहिनापन—जो उनके महत्त्व और दया का द्योतक है—अधिक सिद्ध होगा। इसलिए उक्त पद्य के पूर्वार्ध में कवि ने उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति के द्वारा अपनी वामता का चित्र उतना ही गहरा खींचा है जितनी गहरी उनमें राम-नाम की भक्ति थी। 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रभवति, अपि तु प्रशस्यं प्रशंसितुम्' के अनुसार इस निन्दा का तुलसी की निन्दनीयता में तात्पर्य नहीं, बल्कि राम की महनीयता से तात्पर्य है। मतलब यह है कि इतने अधिक पातक भी (पातकी नहीं) जिसके 'दाहिने' होते ही काफूर हो जाते हैं और जो इतना दयानिधान है कि घोर तम पापियों पर भी दया करता है वही तुलसी पर कृपालु हुआ और उसने उसे सर्व-शिरोमणि—जगत्पूज्य बना दिया—बड़ो कूर कायर कपूत आध कौड़ी का आदमी लाखों का ललित ललाम बन गया। ऐसे लोकोत्तर महिमशाली दयानिधान की दया का वर्णन कौन कर सकता है? उसकी शरण छोड़ कर कौन बुद्धिमान् इधर उधर भटकेगा? इत्यादि।

यदि अभिधावृत्ति से इसके पूर्वार्ध का अर्थ किया जायगा तो उदाहरण मिलना असम्भव हो जायगा—मनुष्य तो क्या, किसी राक्षस में भी इतने दोष इकट्ठे न मिल सकेंगे। फिर तुलसीदासजी से साधु में इन्हें ढूँढ़ना कहाँ तक बुद्धिमानी है? तीन प्रकार के कवियों में से गोस्वामी तुलसीदासजी परम भागवत थे—उनकी अनुपम भक्ति उनके प्रत्येक पद्य से प्रकट होती है। नवधा भक्ति का जहाँ वर्णन है वहाँ दैन्य और आत्म-समर्पण को भक्ति का अङ्ग कहा है। भक्ति के बल से—भावना की अविरत धारा के प्रभाव से—प्रत्यक्षायमाण भगवान् के आगे अपनी दीनता प्रकट करना और फिर दीनतावश अशरण आत्मा (अपने) को दीन-बन्धु भगवान् के चरणों की शरण में समर्पण कर देना भक्ति के उत्कृष्टतम अङ्ग हैं। दैन्य या दीनता अन्तःकरण की उस दशा का नाम है जो दुःख, दारिद्र्य या अपराध आदि के वशीभूत, निरुपाय प्राणी को होती है—जिसके कारण मनुष्य अपनी दीनता निकृष्टता आदि का कथन करने लगता है। "दुःखदारिद्र्यपराधादि जनितः स्वापकर्ष-भाषणादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यम्" रसगङ्गाधरः।

कोई भक्तजन भक्तवत्सल भगवान् के ध्यान में निमग्न बैठा है—भावना के बल से उसने अपने आराध्य देव का साक्षात्कार किया, उन्हें अपने सामने खड़े देखा। देखते ही

भक्त के गात्र पुलकित हो उठे। देह में रोमाञ्च होने लगा। कण्ठ गद्गद हो गया और नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगी; इस प्रेम-विह्वलता की दशा में भक्त भगवान् से कहता है कि भगवन्, कहां मुझ जैसा पतित अपावन नीच व्यक्ति और कहां आप के दर्शन! हे करुणा-मय, यह आप की करुणा की ही महिमा है जो इस अकिञ्चन दीन पर दीनबन्धु ने दया की दृष्टि की है। भगवन्, मैं दीन हूँ, पतित हूँ, अशरण हूँ। मुझे कहीं ठिकाना नहीं। हे पतित-पावन, हे दीनानाथ, हे अशरण-शरण, मेरी ओर दयादृष्टि कीजिए—मुझे अपनाइए—संसार-सागर से मेरा निस्तार कीजिए। "मो सम कौन कुटिल खल कामी............सूर पतित कौ ठौर कहूँ नहिं गहियै श्रीपति स्वामी"। इस प्रकार की 'प्रेम-लपेटी अट-पटी' वाणी से उस भक्त को पतित, नीच, दीन, पापी आदि सिद्ध करने की चेष्टा करना अवश्य ही—दुःसाहस है, धृष्टता है। उस पवित्र दशा से ऐसे अपवित्र परिणाम निकालना अनुचित है। मिश्र महाशय से प्रार्थना है कि वे इस काव्य की आलोचना काव्यदृष्टि से ही करेंगे।

साहित्याचार्य्य, शालग्राम शास्त्री।

उद्बोधन

हे राजहंस, यह कौन चाल?
तू पिञ्जरबद्ध चला होने, बनने अपना ही आप काल!
यह है कञ्चन का बना हुआ
तू इससे मोहित मना हुआ
कनकाब्ज-प्रसवि मानस भी है, उसको विस्मृत मत कर मराल,
यदि तू इसमें बँध गया कहीं
तव दुःखों का कुछ अन्त नहीं
मत पड़ इस मृग-मरीचिका में, अब चेत, तोड़ दे जटिल जाल
उन कमलों पर हो मोहित तू
ले उनकी सुरभि अपरिमित तू
उनके मरन्दमधु से छक के अपने कुल का व्रत नित्य पाल

कृष्णदास

सम्राट् समुद्रगुप्त।

इतिहास के विज्ञ पाठकों से सम्पूर्ण यूरप को कँपा देनेवाला अठारहवीं शताब्दी का आन्दोलन छिपा नहीं। हमारा तो यह ख़याल है कि जब तक सभ्य संसार का इतिहास जीवित रहेगा तब तक नपोलियन और फ्रांस के घोर विप्लव का स्मरण भी बना रहेगा। हमारे देश भारतवर्ष में भी एक नपोलियन हो गया है। वह उस नपोलियन से भी बढ़ कर था। उसका जन्म यदि आधुनिक काल में हुआ होता तो उसकी कीर्ति भी जगद्विख्यात होजाती। परन्तु शताब्दियों के कुचक्र के कारण हम उसके इतिहास से पूर्णतया अभिज्ञ नहीं। हमारा यह भारतीय नपोलियन गुप्त-वंश का मुकुटमणि समुद्रगुप्त था।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का पता लगाना कठिन हो रहा है, क्योंकि अभाग्यवश प्राचीन ऐति-हासिक ग्रन्थ नहीं मिलते। हाँ, अपनी धर्म्म-पुस्तकों, विदेशियों के यात्रा-वृत्तान्तों, सिक्कों और शिलालेखों के आधार पर हम अँधेरे में टटोल टटोल कर अपने पूर्व गौरव का कुछ कुछ पता लगा सकते हैं। तीसरी शताब्दी में, भारतवर्ष से कुशानवंश के लोप हो जाने पर, इतिहास और भी अँधेरे में छिप जाता है। उस समय के कोई चिन्ह प्राप्त नहीं। चतुर्थ शताब्दी में जब गुप्त वंशवालों का साम्राज्य स्थापित होता है तब क्रमशः हम लोगों को कुछ कुछ ऐति-हासिक उजेला देख पड़ता है।

गुप्तवंश की स्थापना करनेवाला चन्द्रगुप्त प्रथम हुआ (चन्द्रगुप्त मौर्य्य नहीं)। उसने लगभग ३०८ ईसवी में लिच्छवि-वंश की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया। राजनैतिक दृष्टि से यह विवाह बड़े महत्त्व का समझा जाता है, क्योंकि लिच्छवि-वंश उस समय बहुत प्रतिष्ठित था। अतएव इस सम्बन्ध के कारण गुप्तवंश की समृद्धि बढ़ी। जो

चन्द्रगुप्त पहले पाटलिपुत्र के इर्द गिर्द कुछ ही चकलों पर राज्य करता था वही महाराजाधिराज की पदवी को पहुँच गया। उत्तर भारत में विहार, तिरहुत अवध और निकटवर्ती कुछ अन्यान्य राज्य भी चन्द्रगुप्त को दहेज़ में मिले। चन्द्रगुप्त के सिक्कों पर उसका और उसकी धर्म्मपत्नी कुमारदेवी का चित्र पाया जाता है। चन्द्रगुप्त का देहान्त ३२६ ईसवी में हुआ। उसका पुत्र युवराज समुद्रगुप्त, उसका उत्तराधिकारी हुआ।

मातृपक्ष और पितृपक्ष दोनों ही ओर से उच्च वंश में जन्म ग्रहण करने का प्रभाव समुद्रगुप्त पर पूरा पूरा पड़ा। सिंहासनारूढ़ होने के कुछ ही समय के उपरान्त वह इतना शक्तिशाली हो गया कि समस्त भारतवर्ष में उसकी कीर्त्ति-ध्वजा फहराने लगी। वह अपनी सुशिक्षित सेना ले कर देश-विजय के लिए निकला। विश्वव्यापी साम्राज्य प्राप्त करने की इच्छा आज कल की राजनीति में जैसी दूषित समझी जाती है वैसी उस समय न समझी जाती थी। यदि समझी जाती तो अकारण ही दूसरों के राज्य पर हस्ताक्षेप करनेवाले नपोलियन, सिकन्दर, सीज़र और हनीबाल आदि के कार्य्य इतिहास में घृणित शब्दों में लिखे जाते। अस्तु। पहले ही कहा गया है कि चन्द्रगुप्त के समय में प्रायः सारा उत्तरीय भारत गुप्तों के अधिकार में चला गया था। समुद्रगुप्त ने गङ्गापति नाग आदि नव वीर राजाओं को परास्त करके गुप्तराज्य की सीमा पद्मावती नगरी तक बढ़ा दी। इसके उपरान्त उसने दक्षिण प्रदेशों की ओर हाथ बढ़ाया। दक्षिणापथ जीतने में कैसी कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है इसके कई उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। पठानवंश के बादशाह अलाउद्दीन और मुग़लों के औरंगज़ेब भी इन कठिनाइयों के कारण दक्षिण जीतने में पूर्णतः फलीभूत न हो सके। परन्तु समुद्रगुप्त की वीरता ने दुस्साध्य कार्य्य को सिद्ध कर लिया। उसके अनुपम साहस, अजस्र उद्योग, उत्तम साधन तथा सङ्गठन की बल-शक्ति के सामने ये कठिनाइयाँ कब तक ठहर सकती थीं? छोटा नागपुर से होते हुए उसने महानदी के तट पर दक्षिण कोशल के राजा महेन्द्र को हराया। पश्चात् उड़ीसा और मध्यप्रदेश पर विजय प्राप्त कर के कलिङ्ग की प्राचीन राजधानी पिष्टपुर पर आक्रमण किया। कई दिनों तक लगातार युद्ध और उद्योग के बाद पिष्टपुर का क़िला टूटा। इसके उपरान्त क्रमशः महेन्द्रगिरि, कोट्टूर, कोलेर, तथा गोदावरी और कृष्णा नदी के प्रदेशों पर उसने जयलाभ किया। काञ्ची के पल्लव राजा विष्णु गोत्र और नेलोर-प्रदेश के पालक राजा उग्रसेन ने बड़ी बड़ी सेनायें लेकर उसका सामना किया। परन्तु उसके सुशिक्षित वीरों के सम्मुख उन लोगों ने भी गुप्त साम्राज्य का आधिपत्य स्वीकार कर लेने ही में अपनी कुशल समझी।

इस प्रकार समस्त दक्षिणापथ को जीतने के बाद, लौटती समय, देवराष्ट्र (महाराष्ट्र) और खानदेश को विजय करते हुए, उसने दस वर्ष की विजय-यात्रा समाप्त की। लगभग ३४० ईसवी में अतुलित सम्पत्ति लेकर वह अपनी राजधानी पाटलिपुत्र को लौट आया।

इस विजय-यात्रा में समुद्रगुप्त ने शत्रुओं के साथ सदा सद्व्यवहार किया। जीते हुए राज्य उन्हें उसने लौटा दिये, केवल गुप्त साम्राज्य का आधिपत्य उनसे स्वीकार करा लिया। उन राज्यों की राजनैतिक संस्थाओं में कुछ भी हेरफेर उसने नहीं किया। किसी को उसने न तो क़ैद किया, न दास बनाया। कर, किसी से बलवत् नहीं लिया; राजा लोग स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक उसे उपहार देते रहे।

सम्राट् समुद्रगुप्त का साम्राज्य समूचे भारतवर्ष में फैल गया। कामरूप (आसाम) से लेकर पञ्जाब, और नेपाल की तराई से लेकर मदरास

तक उसी का डङ्का बजता रहा। परन्तु इतने बड़े साम्राज्य का शासन, विशेषतः उत्तरी और दक्षिणी भारत का—बड़ा कठिन था। इसलिए गुप्त साम्राज्य की यथार्थ सीमा हुगली से यमुना और चम्बल तक तथा हिमालय से लेकर नर्म्मदा नदी तक ही कही जा सकती है। समुद्रगुप्त उस इतने बड़े राज्य का प्रबन्ध स्वयं करता था। अन्यान्य राज्य—जैसे पञ्जाब, पूर्वी राजपूताना, मालवा, आसाम की तराई, आदि—प्रजातन्त्र प्रणाली से शासित होते थे। वे समुद्रगुप्त को केवल सम्राट् की दृष्टि से देखते थे। विजय के उपरान्त वे पूर्ववत् स्वतन्त्र कर दिये गये थे। मुख्य राजधानी तो पाटलिपुत्र ही थी; पर इतने विस्तृत राज्य के सुभीते के लिए कौशाम्बी और अयोध्या ये दो राजधानियाँ और भी थीं। अशोक के अतिरिक्त इससे पूर्व और कभी इतना बड़ा साम्राज्य भारत में नहीं स्थापित हुआ। काबुल, कन्धार और सिंहल के राजा भी समुद्रगुप्त से मित्रता का सम्बन्ध रखते थे।

राज्य विस्तृत होने पर भी प्रबन्ध बड़ी उत्तम रीति से होता था। आज कल हम लोग नगर और ग्राम के सुप्रबन्ध के लिए म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की शरण लेते हैं। परन्तु समुद्रगुप्त के समय में बड़े बड़े नगरों का प्रबन्ध कुछ प्रतिष्ठित नागरिक ही मिल कर कर लिया करते थे। सड़कें स्वच्छ और समतल थीं। यात्रियों को मार्ग में किसी भी प्रकार की आपत्तियों का भय न था। फ़ाहियान, जो समुद्रगुप्त के शासन के कुछ ही काल उपरान्त भारत में आया था, कहता है— सम्पूर्ण भारतवर्ष की यात्रा में मुझे कभी किसी विपद् का सामना नहीं करना पड़ा। आगे चल कर वही उक्त यात्री कहता है—रोगियों को सरकारी औषधालयों से बिना मूल्य दवा वितरण की जाती है। न्याय के लिए मुख्य मुख्य स्थानों में विचारालय बने हुए हैं—इत्यादि। तात्पर्य्य यह कि यद्यपि फ़ाहियान ने कुछ समय बाद की बातों का वर्णन किया है तथापि उन बातों की नीव समुद्रगुप्त के समय ही में डाली गई थी।

उस समय भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म का ह्रास हो रहा था और उसकी जगह ब्राह्मण धर्म्म फिर क्रमशः अपना सिर ऊँचा उठा रहा था। गुप्तवंश के राजा लोग हिन्दूधर्म्म के अनुयायी थे। समुद्रगुप्त ने अपनी विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। ब्राह्मणों को उसने अतुल धन और स्वर्ण-मुद्रायें दान में दी थीं। यज्ञ के अश्व से चिह्नित उस समय की कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। उत्तरीय अवध में पत्थर का एक अश्व-स्तम्भ पाया गया है, जिस पर संस्कृत में एक लेख खुदा है। यह स्तम्भ लखनऊ के अजायब घर में रक्खा है।

यद्यपि समुद्रगुप्त के राज्य में हिन्दूधर्म्म वृद्धि पर था, फिर भी धर्म्म-कर्म्म में लोग पूर्ण स्वतन्त्र थे। उसके समय में कोई बौद्ध सताया न जाता था। लङ्का के बौद्ध-यात्री प्रायः भारत आया करते थे। एक बार वहाँ के राजा मेघवर्ण ने अपने भाई को, एक सहचर के साथ, अशोक के निर्माण किये हुए बोधिवृक्ष के पूर्व स्थित विहार और रत्नसिंहासन के दर्शनार्थ भेजा था। उन लोगों को भारत में ठहरने के लिए कोई सुभीते का स्थान नहीं मिला। इस बात की शिकायत उन लोगों ने अपने राजा से की। मेघवर्ण ने शीघ्र ही बहुत से बहुमूल्य रत्नोपहारों के साथ समुद्रगुप्त के यहाँ अपना दूत भेजा। समुद्रगुप्त ने खुशी से उन्हें विहार बनाने की आज्ञा दे दी। बोधिवृक्ष के निकट एक तिमञ्ज़िला आलीशान मठ बनाया गया। उसमें ६ बड़े बड़े कमरे थे और तीन बड़े बड़े स्तूप। चारों ओर चालीस फुट ऊँची पत्थर की मज़बूत दीवारें थीं, महात्मा बुद्ध की मूर्त्ति रत्नों और बहुमूल्य हीरों से जटित थी। उस समय भारत के लोग शिल्पकला में कितने दक्ष थे, यह विहार इस बात का पक्का प्रमाण है। ह्वेन्सांग जब हिन्दुस्तान में आया था तब महायान सम्प्रदाय के

स्थाविर विभाग के १००० संन्यासी इस मठ में निवास करते थे। पर आज कल मिट्टी के पुश्तों के सिवा उसका और कोई चिह्न शेष नहीं।

ऊपर कही गई बातों से समुद्रगुप्त की शक्ति और पराक्रम का अनुमान अच्छी तरह किया जा सकता है। हमारे अभाग्य से इस सम्राट् का पूरा पूरा वृत्तान्त नहीं मिलता। पर जितना मिलता है उसी से हम इस भारतीय नपोलियन की वीरता और राज-कार्य-पटुता का अन्दाज़ा कर सकते हैं। यह अद्वितीय वीर और महाशक्तिशाली तो था ही, साथ ही बड़ा गुणज्ञ और पण्डित भी था। इसके राजत्व-काल में संस्कृत-साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। यह पण्डितों और कवियों का यथोचित सम्मान करता और ग्रन्थ-रचयिताओं को अच्छा पुरस्कार देता था। यह स्वयं अच्छी कविता करता था। उस समय इसके दरबार में हरिसेन नामक एक महाकवि था। उसने अपने राजा के गुण-गान में एक बड़े अच्छे काव्य की रचना की है। प्रोफ़ेसर बूलर का कथन है कि भारतवर्ष के बचे बचाये ऐतिहासिक ग्रन्थों में हम हरिसेन-निर्म्मित इस काव्य को भी रख सकते हैं। क्योंकि यह ग्रन्थ काव्य और इतिहास दोनों दृष्टियों से माननीय है। सम्राट गानविद्या में भी निपुण था। कई सिक्कों पर हम उसे वीणा लिये हुए बैठा पाते हैं। उसकी वीरता की प्रशंसा, इलाहाबाद के क़िले में स्थित लाट पर खुदी हुई अब भी विद्यमान है।

नपोलियन की तरह समुद्रगुप्त ने भारतवर्ष में कुछ भी उथल पुथल नहीं की। वह शान्तिपूर्वक इतने बड़े साम्राज्य का वर्षों अधीश्वर रहा।

दिनेशप्रसाद वर्म्मा।
नन्दकुमारसिंह।

कहानी-लेखक।

प्रयाग-विश्व-विद्यालय के अंडर-ग्रेजुएट के लिए डाक्टरी या वकालत के सदृश समय और धन-सापेक्ष व्यवसायों के सिवा नौकरी में नायब तहसीलदारी या सबरजिस्ट्रारी के पद ही अधिक आकर्षण रखते हैं; पर उनकी प्राप्ति के लिए विद्या से बढ़ कर सिफ़ारिश की ज़रूरत है। पिता के मित्र सूबेदार नन्हेंसिंह से जब मैं मिला तब उन्होंने दुःख प्रकाश करते हुए कहा कि इसी वर्ष वे अपने भतीजे की सिफ़ारिश कर चुके हैं और परिमाण से अधिक सिफ़ारिश करके वे अपने हाकिम का दिमाग़, अधिक भोजन से मेदे की तरह, बिगाड़ना नहीं चाहते। उनकी युक्ति-युक्त बात सुन कर मैंने कहा :—ठीक।

ख़ाली समय में उपन्यास पढ़ने का चसका कालेज में ही पड़ चुका था; उन्हीं दिनों अमेरिका के एक पत्र में, जो चुभते हुए उपन्यास लिखने में अपना जवाब नहीं रखता था, पढ़ा—कहानी लिखनेवालों का व्यवसाय आज कल खब चमक रहा है। जिसकी जैसी योग्यता होती है वह इस पेशे से उतना ही पैदा कर लेता है। योरप में कहानी-लेखक लाखों रुपया पैदा कर रहे हैं, और तरह के व्यवसायों में अनेक झंझट हैं। उनमें धन की आवश्यकता, उपकरण की आवश्यकता, मुनीबों और नौकरों की आवश्यकता और सब से बढ़ कर मौक़े की जगह की आवश्यकता होती है; पर कहानी लिखनेवाले को मुलायम पेन्सिल और व्यवसाय चमक जाने पर स्वयं प्रवृत्त स्थान की लेखनी (Swan's fountain pen) और काग़ज़ के सिवा और किसी बाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं है। उसी लेख में, आगे चल कर, लिखा था कि फ़्रान्स के एक लेखक के पास आठ दस क्वारी लड़कियाँ क्यों, युवतियाँ, नौकर हैं।

वे अपने अपने समय पर आती हैं और कहानी लिखनेवालों का वह आचार्य्य उनमें से हर एक को एक एक कहानी लिखवा देता है। इस तरह आठ दस कहानियाँ लिख कर वह आठ दस 'कहानी कहनेवाले' पत्रों के पेट भरने के साथ ही साथ अपनी जेब भरता है।

उस पत्र में यह सब कुछ पढ़ कर मैं सोचने लगा कि अब तक मैंने क्यों इस ओर ध्यान नहीं दिया। उस समय मेरा मन अनेक तरह के विचारों के सागर में गोते खाने लगा।

अवकाश के समय में पढ़े उपन्यासों की मनोहर छटायें अपनी अपनी भाषा में 'तथास्तु' कहने लगीं। मैंने सोचा—घर बैठे का ऐसा अच्छा रोज़गार कि जिस में मूल-धन की कुछ भी ज़रूरत नहीं, मुझे तत्काल शुरू कर देना चाहिए। विक्टर ह्यूगो और रवीन्द्रनाथ का नाम स्मरण करके मैंने अपना इरादा पक्का कर लिया।

उसी लेख में एक पुस्तक का उल्लेख था, जिसे फ़्रान्स के उसी कहानी-लेखक ने कहानी-लेखन-कला पर लिखा था। मैंने उसे मँगाया। उसे पाकर मैंने समझा कि अब मैदान मार लिया। धर्म्मपुस्तक की तरह मैं उसका अध्ययन करने लगा। उसमें लिखा था कि कहानी लिखने का काम जितना मुश्किल है उतना ही आसान है। इस मुश्किल को उस चतुर लेखक ने इस तरह आसान किया था—हर आदमी समाज में सब से मिलता है। सुख-दुःख के अवसरों पर सम्मिलित होता है। संसार के उतार-चढ़ाव देखता है पर समझता कम है और सच यह है कि समझने की कोशिश नहीं करता है। कहानी लिखनेवाले को सब से मिलना तो पड़ेगा ही ; पर साथ ही साथ समझना भी पड़ेगा। उसे अपने आँख कान के साथ दिल का दफ़्तर खोल कर चलना पड़ेगा। रास्ते में जहाँ जो मिलेगा उसे उठा कर ठीक जगह जमा करना पड़ेगा। दृष्टान्त के तौर पर उसमें लिखा था—एक कहानी-लेखक ट्राम-गाड़ी में जा रहे थे। उन्हीं के पास एक महिला बैठी हुई कोई चिट्ठी पढ़ रही थी। चिट्ठी पढ़ने के भाव और चिट्ठी की लिखावट को देख कर उस दिव्य ज्ञानी कहानी-लेखक को मालूम हुआ कि इस जगह कहानी लिखने का कुछ मसाला मिल सकता है। झट उसने उस महिला से परिचय प्राप्त करके उस पर प्रकट कर दिया कि वह एक प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास-लेखक है। जटिल बातों में लोग उससे प्रायः परामर्श लेते हैं। महिला ने उसे घर बुलाया और पति की क्रूरता का वृत्तान्त सुना कर उससे परामर्श की भिक्षा माँगी। कहानी-लेखक ने परामर्श दिया और बहुत सी उपहार-सामग्री के साथ वह एक बढ़िया कहानी का प्लाट घर ले आया।

इसी पुस्तक में एक जगह लिखा था कि कहानी-लेखक को एकान्त स्थानों में प्रायः घूमना चाहिए। ऐसे स्थानों में घूमने से, जहाँ कल्पना-शक्ति पर धार चढ़ती है कभी कभी घटना के बीज भी, अनायास, मिल जाते हैं। इसके दृष्टान्त में पुस्तक-लेखक ने लिखा था कि अमेरिका का एक कहानी-लेखक किसी नदी के एकान्त तट पर घूम रहा था कि उसे दो प्रेमियों के पत्रव्यवहार का एक पुलिन्दा मिल गया। उसकी सहायता से उसने एक नहीं अनेक कहानियाँ लिख डालीं।

उस पुस्तक में यह भी लिखा था कि संसार में घटनाओं की कमी नहीं। दैनिक पत्र घटनाओं के बोझ को सिर पर रख कर, प्रातःकाल ही, हर आदमी के स्थान पर थोड़े से ख़र्च में, पहुँच जाते हैं। चरित्रों की कमी नहीं; हर घर में, हर समाज में, अच्छे बुरे, ऊँचे नीचे और मिश्रित आचरणवाले मनुष्य मौजूद हैं। वर्णनीय विषयों का भी अकाल नहीं। सब चीज़ें यथेष्ट परिमाण में मौजूद हैं। बस लेखक की प्रतिभा उन सामयिक घटनाओं और

सामने चलते फिरते चरित्रों को मथ कर चमत्कार रूप मक्खन निकाल लेती है।

मैंने सोचा—घटनाओं के काल्पनिक डेरीफ़ार्म का चमत्काररूप मक्खन ख़ूब ऊँचे दर पर बेचूँगा। उस समय घर की ग़रीबी को काफ़ूर होते बहुत देर न लगेगी।

उसी दिन से मैंने आँख-कान खोल कर घूमना शुरू कर दिया। घर बाहर, बाज़ार, हाट, नदी-तट और रेलवे प्लेट-फ़ार्म पर मैं प्रायः इसी उद्देश से घूमा करता था। कभी गाँव की कच्ची सड़क पर और कभी स्मशान में भी मैं चक्कर लगाया करता था। इन स्थानों पर घूमते समय मार्के की कोई बात दिखाई पड़ती तो मैं उसे अपनी नोटबुक में टाँक लेता था। कहीं अधिक मोटा आदमी मिल गया तो उसका शाब्दिक फोटो खींच लिया। कहीं कोई झगड़ा हो गया तो उसकी प्रश्नोत्तरी लिख ली। किसी ने फबता हुआ कोई फ़िक़रा कह दिया कि मैंने उड़ा लिया।

महीने बीत गये; पर मानव-कुल के निरीक्षण का मेरा काम वैसा ही चलता रहा। एक दिन बूढ़ी माता ने हाथ का खड़ुआ मेरे सामने रख कर कहा—"बेटा बाज़ार से इसे बेच लो। घर में अन्न नहीं है।"

माता का चेहरा ज़रा भी उदासीन न था। उसने कई बार मुझसे नौकरी करने के लिए कहा था; किन्तु मैंने उसे समझा दिया था कि मैं एक ऐसे ही काम के लिए तैयारी कर रहा हूँ। उस दिन से माता शान्ति से घर की चीज़ें बेच कर मुझे खिलाती रही। कभी मेरे काम में विघ्न न डाला। मेरी व्यस्तता को देख कर वह बहुत प्रसन्न मालूम होती थी।

मैं प्रातःकाल होते ही घर से निकल जाता था। १० बजे लौटता था। भोजनोपरान्त संसार के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखकों के अँगरेज़ी अनुवाद पढ़ता था। फिर शाम को 'उपादान-सङ्ग्रह' के लिए बाहर निकलता था। रात को घर लौट कर दिन में जो कुछ देखता या सुनता था अपनी कापी में लिख लेता था। उस दिन माता के धैर्य्य पर मैंने एक छोटा सा निबन्ध लिखा। पुस्तक-लेखक ने लिखा था कि कहानी-लेखक को पहले निबन्ध लिखने का अभ्यास करना चाहिए। जो किसी घटना का जैसे का तैसा हाल और किसी विषय पर युक्ति-युक्त निबन्ध लिख सकता है वह समय पाकर अच्छा कहानी-लेखक हो सकता है।

मेरे मकान के पास एक डाकृर रहते थे। वे पुराने हो गये थे इसलिए अपनी ज़ंगलगी विद्या की छुरी को ग़रीबों की गर्दन पर तेज़ किया करते थे। उन्होंने मुझसे एक दिन पूछा—"विश्वबाबू, देखता हूँ, अब तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। रोज़ घूमने से तुम्हारा शरीर ख़ूब पुष्ट हो गया है।" फिर वे बड़ी निराशाभरी दृष्टि से मुझे देखने लगे, मानों अजीर्ण रोगी मैं—इतना सस्ता उनके हाथ से निकल गया। मैं यदि कहानी लिखने की तैयारी न करता होता तो उस बूढ़े डाकृर की कोटरलीन आँखों को छेद कर उसके दिल तक की ख़बर न लाता। उसका धन्यवाद करके मैंने मन में कहा—ठहर जा, आज तेरे ही ऊपर अपने खाते में एक नोट जड़ूँगा, यदि कभी सुन लेगा तो सिर पीट डालेगा।

दूसरे दिन कहारी ने अपना महीना माँगा। मैं घर में था, इसलिए माता ने धीरे से उसे कल लेने के लिए कहा था। वह न मानी, चिल्लाने लगी। मैंने मन में कहा कि यदि यह मूर्खा कहारी मेरे वास्तविक रूप को पहचानती होती तो इस तरह झगड़ा न करती। अच्छा, आज इसकी कर्कशता का ही चित्र खींचूँगा। झगड़ ले और ख़ूब झगड़ ले। मैं भी तेरा श्राद्ध करने में कुछ कसर न छोड़ूँगा। वह बक बक करती हुई चली गई। माँ को उस झगड़े से बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने धीरे से कहा—बेटा, अब कब तक तू कमाने लगेगा?

माँ की बात से मेरी निद्रा टूट गई। मैंने सोचा, इस तरह काम नहीं चलेगा। जो कुछ लिख लिया है अब उसे बाज़ार में रखना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि यह सम्पत्ति अमूल्य है—"पर ख़रीदार की, देखें तो, नज़र कितनी है।"

दूसरे दिन शहर के दो एक सम्पादकों से मैं मिला। मैंने उनसे अपनी रुचि का प्रकाशन किया। वे सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि आज कल साहित्याभिरुचि का पैदा होना बहुत ही कठिन है। आप की प्रशंसा करते हैं कि ऐसे समय में आप साहित्य की भी वृद्धि करने के लिए अपने समय का इतना अच्छा उपयोग कर रहे हैं। फिर मैंने अपनी पुस्तक में से कुछ सुनाया। उसको सुन कर वे बड़े सहज भाव से मेरी चरित्र-विश्लेषण-शक्ति की प्रशंसा करने लगे। अन्त में मैंने जब पुरस्कार का विषय उठाया तब तो उनके मुँह बेतरह बिगड़ गये। धूप खाये आम की तरह वे पिलपिला गये और कहने लगे—"महाशय, हिन्दी में पुरस्कार का नाम न लीजिए। 'नेकी कर कुँवे में डाल' की बात है।" मैंने कहा—"तो साहित्य-सेवा से मैं पेट नहीं भर सकता।" उन्होंने कहा—"हाँ, अभी कुछ दिन नहीं। हमें ही देखिए, क्या मिलता है। किसी तरह पत्र चला रहे हैं।"

मैं वहाँ से चला आया। घर आ कर फिर उस पुस्तक को पढ़ने लगा। उसमें लिखा था कि नये कहानी-लेखकों को ऐसे पत्र-सम्पादकों से बचना चाहिए जो पत्र के मालिक भी हों। वे कैसा ही सड़ियल लेख हो छाप देते हैं, यदि मुफ़्त मिलता है। दाम देकर लेख लिखाने की हिम्मत उनमें कम होती है। ये लोग अपना मतलब सिद्ध करने के लिए लेखक को दबाये रहते हैं। उसकी श्रेष्ठ रचना को भी साधारण बताते रहते हैं। कहीं असाधारण कहते ही लेखक के पङ्ख न निकल आवें।

मैंने कहा—ठीक। फिर मैं दूने उत्साह से काम करने लगा। मैंने कहा—माल तैयार होने पर ग्राहक जुट ही जायँगे। उस दिन मैं एक तालाब के पास बैठा हुआ शरत् काल के लुभावने सायङ्काल पर एक निबन्ध लिखने का अभ्यास कर रहा था। पास ही एक गोरा जलमुर्ग़ाबियों का शिकार खेल रहा था। वैसे स्निग्ध और शान्त समय में उसका वह ताण्डव-नृत्य मुझे बहुत ही बुरा मालूम होता था।

उसने एक मुर्ग़ाबी पर गोली चलाई। मुर्ग़ाबी लोट गई। वह उसे लेने के लिए तालाब में बढ़ा कि एक साथ गड़प! निस्सन्देह वह डूब रहा था। उसने मुझे पुकारा। मैं तत्काल दौड़ कर उसके पास पहुँचा। मेरी धोती के छोर को पकड़ कर वह बाहर निकल आया। उसने मेरा धन्यवाद किया और कहा—बाबू तुम कुछ चाहता है? मैंने कहा—साहब, प्रकृति के ऐसे मधुर समय में आप हिंसावृत्ति को चरितार्थ न कर के यदि प्रकृति का निरीक्षण किया करें तो अच्छा है। बस मैं आपसे यही चाहता हूँ और कुछ नहीं। सूर्य्यास्त की छटा को देखिए, तालाब के विजन दृश्य को देखिए, दूर तक फैले हुए मैदान को देखिए। इस समय ऐसा मालूम होता है कि मानों प्रकृति सब ओर से मन हटा कर अपना सौन्दर्य्य-साधन कर रही है और आप उसके हलके आभूषणों पर गोली चला कर उसका बना बनाया काम बिगाड़ रहे हैं। साहब ने समझा था मैं उससे कुछ रुपया या कोई नौकरी माँगूँगा। इस लिए मेरी बातें, और निश्चय ही, निबन्ध में पहले ही लिखी जा चुकी बातें, सुन कर वह चकित हो गया। उसने मुसकराते हुए कहा—बाबू, मालूम होता है, तुम कवि हो। मैंने कहा—हाँ साहब, एक तरह का।

उसने कहा—किस तरह का?

मैंने कहा—गद्य-कवि। बात यह है कि मैं कहानी-लेखक बनने की धुन में हूँ। उसमें गद्य-कविता करनी होती है—साहब।

मेरी बात सुन कर उसे बड़ा आश्चर्य्य हुआ। उसने कहा—कहानी-लेखक बनने की धुन कैसी?

मैंने उसे अपना सब वृत्तान्त सुनाया। साहब खूब सहृदय था। बहुत से उपन्यासों को चाटे बैठा था। उस पुस्तक की बात सुन कर वह हो! हो! करके हँसने लगा। उसने कहा—बाबू, उस पुस्तक में लिखी बातों पर चल कर तुम कहानी-लेखक बनना चाहते हो। ईश्वर के लिए इस ख़ब्त को छोड़ दो। क्यों अपना समय नष्ट करते हो। वह भी तो एक तरह का उपन्यास है।

मैंने कहा—नहीं महाशय, वह उपन्यास नहीं है। वह तो उपन्यास लिखने की कला पर एक प्रकरण ग्रन्थ है।

उसने हँस दिया। फिर अपनी जेब से नाम का कार्ड निकाल कर मुझे देते हुए उसने कहा—आप कृपा कर के मेरे स्थान पर आइए, मैं आपको वैसी अन्य पुस्तकें भी दिखा दूँगा। अच्छा, धन्यवाद बाबू—यह कह कर वह घोड़े पर चढ़ कर चल दिया। मैंने कार्ड को पढ़ा। उस पर छपा था—

मि० जे० रीड, (I. C. S.)

कलक्टर और मैजिस्ट्रेट।

अपने शहर के मैजिस्ट्रेट की सहृदयता को और उससे भी बढ़ कर सरलता को देख कर मैं मुग्ध हो गया।

दूसरे दिन मैं उनके बँगले पर गया। बड़ी अच्छी तरह मिले। बहुत देर तक बातचीत करते रहे। अपने पुस्तकालय की सैर कराई। अन्त में कहानी-लेखक बनने के ख़ब्त को छोड़ने का फिर परामर्श दिया। मैंने अपनी सम्मति प्रकट की। उन्होंने उसी समय एक काग़ज़ लिख कर मेरे हाथ में दिया और कहा—कल से तुम नौकर हुए। ठीक समय पर कचहरी में आओ। मैं सलाम करके चला आया।

निश्चय ही साहब ने मुझे एक साथ ५०) मासिक की पेशकारी देदी। जब माता ने यह समाचार सुना, उनकी प्रसन्नता के बाँध टूट गये। हा! किस बुरी तरह वे घर का काम चलाती थीं और मैं कहानी-लेखक बनने की धुन में उनकी दुर्दशा का अनुभव तक न करता था। उन्होंने मेरी पीठ पर प्रेम का हाथ फेरते हुए कहा—"बेटा, तेरी मिहनत सफल हुई।" उन्हें आज तक यही विश्वास है कि मैं उन दिनों नौकरी के लिए ही प्राणपण से उद्योग कर रहा था।

× × × + ×

जिस भाग्य-भगवान् की अनुकूलता से रीड साहब कलक्टरी से तरक़्क़ी पाते हुए छोटे लाट हो गये उसी की मन्द मुसकान और रीड साहब की सहायता से मैं भी कुछ वर्षों में डिप्टी-कलक्टर हो गया। उन दिनों हमारे ज़िले में लाट साहब पधारे थे। मैजिस्ट्रेट की कोठी पर सबके सामने हँसते हुए उन्होंने मुझसे पूछा।

विश्वनाथ, कहानी लिखने का ख़ब्त अभी छूटा या नहीं?

मैंने नम्रता दिखाते हुए कहा—हज़ूर, आपकी कृपा से मेरा जीवन स्वयं एक मनोहर कहानी बन गया है।

साहब ने तत्काल कहा— O yes.

ज्वालादत्त शर्म्मा।

मर्दित मान

कहाँ गये तुम नाथ! मुझे यों भूल?
गड़ता है उर बीच विरह का शूल।
थे जब तक तुम सन्तत मेरे पास,
किया तुम्हारा मैं ने नित उपहास।
सुनता था जब नित्य तुम्हारी बात,
था उसका माधुर्य नहीं तब ज्ञात।

गया हाथ से खो जब रत्न अमोल,
जान पड़ा तब मुझको उसका मोल।
रहा पास पर अब केवल अवसाद।
आते मुझको वे दिन पल पल याद॥
मुख में मेरे है बस हाहाकार।
आँखों से बहती अविरल जलधार॥
कहूँ कौन मुख अपनी विपद अपार।
तुम बिन जीवन हुआ मुझे यह भार॥
हाय जानता जो पहले यह हाल,
रखता तुमको करके मैं उर-माल॥
चले गये तुम हो मुझसे नाराज।
इसका ही बस खेद मुझे है आज॥
मिलो कहीं जो रोष हृदय का त्याग,
तुम्हें दिखाऊँ अपने जी की आग।
हुआ आज है मर्दित मेरा मान।
भूलेगा अब नहीं तुम्हारा ध्यान॥
पा जाऊँ मैं तुमको जो फिर नाथ।
रक्खूँ उर में छिपा यत्न के साथ॥
बिछा हृदय पर आसन मेरे आज।
सजे तुम्हारे स्वागत के हैं साज॥
गूँथ प्रेम के फूलों की नव-माल,
रक्खा मैंने पलक पाँवड़े डाल।
उत्कण्ठित हो दर्शन हेतु महान,
राह तुम्हारी तकते हैं ये प्राण।
कृपा करोगे क्या न, कहो हे नाथ!
रक्खोगे कब तक इस भाँति अनाथ?

मुकुटधर

जार्ज बर्कले का आत्मवाद।

पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानों में जार्ज बर्कले का स्थान बड़ा ऊँचा है। आप आयरलेन्ड में बहुत वर्षों तक विशप (धर्माचार्य्य) के पद पर नियुक्त थे और अन्त में आप आक्सफ़र्ड में आ बसे थे। वहीं आपका देहावसान हुआ। आपका जीवन-काल सन् १६८५—१७५३ ईसवी है। दार्शनिक विषयों पर जार्ज बर्कले के लिखे हुए कई प्रभावशाली ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों ने उस समय के दार्शनिक विचारों पर बड़ा प्रभाव डाला था—यहाँ तक कि उनकी काया पलट हो गई थी। इनके विचारों में बड़ी विचित्रता और उद्दण्डता है। इनका अटल सिद्धान्त था कि संसार मनोमय है—वह किसी जड़ वस्तु से नहीं बना। जिसे लोग प्रकृति या परमाणु-पुञ्ज कहते हैं वह कुछ नहीं है। संसार में जो कुछ है वह सब मन के ही भीतर है, बाहर कुछ भी नहीं। उस समय योरुप में इन विचारों ने बड़ी उत्क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी; परन्तु भारतवर्ष में इस प्रकार के विचार पहले ही परिपक्व अवस्था को पहुँच चुके थे। बौद्ध धर्म के कितने ही प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ताओं ने पाण्डित्य-पूर्ण विवेचना-पूर्वक संसार को मनोमय ही सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त श्रीशङ्कराचार्य्यजी का वेदान्त इन विचारों की चरम सीमा है। जार्ज बर्कले ने संसार को मनोमय सिद्ध करने में अपनी प्रचुर योग्यता का परिचय दिया है। इनके विचार वेदान्त-विचारों से टक्कर खाते हैं और उनको समझने में भी सहायता देते हैं। इसलिए इनका सारांश इस महानुभाव की एक पुस्तक (Three dialogues between Hylas and Philonous के आधार पर हम देते हैं। यह पुस्तक अँगरेज़ी कालेजों में प्रायः बी० ए० कक्षा में पढ़ाई जाती है और एक प्रकार से बड़े मार्के की है।

मनोमय-संसार सिद्ध करने में पहली बात यह है—संसार में जितने पदार्थ हैं सब इन्द्रिय-गोचर हैं; अर्थात् वे ऐसे पदार्थ हैं जिनका ज्ञान हम अपनी इन्द्रियों द्वारा बिना किसी रुकावट के प्राप्त करते हैं। हम आकाश को देखते हैं तो वह कभी लाल, कभी नीला और कभी सुनहले रंग का दिखाई देता है। देखने की इन्द्रिय का ज्ञान इतना ही है; परन्तु बुद्धि के बल से हम अनुमान कर लेते हैं कि आकाश के विचित्र दृश्यों का कारण सूर्य्य की किरणें हैं। कार्य-कारण-सम्बन्धरूपी तर्क से अनुमान निकालना बुद्धि का विषय है, इन्द्रियों का नहीं। इसलिए संसार में जिन पदार्थों का ज्ञान बुद्धि-बल या अनुमान से नहीं होता वे इन्द्रियों के ज्ञान के विषय हैं। जिस वस्तु का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा न हो उसे अनुमान-सिद्ध मानना चाहिए।

पुस्तक पढ़ते समय हम नेत्रेन्द्रिय द्वारा अक्षरों को देखते हैं, उन मनुष्यों अथवा दृश्यों को नहीं जिनका हाल उसमें लिखा होता है, इस कारण पुस्तक के अक्षर इन्द्रिय-ज्ञान के विषय हैं, और उनका अर्थ बुद्धि का विषय। किसी अपढ़ मनुष्य के सामने कोई पुस्तक रखिए। वह इन्द्रिय-ज्ञान-द्वारा उसका रूप-रंग तो मालूम कर सकेगा; परन्तु उसके भीतर लिखे या छपे हुए शब्दों का अर्थ न समझ सकेगा। इस तर्क से यह सिद्ध हुआ कि संसार में जितने पदार्थ हैं सभी इन्द्रियों के ज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं।

दूसरी बात यह है कि संसार की जितनी वस्तुयें हैं उनमें दो प्रकार के गुण हैं—प्रधान गुण और गौण गुण। प्रधान गुण ये हैं—विस्तार, आकार, ठोसपन, भारीपन, गति और विश्राम। गौण गुण ये हैं—

स्पर्श—त्वगिन्द्रिय का गुण

रसादि—रसनेन्द्रिय का गुण

गन्ध—नासिका-सम्बन्धी गुण

शब्द—कर्णेन्द्रिय का गुण

रूप—नेत्रेन्द्रिय का गुण

संसार की जितनी वस्तुयें हैं उन में इन गुणों के सिवा और कुछ भी नहीं। ये गुण मन में ही रह सकते हैं, किसी बाहरी जड़ वस्तु में नहीं।

गौण गुण

स्पर्श-गुण के रूप शीत-तापादि हैं। जब शीत अधिक होता है तब क्लेश होता है और जब थोड़ा होता है तब वह सुखकर मालूम होता है। सुख-दुःख का अनुभव, आत्मा अथवा मन में ही हो सकता है, किसी जड़ वस्तु में नहीं। इसी प्रकार गरमी को भी समझिए। इसके सिवा यह भी देखा जाता है कि जो चीज़ एक हाथ को ठण्डी मालूम होती है वही दूसरे हाथ को गर्म। इससे भी सिद्ध हुआ कि यदि उस वस्तु में शीतत्व होता तो अनुभव में अन्तर न पड़ता। वह दोनों हाथों को एक सा मालूम होता।

अत्यन्त गर्मी से दुःख का अनुभव होता है। जड़ वस्तु में अनुभव नहीं रह सकता। यदि एक हाथ गरम है और दूसरा हाथ ठण्डा और दोनों हाथ एक दम पानी में डाले जायँ तो क्या एक हाथ को पानी ठण्डा और दूसरे को गरम न मालूम होगा? अवश्य होगा। क्या यह सम्भव है कि किसी वस्तु में एक ही समय में दो विरोधी गुण रह सकें? कदापि नहीं। इस कारण शीत-तापादि गुण किसी बाहरी जड़ वस्तु में नहीं पाये जा सकते हैं—वे मन में ही अथवा मन के द्वारा ही अनुभूत होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि क्या अग्नि में ताप नहीं? इसका उत्तर यह है कि जिस समय शरीर में आलपीन चुभोई जाती है तो उस समय चर्म और मांस काटने से क्लेश-कर होता है। जलते हुए कोयले के स्पर्श से भी वही बात होती है। जैसे आलपीन के कारण अनुभूत हुए क्लेश को आलपीन में नहीं मानते वैसे ही जलते हुए कोयले के कारण अनुभूत क्लेश को कोयले में नहीं मान सकते। कोयले में अग्नि नहीं, क्योंकि वह क्लेश या दुःखरूप है और यह बात चेतन पदार्थ में ही हो सकती है।

रस-गुण को देखिए। मीठा स्वाद प्रिय अनुभव है और कड़वा अप्रिय। इसके सिवा पृथक् पृथक् मनुष्यों की जिह्वाओं या रसनेन्द्रियों को पृथक् पृथक् प्रकार का स्वाद मालूम होता है। अतः मीठापन शक्कर में नहीं, मन में ही समझना चाहिए।

गन्ध—गन्ध भी एक प्रकार का अनुभव है। वह अच्छा और बुरा दो तरह का होता है। इसके अतिरिक्त मल हमें जैसा दुर्गन्धिपूर्ण मालूम होता है वैसा शूकरादि जीवों को नहीं। यदि गन्ध किसी बाहरी वस्तु में होती तो सब को एक सी मालूम होती। शूकरादि जीव तो उसे ख़ुशी से खाते हैं, पर मनुष्य उससे दूर भागते हैं।

शब्द—यह भी एक प्रकार का अनुभव है। इस कारण इसका भी स्थान मन ही हो सकता है, आकाश नहीं। यदि यह कहें कि शब्द वायु-जन्य है क्योंकि वायु की गति के कारण ही सुनाई देता है, तो प्रश्न होता है कि गति में तीव्र, कर्कश, मन्द स्वर कहाँ से आये। गति का ज्ञान नेत्र और स्पर्शेन्द्रिय से होता है, कान से नहीं। यदि शब्द का होना गति के कारण कहा जायगा तो यह अर्थ होगा कि शब्द को देख और छू भी सकते हैं। यह बात सर्वथा ही अनुचित है।

रूप या रङ्ग—रङ्ग जड़ वस्तु में नहीं होता, मन में ही

होता है, क्योंकि जो रङ्ग हम बादलों में देखते हैं वे असल में रङ्ग नहीं हैं, वे केवल दूरी के कारण दिखाई देते हैं; वे असलियत नहीं रखते। यदि यह कहें कि जो दूर से देखा जाय वह मिथ्या रङ्ग है और जो पास से देखा जाय वह सत्य, तो प्रश्न यह है कि पास से देखने के लिए ख़ाली नेत्र ही काफ़ी हैं या .खुर्दबीन की भी आवश्यकता है। खुर्दबीन द्वारा देखने से वस्तु में और ही रङ्ग दिखाई देने लगते हैं, ऐसे ख़ाली आंख से नहीं दिखाई देते। यदि खुर्दबीन और भी तीव्र दृष्टिवाली हो तो जो रङ्ग हमें आंख से दिखाई देता है वह उससे दिखाई ही न देगा। इससे सिद्ध हुआ कि .खुर्दबीन से देखे गये रङ्ग ही असली हैं; आंख से देखे गये मिथ्या हैं।

इसके सिवा छोटे छोटे ऐसे भी जीव हैं जो उन सूक्ष्मतम चीज़ों को देख सकते हैं जो हमें नहीं दिखाई देतीं। पीलिया (कामला) रोग में सभी चीज़ें पीली दिखाई देती हैं। क्या यह ठीक नहीं कि ऐसे जीवों की बनावट ही कुछ ऐसी होती है कि उन्हें और रङ्ग दिखाई देता है और हमें और।

(१) .खुर्दबीन द्वारा देखने से (२) आंख में विकार हो जाने से और (३) दूरी अधिक होजाने से पृथक् पृथक् रङ्ग दिखाई देने लगते हैं। इसके सिवा वस्तु की जगह पलट देने और रोशनी कम ज़ियादह होने से भी रङ्गों में भिन्नता आ जाती है। बत्ती की रोशनी में और रङ्ग दिखाई देता है और सूर्य की रोशनी में और रङ्गदार कांच आंख पर लगा कर देखते तो सफ़ेद चीज़ लाल या हरी दिखलाई पड़ती है।

इस तर्क से सिद्ध हुआ कि गौण गुण मन के बाहर जड़ वस्तुओं में नहीं रहते, किन्तु मन के भीतर ही रहते हैं। इस सिद्धान्त को महानुभाव लोक ने भी माना है। वह भी एक नामी तत्त्ववेत्ता हो गया है।

प्रधान गुणों का भी यही हाल है जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। वे ये हैं। विस्तार, आकार, ठोसपन, गुरुत्व, गति और विश्राम।

विस्तार और आकार—यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन गुणों के रूप में बड़ा भेद पड़ जाता है। चिउँटी के और हमारे देखने में बड़ा अन्तर है। जब हम ख़ाली आंख से देखते हैं तब एक चीज़ छोटी, चिकनी और गोल दिखाई देती है; पर जब हम खुर्दबीन से देखते हैं तब वही बड़ी, खुरदरी और नोकदार दिखाई देती है।

यदि आकार या विस्तार वास्तव में कोई चीज़ होता तो यह भेद न पड़ता। छोटे छोटे कीड़े-मकोड़े, जो हमें पूरे पूरे दिखाई भी नहीं देते, अपने अवयवों को अच्छी तरह देख सकते हैं, और जो चीज़ हमें बहुत छोटी दिखाई देती है वही उन्हें अवश्य ही बड़ी दिखाई देती होगी। जो कीड़े उनसे भी छोटे हैं उन्हें वही चीज़ और भी बड़ी दिखाई देती होगी। अर्थात् जो चीज़ हमें बहुत ही छोटी दिखाई देती है वही उन्हें पहाड़ की बराबर दिखाई देती होगी। क्या एक ही समय में एक ही चीज़ छोटी और बड़ी हो सकती है?

जब हम किसी चीज़ के पास या उससे दूर जाते हैं तब उसका आकार हमें भिन्न भिन्न प्रकार का दिखाई देता है। एक जगह से वह दस गुना बड़ा दिखाई देता है और दूसरी जगह से सौ गुना बड़ा। किसी चीज़ को हम ख़ाली एक आंख से देखें तो वह छोटी, चिकनी और गोल दिखाई देती है और दूसरी आंख से .खुर्दबीन लगा कर देखें तो वही बड़ी, खुरदरी और नोकदार दिखाई देती है। इससे सिद्ध है कि विस्तार और आकार किसी जड़ वस्तु में नहीं रह सकते—वे केवल मन के भीतर ही रहते हैं।

गति—कल्पना कीजिए कि कोई चीज़ किसी समय घण्टे में एक मील चलती है, और किसी अन्य समय तीन घण्टे में एक मील। तो क्या हमें उसमें तेज़ और धीरे चलने के विरोधी गुणों का अनुभव न होगा। समय की माप हमारे मन के भीतर के विचारों की गति से होती है। किसी के मन के विचारों की गति तीव्र है और किसी के विचारों की मन्द। इस तरह एक को वही वस्तु जल्दी चलती मालूम देगी और दूसरे को धीरे। क्या यह परस्पर विरोध नहीं? सारांश यह कि गति या तो तेज़ होती है या मन्द। यदि वह एक चीज़ के मुक़ाबले में तेज़ है तो दूसरी के मुक़ाबले में मन्द। जैसे घोड़े का दौड़ना रेलगाड़ी की अपेक्षा मन्द है, परन्तु बैल की चाल की अपेक्षा तेज़ है। ये गुण परस्पर विरोधी हैं और विरोधी गुण

किसी वस्तु में हो ही नहीं सकते। इसलिए गति जड़वस्तु में नहीं रह सकती, मन में ही रह सकती है।

ठोसपन—इसका अर्थ या तो सख़्त होना है या रुकावट पैदा करनेवाला। इन दोनों का सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से है। जो चीज़ एक जानवर को सख़्त मालूम होती है वही दूसरे को मुलायम। रुकावट पैदा करने का गुण भी किसी बाहरी चीज़ में नहीं हो सकता है, चेतन ही में हो सकता है। यदि हमने विस्तार को मन के भीतर मान लिया तो गति, ठोसपन, गुरुत्व (जो विस्तार पर ही अवलम्बित है) भी मन के भीतर ही मानने पड़ेंगे। उन्हें पृथक् पृथक् सिद्ध करना अनावश्यक है। जब हमने विस्तार को ही मनोमय मान लिया तब इनको मनोमय मानना ही चाहिए। अब प्रश्न यह है कि जिन विद्वानों ने गौण गुणों को मनोमय माना है उन्हीं ने प्रधान गुणों को वैसा क्यों नहीं माना।'' इसका उत्तर यह है कि गौण गुणों में सुख-दुःख-भावों का अनुभव प्रत्यक्ष है, पर इनमें नहीं। शीत, ताप, रस, गन्धादि तत्काल ही प्रिय और अप्रिय मालूम होने लगते हैं। इसलिए यह मानना पड़ता है कि ये अनुभव जड़ वस्तु में नहीं, किन्तु मन में ही होते हैं। परन्तु प्रधान गुणों में ये बातें प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए मनुष्य धोखा खाते और कहते हैं कि ये बाहरी वस्तुओं में हैं। वास्तव में हैं ये दोनों ही मनोभाव—तीव्र और मंद।

यदि कोई यह तर्क करे कि जब आकार या गति को हम किसी चीज़ में देखते हैं तब वह चीज़ बड़ी या छोटी अथवा तेज़ या धीमी अवश्य होगी। परन्तु जिसको आकारत्व या गतित्व कहते हैं उसमें ये विकार नहीं हो सकते। इस कारण यह तर्क ठीक नहीं।

किसी गति या आकार का पारस्परिक भेद किसी दूसरी गति या दूसरे आकार से उनके इन्द्रियगोचर होने के कारण ही है—अर्थात् उनमें तेज़ी या धीमापन होने अथवा उँचाई या निचाई होने के कारण हैं। यदि इन गुणों को हम दूर कर दें तो उनमें कोई भेद न रहेगा और ऐसी दशा में उस वस्तु का अस्तित्व मानना असम्भव हो जायगा। जितनी वस्तुयें हैं सबमें पृथकता है। यदि यह बात न हो तो उनका अस्तित्व ही असम्भव हो जाय। आकारत्व और गतित्व, जिनमें यह पृथकता नहीं, कल्पना के विषय नहीं हो सकते। गणित-शास्त्रज्ञों के मन में ऐसे विचार भले ही उत्पन्न हों; परन्तु व्यवहार में यह बात नहीं हो सकती।

प्रधान और गौण गुण साथ ही साथ रहते हैं। इस कारण जो तर्क गौण गुणों को सिद्ध करने में उपयोगी है वही प्रधान गुणों को सिद्ध करने में भी उपयोगी हो सकता है। क्या ज्ञान और ज्ञेय में भेद नहीं? अर्थात् क्या मन के उस कार्य में जो अनुभव करता है और उस चीज़ में जिसका अनुभव होता है कोई भेद ही नहीं? यदि ऐसा है तो हर अनुभव में दो बातें होंगी—अर्थात् कोई मानसिक कार्य और कोई अमानसिक चीज़। मानसिक कार्य तो केवल चैतन्य या ज्ञान करनेवाली वस्तु में होगा और वह अमानसिक चीज़ किसी जड़ वस्तु में। किसी सुगन्धि या रङ्ग को सूँघना या देखना हमारी इच्छा पर अवलम्बित नहीं। हम कौनसी सुगन्धि सूँघेंगे या कौनसा रङ्ग देखेंगे यह बात हमारे सामर्थ्य के बाहर है। इससे सिद्ध है कि इन अनुभवों में मानसिक कार्य कुछ भी नहीं। अतएव ये अनुभव किसी जड़ वस्तु में रहते हैं। पर यह बात सर्वथा असत्य है। इसी तरह दुःख या क्लेश का निर्णय भी करना चाहिए। वह कितना ही कम क्यों न हो, किसी जड़ वस्तु में रही नहीं सकता।

अच्छा तो क्या कोई भी प्राकृतिक आधार ऐसा नहीं जो विस्तार और आकारादि का स्थान हो? नहीं, यह भी नहीं। यदि ऐसा आधार हो भी तो विस्तार उसमें भी होगा। उसके विस्तार का आधार कोई और विस्तार होगा, इसी तरह अनन्त विस्तार होने की कल्पना करनी पड़ेगी। यदि आधार का अर्थ गुणों का स्थान माना जाय, तो भी वही दिक़्क़त पड़ती है। इसलिए गुणों का प्राकृतिक आधार या स्थान मानना बिलकुल भूल है।

यदि यह कहा जाय कि जब गुण पृथक् पृथक् रहें, तब तो वे मन ही में माने जायँ, परन्तु जब उनका समूह हो तब वे मन के बाहर भी हो सकते हैं। यह बात भी ठीक नहीं। क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि वे मन के बाहर नहीं रह सकते। किसी भी इन्द्रियगोचर वस्तु को मन के बाहर मानना भूल है; क्योंकि स्वप्न में हम समग्र संसार को जैसे का तैसा ही देखते हैं। उस समय तो हमारी समग्र इन्द्रियां शिथिल होती हैं।

क्या कोई चीज़ हमें दूर नहीं दिखाई देती? नहीं। दूरी को हम आँख से नहीं देख सकते। आदत पड़ जाने पर हमें दूरी का ज्ञान होता है। असल में हमारी दृष्टि के अनुभव, स्पर्श-सम्भूत अभ्यास पड़ जाने से, हमारे शारीरिक और अनुभवों से मिलते हैं। इसीसे दूरी का भान होता है।

क्या वस्तुयें दो प्रकार की नहीं हो सकतीं? अर्थात् एक तो वे अनुभव जो निरन्तर इन्द्रिय-गोचर होते हैं। दूसरे बाहर के वे पदार्थ जो इन अनुभवों के द्वारा देखे जाते हैं। कल्पना कीजिए कि जूलिअस सीज़र का एक चित्र है। उसे देखने में अनुभव भी होता है और वह चित्र बाहर भी रहता है। इसका उत्तर यह है कि चित्र इन्द्रिय-द्वारा देखा जाता है। पर वह जूलिअस सीज़र का चित्र है, इस बात का ज्ञान किसी दूसरी चीज़ के द्वारा होता है। जो आदमी जूलिअस सीज़र को नहीं जानता वह चित्र को देखता तो अवश्य है; परन्तु वह जूलिअस सीज़र का चित्र है यह नहीं कह सकता। इससे सिद्ध हुआ कि चित्र देखना तो इन्द्रिय का विषय है और पहचानना बुद्धि का विषय। यदि यह कहें कि हमारे अनुभव बाहरी वस्तुओं के ही चित्र हैं तो यह भी असम्भव है। क्योंकि अनुभव चञ्चल और परिवर्तनशील हैं। पर बाहरी वस्तुयें स्थिर और अचल हैं। जो पदार्थ चञ्चल हैं वे स्थिर पदार्थों के चित्र नहीं हो सकते। इसलिए इन्द्रिय-ज्ञान-विषयक वस्तुयें बाहर नहीं हो सकतीं, क्योंकि मनोभाव किसी समय, किसी प्रकार, बाहर नहीं रह सकते।

(२)

सर्वसाधारण मनुष्य यह मानते हैं कि जो अनुभव हमें इन्द्रियों द्वारा होते हैं उन्हें हम ज्ञान-तन्तु मस्तिष्क-केन्द्र तक पहुँचाते हैं। उसका जो असर मस्तिष्क पर रह जाता है उसीसे हमारे मनोभाव उत्पन्न होते हैं। यह बात नहीं है, क्योंकि मस्तिष्क स्वयं ही अनुभव-रूप वस्तु है। यदि पूर्वोक्त विचार सच हो तो इसका यह अर्थ होगा कि हमारे इन्द्रिय-जात सभी अनुभव स्वयंही अनुभव-रूप वस्तु में परिवर्त्तन होने से होते हैं। यदि सभी अनुभव मस्तिष्क पर असर पड़ने से होते हैं तो इसका यह अर्थ होगा कि एक अनुभव पर और अनुभवों का असर पड़ने से वह मस्तिष्क-रूप अनुभव उत्पन्न होता है, पर यह बात सर्वथा अनुचित है। इसके सिवा किसी भी स्नायु-सम्बन्धी परिवर्तन और मानसिक अनुभव में कोई सम्बन्ध नहीं।

क्या यह समस्त विचित्र जगत्—पृथ्वी, आकाश, तारागण आदि—कुछ भी नहीं हैं? क्या इनका कोई अस्तित्व ही नहीं? नहीं। ये केवल इन्द्रिय-गोचर वस्तुयें हैं, अर्थात् ऐसी वस्तुयें हैं जिन्हें हम देख, सुन, छू और अनुभव कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह सच है कि इनका होना हमारे मन पर अवलम्बित नहीं है। हम जब चाहें इन्हें पैदा नहीं कर सकते, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ये सब मन के बाहर हैं। उनकी सत्ता वहीं तक है जहाँ तक उनके अनुभवों का सम्बन्ध है। इसलिए यह मानना पड़ता है कि कोई ऐसा मन अवश्य है जिसमें इनकी स्थिति है। ऐसा मन ईश्वर ही का मन हो सकता है और यही ईश्वर की सत्ता का अटल प्रमाण है। जो कुछ हम देख, सुन, छू सकते हैं वह केवल हमारे अनुभव के कारण है। ये अनुभव किसी चैतन्य वस्तु अथवा आत्मा में ही रह सकते हैं। इससे यह अनुमान निकलता है कि एक ऐसा मन भी है जिसमें ज्ञान-शक्ति और असीम दया है, और जो हम में प्रतिक्षण उन अनुभवों की प्रेरणा करता रहता है जो हम उपलब्ध करते हैं।

यह तो हमने माना कि ईश्वर ही विश्व का व्यापक कारण है। तथापि उसके बाद भी कोई और कारण हो सकता है जिससे हमारे अनुभव उत्पन्न होते हैं; और यह कारण प्रकृति है। अनुभवों का कारण प्रकृति तभी हो सकती है जब वह स्वयं चैतन्य हो—जड़ नहीं। परन्तु प्रकृति को हम जड़ मानते हैं; इसलिए वह ऐसा कारण नहीं हो सकती। अच्छा तो क्या इस परमकर्ता और नियन्ता के यन्त्र या औज़ार का नाम प्रकृति है और क्या उसीसे हमारे अनुभव उत्पन्न होते हैं? यह बात नहीं। जो अपनी इच्छा से काम कर सकता है उसे किसी औज़ार की आवश्यकता नहीं। ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ उत्पन्न हो सकता है; उसे किसी यन्त्र की आवश्यकता नहीं। अच्छा तो क्या प्रकृति केवल एक चिह्न या हेतु है जिसको देखने से ईश्वर हमारे मन में अनुभव पैदा करता है। यह बात भी नहीं। ईश्वर को याद दिलाने के लिए किसी जड़ वस्तु की आवश्यकता नहीं। अच्छा तो यदि प्रकृति कोई

ऐसी वस्तु है जिसकी सत्ता मात्र है, पर जो न चिन्तन कर सकती है, न काम कर सकती है, न अनुभव कर सकती है, और न उसका अनुभव होही सकता है तो आप क्या कहेंगे ? यदि आप यही नहीं जानते कि वह कहाँ और कैसे रहती है तो आपकी प्रकृति शून्य के बराबर है। यदि हम सांसारिक वस्तुओं को सत्य मानेंगे तो क्या प्रकृति का मानना आवश्यक नहीं ? वस्तुओं की सत्ता तो उनके इन्द्रिय-गोचर होने से है। पर प्रकृति जड़ और अचेतन बताई जाती है। इससे इन इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं के अस्तित्व का क्या सम्बन्ध है। प्रकृति का होना सिद्ध तो नहीं, पर सम्भव अवश्य है—उतना ही सम्भव है जितना सुवर्ण का पहाड़ या आकाश के फूल। यह सर्वथा सिद्ध है कि जिसे आप प्रकृति कहते हैं वह मन के बाहर नहीं रह सकती है।

(३)

जो कुछ अनुभव-सिद्ध है वही सत्य है। संसार में हम अपने अनुभवों द्वारा इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं से सम्बन्ध रखते हैं और हमारे सब काम इन्हीं से चल जाते हैं। ऐसी वस्तु जो इन्द्रियों के विषय से परे हैं और जो अनुभव से भी सिद्ध नहीं होती वह आकाश-पुष्प अथवा बाँझ स्त्री के पुत्र के सदृश है। जिसे प्रकृति कहते हैं वह इसी तरह की है। उसको मानने से अनेक विरोधी दोष आते हैं और न मानने से अनुभव-सिद्ध वस्तुओं की सत्ता सिद्ध होती है। यदि यह कहा जाय कि इन्द्रिय-गोचर वस्तुयें मन के बिना नहीं रह सकतीं तो क्या हमारे मरने से उनका भी नाश हो जायगा ? नहीं, यह तर्क वृथा है। हमारे मरने से इन्द्रिय-गोचर संसार का नाश नहीं हो सकता; क्योंकि सर्वव्यापी ईश्वर का अनन्त मन विद्यमान रहता है जो प्राकृतिक नियमों के अनुसार हमारे लिए संसार की वस्तुओं का विकाश करता रहता है। अच्छा तो यह कैसे मालूम हो कि ऐसा अनन्त मन या आत्मा है भी, क्योंकि हमारे भाव या कल्पनायें तो निष्क्रिय और निश्चेष्ट हैं, और ईश्वर कर्मोद्युक्त या कर्ता है। निश्चेष्ट वस्तु कर्म-परायण आत्मा की सूचना नहीं दे सकती। अतएव इस तर्क से ईश्वर के मन की भावना नहीं हो सकती, और न यही मालूम हो सकता है कि ये वस्तुयें ईश्वर के मन में हैं। किसी जीव या आत्मा के विषय में अनुभव नहीं हो सकता है; परन्तु बुद्धि द्वारा अनुमान किया जा सकता है।

मैं अपने आपको निरन्तर जानता हूँ। अपनी आत्मा के विषय में चिन्तन करने और उसके गुणों को चरम सीमा पर पहुँचा हुआ कल्पना करने से ईश्वर के होने का अनुमान कर सकता हूँ। मैं अपने होने और अपनी परतन्त्रता से परमात्मा के होने का अनुमान कर सकता हूँ। परन्तु प्रकृति की सिद्धि न अनुभव से हो सकती है और न अनुमान से। यह अनुमान तो हो सकता है कि वह नहीं है; क्योंकि उसको मानने से परस्पर विरोधी बातें उत्पन्न होती हैं।

अच्छा तो इससे यह सिद्ध हुआ कि आप केवल परिवर्तनशील कल्पनाओं अथवा अनुभवों के पुञ्ज हो। यह बात नहीं। मैं स्वयं इस बात को जानता हूँ कि मैं हूँ और यह भी जानता हूँ कि मैं अपने अनुभवों से पृथक् हूँ। मेरी स्मृति मेरी व्यक्तिता को बताती है और यह सिद्ध करती है कि मैं वही हूँ जो कल या दस वर्ष पहले था।

एक शब्द दूसरे शब्द का या एक रङ्ग दूसरे रङ्ग का अनुभव नहीं कर सकता; परन्तु मैं दोनों का अनुभव कर सकता हूँ। क्या होने का अर्थ यह है कि उसका अनुभव हो सके। निस्सन्देह। किसी सामान्य आदमी से आप पूछिए कि तुम किसी चीज़ का होना क्यों मानते हो, तो वह उत्तर देगा कि मैं उसका अनुभव करता हूँ; इसीलिए मैं उसका होना मानता हूँ। यह कह देना ही काफ़ी नहीं कि इस वस्तु का अनुभव हो सकता है, किन्तु उसका, अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उसका स्वयं अनुभव करना आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य किसी वस्तु को नहीं देखता तो समझो कि वह ईश्वर के अनन्तचित्त में है। अच्छा तो यह बताओ कि सत्य और कल्पित वस्तुओं में क्या अन्तर है। पिछली वस्तुयें तो धीमे और धुँधले अनुभव हैं और उनका होना न होना हमारी इच्छा पर है; और पहली अधिक स्पष्ट और तीव्र अनुभव हैं जो हमारी इच्छा के अधीन नहीं हैं और जिनका ज्ञान हमारे मन पर किसी दूसरी आत्मा की प्रेरणा से होता है। वस्तुओं को अनुभव के नाम से पुकारना ठीक नहीं; परन्तु मन के सम्बन्ध को बताने के लिए वह शब्द उपयुक्त है। इसीलिए यहाँ उसका प्रयोग किया है।

क्या कोई प्राकृतिक कारण नहीं है ? नहीं। क्योंकि

जो बात एक वस्तु में नहीं वह उससे दूसरी में कैसे आसकती है। प्रकृति निष्क्रिय है। वह दूसरे का कारण नहीं हो सकती। धर्म-शास्त्रों का भी यही मत है कि सारे प्राकृतिक दृश्यों का कारण चैतन्य आत्मा ही है, कोई जड़ वस्तु नहीं। अच्छा तो क्या इस तर्क से ईश्वर सारे पापों का कारण नहीं ठहराया जा सकता? नहीं। यदि आप प्रकृति के अस्तित्व को भी मान लें तभी यह दोष ईश्वर में आसकता है। बात यह है कि पाप का होना किसी बाहरी क्रिया या कर्म से सम्बन्ध नहीं रखता, कर्म के दूषित आन्तरिक कारण से रखता है। हमें ईश्वर से परिमित शक्तियाँ मिली हैं। उनके द्वारा हम अपने कर्मों का नियन्त्रण कर सकते हैं। हमारे अनुभवों का आधार आत्मा के सिवा और कुछ नहीं। उसी में उनकी स्थिति है।

यदि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान ही सत्य है तो जो वस्तु इन्द्रियों से दिखाई दे उसमें भूल होना असम्भव है। जो कुछ हम इन्द्रियों से देखते हैं वह अवश्य ही सत्य होगा; परन्तु उन पर बुद्धि-पूर्वक विचार करने में मिथ्या अनुमान हो सकता है। नाव की पतवार पानी में टेढ़ी दिखाई देती है। यह ज्ञान तो ठीक है; परन्तु जब हम यह अनुमान करते हैं कि जैसे यह पानी में टेढ़ी दिखाई देती है वैसी ही स्पर्श करने पर भी दिखाई देगी तो हम भूल करते हैं। शब्दाडम्बर में कुछ नहीं। यदि आधार माना जाय तो वह विस्तार-रहित और कार्य-युक्त होना चाहिए। प्रकृति ऐसा आधार नहीं। और न आत्मा के सिवा और ही कोई ऐसा हेतु हो सकता है। इन्द्रियग्राही वस्तुयें, जो हमारे मन के बाहर हैं, वे केवल अनुभव मात्र हैं और अनुभवों के रहने का स्थान मन ही है। ये वस्तुयें कार्य रूप हैं और कार्य का होना इच्छा पर अवलम्बित है। इसलिए इनका आधार इच्छा हुई। जिसमें मन और इच्छा हो वह चेतन है, जड़ नहीं। इस कारण इन्द्रिय-गोचर सांसारिक वस्तुओं का आधार आत्मा ही हो सकती है, कोई जड़ वस्तु नहीं।

हम ने माना कि ईश्वर पूर्ण है और वह हम में अनुभवों की प्रेरणा करता है। इन अनुभवों में दुःख का अनुभव भी तो है। तो क्या इससे यह सिद्ध नहीं हुआ कि ईश्वर को दुःख का अनुभव होता है? क्या इससे ईश्वर में दोष नहीं आता? कदापि नहीं। ईश्वर इन्द्रियों द्वारा, अपने अनुभव प्राप्त नहीं करता। उसे दुःख का ज्ञान है; परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि उसे दुःख का अनुभव है।

क्या प्रकृति प्रतिपादक तत्त्व-वेत्ताओं की सारी चेष्टायें निष्फल ही हैं? नहीं, यह बात नहीं है। उनकी चेष्टाओं का विषय इन्द्रिय-गोचर वस्तुयें ही हैं। उनके परे कल्पित जड़ प्रकृति नहीं। उनका कार्य संसार के दृश्य पदार्थों को बताना अर्थात् हमारे अनुभवों के कारण बता कर उनका क्रम निश्चय करना है।

क्या आप इस बात को नहीं मानते कि संसार के अधिक मनुष्य प्रकृति को मानते हैं? क्या ईश्वर ने मनुष्य-जाति को धोखा दिया है? नहीं। बात यह है कि थोड़े से दार्शनिक विद्वानों के सिवा सभी मनुष्य इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं से पृथक्, प्रकृति में विश्वास नहीं करते। ये विचार अद्भुत और विलक्षण हैं। इसलिए मानने योग्य नहीं। सच्चे विचार यदि विलक्षण और नये हों तो भी अवश्य मानने चाहिए, नहीं तो किसी विद्या और कला की उन्नति नहीं हो सकती। मैं तो सर्वसाधारण के समझने योग्य बात कहता हूँ और जिसका अनुभव मुझे होता है उसी की सत्यता में विश्वास करता हूँ। पर आप इन्हें थोथे दृश्य समझते हैं और एक अज्ञात प्राकृतिक आधार मानते हैं। हमारे अनुभवों में भिन्नता क्यों है? जो कुछ मैं देखता हूँ वह स्पर्श करने में वैसा ही नहीं है। जो अनुभव एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं वे सुभीते के लिहाज़ से किसी न किसी वस्तु के रूप में माने गये हैं। खुर्दबीन से देखने का अभिप्राय यह नहीं कि वह हमारे अनुभवों की सहायता करे। किन्तु वह उस सम्बन्ध को बता कर जो हमारे अनुभवों में है वस्तुओं के स्वभाव से हमें अच्छी तरह परिचित कर दे। यदि आप यह मानते हैं कि अनुभव एक दूसरे से भिन्न होते हैं तो यह कैसे सिद्ध कीजिएगा कि वे परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि कोई अज्ञात आधार तो सिद्ध है ही नहीं। हमारे अनुभव निरन्तर बदलते रहते हैं। अतएव उनसे उन असली कारणों का पता नहीं चल सकता जो अज्ञात हैं।

देखिए हर एक मनुष्य अपने ही अनुभवों को जानता है—क्या इससे यह सिद्ध नहीं कि किसी वस्तु को दो मनुष्य एक सी नहीं देख सकते? इसका जवाब हाँ और

न दोनों है। हाँ, तो यों है कि यदि एक सी होने का अर्थ सदृशता हो और न यों कि यदि एक सी होने का अर्थ अनन्य-रूपता हो। यह केवल शब्दों का फेर फार है। ऐसी शङ्का तो जड़वाद में भी हो सकती है, क्योंकि जड़वाद में भी माना गया है कि जो कुछ हम देखते, सुनते इत्यादि हैं वे अनुभव मात्र हैं। यदि अज्ञात प्रकृति मान भी ली जाय तो क्या उससे हमारे अनुभवों में एकता आजायगी? यदि आपको कोई बाहरी विश्वव्यापी आधार चाहिए तो क्या ऐसा आधार ईश्वर नहीं हो सकता? क्या इतना जानना काफ़ी नहीं कि हम वस्तुओं को देख, सुन और अनुभव कर सकते हैं?

अच्छा मन में तो कोई लम्बाई चौड़ाई है ही नहीं। फिर उसमें विस्तृत वस्तुओं के रूप कैसे रह सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि इन रूपों का अनुभव मन में होता है। वे मन के गुण नहीं। जो शब्द मन-सम्बन्धिनी बातों को बताने के लिए काम में लाये जाते हैं उनका अक्षरशः अर्थ नहीं लिया जाता।

अच्छा यह भी हुआ। अब यह बताइए कि आप अपने विचारों का मेल बाइबिल-विहित सृष्टि-वर्णन से कैसे मिला सकते हैं? क्या महात्मा मूसा ने केवल नाम-रूपों की सृष्टि का कथन किया है? महात्मा मूसा ने उन वस्तुओं की सृष्टि का वर्णन किया है जो इन्द्रिय-गोचर हैं अर्थात् ऐसी वस्तुओं का वर्णन जिनका निरन्तर ज्ञान मन में हो सकता है। उन्हें आप चाहें नामरूप कहें चाहे वस्तुरूप। ध्यान केवल इस बात का रहे कि जब वस्तु-शब्द का प्रयोग हो तब उससे कोई प्राकृतिक जड़ चीज़ न समझी जाय। क्या इससे भी आपके विचारों और मूसा के वर्णन में भेद हो सकता है? नहीं। समस्त वस्तुयें अनादि काल से ईश्वर के मन में रहती आई हैं। सृष्टि का अर्थ उन वस्तुओं को दूसरे जीवों को इन्द्रियग्राही कराना है। मैं मूसा के सृष्टि-वर्णन को मानता हूँ। यदि सृष्टि-रचना के समय में उपस्थित होता तो मैं सब वस्तुओं का प्रादुर्भाव उसी क्रम से होते देखता जिस क्रम से मूसा ने लिखा है। यह न समझना चाहिए कि वस्तुओं की रचना के पहले ही मनुष्यों की रचना हो गई थी। यह कोई नहीं कह सकता कि मनुष्य की उत्पत्ति के पहले और और श्रेणी के जीव उत्पन्न न हुए थे, और उनके मन में ये वस्तुयें प्रकट न हुई थीं। क्या सारी वस्तुयें ईश्वर के मन में अनादि काल से नहीं थीं? यदि यही बात है तो बताइए कि जो वस्तुयें अनन्त थीं वे रचना से काल-बद्ध कैसे हुईं।

क्या हम यह ख़याल नहीं कर सकते कि यह सृष्टि अल्पज्ञ जीवों के विषय में है? जिसे आप अपेक्षित अस्तित्व कहते हैं उससे तो ईश्वर का महत्त्व और सर्वज्ञता उस मत से अधिक ज्ञात होती है जिसमें सृष्टि ईश्वर के मन के बाहर मानी जाती है।

सृष्टि-रचना से ईश्वर में विकार उत्पन्न हुआ, यह शङ्का असङ्गत है। यह विषय धर्मशास्त्र का है। यदि आप और किसी तरह की सृष्टि मानते हैं तो इस प्रकार की क्यों नहीं मानते। इसमें तो इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं का लोप नहीं होता। जो जड़वादी है वह मूसा के अभिप्राय का लोप करता है; क्योंकि वह इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं की वास्तविक सत्ता नहीं मानता। व्यक्ति-रहित अस्तित्व बोधगम्य नहीं; यह तर्क नास्तिक और सन्देहयुक्त मनुष्यों के पक्ष को पुष्ट करता है। पक्षपात के कारण मनुष्य प्राचीन मतों को नहीं छोड़ना चाहते।

आत्मवाद से अनेक लाभ हैं। उनमें से कुछ ये हैं:—

(१) धर्मशास्त्र में ईश्वर के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण मिलता है और आत्मा की नित्यता भी सिद्ध की गई है।

(२) भौतिक-शास्त्र के बहुत से झंझट, जो भ्रमोत्पादक प्रकृति-वाद से उत्पन्न हुए हैं, दूर हो जाते हैं, क्योंकि इसमें प्रकृति की जगह आदि-कारण चेतन माना जाता है।

(३) दर्शनशास्त्रों की बहुत सी कठिनाइयाँ भी उससे दूर हो जाती हैं।

(४) गणितशास्त्र में व्यक्तिरहित विचारों के दूर होने से बड़ी सरलता उत्पन्न हो जाती है।

इस आत्मवाद में नवीनता नहीं। सामान्य मनुष्यों का मत यह कि जो वस्तुयें दिखाई देती हैं सत्य हैं। और तत्त्ववेत्ताओं का मत है कि जो वस्तुयें निरन्तर दिखाई देती हैं वे हमारे मनोभाव हैं। आत्मवाद में इन दोनों मतों का मेल है। यदि आप प्रकृति शब्द का प्रयोग ही करना

चाहें क्योंकि कुछ मनुष्यों को वही प्रिय है, तो यह याद रक्खें कि उसका अर्थ क्या करना चाहिए । इन नये विचारों के विषय में शङ्का करते समय इस बात की भी ध्यान रहे कि वैसी शङ्कायें पुराने मतों और विचारों के विषय में भी की जा सकती हैं। यह भी याद रहे कि आप का तर्क न्यायशास्त्र के विरुद्ध तो नहीं।

ऐसा करने से आपको मालूम हो जायगा कि जो नियम पहले पहल देखने में संशयवाद की तरफ़ ले जाते हैं वही ध्यानपूर्वक विचार करने पर मनुष्यों को सामान्य ज्ञान की ओर लौटा लाते हैं ।

बर्कले के इस आत्मवाद के कितने ही विचार उपनिषद्-वाक्यों से मेल खाते हैं । देखिए—

(१)

मन एव जगत् सर्वं मन एव महारिपुः ।
मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम् ॥

(२)

मन एव महद्दुःखं मन एव ज्वरादिकम् ।
मन एव हि कालश्च मन एव मलं तथा ॥

(३)

मन एव हि सङ्कल्पो मन एव हि जीवकः ।
मन एव हि चित्तञ्च मनोऽहङ्कार एव च ॥

(४)

मन एव महद्बन्धं मनोऽन्तःकरणं च तत् ।
मन एव हि भूमिश्च मन एव हि तोयकम् ॥

(५)

मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान् ।
मन एव हि चाकाशं मन एव हि शब्दकम् ॥

(६)

स्पर्शं रूपं रसं गन्धं कोशाः पञ्च मनोभवाः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि मनोमयमितीरितम् ॥

(७)

दिक्पाला वसवो रुद्रा आदित्याश्च मनोभवाः ।
दृश्यं अण्डं द्वन्दजातमज्ञानं मानसं स्मृतम् ॥

अर्थात् यह सारा जगत् मन ही है । मन ही बहुत बड़ा शत्रु है । मन ही संसार है और मन ही तीनों लोक है । मन ही दुःख है, मन ही ज्वरादिक है; मन ही काल है, मन ही मल है, मन ही सङ्कल्प है, मन ही जीवक और मन ही मित्र है । मन ही अहङ्कार है, मन ही महाबन्धन है और मन ही अन्तःकरण है । मन ही पृथिवी है, मन ही जल है, मन ही तेज है, मन ही वायु है, मन ही आकाश है और मन ही शब्द है । स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और पञ्चकोष ये सभी मनोभाव हैं । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थायें मनोमय हैं । दिग्पाल, वसु, रुद्र, आदित्यादि भी मनोभाव ही हैं । अण्डज, उद्भिज आदि दृश्य पदार्थ और अज्ञान भी सब मन ही है ।

कन्नोमल, एम० ए०

गाज़ीपुर के गुलाब ।
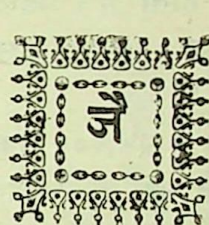
जैसे काश्मीर में केसर और महीसुर में चन्दन होता है वैसे ही गाज़ीपुर में गुलाब होता है । गाज़ीपुर के अतिरिक्त अन्यान्य स्थानों में भी गुलाब की खेती होती है, परन्तु जैसे अच्छे फूल गाज़ीपुर में होते हैं वैसे और कहीं नहीं होते ।

गुलाब दो प्रकार के होते हैं । एक बारहमासिया जो प्रायः साल में दो तीन बार फूलता है । उसके फूल रङ्ग विरङ्गे और छोटे बड़े होते हैं । उनमें सुगन्धि साधारण होती है । दूसरे का नाम चैती है । वह साल भर में एक ही बार फूलता है और खूब गुलाबी रङ्ग का होता है । वज़न में तीन चार माशे होता है ।

गुलाब के पौधे आषाढ़ या श्रावण में बिठाये जाते हैं । गुलाब के बीज नहीं बोये जाते । उसकी शाखाओं के आठ आठ अङ्गुल के टुकड़े काट कर उपजाऊ खेतों में, डेढ़ डेढ़ हाथ की दूरी पर, गाड़ दिये जाते हैं । वही पनप कर पेड़ हो जाते हैं और दूसरे वर्ष फूलने लगते हैं । एक दफ़े के लगाये हुए गुलाब के पेड़ दस साल से अधिक नहीं रहने पाते ।

क्योंकि आठ साल के बाद वे बूढ़े हो जाते हैं। फिर उनमें फूल नहीं लगते।

गुलाब के खेत को लोग साल भर में चार दफ़े गोड़ते हैं और एक या दो दफ़े उसमें खाद डालते हैं। समय समय पर पानी देते हैं। तथा अगहन के महीने में पेड़ों की काट छाँट होती है। प्रायः वसन्त-पञ्चमी से गुलाब फूलने लगते हैं और चैत्र भर में उनका फूलना बन्द हो जाता है।

गुलाब की वाटिकायें या खेत शहर के पश्चिम और उत्तर की ओर हैं। जब इनमें फूल लगते हैं तब नगर के निवासी सन्ध्या सबेरे वहाँ हवा खाने जाते हैं। वास्तव में वहाँ अलौकिक आनन्द मिलता है।

गुलाब की बिक्री गिनती से होती है। पहले ३०) या ४०) रुपये लाख बिकता था। पर अब उस का भाव १५०) तक पहुँच गया है।

एक बीघे में ५०,००० से लेकर १,२५,००० तक फूल हो सकते हैं। इससे यह सिद्ध नहीं कि कृषकों को अब विशेष लाभ होता होगा। भाव के साथ साथ खेतों का लगान भी बढ़ गया है। मज़दूरी भी दूनी हो गई है। खेती के सामान भी दूने, तिगुने और चौगुने दाम पर मिलने लगे हैं। जो बैल पहले २०) को मिलता था वही अब ७५) या ८०) को मिलता है। जो मोट पहले २) या २॥) की मिलती थी वही अब ८) या ९) की मिलती है। लोहे के सामान का तो नाम ही न लीजिए। इसके अतिरिक्त मज़दूरों की इतनी कमी हो गई है कि खेती का काम ठीक ठीक चलता ही नहीं। इससे अब फूल बहुत कम उपजता है और गुलाब की खेती आधी रह गई है। गुलाब की खेती के कम होने का एक कारण और भी है। वह यह कि विदेशी लैवेंडरों (सुगन्धित जलों) का प्रचार दिनों दिन बढ़ता जाता है। क्योंकि एक तो वह सस्ता होता है, दूसरे सामयिक सभ्यता के अनुकूल है।

जिस प्रकार और वस्तुओं के अर्क उतारे जाते हैं उसी प्रकार गुलाबजल भी खींचा जाता है। पर विशेषता यह है कि गुलाब का बास नहीं दिया जाता। फूल जितना ही टटका रहेगा अर्क उतना ही अच्छा होगा। फूलों को तोड़ कर घण्टे दो घण्टे तक भी कारख़ानेवाले रखना पसन्द नहीं करते। फूल आते ही देग में डाल कर भट्ठे पर चढ़ा दिये जाते हैं। गुलाबजल जब तैयार हो जाता है तब ठण्ढा होने पर भभके के मुँह पर तेल फैल जाता है। उसीको काँछ कर लोग अलग रख लेते हैं। इसी प्रकार इत्र भी बनाया जाता है। गुलाबजल या इत्र जिस दिन तैयार होता है उसके दो चार दिन बाद उत्तम सुगन्धि देता है। एक दो दिनों तक उसकी सुगन्धि दबी रहती है।

गुलाबजल ॥) आने बोतल से ५) बोतल तक बिकता है और साधारण इत्र, जिसमें चन्दन की ज़मीन दी जाती है, १) से १०) रुपये तोले तक बिकता है। रूहगुलाब, जिसे खरा इत्र भी कहते हैं, ८०) से लेकर १००) रुपये तोले तक बिकती है। उसका व्यवहार लक्ष्मीपात्र लोग ही करते हैं। सुना जाता है, बहुत दिन हुए, एक गवर्नर जनरल साहब इत्र के बड़े शौक़ीन थे। उनके लिए एक लाख फूलों का एक तोला इत्र तैयार किया गया था।

ग़ाज़ीपुर में अब गुलाब के कारख़ाने घट कर केवल दस बारह रह गये हैं। उनमें चार कारख़ाने बड़े हैं। उनमें स्त्री-पुरुष बारहों महीने काम करते रहते हैं। शेष कारख़ाने नाम मात्र के हैं। महीने दो महीने जारी रहते हैं, फिर बन्द। बड़े कारख़ानेवाले कृषकों को अगाऊ रुपये भी देते हैं। पर सब किसान तक़ावी नहीं लेते। वे स्वयं अपने व्यय से खेती करते हैं।

ग़ाज़ीपुर के माल की खपत बङ्गाल विहार में अधिक है। संयुक्त प्रान्त, राजपूताना और पञ्जाब में भी है, पर अधिक नहीं। गुलाबजल की पहुँच तो पश्चिम तक नाम मात्र ही के लिए है; क्योंकि

वहाँ उसे फ़ारिस के गुलाबजल का सामना करना पड़ता है और सस्तेपन में हार खानी पड़ती है। कारण यह कि फ़ारिस से जो गुलाब-जल पश्चिमी भारत में आता है वह जहाज़ पर आता है। इसी-लिए किराया बहुत कम देना पड़ता है। यदि गाज़ीपुर से वहाँ गुलाब भेजा जाय तो रेल्वे का महसूल अधिक देना पड़े।

दैव की विमुखता से गाज़ीपुर दिनों दिन हीनावस्था को प्राप्त होता जाता है। पहले वहाँ चालीस बयालीस हज़ार से भी अधिक मनुष्य रहते थे। पर अब उनकी संख्या घट कर २२ हज़ार रह गई है। जिधर देखिए गिरे पड़े खँडहर दिखलाई पड़ते हैं। सब व्यापार मिट्टी में मिल गये। नगर-निवासी भूख और प्लेग से मर मिटे। कुछ लोग भग कर अन्यत्र जा बसे।

गुलाब का व्यापार वहाँ कब से होता है, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। पर गुलाब होता है वहाँ बहुत प्राचीन काल से। दुःख की बात है, उसकी दशा दिनों दिन शोचनीय होती जाती है। समय के फेर या ईश्वरेच्छा से अनुकूल वर्षा नहीं होती। इसी कारण गुलाब की खेती में कभी कभी घाटा होता है। क्योंकि गुलाब अतिवृष्टि होने पर नहीं होता और सूखा पड़ने पर भी नहीं होता। उसके लिए सामान्य वृष्टि और घाम की आवश्यकता होती है। मेरी समझ में यदि गुलाब की खेती और कारख़ाने के काम नये ढँग से किये जायँ तो सम्भव है, विशेष लाभ हो।

रामचरित उपाध्याय।

ताजमहल।

मूर्त्ति भव्य है किन्तु हृदय तो है केवल पाषाण।
अश्रुजलों से होसकता है क्या इसका निर्माण?
मैंने सोचा, शाहजहाँ का यह कैसा प्रतिदान।
इस उज्ज्वल कठोरता से क्या हुआ प्रेम का मान।
ज्यों ही यमुनाजी पर मेरी पड़ी अचानक दृष्टि।
समझ गया मैं, प्रेमभाव की होती कैसी सृष्टि।
ताप-पुञ्ज से रवितनया यह जैसे हुई प्रसूत।
गिरि के वज्र-हृदय से होती वारि-राशि उद्भूत।
है नैराश्य, विषाद, प्रेम का, ताजमहल, तू धाम।
तुझ में ही कर सकता है वह प्रेमपुञ्ज विश्राम।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए०

सत्रहवीं सदी के अर्थशास्त्रियों के विचार।

जब तक किसी देश की आर्थिक अवस्था उन्नत और सन्तोष-जनक न हो, वह सर्वाङ्ग उन्नत नहीं कहा जा सकता। हर युग में देश के सुधारकों तथा नेताओं ने इस बात की चेष्टा की है, कि उनका देश समृद्धिशाली हो और किसी व्यक्ति को आर्थिक कष्ट न हो। पर स्वभावतः जिस मनुष्य की जितनी योग्यता होती है उतनी ही उसके सुधारों तथा कार्यों में प्रतिबिम्बित होती है और उतने ही दरजे की श्रेष्ठता भी उसकी कार्य्यावली में पाई जाती है। लोग अपने युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नाना प्रकार के उपाय सोचा करते हैं। आज जो उपाय उन्होंने सोच रक्खे हैं, सम्भव है, वे दूसरे युग में हानिकर हों। युग के साथ साथ उपचार और साधन भी बदलते रहते हैं। जो साधन सत्रहवीं सदी में अनुकूल समझे गये थे वे आज प्रतिकूल हो सकते हैं और जो आज लाभकारी हैं वे कल हानिकारी हो सकते हैं। इस लेख में यह विचार किया जायगा कि सत्रहवीं शताब्दी में योरप के अर्थ-शास्त्रियों के क्या विचार थे, उनसे उनकी अवस्था कहाँ तक

सुधरी और आज उन से कहाँ तक लाभ पहुँच सकता है।

जिस समय का विचार करना है उसे हम आधुनिक काल का प्रारम्भिक भाग कह सकते हैं; क्योंकि आधुनिक काल साधारणतः कुस्तुनतुनिया के विजय-काल से शुरू होता है। यह महत्त्व-पूर्ण ऐतिहासिक घटना पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम दशांश में हुई थी। इस समय योरप में नये नये राज्यों की सृष्टि हो रही थी और प्रत्येक राजा इस बात की सिरतोड़ कोशिश कर रहा था कि किस प्रकार वह अन्य राज्यों से आर्थिक विषय में स्वतन्त्र रहे। उस समय के लोगों का विचार था कि जिस प्रकार प्रत्येक परिवार आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए कोशिश करता है और साधारणतः स्वतन्त्र भी रहता है उसी प्रकार प्रत्येक राज्य को भी चाहिए कि वह दूसरे राज्यों पर अवलम्बित न रहने की कोशिश करे। जहाँ तक सम्भव हो, देश के लिए सभी आवश्यक पदार्थ देश में ही पैदा किये तथा बनाये जायँ; क्योंकि जो माल बाहर से मँगाया जायगा उस के लिए दाम देने होंगे और उतना सोना-चाँदी देश से निकल जायगा। लोगों का ख़याल था कि सब देश एक साथ अमीर नहीं हो सकते। यदि एक अमीर होगा तो दूसरा अवश्य उतना ही ग़रीब होगा। क्योंकि अमीर देश ग़रीब देश के ही रुपये से अमीर होता है। इसलिए उस समय व्यापारियों का ख़याल था कि देश की उन्नति के लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि किसी न किसी प्रकार देश में सोने-चाँदी की अधिकता हो। प्रश्न हो सकता है कि देश की अमीरी केवल उसके सोने चाँदी के परिमाण पर ही अवलम्बित नहीं होती। सम्भव है, जिस देश में, सोना-चाँदी नहीं के बराबर हो, वह किसी दूसरे देश से, जिसमें सोने-चाँदी की खानें हों, अधिक सुखी और अमीर हो। तब क्या कारण है, कि उस समय के लोग इस बात पर इतना ज़ोर देते थे? इस के प्रधान कारण दो हैं। एक तो यह कि उस समय विनिमय में द्रव्य के (Money) माध्यम होने का विचार बड़े ज़ोरों से फैल रहा था और साथ ही भिन्न भिन्न राष्ट्रों के साथ व्यापार की भी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही थी। उस समय सोने-चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं की अधिकता होने से लोगों में उन्हीं का व्यवहार बढ़ रहा था और वे इन्हें बड़े मोल की चीज़ें समझते थे। स्पेन को अपने उपनिवेशों से अपरिमित सोना-चाँदी खींचते देख, इँगलेंड तथा अन्य राज्य मन ही मन कुढ़ रहे थे और चाहते थे कि किस प्रकार उन्हें भी ऐसा ही मौक़ा मिले। दूसरा कारण, यह था कि उस समय स्थायी सेना रखने की पद्धति प्रचलित थी और युद्ध-सञ्चालन के तरीक़ों में आश्चर्य्य-जनक परिवर्तन हो रहे थे। इस कारण सरकार को रुपयों की बड़ी आवश्यकता थी। स्थायी सेना के प्रत्येक सैनिक के मासिक वेतन तथा और आवश्यक सेना-सम्बन्धी ख़र्च के लिए बहुत अधिक रुपयों की आवश्यकता थी। पहले जिस युद्ध में दस बीस हज़ार से काम चल जाता था अब उसी के लिए लाखों की ज़रूरत थी। पहले तो सरकार ने इस उद्देश की सिद्धि के लिए रुपये जमा करना निश्चय किया और कई वर्षों तक ऐसा किया भी; पर, इससे उसे बड़ी हानि होने लगी। इसके बाद उसने सोचा कि ऐसा न करके यदि सर्वसाधारण के ही हाथों में अधिक द्रव्य-सञ्चय का प्रबन्ध किया जाय तो अच्छा होगा; क्योंकि इससे उसका व्यवहार भी होता रहेगा और, आवश्यकता उपस्थित होने पर, सरकार उनसे ज़रूरी रक़म ले भी सकेगी। इस उद्देश की पूर्ति के लिए सरकार ने नियम कर दिया कि अब से सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य पदार्थ देश से बाहर किसी तरह न भेजे जायँ। पर ऐसा होना नितान्त असम्भव था—चुपचाप कुछ न कुछ माल देश से निकल ही जाता था। जब यह उपाय सफल होता न देख पड़ा तब यह सोचा

गया कि यदि हम लोग ख़रीद करने के बदले बिक्री अधिक करें तो अवश्य ही देश में सोने-चाँदी का प्रवेश अधिक होगा। इस लिए सर्वसाधारण से कहा गया कि वे विदेशी चीज़ों का व्यवहार बन्द कर दें और, यथाशक्ति, देशही की बनी हुई चीज़ें काम में लावें। साथ ही नई नई तरकीबें निकाल कर देश के उद्योग-धन्धों में उन्नति करने के लिए उन्हें उत्साह दिया गया। वे बाहर से कच्चा माल मँगाने के लिए उत्साहित किये गये। इसी अभिप्राय से कुछ चीज़ों का आना विदेश से बन्द कर दिया गया।

इस प्रकार इँगलेंड को अपनी आर्थिक उन्नति करने के लिए प्रकारान्तर से विदेशी माल का बायकाट (Boycott) सा करना पड़ा। यह पद्धति बहुत दिनों तक जारी रही और तब तक बन्द न हुई जब तक लोगों ने यह न देख लिया कि अब उद्योग-धन्धे अप्रतिबन्ध-व्यापार से ही बढ़ सकते हैं।

सुधारकों ने विदेशी व्यापार पर बहुत अधिक ज़ोर दिया, उनकी समझ में स्वदेश में ही व्यापार करने से दूसरे देशों के साथ व्यापार करना अधिक लाभदायक था। उनके ख़याल में बहुमूल्य धातुओं को अपने देश में खींचलाने का एक मात्र यही उपाय था। प्रसिद्ध व्यापारी टामस मन (Thomas Mun) लिखता है—"अपने देश की सम्पत्ति तथा सोना-चाँदी आदि बहुमूल्य पदार्थों की प्राप्ति का एक मात्र उपाय विदेशी व्यापार है। इसकी पूरी उन्नति होनी चाहिए, क्योंकि इसी पर राजा की आय, राज्य की प्रतिष्ठा, व्यवसायियों का व्यवसाय, कला-कौशल के विद्यालय, दरिद्रों की रक्षा, भूमि की उन्नति, सामुद्रिक सैनिकों की व्यवस्था, द्रव्यप्राप्ति का साधन, तथा युद्ध की सामग्रियों का उपार्जन अवलम्बित है"।

इससे अच्छी तरह मालूम होता है कि किस प्रकार उस युग के लोग विदेशी व्यापार पर ज़ोर देते थे। इसी तरह वे खेती-बारी की अपेक्षा तैयार माल बनाना बहुत लाभदायक समझते थे। क्योंकि ऐसी चीज़ों का परिमाण कम होने पर भी मूल्य अधिक होता है।

पर कितने ही पाठकों के मन में यह सन्देह पैदा हो सकता है कि केवल विदेशी व्यापार की वृद्धि से ही किस प्रकार देश की आर्थिक अवस्था सुधर सकती है। परन्तु उन लोगों ने स्पष्टरूप से इस बात का नियम सा कर दिया कि आमदनी से रफ़्नी की लागत अधिक होनी चाहिए; अर्थात् रोकड़-बाक़ी (Balance) अपने ही देश के अनुकूल होनी चाहिए। पर उस रोकड़-बाक़ी की अनुकूलता के विषय में लोगों का पूर्णरूप से मतैक्य न था। कोई कहते थे कि इसी से अपने देश का धन बढ़ सकता है। उन्हें इस बात का ख़याल न था कि देश का धन उसकी योग्यता से घटता बढ़ता है, न कि रोकड़-बाक़ी से। रोकड़-बाक़ी की अनुकूलता तो उसका परिणाम मात्र है। कुछ लोगों का विचार था कि इसीसे अन्य देशों की सम्पत्ति हरण की जा सकती है। वे इस विषय के भीतर इतना डूब न सके, कि उन्हें पता लगता कि किसी देश की रोकड़-बाक़ी की अनुकूलता सर्वदा अपरिवर्तनीय रूप से एकही स्थिति में उसके लाभ की सूचक नहीं हो सकती। कितने ही लोगों का ख़याल था कि रफ़्नी आमदनी से जितनी ही अधिक होगी उतनी ही अपने देश की वार्षिक बचत (Net profit) समझनी चाहिए। यह तीसरा विचार, साधारणतः तत्कालीन लोगों में प्रसृत था। पर यह कितना भ्रमात्मक और सदोष है, इसे पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

अभी तक हमने यह बताने की चेष्टा की कि सत्रहवीं सदी के अर्थशास्त्रियों के विचार क्या थे। अब हम संक्षेप में यह बताना चाहते हैं कि वे इन विचारों को कार्य्य में परिणत करने के लिए किन किन उपायों का अवलम्बन करने की सिफ़ारिश करते थे।

(१) उनकी पहली सिफ़ारिश यह थी कि काम करनेवालों की संख्या बढ़ाई जाय। इस लिए

वे धार्म्मिक सहिष्णुता, इच्छानुसार मज़दूर और माल तैयार करने के चर्खे आदि रखने की स्वाधीनता, दरिद्रों की रक्षा तथा शिक्षा आदि का प्रबन्ध करने की राय देते थे।

(२) उन की दूसरी सिफ़ारिश तैयार माल अधिक बनाने की थी। इस लिए वे पूर्वोक्त साधनों के सिवा हुण्डियों के व्यवहार, जहाज़-सम्बन्धी क़ानूनों को काम में लाने तथा कई प्रकार के संरक्षण-मूलक उपायों पर भी बहुत अधिक ज़ोर देते थे। इसी अभिप्राय से वे ज़ियादह छुट्टियाँ भी देने के ख़िलाफ़ थे।

(३) उनकी तीसरी सिफ़ारिश यह थी कि जहाँ तक सम्भव हो व्यापार की कठिनाइयाँ दूर की जायँ, जिससे सब प्रकार के लोग आसानी से व्यापार कर सकें। इस लिए उपर्युक्त उपायों के सिवा यह बतलाया जाता था कि व्याज की दर कम की जाय और जहाज़ों की संख्या अधिक बढ़ाने का प्रबन्ध किया जाय।

(४) चौथी और अन्तिम सिफ़ारिश यह थी कि ऐसा उपाय किया जाय जिससे अन्य देशवाले हमारे साथ व्यापार करने में ही अपनी भलाई समझें। इस लिए इस बात की ज़रूरत थी कि वे हमें आदर की दृष्टि से देखें और यह तब तक नहीं हो सकता जब तक अपनी स्थल तथा जल दोनों प्रकार की सेनायें न बढ़ाई जायँ। कम मूल्य पर अपना माल न बेचा जाय; ईमानदारी से व्यवहार-बट्टा न किया जाय; और बाहर के पक्के माल की माँग कम न की जाय।

इन्हीं उद्देशों से इँगलेंड में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि जिस क़ानून से (Corn Law) बाहर से अनाज आदि का लाया जाना मना है वह जारी रहे, जिससे अपने ही देश की वह भूमि जो अभी तक पड़ती पड़ी है काम में लाई जाय और देश स्वावलम्बी हो। व्यापार की वृद्धि के लिए बैंक खोले जाने लगे और ब्रिटिश जहाज़ों द्वारा माल लाने ले जाने की व्यवस्था की गई। ख़रीद-बिक्री की आसानी के ख़याल से हुण्डियों के अधिकाधिक व्यवहार पर ज़ोर डाला जाने लगा, जिससे व्यापार में वृद्धि हो और जिन देशों में अब तक माल न भेजा गया था वहाँ भी तैयार माल भेजने का सुभीता हो। इसी समय उपनिवेशों को ताक़ीद की गई कि वे सिवा कच्चा माल पैदा करने के तैयार माल बनाने की ओर ध्यान न दें, तैयार माल सब इँगलेंड से ही भेजा जायगा। उपनिवेश इँगलेंड को छोड़ कर अन्य देशों से माल मँगाने से रोक दिये गये। इतना ही नहीं, बल्कि ब्रिटिश जहाज़ों को छोड़ कर अन्य जहाज़ों से काम तक न लेने की मुमानियत हो गई। इस प्रकार नाना प्रकार की रुकावटों से लोग जकड़ दिये गये, जिसका परिणाम बड़ा ही भयङ्कर हुआ। उसके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं।

इन सब नियन्त्रणों का मतलब था अपने देश की धन-वृद्धि। पर इस कार्य्य में पूर्ण रूप से सफलता न हुई। फ़्रांस में तो इस नीति की कठोरता और भी बढ़ गई थी। वहाँ तो व्यापारियों तथा उद्योग-धन्धा करनेवालों पर इतनी कड़ाई होती थी कि उसका हाल पढ़ते ही बनता है। बिना किसी प्रकार के विचार के वहाँ की सरकार जिसको चाहती और जहाँ चाहती कच्चा माल बेंचती; जिसे चाहती माल तैयार करने की आज्ञा देती; वह यह भी निश्चय करती कि अमुक स्थान से ही अमुक रीति से अमुक माल बनाया जाय। ख़रीदनेवालों की रुचि पर ध्यान न देकर, सरकार की आज्ञा का अक्षरशः पालन करना पड़ता। ज़रा भी नियम-प्रतिकूलता होने पर कलें तोड़ दी जातीं, और तैयार हुआ माल जला दिया जाता। कहने का तात्पर्य यह कि उस समय व्यापार और उद्योग-धन्धों की देख-रेख, एक प्रकार से, सरकार के ही हाथ में थी। यही बात प्रशिया में भी थी। वहाँ भी बहुत से क़ानून बनाये गये थे, जिनसे देश की आर्थिक उन्नति का होना सम्भव समझा जाता था।

पीछे के अर्थ-शास्त्रियों ने इन विचारों तथा

सिद्धान्तों की बड़ी कड़ी समालोचना की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्वोल्लिखित सिद्धान्त, सदा के लिए, ठीक न थे। उनमें से कुछ भ्रमात्मक भी थे। उदाहरणार्थ—यह सिद्धान्त कि एक देश का लाभ दूसरे देश की हानि से ही हो सकता है अथवा यह कहना कि आमदनी से रफ़्नी जितनी अधिक होगी देश की धन-वृद्धि उतनी ही होगी। पर यह स्मरण रहे कि जिस युग में इन विचारों का प्रचार हुआ और उनके अनुसार कार्य्य भी हुए। उसने कुछ समय के लिए लाभ ही उठाया। इँगलेंड, फ़्रान्स और प्रशिया ने तैयार माल बाहर भेज भेज कर निश्चय ही स्पेन को नङ्गा बना दिया और वहाँ का सोना और चाँदी खिंचकर पूर्वोक्त देशों में एकत्र हो गई।

सुपार्श्वदास गुप्त, बी० ए०

———

विविध विषय।

१—अँगूठे के चिह्नों के प्रथम प्रयोक्ता।

दस्तावेज़ों इत्यादि में अँगूठे की निशानी कराने की प्रथा भारतवर्ष में बहुत वर्षों से है। अब तो इस विषय की पुस्तकें तक छप गई हैं। एक पुस्तक उर्दू में भी हमारे देखने में आई है। सर विलियम हर्शल ने इस प्रथा का प्रचार इस देश में किया। इँगलेंड में सर फ़्रांसिस गाल्टन ने यह प्रथा पहले पहल चलाई थी। उसी का अनुकरण भारत में किया गया। अँगरेज़-विद्वानों का यह ख़याल था कि इस प्रथा के आविष्कारक उन्हीं के देशवासी हैं। पर यह बात अब ठीक नहीं मालूम होती। माडर्न-रिव्यू में अमेरिका के दो सामयिक पत्रों के आधार पर, अभी, हाल में, यह प्रकाशित हुआ है कि इस प्रथा के आदि-आविष्कारक चीनवाले हैं। उनसे इसे तिबतवालों और जापानियों ने सीखा। सुलेमान नाम के एक अरब-निवासी व्यापारी ने, ८५१ ईसवी में, इस प्रथा के प्रचार का उल्लेख किया है। एक फ़रासीसी लेखक ने भी उसके कथन की पुष्टि की है। अतएव अब यह निर्भ्रान्त बात है कि चीन में दस्तावेज़ों पर अँगूठे के निशान हज़ारों वर्ष पूर्व भी लगाये जाते थे। सो अँगरेज़ों की चलाई हुई यह प्रथा नई नहीं, बहुत पुरानी है और इसके प्रचार का श्रेय चीनवालों को ही मिलना चाहिए।

२—जापान का डाक-प्रबन्ध।

"जापान-मैगेज़ीन" नाम के एक जापानी पत्र से वहाँ के डाकख़ानों से सम्बन्ध रखनेवाली कितनी ही बातें ज्ञात होती हैं। जापान में डाक का प्रबन्ध प्रचलित हुए सिर्फ़ ४५ वर्ष हुए। इतनी ही अवधि में वहाँ ८००० डाकघर खुल गये हैं। डाक के कर्म्मचारी जनता के साथ बड़ी सभ्यता का बरताव करते हैं। डाक बाँटने का प्रबन्ध भी अच्छा है। चिट्ठीरसों का वेतन बहुत कम है; तिस पर भी वे १० घण्टे रोज़ ख़ुशी से काम करते हैं। जब कोई चिट्ठी-रसा भरती किया जाता है तब उसे एक नोट-बुक दी जाती है। उसमें लिखा रहता है कि चिट्ठी-रसा का काम क्या है। उस समय उसे यह भी बता दिया जाता है कि देखो, तुम्हारी तरक़्क़ी तुम्हारे ही हाथ में है। तुमको अपना काम अच्छी तरह दिल लगा कर ईमानदारी से करना चाहिए। जितनी ही ईमानदारी से तुम काम करोगे उतनी ही तुम्हारी तरक़्क़ी होगी। नोट-बुक में यह भी लिखा रहता है कि चिट्ठीरसों को अपना काम किस तरह करना चाहिए और काम करते वक़्त किन किन बातों पर ध्यान रखना चाहिए। लोगों से सभ्यता का व्यवहार करना, सादगी से रहना, आने जाने के रास्ते याद रखना, अपने साथियों से मेल-जोल रखना और डाक घर से २½ मील से अधिक दूर न रहना—इसी तरह की और भी कितनी ही हिदायतें उन्हें दी जाती हैं।

गरमी के दिनों में लोग अक्सर पहाड़ों पर चले जाते हैं। उनके सुभीते के लिए पहाड़ों पर भी अस्थाई डाकख़ाने खोल दिये जाते हैं। उन दिनों चिट्ठीरसा लोगों को प्रायः रोज़ पहाड़ों पर भी चढ़ कर चिट्ठियाँ बाटनी पड़ती हैं।

जापान के डाकख़ानों में काम प्रायः वैसा ही होता है जैसा कि इँगलिस्तान के डाकख़ानों में होता है। परन्तु उनमें कुछ विशेषतायें भी हैं। केवल डाक रवाना करना और बाँटना ही उनका काम नहीं; कर वसूल करना और यहाँ से वहाँ रुपया भेजना भी उन्हीं के सिपुर्द है। चिट्ठियाँ और—

पारसल तकसीम करने की प्रणाली भी उन की अपने ढँग की है। उन के सेविंग बैङ्कों में लाखों रुपये का लेन देन होता है। कुछ बैङ्कों के डिबेन्चर भी डाकघरों में बिकते हैं। जापान के बेतार के टेलीफ़ोन अन्य जगहों के टेलीफ़ोनों से उत्तम हैं। जापानियों ने ही उनका आविष्कार किया है। ख़तरे की ख़बर पहुँचाने की तरकीब ते वहाँ की बहुत ही बढ़ी चढ़ी है। ये टेलीफ़ोन भी डाकख़ानों ही की निगरानी में रहते हैं।

३—जङ्गलों का प्रभाव।

मिस्टर बेन्सकिन जङ्गली मुहकमे के एक बड़े अफ़सर हैं। जङ्गलों के प्रभाव के विषय में उन्होंने एक महत्त्व-पूर्ण लेख लिखा है। वह लेख विशेष कर संयुक्त प्रदेश से सम्बन्ध रखता है। इस प्रदेश की सम्पत्ति और व्यापार की उन्नति के मूल कारण कृषि और जङ्गल हैं। परन्तु कृषि की उन्नति कहाँ तक जङ्गलों से सम्बन्ध रखती है, इस पर लोग बहुत कम ध्यान देते हैं। प्रकृति अन्तरिक्ष में काम करनेवाली अपनी शक्तियों का ठीक ठीक प्रयोग जङ्गलों ही के ज़रिये से करती है। मेघ समुद्र से जल ला कर जङ्गलों की सहायता से उसे दूर दूर स्थलों तक पहुँचाते हैं। जङ्गलों के कारण पृथ्वी बहुत कटने नहीं पाती और प्रवाह के रुकने से पानी ज़मीन में अच्छी तरह जज़्ब हो जाता है।

जिन देशों में हर तरह की कारीगरी या शिल्प ने बड़ी उन्नति की है वहाँ यह ख़याल है कि प्रत्येक प्रदेश के रक़बे का २० फ़ी सदी भाग जङ्गल होना चाहिए, तभी देश की सब आवश्यकतायें पूरी हो सकती हैं। संयुक्त प्रदेश में कुल रक़बे का केवल ८ फ़ी सदी भाग जङ्गल है। फिर जङ्गल भी उन स्थानों से बड़ी दूर हैं जहाँ शिल्प-सम्बन्धी बड़े बड़े काम होते हैं। जर्मनी में जङ्गल उन शहरों के किनारे तक चले आये हैं जहाँ जङ्गली पदार्थों से कारीगरी की चीज़ें बनाई जाती हैं। क़रीब ३०००००० लोगों की जीविका जङ्गलों ही से चलती है। जो हो, वर्तमान युद्ध ने जङ्गलों की महिमा और भी बढ़ा दी है। यदि लोग संयुक्त प्रदेश के जङ्गलों से फ़ायदा उठाना चाहें ते बहुत कुछ उठा सकते हैं। बहुत सी चीज़ें जो अन्य देशों से आती हैं, यहीं सुलभ हो जायँ। जङ्गलों को बिना सोचे समझे उजाड़ डालने से पहले बहुत कुछ हानि हो चुकी है और अब भी होने की सम्भावना है। ग्रीस, ट्रिपोली, पेलस-टाइन, अरब आदि देशों में जङ्गलों के कट जाने से बहुत उथल पुथल हो चुका है। उनकी पैदावार में बड़ा फ़र्क़ आगया है। बात यह है कि नदियों या नहरों का प्रवाह तभी ठीक ठीक रहता है जब उद्गम के निकट उनका समुचित रोक-थाम हो जाय।

संयुक्त प्रदेश में जङ्गलों के कट जाने से क्या फल हुआ और होगा यह विचार वैज्ञानिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। उदाहरण के लिए यमुना की उपत्यका ही लीजिए। यमुना का उद्गम यमुनोत्री से ५ मील उत्तर और बन्दर-पूँछ से ८ मील पश्चिम की ओर है और उसकी लम्बाई क़रीब ८६० मील है। इसकी १७ शाखायें या सहायक नदियाँ हैं जिनमें से ५ हिमालय ३ सेवालिक ३ विन्ध्य-पर्वत १ सत्पुड़ा पहाड़ और ५ दोआब में हैं। इन शाखा-नदियों की उपत्यकाओं के जङ्गलों की ओर निगाह डालिए। वहाँ दिनोंदिन वन का अभाव होता जाता है। इसी से उन नदियों में बह कर जानेवाले पानी की किसी प्रकार की रोक नहीं। पानी गिरते ही बाढ़ आती है। पिछले ५० वर्षों में बाढ़ की वजह से सहारनपुर—तराई की भूमि, जिसमें कृषि होती थी, कम हो गई। ऐसी ही हानि देहरादून के ज़िले में भी देखी जाती है। नदियों ने न केवल अपना मार्ग ही बदल दिया है किन्तु अब बड़े वेग से बहती भी हैं।

जहाँ मैदान हो गये हैं वहाँ जङ्गल नहीं हो पाते। घास और पैादे उगते ही पशुओं के पेट में पहुँच जाते हैं। अगर इसके रोकने का प्रबन्ध किया जाता तो नदियों की पुरानी सतहों पर शीशम और खैर के जङ्गल लग गये होते। नदियों के आस पास की पहाड़ियों पर घने वन न होने से बरसात का पानी थमता नहीं, मिट्टी भी बह जाती है और एकदम ऐसी बाढ़ आती है कि न सिर्फ़ सिँचाई के इन्तज़ाम ही बिगड़ जाते हैं बल्कि धीरे धीरे नदियों की सतह भी धसकने लगती है।

इन्हीं कारणों से इटावे में यमुना की सतह पिछले ५०० वर्ष के भीतर ही क़रीब ६० फुट नीची हो गई है। इसीलिए पानी के चश्मे भी और नीचे हो गये हैं। इटावा और जालैान के ज़िलों में जाड़े के दिनों में यमुना आस पास की भूमि से १२० फुट से लगा कर २०० फुट तक

नीचे बहती है। जैसे जैसे नदियों की सतह नीची होती जाती है कुँओं की गहराई बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि कहीं कहीं २०० फुट नीचे पानी मिलता है।

आगरा, इटावा और जालौन के ज़िलों में यमुना के किनारों के पास की ज़मीन पर पानी ठहरता ही नहीं। वहाँ सब्ज़ी बहुत कम रहती है। जो कुछ भी है धीरे धीरे ग़ायब होती जाती है। सिर्फ़ इटावा ही के ज़िले में ये खुश्क मैदान हर साल क़रीब २५० एकड़ के होते जाते हैं। ऊँची ज़मीन से पानी इतने ज़ोर से बहता है कि बड़े बड़े दर्रे या दरियाँ होगई हैं। ऐसी दर्रेवाली ज़मीन का रक़बा इटावे के ज़िले में १२००० एकड़ है। कुल संयुक्तप्रदेश में तो लाखों एकड़ ज़मीन ऐसी दर्रेदार बन कर रह गई है जो बहुत कम काम में आती है। कृषि की कौन कहे, वहाँ पीने को पानी ही कठिनता से मिलता है। कुछ दिनों से सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। वह इस उजाड़ दर्रेदार ज़मीन को फिर सरसब्ज़ करना चाहती है। सन् १८८२ में इटावे के कलक्टर फ़िशर साहब ने बड़ी कोशिश की; उनका प्रयत्न कुछ सफल भी हुआ। सन् १९१२ में सरकार ने फिर इन दरियों में वृक्ष लगा कर जङ्गल बनाने की कोशिश की। ईश्वर करे उसे इस कार्य्य में सफलता हो। परन्तु वेन्सकिन साहब के मतानुसार इस कार्य्य में पूर्ण रूप से सिद्धि तभी होगी जब नदियों के उद्गम के पासवाली उपत्यकाएं वन-शून्य न होने पावेंगी।

४—युक्तप्रान्तीय बारहवीं औद्योगिक कान्फ़रेन्स के सभापति का संभाषण।

इस प्रान्त की बारहवीं औद्योगिक कान्फ़रेन्स का अधिवेशन गत मास अलीगढ़ में हुआ। सभापति थे राय कृष्ण जी। राय साहब काशी के प्रसिद्ध रईस हैं। आप का व्यापार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उन का संभाषण सार-गर्भित होना ही चाहिए। आपने अपना संभाषण अपनी और अधिकांश श्रोताओं की मातृभाषा हिन्दी ही में किया। इस से बहुतेरे बाबू लोग चिढ़े से मालूम होते हैं। ये महात्मा क्यों ख़फ़ा हो गये समझ में नहीं आता। संभाषण का अनुवाद भी अँगरेज़ी में प्रकाशित कर दिया गया, परन्तु अब भी इन की रुष्टता नहीं जाती। मातृभाषा में वक्तृता करके मानो राय साहब ने इन महात्माओं की मान-हानि कर दी! अँगरेज़ी समझते कितने लोग हैं? क्या सभापति का संभाषण सिर्फ़ सभा में उपस्थित अँगरेज़ी जाननेवाले सज्जनों ही के लिए हुआ करता है या औरों के लिए भी? फिर बुरा मानने की कौन बात हुई? किस देश ने अपनी भाषा का अनादर करके उन्नति की है? परन्तु हठ का कोई जवाब नहीं।

राय साहब का भाषण सरल हिन्दी में है। अपने देश की औद्योगिक उन्नति चाहनेवाले सभी लोगों के ध्यान से पढ़ने योग्य है। आपने व्यापार की उन्नति के लिए जो उपाय बतलाये हैं उन में से कुछ ये हैं—

१—प्रान्तीय अन्वेषण-विभाग (रिसर्च इन्स्टिट्यूट) खोलना, जो खोज और जाँच करके दिखलावे कि जो चीज़ें यहाँ पैदा होती या पाई जाती हैं उनके क्या क्या गुण हैं, उनका उद्योग से क्या सम्बन्ध है, वे किस तरह उपयोग में लाई जा सकती हैं और पानी की शक्ति (वाटर-पावर) से कहाँ काम लिया जा सकता है।

२—योग्य हिन्दुस्तानियों को शिल्पकला-विज्ञान (Technical) की और उद्योग की शिक्षा देना।

३—स्टेट सेक्रेटरी का स्टोर डिपार्टमेन्ट (यहाँ के लिए विलायत में सामग्री ख़रीदने का विभाग) बन्द करना।

४—गवर्नमेन्ट की ज़रूरत की सब चीज़ें हिन्दुस्तान में ख़रीदना। जो चीज़ें यहाँ न मिल सकें उन्हें जहाँ तक हो सके हिन्दुस्तानियों की मार्फ़त ख़रीदना।

५—शिल्प-कला-विज्ञान-विषयक सलाह देना।

६—औद्योगिक जानकारों को मँगनी देना (सर्विसेज़ आफ़ Experts)।

७—रुपये की मदद।

(क) दान।

(ख) क़र्ज़ बिला सूद या कम सूद पर या दोनों।

(ग) जो मुनाफ़े पर या कल-कारख़ाने पर या दोनों पर दैन मुक़द्दम होगा।

(घ) रिआयती हिस्सा ख़रीदना।

(Preference share).

८—कच्चा या किसी क़दर तैयार माल जुटा देने का प्रबन्ध कर देना।

९—यहाँ के उद्योग और व्यापार की उन्नति के लिए रेलवे और ज़हाज के किराये की किफ़ायत वग़ैरह करा देना।

१०—गारंटी करना—

(क) कुल तैय्यार माल या उसका कुछ हिस्सा ख़रीदने की।

(ख) कम से कम मुनाफ़े की।

११—परीक्षा के लिए कारख़ाने खोलना और लाभ या लाभ की पूरी आशा होने पर उन्हें बेच देना।"

राय साहब ने भारतवर्ष में जहाज़ों के बनाये जाने के विषय में भी बड़ा ज़ोर दिया। आपने जो सम्मति इम्पीरियल इन्डस्ट्रियल डिपार्टमेंट के स्थापित होने के विषय में दी है उस पर लोगों का मत-भेद हो सकता है।

५—तेल से चलानेवाले एञ्जिन और कृषि में उनका प्रयोग।

हमारे देश की खेती जिस ढँग से आज कल की जाती है वह अब भी वही है जो सैकड़ों क्या हज़ारों वर्षों से प्रचलित है। यहाँ के किसानों को नये नये आविष्कारों का पता ही नहीं। अमेरिका और योरप में नये यन्त्रों की बदौलत थोड़े परिश्रम से लोग बड़ा लाभ उठाते हैं। ख़र्च में भी किफ़ायत होती है। यहाँ भी कुछ दिनों से खेती के मुहकमों की ओर से इस बात की कोशिश की जा रही है कि खेती नये ढँग से की जाया करे जिससे पैदावार भी बहुत हो और परिश्रम भी थोड़ा ही करना पड़े। परन्तु हमारे देश के किसान एक तो लकीर के फ़कीर हैं, दूसरे प्रायः अशिक्षित होने के कारण नये नये आविष्कारों से वे पूरा फ़ायदा नहीं उठा सकते। तीसरे खेती के मुहकमों की कारवाइयाँ और आविष्कार अँगरेज़ी में होने से लेबोरेटरी में ही बन्द पड़े रह जाते हैं। बहुत कहने सुनने से अब इस देश की भाषाओं में भी कुछ बातें प्रकाशित की जाने लगी हैं। अस्तु। थोड़े दिन हुए बम्बई प्रान्त में बाज़ जगह मोटों के स्थान पर तेल के एंजिन चला कर खेत सींचे गये। पड़ता लगाया गया, बड़ी किफ़ायत नज़र आई। बेचारे बैल मिहनत से बचे। सिंचाई गन्ने के खेतों में की गई थी। धारवार, बेलगाँव, जलगाँव, सतारा और शोलापुर में इसका तजरुबा किया गया। तजरुबे का नतीजा नीचे दिया जाता है—

मोट या पुर से सिँचाई का फल

	ज़िला	कितनी फुट की ऊँचाई से पानी खींचा जाता था	कितने एकड़ ज़मीन सींची गई	काश्त	कितने मोट चले	कितने बैल लगे	फ़ी एकड़ सालाना ख़र्च
							रु० आ० पा०
१	धारवार	४५ फुट	२	गन्ना	१	४	३१२—०—०
२	बेलगाँव	३० फुट	२	,,	१	२	१२७—८—०
३	जलगाँव	३७ फुट	२	,,	१	२	१४०—०—०
४	सतारा	३६	२	,,	१	२	२५०—०—०
५	शोलापुर	४०	२	,,	१	४	१०७—०—०

पम्प से सींचने का फल

	ज़िला	कितने फ़ुट की उँचाई से पानी लिया गया	कितने एकड़ ज़मीन सींची गई	काश्त	एञ्जिन का बी. एच. पी.	पम्प का परिमाण	फ़ी एकड़ सालाना ख़र्च
							रु० आ० पा०
१	धारवार	४५	१५	गन्ना	६½	२½″	८४— ६—६
२	बेलगाँव	३०	२०	,,	,,	३″	५१— ४—६
३	जलगाँव	३७	१५	,,	,,	२½″	८४— १—७
४	सतारा	३६	२०	,,	१०	३″	१००—१२—६
५	शोलापुर	४०	२०	,,	८	३″	७५—११—३

यह एञ्जिन तेल के ज़ोर से चलता है। इसके चलाने की तरकीब भी कठिन नहीं है। लोग बहुत जल्द सीख सकते हैं। हाँ पम्प और एञ्जिन वग़ैरः को साफ़ रखना पड़ता है। इस एञ्जिन से गन्ने पेरे भी जाते हैं। इसमें भी मेहनत बहुत कम पड़ती है और रस अधिक निकलता है। एञ्जिन ब्लेक-स्टोन आफ़ स्टेम्फोर्ड, इँगलेंड, से मिल सकते हैं। हमारे देश के ज़मीदारों को उचित है कि इनका तजरुबा करें और यदि ऐसी सिँचाई सुगम और लाभदायक हो तो अपने किसानों में भी इसका प्रचार करें। यदि इस विषय में किसी को विशेष जानने की इच्छा हो तो मिस्टर डब्लू.एम.शूट (W. M, Schutte, A, M. I. Mech. E. M. R, A, S., Agricultural Engineer to Government of Bombay.) जो बम्बई गवर्नमेन्ट के कृषि-विभाग के इञ्जिनियर हैं उन्हीं से लिखा पढ़ी करें।

६—पुरातत्त्ववेत्ताओं का भाषा-ज्ञान।

गत मास के माडर्नरिव्यू में भारतवर्ष के पुरातत्त्व-गवेषणा-विभाग की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाया गया है। इस तरफ़ जितना ख़याल लोगों को करना चाहिए नहीं करते। इस महकमा के अफ़सर मनमानी खोज किया करते हैं और कभी कभी निर्मूल कल्पनायें भी प्रचलित कर बैठते हैं जिससे देश की हानि होती है और उसका गौरव घटता है। इन निर्मूल कल्पनाओं का अन्त हो तो जाता ही है परन्तु जितने समय तक वे प्रचलित रहती हैं अपना विष फैलाती जाती हैं। हम यह नहीं कहते कि पुरातत्त्व-गवेषणा-विभाग के अफ़सर जान बूझ कर ऐसी निर्मूल कल्पनाएं फैलाते हैं। जिन्हें लोग निर्मूल समझते हैं वे उनके मतानुसार प्रबल सिद्धान्त हैं। परन्तु हाँ पुरातत्त्व-सम्बन्धी गवेषणा करने के लिए यह आवश्यक है कि उस शास्त्र के पण्डित इस देश की प्राचीन भाषाओं को भी जानें। तभी पुरानी बातों का ठीक ठीक विचार हो सकता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि इस महकमे में जो योरप के विद्वान् नियुक्त किये जाते हैं उनके बारे में इस बात का ख़याल नहीं किया जाता कि वे इस देश की प्राचीन भाषाओं को जानते भी हैं या नहीं। तभी तो उन बेचारों से बड़ी बड़ी ग़लतियाँ हो जाती हैं जिनके कारण उन्हें उपहासास्पद बनना पड़ता है। इस महकमा में इस देश के विद्वानों को नियुक्त करना चाहिए। यदि उन विद्वानों में कुछ त्रुटियाँ हैं तो उन्हें विलायत भेज कर दूर करा लेनी चाहिएँ। जो हो यह अत्यन्त आवश्यक है कि पुरातत्त्ववेत्ता जिस देश की प्राचीन बातों की गवेषणा करे वहाँ की प्राचीन भाषाओं को भी जानता हो।

७—अलीगढ़ की अन्यान्य कान्फ़रेन्सें

अलीगढ़ में राजनैतिक कान्फ़रेन्स के साथ ही साथ सदा की भाँति सामाजिक, औद्योगिक और हिन्दी कान्फ़रेन्सें भी हुईं। इन सब कान्फ़रेन्सों का एक ही साथ और एक ही स्थान पर करना विचारणीय है। ऐसा करने से इन कान्फ़रेन्सों में एक ही दो का महत्त्व रह जाता है।

बाक़ी कान्फ़रेन्सों पर लोग इतना ध्यान नहीं देते जितना देना चाहिए। इस वर्ष हिन्दी कान्फ़रेन्स के साथ उर्दू कान्फ़रेन्स भी हुई। हिन्दी कान्फ़रेन्स में कई एक नये और उपयोगी प्रस्ताव स्वीकृत हुए। हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी में उच्च-शिक्षा देने के लिए एक कालेज स्थापित करने का विचार प्रशंसनीय है। उर्दू कान्फ़रेन्स ने एक विलक्षण ही प्रस्ताव पास किया। उसके उर्दू अल्फ़ाज़ हमें प्राप्त नहीं हैं। उसकी अँगरेज़ी ही हमारे देखने में आई है और वह यह है।

"That this Conference considers the tendency to introduce new and unnecessary English, Persian, Sanskrit and Bhasha words into the language as being very injurious to the progress of the language which is admittedly the mother-tongue of the province and the lingua franca of the whole of India."

"अर्थात् इस कान्फ़रेन्स के विचार में अँगरेज़ी, फ़ारसी, संस्कृत या भाषा के नये और फ़िज़ूल शब्दों का ज़बान (उर्दू ?) में प्रविष्ट करने से ज़बान की तरक्क़ी में बाधा पड़ती है। ज़बान (उर्दू) इस प्रान्त की मातृ-भाषा और सारे मुल्क की lingua franca है"। इस प्रान्त के लोगों की क्या मातृ-भाषा है इस बात पर हमें कुछ नहीं कहना। कौन भाषा हिन्दुस्तान में lingua franca है" या हो सकती है इस पर भी हम ख़ामोश ही रहेंगे। जो है या होगी वह प्रकट है और हो जायगी। हमें निवेदन करना है पूर्वोक्त प्रस्ताव में भाषा शब्द के प्रयोग पर। प्रस्ताव-कर्त्ता महोदय का "भाषा" शब्द से क्या मतलब है? अगर उनकी मुराद हिन्दी से है तो हम उनसे विनयपूर्वक पूँछते हैं कि आप मौजूदा उर्दू से अँगरेज़ी फ़ार्सी, संस्कृत और भाषा (हिन्दी) शब्दों को निकाल डालिए। फिर देखिए क्या रह जाता है?

पुस्तक-परिचय।

×

× ×

नीचे लिखी हुई पुस्तकें मिल गई हैं। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवादः—

१—बचपन की शादी—लेखक, बाबू मुरारीलाल जैनी।

२—अग्रवाल-हितकारिणी सभा की नियमावली—प्रकाशक, बाबू रामनारायण गर्ग, बी० ए०, मन्त्री।

३—फ़िजी में भारतीय मज़दूर—प्रकाशक, देशहितैषी प्रेस, हाथरस।

चित्र-परिचय।

शाप-सन्तप्त अहल्या

अहल्या के पति गौतम-ऋषि का रूप धारण कर ऋषि की अनुपस्थिति में, इन्द्र ने ऋषि-पत्नी पर जो अत्याचार किया उसका फल इन्द्र को तत्काल ही मिल गया। ऋषि का दारुण शाप इन्द्र पर पड़ा। अहल्या भी पति के कोप का भाजन हुई। ऋषि ने उसे शाप दिया—

दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम
निराहारा दिवारात्रं तपः परममास्थिता।
आतपानिलवर्षादिसहिष्णुः परमेश्वरम्
ध्यायन्ती राममेकाग्रमनसा हृदि संस्थितम्॥

तू मेरे आश्रम की इस शिला पर दिन रात निराहार बैठी हुई तपस्या कर। वृष्टि, धूप, वायु सब सह। रामचन्द्र का ध्यान हृदय में किया कर। समय पर वही शाप से तेरी मुक्ति करेंगे। यह शाप देकर गौतम वहाँ से अन्यत्र चले गये। अहल्या ने पति के शाप को सिर पर चढ़ाया और विषाददग्ध-हृदय से, तपस्या आरम्भ करने के लिए, शिला स्थान पर आकर खड़ी हो गई। इसी भाव का अङ्कन कलकत्ते के चित्रकार बाबू नारायणप्रसाद वर्म्मा ने जिस रङ्गीन चित्र में किया है वही "शाप-सन्तप्त अहल्या"—नाम से इस संख्या में प्रकाशित है। विषाद और पश्चात्ताप का जो भाव उन्होंने चित्रगत अहल्या के चेहरे से दरसाया है वह दर्शकों के ध्यान में तत्काल ही आये बिना न रहेगा।

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad

लेख-सूची ।

चित्र-सूची ।

भाग १९, खण्ड २] दिसम्बर १९१८—पौष १९७५ [संख्या ६, पूर्ण संख्या २२८

मातृ-मूर्ति ।

जय भारत-भूमि भवानी
अमरों तक ने तेरी महिमा बारंबार बखानी

तेरा चन्द्र-वदन वर विकसित शान्ति-सुधा बरसाता है
मलयानिल-निश्वास निराला नव जीवन सरसाता है

हृदय हरा कर देता है यह अञ्चल तेरा धानी
जय भारत-भूमि भवानी ।

तेरे उच्च हृदय हिमगिरि से गौरव-गङ्गा बहती है
और करुण कालिन्दी हम को पावन करती रहती है

मौन मग्न हो रही देख कर सरस्वती-विधि-वाणी
जय भारत-भूमि भवानी ।

तेरे चित्र-विचित्र-विभूषण हैं फूलों के हारों के
उन्नत-अम्बर-आतपत्र में रत्न जड़े हैं तारों के

केशों से मोती झड़ते हैं या मेघों से पानी
जय भारत-भूमि भवानी ।

करके माँ, दिग्विजय जिन्होंने विदित विश्वजित याग किया
फिर तेरा मृत्पात्र मात्र रख सारे धन का त्याग किया

तेरे तनय हुए हैं ऐसे मानी, दानी, ज्ञानी,
जय भारत-भूमि भवानी ।

वरद हस्त हरता है तेरे शूल-शक्ति की सब शङ्का
रत्नाकर-रसने, पैरों में अब भी पड़ी कनक-लङ्का

बृटिश-सिंह-वाहिनी बनी तू विश्वपालिनी, रानी
जय भारत-भूमि भवानी

तेरा अतुल अतीतकाल है आराधन के योग्य समर्थ
वर्तमान साधन के हित है और भविष्य सिद्धि के अर्थ
भुक्ति-मुक्ति की युक्ति, हमें तू रख अपना अभिमानी
जय भारत-भूमि भवानी।

थिलीशरण, गुप्त

गोस्वामी तुलसीदासजी के समय की कुछ प्राचीन प्रतियाँ और प्रचलित प्रतियों के पाठ।

ब मैं छोटा था तो अपने जन्मस्थान में, जो सरयूपार है सुना करता था कि "थोर कीन्ह तुलसीदास बहुत कीन्ह कीर्तनिहे" पर आज यह कहावत बिलकुल सच्ची जान पड़ती है। तुलसीदासजी के समय की दो चार पुस्तकों की प्रतियाँ पूर्ण और खण्डित जो अब मेरे देखने में आई हैं उनमें और पीछे की लिखी प्रतियों में न केवल पाठ-भेद, भाषा-भेद और क्षेपकों की बाहुल्यता मात्र ही मिलती है किन्तु कितनों में तो क्रमभेद और यहाँ तक कि नाम तक में अन्तर देखे गये हैं।

१—विनयपत्रिका

इसकी सब से प्राचीन प्रति जो हमें मिली है वह संवत् १६६६ की है। यह पुस्तक बीच में खण्डित है और रामनगर, बनारस में चौधरी मथुराप्रसाद उपनाम छुन्नीसिंहजी के यहाँ अब तक वर्तमान है। पुस्तक साँची पत्रे की जीर्ण शीर्ण है, जिसके किनारों पर चौधरीसाहब ने चिटबन्धी करा ली है। पुस्तक में कुल पत्रों की संख्या ८२ है, जिनमें १६, १७, ३४, ४८–५२ व ५६, ७६, ८० ग्यारह पत्रे खो गये हैं। पुस्तक का नाम उसमें विनयपत्रिका नहीं है किन्तु रामगीतावली है। और पुस्तक के अन्त में यह श्लोक मिलता है:—

यदि रघुपतिभक्तिर्मुक्तिदापेक्ष्यते सा
सकलकलुषहर्त्री सेवनीयाऽप्रयासात्।
शृणुत सुमतिपुंसो निर्मिता रामभक्तै-
र्जगति तुलसिदासै रामगीतावलीयम्।

इससे पता चलता है कि जिस प्रकार गोस्वामीजी ने कृष्ण-सम्बन्धी कृष्णगीतावली रची थी वैसे ही रामगीतावली ग्रन्थ बनाया था। इस ग्रन्थ में केवल १७५ पद हैं पर ७२ और १३५ संख्या दो बार दी गई हैं। अतः कुल पदों की संख्या १७७ है। इनमें ५ पद* ऐसे हैं, जो अब विनयपत्रिका में नहीं पाये जाते। अब उनका समावेश गीतावली-रामायण में है। शेष पद विनयपत्रिका में मिलते हैं पर उनका क्रम इतना बदल दिया गया है कि एकाध को छोड़ कोई पूर्वापर रीति से नहीं हैं। पाठ-भेद तो इतना अधिक है कि कहीं कुछ का कुछ हो गया है। व्यङ्कटेश्वर यन्त्रालय और लखनऊ की छपी प्रतियों की तो बात ही क्या है, भगवतदास की छपाई प्रति और हमारे मित्र लाला भगवानदीन की शोधी हुई प्रति से भी अनेक स्थलों में इतना पाठभेद है कि कहीं ठिकाना नहीं। कहीं कहीं तो पदों में अतिरिक्त पद घुसेड़ दिये गये हैं, जिनको प्रक्षिप्त कहना अनुचित नहीं। हम पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे हस्तगत रामगीतावली के पदों का विवरण उसके प्रति पत्रे के अनुसार देते हैं और उसके सामने आज कल की प्रचलित विनयपत्रिका के पद-क्रम की संख्या इण्डियन प्रेस की मुद्रित सटीक विनयपत्रिका से देते हैं इससे अनुमान होगा कि संवत् १६६६ की प्रति में और आज कल की प्रति में पदों के क्रम में क्या अन्तर पड़ गया है:—

---

*वे पांचों पद ये हैं:—

२६. रामचरन अभिराम कामप्रद तीरथ राज विराजै।
२७. रामचंद कर कंज कामतरु कामदेव हितकारी।
३६. प्रात काल रघुवीर वदन छवि चितै चतुर चत मेरे
८०. रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर गावें सकल अवध-वासी।
१६६. रावो भावति मोहि वीथिन की धवनि।

पत्र की संख्या	पद		क्रम-संख्या	आधुनिक विनयपत्रिका का पद-क्रम
१	गाइए गनपति जग बन्दन	...	१	१
	मांगिऐ गिरिजा पति कासी	...	२	६
	बावरो रावरो नाहुं भवानी	...	३	५
२	दानि कहूं संकर से नाहीं	...	४	४
	देखो देखो वनु वन्यो आजु उमा कन्त	...	५	१४
३	सेवहु सिव चरन सरोज रेनु	...	६	१३
	देव-मोहतम तरनि हर रुद्र संकर सरन हरन मम सोक लोकाभिरामं	...	७	१०
४	सदा संकरं संप्रदं सज्जनानन्ददं सैल कन्या वरं परम रम्यं	...	८	१२
	सिव सिव होइ प्रसन्न करु दाया	...	९	९
५	कस न दीन पर द्रवहु उमावर	...	१०	७
	मंगल मूरति मारुत नन्दन	...	११	३६
	ताकि हैं तमकि ताकी ओर को	...	१२	३१
६	जाके गति है हनुमान की	...	१३	३०
	जयति अंजना गर्भ अंभोधि सम्भूत विधु	...	१४	२५
७	जयति मर्कटाधीश मृग राज विक्रम महादेव	...	१५	२६
८	जयति मंगलागार संसार भारापहर	...	१६	२७
	जयति वात संजात विख्यात विक्रम बृहद्	...	१७	२८
९	जयति निर्भरानंद संदोह कार्य केसरी	...	१८	२९
	दीन दयाल दिवाकर देवा	...	१९	२
	जय जय जग जननि देवि सुरनर मुनि	...	२०	१६
१०	दुसह दुख दलनि करु देवि दाया	...	२१	१५
	जय भगीरथ नन्दिनि मुनि चय चकोरचं	...	२२	१७
	जयति जय सुरसरी जगदखिल पावनी	...	२३	१८
११	जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न	...	२४	२१
	वंदों रघुपति करुणा निधान	...	२५	६४
१२	राम चरन अभिराम कामप्रद	...	२६	यह पद विनयपत्रिका में नहीं है गीतावली-रामायण में है।
	रामचंद कर कंज काम तरु	...	२७	

पत्र की संख्या	पद	क्रम-संख्या	आधुनिक विनयपत्रिका का पद-क्रम
	सेइअ सहित सनेह देह भरि कामधेनु ...	२८	२२
१३	राम राम जीय सदा सानुराग रे ...	२९	६७
	राम राम राम जीय जौ लौ तू न जीयहै	३०	६८
१४	सुमिरि सनेह सो तु नाम राम राय को ...	३१	६९
	राम रामरमु राम रामरटु राम रामजपु जीहा ...	३२	६५
	रामजपु रामजपु रामजपु बावरे ...	३३	६६
१५	ऐसेहु साहिब की सेवा तुँ होत चोर रे ..	३४	७१
	मेरो भलो कियो राम अपनी भलाई ...	३५	७२
	प्रातकाल रघुबीर बदन छबि चितै चतुर चित मेरे	३६	यह पद विनयपत्रिका में नहीं मिलता गीतावली-रामायण में है ।
१८	जो पै चेराई राम की करतो न लजातो ...	...	१५१
	कृपा सिंधु जन दीन दुआरे दादि न पावत का है	४२	१४५
	कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहैा नाथ सीस मेरे	४३	१३८
१९	जैां पै कृपा रघुपति कृपाल की वैर और के कहा सरै	४४	१३७
	सकुचत हैं। अति राम कृपानिधि क्यों करि विनय सुनाओ ...	४५	१४२
२०	जानकीस की कृपा जगावति सुजान जीवा जागि	४६	७४
२१	खोटो खरो रावरो हों रावरे सों झूठो क्यों कहोंगो	४७	७५
	राम को गुलामु नामु रामबोला राम राष्यो	४८	७६
२२	जानकी जीवन जग जीवन जगदीस रघुनाथ ...	४९	७७
	दीन दयाल दुरित दारिद दुष दुनी दुसह ... तिहुँताय ...	५०	१३९
२३	राम नेही सों तैं न सनेह कियो ...	५१	१३५
२४, २५, २६-२७	जिय जब तें हरित बिलगान्यो ...	५२	१३६
२८	महाराज रामादरयो धन्य सोई ...	५३	१०६
	है नीको मेरो देवता कोसलपति राम ...	५४	१०७
२९	वीर महा अवराधिए साधे सिधि होइ ...	५५	१०८
	देव नौमि नारायणं नरं करुणायनं ...	५६	६०
३०	देव ! दनुजवन दहन गुनगहन गोविंद नंदादि	५७	४९
३१	सदा रामजपु रामजपु मूढ़ मन बार बार ...	५८	४६
३२	देव भानुकुल कमल रविकोटि कंदर्प छवि ...	५९	५०
३३	देव देहि सतसंग निज अंग श्रीरंग ...	६०	५७
	देव देहि अवलंब का कमल कमलारमन ...	६१	५८

पत्र की संख्या	पद		क्रम-संख्या	आधुनीक विनयपत्रिका का पद-क्रम
	दीन उद्धरन रघुवर्य्य, करुना भवन	...	६२	५९ इसका अंतिम भाग पृ० ३५ में है।
३५	देव सकल सुख कंद आनंद वन पुन्यकृत बिंदुमाधो द्वंद्व विपतिहारी	...	६३	६१
३६	माधव अब न द्रवहु केहि लेखे	...	६४	११३
	केसव कारन कवन गुसाईं	...	६५	११२
३७	हैं कवन दोस तोहि दीजै	...	६६	११७
	हैं हरि कवने जतन सुख मानहु	...	६७	११८
३८	हैं हरि कवन जतन भ्रम भागै	...	६८	११९
	हैं हरि कस न हरहु भ्रम भारी	...	६९	१२०
३९	हैं हरि यह भ्रम की अधिकाई	...	७०	१२१
	अस किछु समुझि परत रघुराया	...	७१	१२३
	जौ निज मन परिहरै विकारा	...	७२	१२४
४०	मैं हरि साधन करइ न जानी	...	७२	१२२
	कहु केहि कहिअ कृपानिधे भव जनित विपति अति		७३	११०
४१	कस न करहु करुना हरे दुष हरन मुरारी	...	७४	१०९
	मैं केहि कहों विपति अतिभारी	...	७५	१२५
	माधो अस तुम्हारि यह माया	...	७६	११६
४२	माधो मोहि समान जगमाहीं	...	७७	११४
	केसव कहि न जाइ का कहिये	...	७८	१११
४३	माधो मोह पास क्यों टूटै	...	७९	११५
	रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर गावहिं सकल ... अवधबासी	...	८०	
४४	ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन	...	८१	४७
	हरति सब आरति आरति आरती राम की	...	८२	४८
४५	मन माधव कों नेकु निहारहि	...	८३	८५
	सुनत सीतापति सील सुभाउ	...	८४	१००
४६	विरहु गरीबनिवाजु राम को	...	८५	९९
	जानकिजीवन की बलि जैहों	...	८६	१०४
	अब लों नसानो अब न नसैहैं	...	८७	१०५
४७	सुनि मन मूढ़ सिखावन मेरो	...	८८	८७
	ऐसी हरि करत दास पर प्रीति	...	८९	९८
५३	ताहि ते आयो सरन सबेरे	...	१०२	१८७
	मैं तो अब जान्यो संसार	...	१०३	१८८

पत्र की संख्या	पद		क्रम-संख्या	आधुनिक विनयपत्रिका का पद-क्रम
	कबहुँक हौं एहि रहनि रहोंगो	...	१०४	१७२
	लाज लागति दास कहावत	...	१०५	१८५
५४	जौं पै मोहि राम लागते मीठे	...	१०६	१६९
	यो मन कबहुँ तो तुम्हहिँ न लाग्यो	.	१०७	१७०
५५	कीजै मोंको जग जातनामाई	...	१०८	१७१
	जानत प्रीति रीति;रघुराई	...	१०९	१६४
५६	नाहिन आवत और भरोसो	...	११०	१७३
	रघुबर रावरी है बड़ाई	...	१११	१६५
५७	जौं पै रहनि राम सों नाहीं	...	११२	१७५
	राखै। केहि कारन भय भागे	...	११३	६८ में और इसमें थोड़ा ही भेद है।
	रघुपति भगति करति कठिनाई	...	११४	१६७
५८	ताबे सों पीटि मनहुँ सुतन पायो	...	११५	२००
	जाके प्रिय न राम वैदेही	...	११६	१७४
	ऐसे राम दीन हितकारी	...	११७	१६६
६०	जौ तुम त्यागो राम हों तो नहिं त्यागों	...	११९	१७७
	भयेहु उदास राम मेरे आस रावरी	...	१२०	१७८
	राम रावरो नामु मेरो मातु पितु है	...	१२१	१५४
	राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे	...	१२२	१८९
६१	सहज सनेही राम सेवैं कियो न सहज सनेह	...	१२३	१९०
	एक सनेही साँचिलो केवल कोसल पाल	...	१२४	१९१
६२	लाभु कहाँ मानुष तनु पाएं	...	१२५	२०१
	काजु कहा नर तनु धरि सारयो	...	१२६	२०२
६३	काहे को फिरत मूढ़ मन धायो	...	१२७	१९९
	जैसो हों तैसो राम रावरो जन	...	१२८	२७१
६४	पनु करिहों हठि आजु तें राम द्वार परयो हों	...	१२९	२६७
	बलि जाउँ और कासों कहों	...	१३०	२२२
	तुम्ह अपनायो तब जानिहों जब मन फिर परिहै	...	१३१	२६८
६५	कबहुँ कृपा करि मोहूँ रघुवीर चितैहों	...	१३२	२७०
	तुम्ह तजिहों कासों कहों और को हितु मेरो	...	१३३	२७३
	हरि तजि और भजिहो काहि	...	१३४	२१६
६६	जौं पै दूसरो कोउ होइ	...	१३५	२१७

पत्र की संख्या	पद		क्रम-संख्या	आधुनिक विनयपत्रिका का पद-क्रम
	है प्रभु मेरो हर जब दोष	...	१३५	१५६
६७	नाथ सों कौन विनती कहि सुनाओं	...	१३६	२०८
	ऐसेहि जनम समूह सेराने	...	१३७	२३५
	जौं पै जिय जानकि नाथ न जाने	...	१३८	२३६
६८	द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पासुँ	...	१३९	२७५
	द्वारे हो भोर ही को आजु	...	१४०	२१९
	रघुपति विपति दवन	...	१४१	२१२
६९	जनमु गयो वादिहि वर बीति	...	१४२	२३४
	राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को	...	१४३	२६९
	जाउँ कहां ठौरु है कहां देव दुषित दीन को	...	१४४	२७४
	अकारन को हित और को है	...	१४५	२३०
७०	तुम्ह जिनि मन मैलो करो लोचन जिनि फेरो	...	१४६	२७२
	नाथ नीकें कै जानवी ठीक जन जिय की	...	१४७	२६३
७१	और कहँ ठौर रघुवंस मन मेरे	...	१४८	२१०
	और मेरें को है काहि कहिहों	...	१४९	२३१
	दीन बंधु दुसरो कहँ पाऊँ	...	१५०	२३१
७२	कबहुँ देषाइ हो हरि चरन	...	१५१	२१८
	कबहुँ समय सुधि आइवी मेरी मातु जानकी	...	१५२	४२
	कबहुँक अंब औसरु पाइ	...	१५३	४१
७३	गरैगी जीह जौ कहों और को हो	...	१५४	२२९
	रघुवरहिं कबहि मन लागिहै	...	१५५	२२४
	तब तुम मोहूं से सठन हठि गति देते	...	१५६	२४१
७४	मनोरथ मन को एक भांति	...	१५७	२३३
	ज्यों ज्यों निकट भयों चहों कृपाल त्यों त्यों दूरि परयो हों	...	१५८	२६६
	सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि तुम रीझे	...	१५९	२४०
७५	मेरो कहयो सुनि पुनि भावै तोहि कैसे	...	१६०	२६४
	जाको हरि दृढ़ करि अंग करयो	...	१६१	२३९
७६	इहै जानि चरनन्हि चितु लायो	...	१६२	२४३
	तुम्ह सम दीनबंधु न दीन कोउ मोसम सुनहु नृपति रघुराई	...	१६३	२४२
७७	काहे न रसना रामहि गावहि	...	१६४	२३७
	आपनो हित और सों जौ पै सूझै	...	१६५	२३८

पत्र की संख्या	पद	क्रम-संख्या	आधुनिक विनयपत्रिका का पद-क्रम
	राधा भावती मोहि विपिन की वीथिन्ह की आवनि ...	१६७	यह पद विनयपत्रिका में नहीं मिलता गीतावली रामायण में है
७८	तनु सुचि मन रुचि मुष कहों जनु हों सियपी को...	१६७	२६५
	भरोसो श्रौरु आइहै उर ताके ...	१६८	२२५
	राम रावरो नामु साधु सुरतरु है ...	१६९	२५५
८१	करिय संभार कोसल राई ...	१७२	२२०
८१	नामु रामु मातु पितु मेरे ...	१७३	२२६
	जयति भूमिजा रमन पद कंज मकरंद रससिक ...	१७४	३९
८२	जयति सत्रु करि केसरी ...	१७५	४०

ऊपर दिये हुए विवरण से यह स्पष्ट है कि उस प्राचीन प्रति में और आधुनिक प्रचलित प्रति में पदों के क्रम में कितना अन्तर पड़ गया है। आज कल का संस्करण कब और कैसे सङ्कलित हुआ, यद्यपि इसका स्पष्ट और सटीक पता नहीं चलता तो भी प्राचीन प्रति के और आधुनिक प्रति के एक पद से इसका कुछ आभास मिलता है। वह पद वही है जिसमें बिन्दुमाधवजी के नख-शिख का वर्णन है। रामचरितमानस की भूमिका में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के विद्वान् सम्पादकों ने लिखा है कि "बिन्दुमाधवजी के श्रीअङ्गों के चिह्नों का जो वर्णन गोसाईंजी ने किया है वह पुराने बिन्दुमाधवजी से, जो अब एक गृहस्थ के यहाँ हैं; अविकल मिलता है।" पर उन लोगों ने इतना ही लिख कर बस कर दिया है, उसे स्पष्टतया देने की कृपा नहीं की। उचित तो यों था कि उस मूर्ति की प्रतिकृति दी जाती और उसमें वे चिह्न-विशेष दिखलाये जाते। अस्तु। वह पद यह है:—

सकल सुखकन्द आनन्दवन पुन्यकृत
बिंदुमाधव द्वन्द विपति हारी।
यस्याङ्घ्रि पाथोज अज शंभु सनकादि
शुक शेष मुनिवृन्द अलि निलय कारी॥
अमल मर्कत श्याम काम शतकोटि छवि
पीत पट तडित इव जलद-नीलम्।
अरुण शतपत्र लोचन विलोकनि चारु
प्रणत जन सुखद करुणार्द्रशीलं॥
काल गजराज मृगराज दनुजेशवन-
दहन पावक मोह निसिदिनेशम्।
चारि भुज चक्र कौमोदकी जलज दर
सरसिजोपरि यथा राजहंसम्॥
मुकुट कुण्डल तिलक अलक अलि-व्रात
इव भ्रुकुटि द्विज अधरवर चारु नासा।
रुचिर सुकपोल दर ग्रीव सुख-सींव हरि
इंदु कर-कुंदमिव मधुर हासा॥
उरसि वनमाल सुविशाल नव मञ्जरी
भ्राज श्रीवत्स लाञ्छन उदारम्।
परम ब्रह्मण्य अति धन्य गतमन्यु
अज अति विमल विपुल महिमा उदारम्॥
हार केयूर कर कनक कङ्कन रतन जटित—
मणि मेखला कटि प्रदेशम्।
जुगल पद नूपुरा मुखर कलहंसवत
सुभग सर्वांग सौन्दर्यवेषम्॥
सकल-सौभाग्य-संयुक्त त्रैलोक्य श्री-
दत्तदिशि रुचिर वारीशकन्या।
बसत विबुधापगा निकट तट सदन वर-
नयन निरखंति नर तेऽति धन्या॥
अखिल मंगल भवन निविड़ संसय समन
दमन-व्रजिनाटवी कष्ट-हर्ता।
विश्वधृत विश्वहित अजित गोतीत शिव-
विश्वपालन हरन विश्व-कर्त्ता॥

ज्ञान विज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य्य निधि
सिद्धि अणिमादि दे भूरि दानम्।
ग्रसत भव व्याल अति त्रास तुलसीदास
त्राहि श्रीराम उरगारियानम्॥

यह पद आज कल की छपी प्रतियों में किसी में ६१ वाँ और किसी में ६२ वाँ है। इस पद में सब से मार्के का है 'सकल-सौभाग्य-संयुक्त त्रैलाक्य श्री०' जिसमें 'दक्षदिशि रुचिर वारीश-कन्या*' पद है। यही चिह्न है जिसे देख कर नागरी-प्रचारिणी के सम्पादकों ने ऊपर के उद्धृत वाक्य लिखे हैं। संवत् १६६६ वाली प्रति में इस पद में इसका पाठ इस प्रकार मिलता है:—

"देव! सकल-सौभाग्य-संयुक्त त्रैलोक्य श्री वामदिशि रुचिर-वारीश कन्या*"। इतना ही नहीं इस पद पर न तो कहीं हरताल लगा है और न काट कर कुछ बनाया ही गया है। इस ग्रन्थ पर कहीं कहीं शोधाई हुई है उसमें तो किसी किसी की हथौटी गोस्वामीजी से मिलती है। अतः कोई हेतु नहीं कि हम उसके पाठ 'वामदिशि' को कल्पित मान लें। लाला भगवानदीनजी से और मुझसे काशी में इस पद पर बातचीत हुई थी उन्होंने कहा था कि उस मूर्ति में लक्ष्मीजी नारायण के बाईं ओर नहीं हैं, अपि तु दाहिनी ओर हैं और वे मुझे उसे दिखलाने भी ले गये थे, पर दैवयोग से उस घर का मालिक कहीं गया था और घर में ताला पड़ा हुआ था; निदान हम दोनों कुछ देर वहाँ ठहर कर जब वह नहीं देख पड़ा तो लौट आये। पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उस मूर्ति में लक्ष्मीजी अवश्य दाहिनी ओर हैं।

अब विचारणीय यह है कि हिन्दू मूर्तिपूजक हैं वा भाव-पूजक? यदि हिन्दू मूर्तिपूजक हैं तब तो तुलसीदासजी का 'दक्षदिशि' लिखना ठीक है 'वामदिशि' नहीं! पर ऐसा ठीक नहीं प्रतीत होता। कहा भी है:—

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्॥

इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि हिन्दू प्रतिमा या मूर्तिविशेष के भक्त नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो संसार में वा कम से कम हिन्दुस्तान में ही दो चार ऐसी मूर्त्तियाँ होतीं जिनका पूजा-ध्यानादि मात्र हिन्दुओं के लिए अलम् होता। और इतने देव-मन्दिर जिनकी संख्या प्रति दिन बढ़ती जा रही है, न होते। यही नहीं, शास्त्रों में प्रतिमाओं के लक्षण आदि का भी उल्लेख मिलता है, जिनके होने वा न होने की दशा में कोई प्रतिमा पूज्य वा अपूज्य ठहर सकती है। कोई प्रतिमा अच्छी और सुघड़ होने पर शास्त्र-विरुद्ध हो सकती है और दूसरी सामान्य होने पर भी शास्त्र-सम्मत हो सकती है। प्रतिमा गढ़ना काम शिल्पी का है और शास्त्र रचना काम आचार्यों का। जहाँ तक मेरे देखने में आया है किसी ग्रन्थ में चाहे वह तंत्र हों पुराण हों वा अन्य हों कहीं भी शक्ति का दक्षिण भाग में होना नहीं लिखा गया। स्वयं गोस्वामीजी ने भी 'वामाङ्के च विभाति भूधरसुता' 'सीता-समारोपितवामभागम्' 'राम वामदिशि जानकी लखन दाहिनी ओर' आदि में शक्ति को वाम दिशा में लिखा है। फिर यह कब सम्भव हो सकता है कि उन्होंने स्वयं 'दक्ष-दिशि रुचिर वारीश-कन्या' लिखा होगा। वे हिन्दू-धर्म के तत्त्व को अच्छी भाँति जानते और समझते थे। हनुमान् जी के एक होने पर भी उन्होंने स्वयं काशी में अपने हाथों

* संवत् १६६६ की प्रति में यह पद ६३ वाँ पद है और यही अकेला एक पद है जिसमें 'बिन्दुमाधव' का ध्यान है। आधुनिक प्रतियों में तीन पद बिन्दुमाधव के वर्णन में मिलते हैं। यह तीनों पद लगातार मिलते हैं और सब में 'दक्षदिशि' और 'दक्षभाग' पाठ है। इतना ही नहीं, यह तीनों पद एक ही आशय के और प्रायः ६१ वें के शेष दोनों अनुवाद रूप हैं। गोस्वामीजी के ग्रन्थों में बहुत कम पुनरुक्ति, वा अनुवाद-दोष है। हमारा यह आग्रह नहीं है कि शेष दो पद और ही के हैं, पर उनके रचना क्रम से जाना जाता है कि वहाँ अवश्य, 'वाम' शब्द ही था 'नहीं तो 'दक्ष' शब्द तीनों जगह क्यों खपाया जाता।' यदि वास्तव में पाठ न बदला गया हुआ होता तो कहीं 'दक्षदिशि' कहीं 'दक्षिणे' कहीं 'दाहनी ओर' आदि शब्द मिलते। जैसे 'राम वाम दिशि जानकी लखन दाहिनी ओर' इत्यादि में। इससे यह सन्देह होता है कि शेष दो पद जो आधुनिक विनय-पत्रिका में मिलते हैं या तो बिलकुल गोस्वामीजी के हैं ही नहीं अथवा यदि हैं भी तो यह स्पष्ट है कि उनमें जान बूझ कर किसी विशेष स्वार्थ-वश 'वाम दिशि' और 'वाम भाग' के स्थान में 'दक्षदिशि' और 'दक्ष भाग' पाठ बदल दिया गया है।

उनकी अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की थी। उन्हें यह ज्ञात था कि हिन्दू अपने उपास्य देव के ध्यान एक होने पर भी उसकी उपासनायें अपने भाव से अनेक प्रतिमाओं में कर सकता है और करता भी है।

मत्स्य-पुराण में विष्णु की प्रतिमा इस प्रकार की लिखी गई है:—

विष्णोस्तावत्प्रवक्ष्यामि/यादृग्रूपं प्रशस्यते।
शङ्खचक्रधरं शान्तं पद्महस्तं गदाधरम्॥
छत्राकारं शिरस्तस्य कम्बुग्रीवं शुभेक्षणम्।
तुङ्गनासं शुक्तिकर्णं प्रशस्तोरुभुजक्रमम्॥
क्वचिदष्टभुजं विद्याच्चतुर्भुजमथापि वा।
द्विभुजं वापि कर्तव्यं भवनेषु पुरोधसा॥
× × × ×
देयमष्टभुजस्यास्य यथास्थानं निबोध मे।
खड्गो गदा शरः पद्मं देयं दक्षिणतो हरेः॥
धनुश्च खेटकञ्चैव शङ्खचक्रे च वामतः॥
चतुर्भुजस्य वक्ष्यामि यथैवायुधसंस्थितिः।
दक्षिणेन गदां पद्मं वासुदेवस्य कारयेत्॥
वामतः शङ्खचक्रे च कर्तव्ये भूतिमिच्छता।
कृष्णावतारे तु गदा वामहस्ते प्रशस्यते॥
यथेच्छया शङ्खचक्रमुपरिष्टात्प्रकल्पयेत्।
× × × ×
वामतस्तु भवेल्लक्ष्मीः पद्महस्ता, सुशोभना।
× × × ×

तात्पर्य्य यह है कि विष्णु की प्रतिमा शङ्ख चक्र, गदा पद्म लिये शान्त बनानी चाहिए। शिर छत्राकार, देखने में सुन्दर, कम्बुग्रीव, ऊँची नाकवाली हो; कान सीप की तरह और हाथ तथा पैरों का क्रम प्रशस्त हो। प्रतिमा आठ भुजा, चार भुजा और दो भुजा की हो। यदि अष्टभुजी हो तो उसके दहिने हाथों में खड्ग, गदा, शर, और पद्म तथा बायें हाथों में धनुष, खेटक, शङ्ख और चक्र हों। चतुर्भुजी के दाहिने हाथों में गदा और पद्म और बायें हाथों में शङ्ख-चक्र हों। यदि कृष्णावतार की प्रतिमा हो तो गदा बायें हाथ में होनी चाहिए और शङ्ख-चक्रादि यथेच्छ ऊपर नीचे बनाये जा सकते हैं। लक्ष्मी की मूर्ति विष्णु की बाईं ओर हाथ में कमल लिये बनाई जानी चाहिए इत्यादि...........

इससे प्रमाणित है कि वह प्रतिमा जिसमें लक्ष्मीजी की मूर्ति नारायण के दाहिने ओर बनाई गई है, शास्त्र-विरुद्ध है फिर समझ में नहीं आता कि, गोस्वामीजी ने कैसे उस शास्त्र-विरुद्ध प्रतिमा के अनुसार "दक्षदिशि रुचिर वारीश-कन्या" लिखा होगा। शास्त्र के मर्म जाननेवाले इसे उस अवस्था में भी मानने को कभी उद्यत न होते, यदि आज तक सर्वत्र ही 'दक्षदिशि' पाठ मिलता और यहाँ तक कि गोस्वामीजी के समय की प्रति में भी वैसा ही पाठ होता। पर ऐसी दशा में जब कि एक अति प्राचीन प्रति में जो गोस्वामीजी के जीवन-काल में उन्हीं के किसी भक्त और स्वजन के हाथ की लिखी हुई है 'वामदिशि' पाठ मिलता है तो कौन हिन्दू प्रतिमातत्त्व जाननेवाला उस पाठ को ठीक स्वीकार करेगा। अनुमान होता है कि इसी भय से महा-महोपध्याय सुधाकर द्विवेदीजी ने इसे स्पष्ट नहीं किया था और गोल मोल इतना ही लिख दिया था कि, "बिन्दुमाधव जी के श्रीअङ्गों के चिह्नों का जो वर्णन गोस्वामीजी ने किया है वह पुराने बिन्दुमाधवजी से, जो अब एक गृहस्थ के यहाँ हैं, अविकल मिलते हैं"। वे शास्त्रों के जानकार थे और उन्हें मालूम था कि शास्त्र-विरुद्ध प्रतिमा अपूज्य होती है। स्पष्ट चिह्नों को लिखने से लोग उन पर आपत्ति करेंगे और उन्हें सिर नीचा करना पड़ेगा। अस्तु।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जिसने रामगीतावली का क्रम बदल कर विनयपत्रिका के वर्तमान क्रम को बाँधा है उसने या तो उस मूर्ति को देखा था अथवा वह मूर्ति उसके अधिकार में थी। उसने 'वामदिशि' के स्थान में 'दक्षदिशि' पाठ कर दिया और इसके आधार पर उसे प्रचलित किया। पर इसमें सन्देह नहीं कि वह शास्त्र के तत्त्वों से अनभिज्ञ था, नहीं तो उसे ऐसा करने का साहस न होता। इससे पाठक यह न समझें कि मैं नवीन सङ्ग्रहों का विरोधी हूँ। वैदिक युग से नई नई संहितायें यथा-समय और आवश्यकता पड़ने पर सङ्कलित होती आई हैं, होती हैं और होती रहेंगी। पर किसी कवि के रचे ग्रन्थ में जिसे उसने अथ और इति से बाँध दिया हो क्रम-भङ्ग करके बढ़ाना घटाना अच्छा नहीं। हो सकता है और है भी ऐसा ही कि विनयपत्रिका के प्रायः सभी पद गोस्वामीजी के ही हों, पर उचित तो यह था कि वह उन्हें उसके अन्त में

परिशिष्ट रूप से रख देता। इससे लाभ यह होता कि पाठकों को गोस्वामीजी के निहित क्रम-युक्त रामगीतावली के अतिरिक्त के शेष पदों का सङ्ग्रह भी मिल जाता।

अब विचारना यह है कि यह नवीन क्रम-युक्त ग्रन्थ कहां सङ्कलित हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि वह मूर्ति कभी गोपाल-मन्दिर के आस पास में थीं तो वहीं सङ्कलित हुआ होगा। मेरी समझ में यह वह मूर्ति नहीं मालूम होती जिसके मन्दिर को तोड़ कर औरंगज़ेब ने मसजिद बनवाई थी। यह कभी सम्भव नहीं कि जिस औरंगज़ेब ने विश्वनाथ जी की मूर्ति को न जाने दिया वह कब यह अवकाश देता कि बिन्दुमाधवजी की मूर्ति को लोग हटा कर छिपा देवें। यह कोई दूसरी मूर्ति है जो या तो उसके बाद नवीन मन्दिर में रक्खी गई और फिर शास्त्रविरुद्ध प्रमाणित हो कर वहां से हटा कर वर्तमान मूर्ति उसके स्थान पर पधराई गई है; अथवा इस मूर्ति को सङ्कलनकर्ता इस पाठ-विपर्य्यय के अधार पर प्राचीन* मूर्ति सिद्ध कर बिन्दुमाधव के नवीन मन्दिर में स्थान दिलाना चाहता था। कुछ हो, परोक्ष की बात है, पर इसमें सन्देह नहीं कि मूर्ति को देख कर ही तदनुसार इस पद में पाठ-भेद किया गया है। और यह पाठभेद प्रायः तुलसीदासजी के देहान्त के पचास वर्ष के भीतर ही का किया हुआ है, तभी तो सब जगह इस नवीन सङ्कलित ग्रन्थ का प्रचार देखा जाता है।

इतना और अधिक कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि जिसने विनयपत्रिका में क्रम-भङ्ग किया गीतावली-रामाण का भी क्रम-भङ्ग या तो उसीने किया अथवा उसीके किसी मर्मज्ञ मित्र ने उसका भी क्रमभेद किया है। यही कारण है कि रामगीतावली वा प्राचीन विनयपत्रिका के वे पांच पद जो प्रचलित विनयपत्रिका में नहीं मिलते गीतावली-रामायण में अविकल भिन्न भिन्न स्थानों में मिलते हैं।' इसका विशेष समाचार आगे बतलाया जावेगा।

जगन्मोहन, वर्म्मा

* काशी में प्राचीन मूर्तियों के विषय में ऐसी कल्पनाएं प्रायः हुआ करती हैं। विश्वनाथ जी ही के विषय में अनेक कल्पनाएं प्रसिद्ध हैं। कोई आदि विश्वेश्वर को प्राचीन कहता है, कोई ज्ञान-वापी-निमग्न को, कोई असी पर के एक और मूर्ति को प्राचीन बताते हैं; कोई मसजिद के नीचेवाली को प्राचीन बताते हैं।

पराधीन प्रकृति

(१)

जिन श्रीमहावीर ने मेरे सङ्कट बहुधा काटे हैं,
और जिन्होंने दया दिखा कर पातक मेरे पाटे हैं,
उनकी परम पुनीत मढ़ी के निकट घूमता मैं निकला;
मन कृतज्ञता के वश होकर भक्ति-भाव से उमड़ चला॥

(२)

तब मैं भीतर गया मढ़ी के; प्रभु को दण्ड-प्रणाम किया,
बूढ़े-साधु-पुजारीजी ने मुझे विभूति-प्रसाद दिया।
पूछी मैंने बात स्वास्थ्य की, कहा उन्होंने, है, आनन्द;
प्रभु की सेवा करते हमको नहीं सताती चिन्ता मन्द॥

(३)

इसी समय आँगन में सुन्दर चिड़िया चुगती दीख पड़ी—
श्याम-वर्ण, पग-चोंच-पीत, लघु-काय, मनोहर-रूप बड़ी।
डरनेवाली थी, न डरी वह; उड़ सकती थी, पर न उड़ी;
किन्तु जहाँ हम सब बैठे थे, उसी ठौर को निडर मुड़ी॥

(४)

जा समीप से हम लोगों के, पास साधु के चली गई;
एक घड़ी तक उसने उनसे की बातें आनन्द-मयी।
फिर वह उनकी आज्ञा ले कर पिँजड़े के भीतर पैठी;
और वहाँ जो डाल लगी थी, उस पर प्रेम-सहित बैठी॥

(५)

यह सब कौतुक देख देख कर अचरज सबको होता था;
पर उसकी इस नई दशा पर, मैं मन हीं मन रोता था।
मुझे उदास देख स्वामीजी लगे पूछने मुझ से भेद—
क्यों ऐसे सुख-मय आश्रम में हुआ तुम्हारे मन में खेद?

(६)

जब मैं कुछ कह सका न उनसे, तब वे मुझसे यों बोले—
क्या 'कबीर-साखी' के पन्ने नहीं कभी तुमने खोले?
वहाँ लिखा है नव द्वारे के पिँजड़े में पंछी है पौन;
रहने का है बड़ा अचम्भा, जाने का अचरज है कौन!

(७)

देखो, यह पत्ती जो मैंने इस पिँजड़े में पाला है,
कैसा सुन्दर और तरुण है, यद्यपि तन का काला है।
त्योंहीं किसी देह में आकर अमर जीव करता है वास;
पर उसके इस संग-दोष से, हो जाता है इसका ह्रास ॥

(८)

फिर जैसे यह खग पिँजड़े को निज आवास समझता है,
तैसे ही विमूढ़ हो तन में आकर जीव उलझता है।
और लखो, जैसे यह पत्ती था चुगने में अभी मगन,
उसी भाँति है लगी जीव को खान-पान की सदा लगन ॥

(९)

इस प्रकार दृष्टान्त कई दे स्वामीजी ने समझाया—
कब, क्यों, कैसे और कहाँ से अमर जीव जग में आया।
फिर बोले, लोगों से उनकी जन्म-कथा कहने वाली,
और उन्हें चेतानेवाली मैना है हमने पाली ॥

(१०)

मैंने कहा, मुझे तो मैना और बात बतलाती है,
जिसके केवल ध्यान-मात्र से भर आती यह छाती है।
हम लोगों ने इस पर कैसे कैसे अत्याचार किये!
गृह, स्वतंत्रता, प्रकृति आदि के सब सुख इसके छीन लिये!

(११)

थोड़ा-बहुत खिला कर इसको हमने पिँजड़े में फाँसा;
यह अबोध चिड़िया क्या जाने चतुराई का छल-झाँसा!
प्रेम ऊपरी इसे दिखा कर हम पिँजड़े में डाले हैं;
अपने सुख के लिए आज तक जैसे-तैसे पाले हैं ॥

(१२)

चलती फिरती, खाती पीती, सोती है यह भले प्रकार;
पर यह सब है हम लोगों की प्यारी इच्छा के अनुसार।
जब चाहें पंखों को इसके पल में हम सकते हैं काट;
अथवा इसके बन्दीगृह के रख सकते हैं बन्द कपाट ॥

(१३)

हम इससे वह कहलाते हैं जो हमको कहलाना है;
इसको भी उसका गाना है जिसका इसको खाना है।
जान हमें हितकारी अपना मधुर वचन यह कहती है;
और हमारे वश में होकर भला-बुरा सब सहती है ॥

(१४)

पराधीनता में रह कर यह, अपना सब कुछ भूल गई;
भाषा, भोजन, भेष, भाव, भावी—सब बातें हुईं नई।
अपनी जन्म-भूमि का भी अब इसको कोई ध्यान नहीं;
वन के जो प्यारे साथी हैं उनकी भी पहचान नहीं ॥

(१५)

अब स्वजातियों के बदले यह विजातियों से मिलती है;
दुख में उनके मुँद जाती है, सुख में उनके खिलती है।
निज स्वाभाविक स्वतंत्रता भी नहीं इसे कुछ भी भाती;
चल-फिर कर यह शीघ्र आप ही है पिँजड़े में घुस जाती ॥

(१६)

ये बातें सुन साधु एक-टक लगे देखने मेरी ओर;
सजल साथ ही लोचन उनके हुए सहानुभूति के जोर।
फिर बोले वे, मन्त्र अनूठा तुलसी ने बतलाया है—
पराधीन ने सपने में भी नहीं कभी सुख पाया है!

(१७)

तब मैंने श्रीमहावीर को और साधु को नमन किया;
पा असीस दोनों से अपने घर का सीधा मार्ग लिया।
साधु उसी दिन से मैना को क्रमशः देने लगे सुपास,
जिससे वन को उड़ जाने का हो जावे उसको अभ्यास ॥

(१८)

वह मैना अब वन में सुख से, हो स्वाधीन विचरती है,
किन्तु साधु के दयाभाव की याद अभी तक करती है—
कभी कभी वह पास मढ़ी के आ कर देती है फेरा
तो भी साधु विकल होते हैं लख सूना अपना डेरा ॥

कामताप्रसाद गुरु।

खाँसी बुख़ारवाली मरी

या इन्फ़्लूएन्ज़ा या मारवाड़ी ज्वर

(Pandemic Influenza)

इन्फ़्लूएन्ज़ा या सर्दी का बुख़ार प्रायः हर वर्ष यहाँ और अन्य देशों में भी हुआ करता है। यह इस मरी की शकल में योरुप के कई देशों में, जैसे जर्मनी, स्पेन आदि में, फैल चुका है। इस वर्ष स्पेन में यह बीमारी बहुत बुरे क़िस्म की थी। वहाँ सुना गया है कि

(युद्ध के दृश्य)
जनरल रेमिंगटन, सर प्रतापसिंह और राजा साहब रतलाम फ्रांस में घोड़े पर सवार जा रहे हैं।
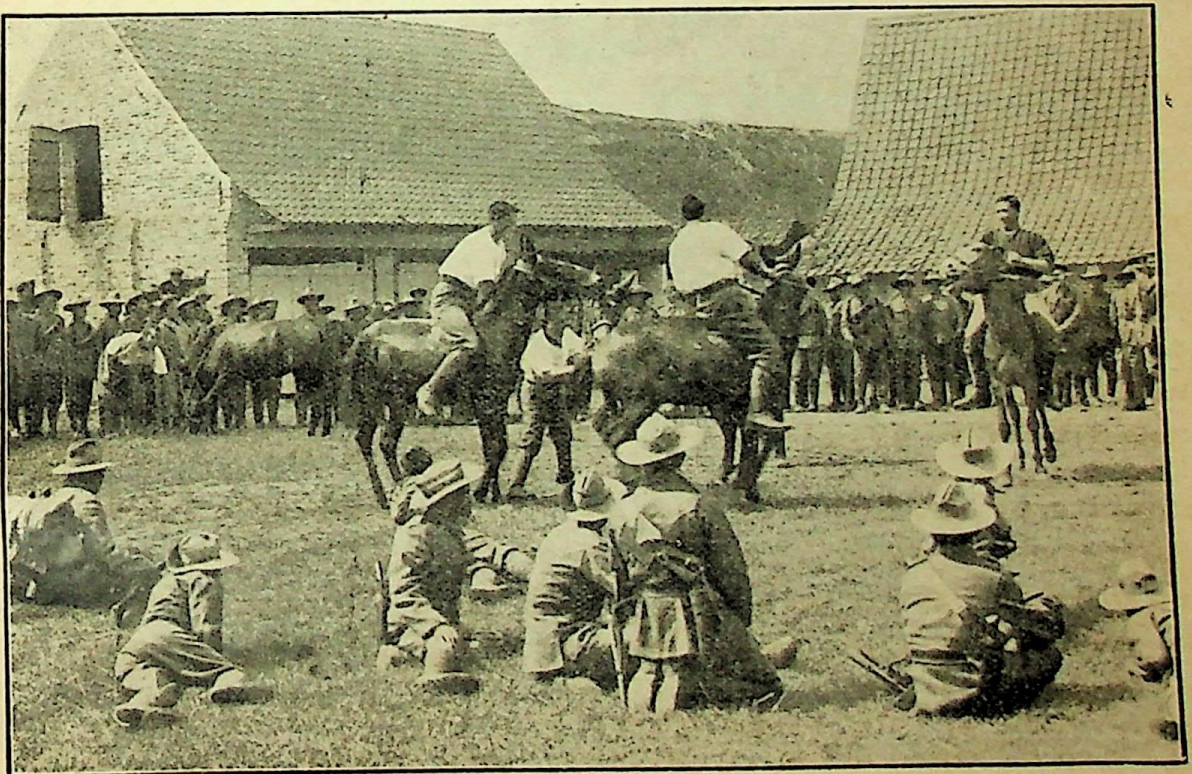
(युद्ध के दृश्य)
कमसरियट के खच्चरों को दौड़ा कर गोरखे दिल बहला रहे हैं।

इससे ५० लाख मनुष्य मरे। कई वर्ष हुए, एक बार यह जर्मनी में भी फैली थी। वहाँ रोगियों में से फ़ी सदी एक मनुष्य मरा था। किन्तु, इस देश में, कहीं कहीं, इससे आधे से भी ज़्यादा रोगी मर गये हैं। अक्टूबर के महीने में कानपुर शहर और ज़िले में मुझे क़रीब २००० रोगियों को देखने का मौक़ा मिला। इसमें से इस मरज़ के रोगी अधिक वही थे जो प्रायः घनी बस्ती के भीतर रहते थे, या घनी बस्तियों में या मिलों में काम करने जाते थे, या अन्य कारणों से अच्छी तन्दुरुस्ती की हालत में न थे।

अपने देश के लोगों के हित के लिए, इस रोग के विषय में, वे बातें, जो मेरे अनुभव में आई हैं, लिखे देता हूँ।

यह रोग वर्ष के भीतर दुनिया भर में फैल सकता है। मेरी सम्मति में यह रोगियों के थूक, नाक, खकार द्वारा, जो कपड़ों में लग कर या गर्द-धूल में मिल कर वायु-मण्डल द्वारा, एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँच सकता है। घर में एक रोगी के साँस के द्वारा कुल घर के लोगों में फैल सकता है।

इस समय देश के क़रीब क़रीब सभी बड़े बड़े नगरों में, खब ज़ोर के साथ फैल रहा है। यह दो महीने के भीतर ही कुल देश में छा गया है।

गाँवों में इस से अधिक मृत्यु के कारण कुछ और भी हैं। वर्षा न होने से वायु में बहुत ही खुश्की पैदा हो गई है। दिन में बहुत गर्मी होती रही और रात को सर्दी। ग़रीब लोग खेतों में सूखा देख कर कम खाते पीते रहे। रुई न होने से; और कपड़े की मँहगी से हज़ारों लोग बिना कपड़े के दिन बिताते रहे, या एक ही कपड़े में मर्द औरत बच्चे लिपट कर सोते रहे। गाँव की गलियों, घरों, और बस्तियों की गन्दगी का भी कुछ न कुछ असर पड़ा। फिर वहाँ ठीक ठीक इलाज का भी कोई प्रबन्ध नहीं हो सका। बहुत से गाँव के लोग बीमारी की दशा में भी खाते पीते रहे। इन्हीं कारणों से वहाँ अधिक नुक़सान हुआ है। शहर में अधिक आबादी के अलावा गन्दी गर्द-धूल से भी हवा बिगड़ी रहती है। और इलाज में बहुत जल्दी की जाती है।

इस रोग में अधिक मृत्यु फेफड़े के (Broncho-pneumonia) वरम से हुई है। इसमें अन्न का खाना पीना और बुख़ार में बिस्तर से उठ कर चलना फिरना बड़ा हानिकर है। उलटी पुलटी दवायें या बहुत दिनों तक कुछ न खाना भी आख़ीर में नुक़सान पहुँचाता है।

रोग की साधारण दशा में इसका मुख्य कारण एक जीवाणु (Pfeiffers' Bacillus) माना जाता है। किन्तु इस मरी की हालत में केवल यही काफ़ी नहीं मालूम होता। यह वर्ष, और वर्षों की अपेक्षा जल, वायु, अन्न आदि के लिहाज़ से अपने ही ढङ्ग का है। इस लिए इस मरी से इस समय अधिक नुक़सान हुआ है। इसके कुछ लक्षण और रूप जो आज कल देखने में आये हैं, नीचे लिखे जाते हैं—

१ – ज़्यादा आदमी सर्दी और खाँसी के साथ साथ बीमार पड़े हैं। पहले सिर में, बदन में, और टाँगों में दर्द मालूम पड़ता है। बुख़ार जाड़े के साथ या ऐसे ही आ जाता है। प्यास खूब मालूम होती है। छाती के सामने के भाग में गले से लगा कर पेट तक, जलन मालूम होती है। खाँसी सूखी आती है। नाक में कुछ समय तक जलन मालूम पड़ती है। पीछे नाक बहने लगती है। खाँसी आने लगती है।

इस समय बद-परहेज़ी (जैसे गङ्गा नहाने, खूब खाने) या उलटे पुलटे बुख़ार उतारनेवाले इलाजों से बहुत नुक़सान हो जाता है।

इस ज्वर में पहले ही से कमज़ोरी बहुत मालूम होने लगती है। जहाँ खाँसी शुरू हो जाती है मालूम पड़ता है कि साँस रुक जावेगी। बलग़म बिलकुल

नहीं निकलता। थोड़े ही बुख़ार में अक्सर घबराहट बहुत होती है और त्रिदोषी या सरसामी हालत (Delirium) पैदा हो जाती है। मरीज़ बेहोशी की सी बातें करने लगता है। यह हालत उन्हीं में पैदा होने लगती है जिनमें कोई दिमाग़ी, फेफड़े या पेट का दस्त वग़ैरह) रोग भी पैदा होनेवाला होता है और जिनके फेफड़े की साँस-नली का वरम पसली तक फैल जाता है जैसा कि बच्चों, वृद्धों और कमज़ोर या मोटे मनुष्यों में प्रायः हो जाता है। अर्थात् पसली (Broncho-pneumonia) चलने लगती है उस में बेचैनी बढ़ जाती है। बुख़ार और साँस भी बढ़ जाती है। नब्ज़ की चाल भी अधिक रहती है। साँस इतनी अधिक हो जाती है कि नाक के नथने भी चलते मालूम पड़ते हैं। इनमें जो रोगी अच्छे होनेवाले होते हैं उनमें बुख़ार के घटने के साथ साथ साँस भी कम होने लगती है और बलग़म भी प्रायः निकलने लगता है। बलग़म पीला, चिकना और गाँठदार होता है। किन्तु उनमें, जो मरनेवाले होते हैं, खाँसी के आते आते बलग़म में कभी कभी ख़ून भी आने लगता है। कभी कभी ऐसे रोगी ठीक चिकित्सा से अच्छे हो जाते हैं। साँस यहाँ तक बढ़ जाती है कि रोगी की हालत दमे के मरीज़ की ऐसी हो जाती है, नाख़ूनों और अँगुलियों पर कालापन आने लगता है। अन्त में बेहोशी होकर मृत्यु होती है।

अच्छे होने पर भी खाँसी बहुत दिनों तक आती रहती है। रोगी बहुत कमज़ोर हो जाता है। ताक़त धीरे धीरे आती है।

२—कुछ रोगियों में ज्वर के साथ साथ ख़ूब कै और दस्त आने लगते हैं। ज्वर बहुत कम रह जाता है। कै और दस्तों में कभी पीला पित्त और कभी सिर्फ़ सफ़ेद कफ़दार पानी ही आता है। हैज़े की तरह रोगी की आँखें गढ्ढे में घुस जाती हैं। नब्ज़ अँगूठे की जड़ को छोड़ देती है। रोगी को मरने तक होश रहते देखा गया है। ऐसे रोगी के हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं किन्तु ऐंठन नहीं पाई गई। पेशाब भी थोड़ा थोड़ा होता रहता है। दो तीन रोगियों के दस्तों में ख़ून और आँव आती रही। २४ घण्टों में सौ सौ दस्त होते सुने गये हैं।

३—दो तीन बच्चों में, और थोड़े से बड़ी उम्रवाले रोगियों में, १०४ डिगरी (F.) से १०६ डिगरी तक ज्वर देखा गया है। इसमें खाँसी थोड़ी या बिलकुल न थी। साँस ज़रूर तेज़ थी। हाथ-पैर इनके काँपते थे। बच्चे कुछ बेहोश और डरे से मालूम होते थे।

पहचान या निदान—ऊपर के लक्षणों से हर एक समझदार आदमी इस रोग को आज कल पहचान सकता है। किन्तु आज कल साथ साथ मोतीझरा (या मारवाड़ी बुख़ार) some Eruptive fever और शीतला या चेचक (Small pox) और जूड़ी बुख़ार (Malaria) भी चल रहे हैं। इसलिए इन पर ध्यान रखते हुए इलाज में ज़रा जल्दी न करना चाहिए।

उपद्रव—इस रोग के कुछ उपद्रव ये हैं—पसली चलना, नाक से ख़ून आना, फेफड़े से भी खून आना, कै और दस्त होना, दस्त में ख़ून जाना, सिर में या हाथ-पैरों में सख़्त दर्द होना आदि हैं।

इलाज—

बचने के उपाय—मेरी राय में ऐसी हालत में बिलकुल बचना तो असम्भव मालूम पड़ता है। फिर भी थोड़े उपाय लिखे देता हूँ। इन पर अमल करनेवाले प्रायः बच गये हैं—भूख से अधिक न खाना, ठंड से, गर्द-धूल से बचना; रोगियों के पास न रहना; तबीयत भारी होने पर (जैसे सिर्-दर्द, नाक बहने की हालत में) दूध ही पर रह कर एक दिन आराम करना। रोज़ तुलसी की पत्तियों का, या कभी कभी कुनैन का प्रयोग करते रहना।

कमज़ोरी पैदा करने वाली बातों से बचना। रात को नींद भर सोना।

(२) रोग होजाने पर—सर्दी, खाँसी, बुख़ार की हालत में—मेरी राय में दो दिन तक यदि रोगी सिर्फ़ गरम पानी से (जिसमें थोड़ी पीसी राई मिला दी गई हो) अपने हाथ-पैरों और माथे को खूब धोकर गरम वस्त्र ओढ़ कर चुपचाप पड़ा रहे। प्यास लगने पर गरम किया हुआ ठंढा जल जी भर पीता रहे। तब भी तीन दिन में बहुत कुछ अच्छा हो जाता है। भूख लगने पर दो एक दाने भुने मुनक्के या गरम दूध (थोड़ा) ले लेवे। बिना भूख ज्वर में खाना मेरी राय में हमेशा नुक़सान पहुँचाता है। दूध पीनेवाले बच्चों को भी दूध देर देर में और पतला कर के पिलाना चाहिए। ऐसी माता का दूध जो इस बुख़ार में पड़ी हो, बच्चे को नहीं देना चाहिए। बच्चे को उसके साथ नहीं सुलाना चाहिए। बलग़म या नाक के पानी को दीवारों पर या घर भर में नहीं फैलाना चाहिए।

मैं अपने रोगियों को आरम्भ ही से उठने बैठने से मना कर देता हूं। पड़े रहने की सलाह देता हूँ। पहले दिन या दो दिन तक मरीज़ को कुछ भी खाने को नहीं देता। भूख मालूम पड़ने पर भुने मुनक्के देता हूँ। या मुनक्के का काढ़ा (गरम गरम) और थोड़ा थोड़ा दूध देने लगता हूँ। पहले दिन, उसके हाथ-पैरों को गरम जल से ख़ूब धुलवाता हूँ। सिर में दर्द होने पर माथे पर १० मिनट के लिए राई का पलस्तर लगवा देता हूँ।

ओषधियाँ—मेरी सम्मति में मकरध्वज, मुश्क, कुनैन, एन्टीपाइरीन, एपरीन आदि ओषधियों से आरम्भ में काम लेने से या तो रोग देर तक चला है या हानि हुई है। इसलिए पहले दिन छाती पर राई के पलस्तर (१० मिनट तक, राई पानी में पीस-कर) पीठ पर और आगे चढ़ादे। फिर गरम ज़ल से छुड़ादे। देर तक लगाने से छाला पड़ जाता है। गरम जल से हाथ-पैर धोकर सो रहे।

पहले तीन दिन तक, बुख़ार-खाँसी की दशा में, मामूली ओषधियों से काम लेना अच्छा है। घबराना नहीं चाहिए—

घरेलू इलाज—

(१) (अ) तुलसी की पत्ती का काढ़ा, २ रत्ती नमक के साथ तीन बार (दिन में)—(व) मुनक्के का गरम गरम पेय, (मुनक्के पीस कर पानी में गरम करो) या मुनक्के भुने हुए पानी के साथ तीन बार दो।

(क) रोगी को आराम से लेटा रहने दो।

(ख) सूखी खाँसी के लिए **लवङ्गादिचूर्ण** शहद के साथ दिन में दो बार चाटो, या मुलैठी, मिसरी मुँह में रक्खो। या लसोड़े की चटनी चाखो। या ख़ाली लौंग रक्खो—

(ग) भूख मालूम होने पर थोड़ा थोड़ा गरम दूध देने लगो।

(घ) पानी जी भर दो।

(ङ) ताक़त के लिए ज़रूरत पड़ने पर जायफल या मैनफल दो रत्ती और अदरक (भुल-भुलाया) शहद के साथ खिलाओ।

(च) छाती में दर्द के लिए सेंक कर के रूई से बाँध दो।

(२) जिनके पास होमियोपैथिक ओषधियाँ हों वे आरम्भ में केवल ब्रायोनिया और रसटौक्स (Bryonia and Rhustox) से पहले तीन चार दिन काम लें तो अच्छा हो। ज़्यादा ज़रूरत पड़ने पर किसी जानकार से सलाह लें।

(३) जो एलोपैथिक ओषधियों से और आयु-र्वैदिक ओषधियों से काम लेना हो या रोग

कठिन हो तो किसी योग्य डाक्टर या वैद्य से सलाह लें।

ख़ुश्क खाँसी की हालत में और तर खाँसी की हालत में, थोड़े से खोआ और नमक की पोटली, तवे पर गरम करके, छाती को आगे पीछे और बग़ल में सेंक दे। दिन में तीन चार बार ऐसा करे। यदि साँस दमे की तरह न समाती हो और रोगी सो न सकता हो, तब जान बचाने के लिए बड़ी उम्र के रोगी को बड़ी बड़ी अलसी की पोलिस लगावे। अलसी भून पीस कर खौलते पानी में मिला, गाढ़ी गाढ़ी लेई बना लेवे और कपड़े में, रज़ाई की तरह लपेट ले। गरम गरम (जितना बर्दाश्त हो) छाती पर चढ़ा दे। इस तरह घण्टे भर करे। ऐसी दशा में नीचे दिया अँगरेज़ी नुसख़ा भी मुफ़ीद पाया; जिसे बिना योग्य डाकृर की सलाह के काम में न लाना चाहिए—(Re Exnucis vom. liquid m. iii, Tinct Quinni Ammoniata m. xx, spt. vini gallici 3 or two tea-spoonfuls of brandy) हर तीन तीन घण्टे पर देने से रोगी को जल्द फ़ायदा हो गया है।

ऐसी हालत में आयुर्वैदिक ओषधियाँ अभ्रक अदरक के साथ, मुफ़ीद पाई गई है। होमियोपैथिक बैलेडोना (Belladonna) और कार्वो वैजीटेविलिस (Carbo. Veget.) भी मुफ़ीद मालूम हुई है।

(डाक्टर) प्रसादीलाल झा, एल० एम० एस०

नवयुवकों के लिए जीविकोपार्जन का एक नया उपाय।

भारत में इस समय बे-रोज़गारी बहुत बढ़ रही है। हमारे नवयुवकों को चाकरी के अतिरिक्त पेट पालने का और कोई साधन ही दृष्टिगोचर नहीं होता। भारतीय बालक विद्याध्ययन करता है तो चाकरी के लिए, विदेश जाता है तो चाकरी के लिए और कोई कला-कौशल सीखता है तो चाकरी के लिए। सरकार से छात्रवृत्ति पाकर जो युवक उद्योग-धन्धे की शिक्षा के लिए योरप जाते हैं वे भी स्वदेश लौटने पर नौकरी की ही तलाश में मारे मारे फिरते हैं। जगहें—थोड़ीं और उन के अभिलाषी अनन्त, इस कारण जो कठिनाइयाँ उपस्थित हो रही हैं और जातीय चरित्र पर इसका जो हानि-कारक प्रभाव पड़ रहा है वह किसी से छिपा नहीं।

जिस मनुष्य के पास निज की भूमि है, जो स्वतन्त्र रीति से चालीस पचास रुपये मासिक कमा सकता है, वह भी दस-पन्द्रह रुपये की नौकरी के लिए जूतियाँ चटख़ाता फिरता है।

हमारी सम्पत्ति कृषि और व्यापार के द्वारा ही बढ़ सकती है, नौकरी-चाकरी से नहीं। पर वर्तमान अवस्था में हमारे वाणिज्य-व्यापार का उन्नत होना बहुत ही कठिन है। इसके अतिरिक्त जब तक कृषि-सम्बन्धी उच्च ज्ञान के द्वारा स्वदेश में उत्तम उत्तम पदार्थ न पैदा किये जायँगे तब तक कोई अच्छा उद्योग-धन्धा चल भी नहीं सकता। इसलिए सारे व्यवसायों का मूलाधार कृषि है। इस देश में कृषि-विद्या का जितना अधिक प्रचार होगा, यहां सुशिक्षित कृषकों की संख्या जितनी अधिक बढ़ेगी, उतना ही अधिक यह देश धन-धान्य से भरा पूरा होगा। इससे लोगों में स्वावलम्बन का भाव पैदा होगा और भारत-सन्तानों को दर दर घूमने की आवश्यकता न रहेगी; क्योंकि किसान का घर बड़ा है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को अन्न दे सकता है। सरकार के शाही ख़र्च, वकील-बारिस्टरों की मोटरें और अहलकारों के नवाबी ठाठ, यह सब किसान के ही परिश्रम का फल है। फिर भी भारतीय किसान आज इतना दीन-हीन क्यों है? आज वह करोड़ों रुपयों का ऋणी क्यों है? और आज उसका व्यवसाय ऐसी घृणा की दृष्टि से क्यों देखा जाता है? कारण यही है कि भारत के बाबू-दल ने कृषि-कर्म्म के महत्त्व को नहीं समझा। इसी से इस स्वर्गीय विद्या का इस देश से प्रायः लोप होता जा रहा है। अन्यथा यह कब सम्भव था कि जिस कृषि के प्रताप से आज अमरीका और आस्ट्रेलिया कुबेर के भाण्डार बन रहे हैं, जिस कृषि के प्रताप से रूस और ब्रेज़ील के कृषक माला माल हो रहे हैं वही कृषि भारत की जीविका का प्रधान साधन, हम लोगों को दरिद्र और दीन बना रखता!

किसी समय यह आर्य्य-भूमि भूमण्डल के सभी देशों से श्रेष्ठ थी। तब यह सुवर्ण-भूमि और रत्नगर्भा कहाती थी। कारण यह था कि यहाँ की भूमि अत्यन्त उर्वरा थी। सभी प्रकार के अनाज और फल-फूल यहाँ पैदा होते थे। यहाँ के कृषक भूमि-कर्षण में बड़े निपुण थे। उन्हें हर प्रकार की सहायता मिलती थी। वे उत्तम उत्तम वस्तुयें पैदा करके विदेश भेजते थे। ऐसे कृषकों के रहते दुर्भिक्ष बहुत कम पड़ते थे। सभी को पेट भर भोजन मिल जाता था। इस समय हमारे शिक्षित नवयुवक कृषि-कर्म्म को घृणित कर्म्म समझ रहे हैं; पर प्राचीन काल में आर्य्य राजा भी स्वयं हल चलाना बुरा न समझते थे। अब भी उन्नत देशों में कृषि-कर्म्म का बड़ा मान है। नीचे हम कई कृषि-प्रधान देशों का वृत्तान्त देते हैं। उससे पता लग जायगा कि वे देश कृषि से कितना धन कमा रहे हैं—

आस्ट्रेलिया बहुत बड़ा महाद्वीप है। वह अभी सारा आबाद नहीं हुआ। उसमें कई रियासतें हैं। प्रत्येक रियासत की गवर्नमेण्ट और कृषि-विभाग एक दूसरे से अलग है। उन रियासतों में से एक का नाम विक्टोरिया है। विक्टोरिया में जो लोग आबाद होना चाहें, और जिनकी कृषि-कर्म्म में प्रवृत्त होने की इच्छा हो, उनके लाभार्थ विक्टोरिया की सरकार ने Hints for new settlers नामक एक पुस्तिका जारी की है। उसमें जो बातें लिखी हैं वे हमारे लिए बड़ी उत्साह-जनक हैं। उसमें लिखा है कि—

"जो निर्धन और अविवाहित पुरुष यहाँ आ कर खेती करना चाहे उसे उचित है कि वह किसी अच्छे किसान के अधीन नौकरी करके अनुभव और धनोपार्जन करे। परिश्रमी मनुष्य को भोजन और मकान के साथ १५ शिलिङ्ग ११।) से २५ शिलिङ्ग १८॥।) तक साप्ताहिक वेतन मिल सकता है। पाँच ही वर्षों में वह इतना धन बचा सकता है जिससे वह किसी के साझे में कृषि का काम कर सके या अपने लिए कुछ भूमि ख़रीद करके स्वयं कृषि कर सके।

"यदि मनुष्य सपरिवार है; उसके साथ चौदह चौदह पन्द्रह पन्द्रह वर्ष के लड़के-लड़कियाँ हैं, तो वह थोड़ी सी पूँजी से भी, यदि उसे पहले से खेती का कुछ अनुभव है, साझे में कुछ भूमि लेकर, दूध-मक्खन का रोज़गार करके या गेहूँ पैदा करके, अपनी योग्यता और परिश्रम के अनुसार १५००) से लेकर ४५००) रुपये तक, पैदा कर सकता है।

"कृषि से सम्बन्ध रखने वाले कुछ व्यवसाय नीचे लिखे जाते हैं—जिसकी जैसी रुचि और जैसी परिस्थिति हो उसके अनुसार वह इन में से कोई काम कर सकता है—

(१) दूध-मक्खन (डेरियिङ्ग) का काम। साथ ही वह चारा, तम्बाकू, चुकन्दर, फल, आलू आदि भी पैदा कर सकता है।

(२) गेहूँ की खेती। इसके साथ वह चाहे तो भेड़ें भी पाल सकता है।

(३) सेव आदि फल—पैदा करना।

(४) यदि कोई बड़ा शहर या मण्डी पास हो तो शाक-भाजी और छोटे छोटे फलों का रोज़गार।

(५) अङ्गूर पैदा करना।

(६) तम्बाकू, मकई, प्याज़ इत्यादि पैदा करना।

उस पुस्तक में, हिसाब लगा कर यह भी दिखाया गया है कि कितनी पूँजी लगाने से कितनी आमदनी हो सकती है। उसमें से एक दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

पेशगी ख़र्च तथा लाभ

नीचे के ब्योरे से भिन्न भिन्न प्रकार की कृषि के लिए कितना ख़र्च लगेगा और उससे कितनी आमदनी हो सकती है, इसका अनुमान हो सकेगा। इसमें अवस्थानुसार थोड़ी बहुत कमी-बेशी भी हो सकती है। इस ब्योरे में भूमि का मूल्य नहीं लगाया गया। केवल मकान, बाढ़, पशु, यन्त्र, और अन्य आवश्यक चीज़ें ही हिसाब में ली गई हैं। परिश्रमी मनुष्य मकान आदि बनाने में स्वयं परिश्रम करके ख़र्च घटा सकता है।

५० एकड़ भूमि पर कृषि-कर्म्म आरम्भ करने के लिए—पेशगी ख़र्च—और उस से होने वाली आमदनी।

ख़र्च

	पौंड	शिलिंग	पेंस
(१) घर ...	१२०	०	०
(२) बाहर के मकान अस्तबल, पशुशाला आदि) ...	४०	०	०
(३) कृषि के यन्त्र ...	२०	१२	६
(४) मक्खन निकालने की मैशीन...	२६	०	०
(५) दो घोड़े और उनका साज-सामान ...	६५	०	०
(६) पन्द्रह गायें ...	११२	१०	०
(७) दो एक और पशु ...	२	५	०
(८) बीज, खाद, तथा फालतू चीज़ें ...	२०	०	०
जोड़	४०६	७	६

एक वर्ष की आमदनी

		पौंड शिलिंग पेंस
(१) दूध और मलाई	...	१५०— ०—०
(२) १२ बछड़े	...	७— ४—०
(३) ५ एकड़ में आलू, या ३ एकड़ में तम्बाकू, या १० एकड़ में प्याज़ आदि		६०— ०—०
(४) और पशु	...	१८— ०—०
जोड़		२३५— ४—०

एक पुरुष और स्त्री का जोड़ा ऊपर लिखे अनुसार धन पैदा कर सकता है। आलू और तम्बाकू आदि के लिए फालतू मज़दूरी अलग है। दूध-मक्खन के काम से बड़ा लाभ यह है कि इससे बहुत जल्द आमदनी होने लगती है। पर फ़सल के लिए एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है; तब कहीं पैसे का मुँह देखना नसीब होता है। इस प्रकार पहले ४०० पौंड की पूँजी लगाने से २०० पौंड वार्षिक आमदनी होने लग जाती है।

१०० एकड़ भूमि पर काम जारी करने के लिए अग्रिम पूँजी और उससे होनेवाली आमदनी की सम्भावना।

ख़र्च

		पौंड शिलिंग पेंस
(१) घर—४ कमरे	...	१२०— ०—०
(२) अस्तबल वग़ैरह बाहर के कमरे और खपरैल	...	७७—१०—०
(३) ३० गायें	...	२२५— ०—०
(४) ३ घोड़े	...	६०— ०—०
(५) ६ और पशु	...	४—१०—०
(६) बीज, खाद, यन्त्र आदि।	...	४—१०—०
जोड़		५२१—१०—०

आमदनी

		पौंड शिलिंग पेंस
(१) ३० गायों का दूध और मक्खन मलाई	...	३००— ०—०
(२) २५ बछड़े	...	१५—१२—६
(३) १४ और पशु	...	३६— ०—०
(४) ५ एकड़ आलू या ३ एकड़ तम्बाकू		६०— ०—०
जोड़	...	४११—१२—६

पाँच व्यक्तियोंवाला एक परिवार पूर्वोक्त काम कर सकता है। इससे सामान आदि की क्षति के २१ पौंड निकालने से ३९० पौंड की वार्षिक आय हुई।

विक्टोरिया से प्रति वर्ष करोड़ों रुपयों का मक्खन दूसरे देशों को जाता है। १९१० ईसवी में १६,२०० टन मक्खन जिसका मूल्य १८,१४,००० पौंड था, विक्टोरिया ने बाहर भेजा। इस में से बहुत सा भारत में भी आया। दूध और पनीर इससे अलग है। यदि हम लोग यहीं मक्खन पैदा करके विदेश से उसका आना बन्द कर दें तब भी सैकड़ों परिवारों का पेट पल सकता है।

तम्बाकू बड़ी लाभ-दायक फ़सल है। उसके लिए वर्ष में सात महीने परिश्रम करना पड़ता है। पहले पाँच एकड़ भूमि पर तम्बाकू की खेती आरम्भ करनी चाहिए। उससे ३००) से ६००) रुपया प्रति एकड़ तक आमदनी हो सकती है। विक्टोरिया की सरकार ने तम्बाकू की खेती पर जो पुस्तक निकाली है उससे तम्बाकू के दो एक किसानों के दृष्टान्त दिये जाते हैं—

एडी (Edi) में ३ मनुष्यों ने, एक ही फसल में, १५ एकड़ से ७५० पौंड की तम्बाकू पैदा की। अर्थात् ५० पौंड या ७५०) प्रति एकड़ पैदा हुई ह्विट फील्ड (Whitfield) में ५ एकड़ के एक खेत से २२६ पौंड की तम्बाकू पैदा हुई। मोहू (Moyhu) में ३० एकड़ भूमि, चार वर्ष तक बिना खाद डाले, ७८० पौंड तम्बाकू प्रति वर्ष देती रही। गिप्सलैंड (Gippslaud) में कुछ खेत ६० पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से सिगार की तम्बाकू पैदा करते रहे। भारत में प्रति वर्ष कई लाख रुपये की तम्बाकू विदेश से आती है। हम लोग जब अपनी ही ज़रूरत को आप ही पूरा करने लगें तभी अच्छी रोटी मिलेगी।

शहद का व्यवसाय भी बड़ा लाभदायक है। किसान के लिए मधुमक्खियों का पालना बहुत सुगम है। एक पुस्तक (Victorian Year Book, 1912—13) में लिखा है कि विक्टोरिया में मक्खियाँ पालनेवालों की संख्या ४,६७६, और छत्तों की संख्या ५२,७२३ है। १९११-१२ में वहाँ ३२,७७,५९० पौंड (कोई ४०,९६९ मन) शहद और ४५,३५४ पौंड मोम तैयार हुआ। ३ पेंस प्रति पौंड शहद और १४ पेंस प्रति पौंड मोम के हिसाब से वर्ष भर

की आमदनी ३९,४२५ पौंड हुई। इस व्यवसाय से कितनी आमदनी होने की सम्भावना है इसका अनुमान नीचे के उदाहरणों से हो सकता है—

(१) एक मनुष्य ने १९०६ में मधु-मक्खी पालना आरम्भ किया। उसे पहले से इस व्यवसाय का कुछ अनुभव न था। उस वर्ष के अन्त में उसके पास पचास छत्ते थे। १९११ के अन्त में २७० छत्ते हो गये और उसे उनकी उपज से ४०६ पौंड १३ शिलिङ्ग ५ पेंस की आमदनी हुई।

(२) एक दूसरे मनुष्य—ने १९०० में २ छत्तों से व्यवसाय आरम्भ किया। थोड़े ही समय में उसके पास २०० छत्ते हो गये। १९१२-१९१३ में उसे, केवल शहद से ही, ३७५ पौंड की आमदनी हुई। उसके छत्तों का मूल्य ४००० पौंड है।

(३) एक और मनुष्य—ने १९०० में कार्य्य आरम्भ किया। उसे १४ वर्षों में ३३७ पौंड प्रति वर्ष के हिसाब से फ़ायदा हुआ।

पालने को तो हमारे देश में भी कुछ लोग मक्खियाँ पालते हैं; पर ज्ञानाभाव से उनका शहद ऐसा मैला और ख़राब होता है कि उससे उन्हें बहुत ही थोड़ा फ़ायदा होता है।

मुर्गियाँ पालने से भी विक्टोरियावालों को लाखों रुपये की आमदनी होती है।

चुकन्दर की खेती। इस समय चुकन्दर की खाँड़ गन्ने की खाँड़ को मात कर रही है। विदेश से जो लाखों रुपये की खाँड़ प्रतिवर्ष भारत में आती है वह प्रायः सब की सब चुकन्दर की होती है। संसार में इसकी खेती दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। पर हमारे देश में इसका रिवाज नहीं। आस्ट्रेलिया में भी पहले लोग चुकन्दर न बोते थे। कारण यह था कि चुकन्दर से खाँड़ तैयार करने की कल प्रत्येक किसान नहीं ख़रीद सकता था। इस पर विक्टोरिया की सरकार ने लोगों को सहायता देकर एक बड़ा भारी कारख़ाना खुलाया। उसमें ७०,००० पौंड ख़र्च पड़ा। जितने के हिस्से लोगों ने ख़रीदे उसके दूने गवर्नमेंट ने। ख़ुद भूमि देकर उसने लोगों से चुकन्दर बुवाया। कारख़ाने में नफ़ा होता देख साधारण कृषकों का भी उत्साह बढ़ गया। अब वे, अपने तौर पर, चुकन्दर बोने लगे हैं। खाँड़ निकालने के बाद मैशीन में चुकन्दर का जो गूदा बच रहता है वह किसान को मुफ़्त मिल जाता है। उसे खाने से गाय का दूध बहुत बढ़ जाता है। हमने स्वयं अपनी गाय को चुकन्दर खिला कर इसका तजरबा किया है। यदि भारत में भी सरकार कोई ऐसा कारख़ाना खुलवा दे तो यहाँ भी लाखों रुपये का चुकन्दर पैदा हो सकता है।

भेड़ पालना। भेड़ किसान के लिए बहुत ही उपयोगी चीज़ है। उसका मल-मूत्र भूमि के लिए अनमोल खाद है। उसकी ऊन से अच्छी आमदनी हो सकती है। विक्टोरिया में एक भेड़ से कोई १६ पौंड, या ८ सेर, ऊन प्रतिवर्ष निकाली जाती है। एक पुस्तक में लिखा है कि आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलेण्ड में ११,५५,२५,५८१ भेड़ें हैं। उनसे एक वर्ष में कोई २४,३४,६४३ बोरी या ८१,६८,६१, ६६५ पौंड ऊन विदेश भेजी जाती है। इसका मूल्य ३,३१,२८, ४९६ पौंड होता है। भेड़ों की संख्या दिन पर दिन बढ़ रही है। आस्ट्रेलिया ऊन की बहुत बड़ी मंडी बन गया है। हमारे देश का जल-वायु भी भेड़ों के लिए ख़ूब अनुकूल है। यदि सुशिक्षित नवयुवक इस काम को हाथ में लें तो बहुत कुछ आमदनी हो सकती है।

आलू की खेती। हमारे देश में अब भी सबोध किसान आलू से दो दो ढाई ढाई सौ रुपया प्रति बीघा पैदा करते हैं; पर जो उन्नति पश्चिमी देशों ने इसमें की है, यहाँ किसानों का काम उसके पसङ्गे में भी नहीं। अमरीका के संयुक्त-राज्यों के कृषि-विभाग में एक पुस्तक में लिखा है कि स्काटलैंड के अर्ल आव् रोज़बरी अपनी भूमि पर १,२३१२०० पौंड (१,५३८ मन) प्रति एकड़ आलू पैदा करते हैं। इस अद्भुत चमत्कार के कारण आपका नाम Potato Wizard (आलुओं का मदारी) पड़ गया है।

अमरीका आदि देशों में बहुत ज़ियादा सरदी पड़ती है। कुहरे से तम्बाकू और प्याज़ को हानि पहुँचती है। कुहरे से बचाने के लिए वहाँ के किसान बीज को बड़े बड़े शीशे के ढकनों के नीचे बोते हैं। खेतों पर वे मोटा कपड़ा तानते हैं। इतना ख़र्च उठा कर भी वे करोड़ों रुपये कमाते हैं। परमात्मा की कृपा से हमारे देश का जल-वायु इतना बुरा नहीं। पर ईश्वर की इतनी दया के होते भी हम कुछ नहीं कर सकते, यह हमारा मन्द भाग्य है। हमारा विश्वास

है कि यदि हमारे नवयुवक निकृष्ट चाकरी का विचार छोड़ कर उत्तम कृषि-कर्म्म से पेट पालने का प्रयत्न करें तो इसमें उनका और उनकी देश, जाति दोनों का कल्याण हो।

सन्तराम, बी० ए०।

विरहाकुल

(१)

छोटी सी सूनी निकुञ्ज की सघन लताओं में छिप कर;
आँख-मिचौनी तू खेलेगा-यही सोच कर नटनागर!
निशानाथ ने उन गलियों में हँस कर डाले थे कुछ फूल;
रजत-बालुका से मण्डित थे जहाँ सुभग कालिन्दी-कूल॥

(२)

मैं अपनी कुटीर में बैठा धरे हुए था बस यह ध्यान;
अलक विमण्डित मुख-मण्डल के दर्शन कब होंगे? भगवान!
"चपल-यशोदा-बाले शोभित-माले रतिर्मेस्तु" बस आज;
यही गीत गाती थी सन्ध्या-पवन साज कर सुख के साज॥

(३)

मचल मचल कर उत्कण्ठा ने छोड़ा नीरवता का साथ;
विकट प्रतीक्षा ने धीरे से कहा—"निठुर हो तुम तो नाथ"।
नाद-ब्रह्म की रुचिर उपासिका मेरी इच्छा हुई हताश;
बह कर उस निस्तब्ध वायु में चला गया मेरा निश्वास॥

(४)

प्रभो! तुम्हारे शुभागमन की सुनी न मैं ने कुछ भी बात;
निज प्रण के पक्के हो प्यारे, आज हो गया मुझ को ज्ञात।
नटवर! यह वियोग का अभिनय बन्द करो है चित्त अशान्त;
क्या मेरे जीवन-नाटक का अन्तिमाङ्क होगा दुःखान्त?

"नवीन"

सुधारक का सुधार।*

(१)

रात्रि का समय था। दस बजे थे। मैं अपने कमरे में बैठा हुआ "सच्चा सुधारक" मासिक पत्र के लिए, सुधारकों की मानसिक दुर्बलता पर, एक लम्बा लेख लिख रहा था। बिजली के उज्ज्वल प्रकाश से सारा कमरा जगमगा रहा था। मैं अपने विषय में बिल्कुल तल्लीन था। मेरी लेखनी से लेख के उपयुक्त ज़ोरदार शब्द, बिना प्रयास, निकलते चले जा रहे थे। सिर झुकाये हुए मैं पृष्ठों पर पृष्ठ रँगता चला जा रहा था। इतने में ऐसा जान पड़ा कि कोई मेरे कमरे के किवाड़ खोल भीतर आ रहा है। मैंने चाहा कि सिर उठा कर देखूँ कि आनेवाले महाशय कौन हैं? पर लेखनी न रुकी। उसने कहा, जो विचार तुम्हारे हृदय में उठ रहे हैं उन्हें पहले लिपिबद्ध कर लो, नहीं तो भूल जाओगे। अन्त में जब गरमी से तबीयत घबरा उठी तब मैंने उसे फेंक कर पंखा उठा लिया और कहा—थोड़ी देर के लिए मैं तुम्हारी बात न मानूँगा।

सामने अपनी स्त्री को खड़ी देख मैं कुछ चकित सा हो गया। बिना किसी आवश्यक कार्य के, मेरे काम करते समय, मुझे सताने का अभ्यास मेरी स्त्री को न था। अतएव, मैंने सहज ही अनुमान कर लिया कि अवश्य ही किसी असाधारण घटना ने मेरी स्त्री को, इस समय, मेरे काम में बाधा डालने के लिए विवश किया होगा। फिर भी मैं चुप ही रहा और देखने लगा कि श्रीमतीजी के श्रीमुख से कौन सी बात निकलती है।

मेरे हाथ से पङ्खा छीन कर मुझ पर पङ्खा झलते हुए मेरी स्त्री ने कहा—"जान पड़ता है, कमरे में यदि कोई चोर भी घुस आवे तो भी तुम्हें मालूम न हो। अच्छे लिखनेवाले हो। इस लिखाई-पढ़ाई में जितना समय लगाते हो, उसका आधा भी यदि..............."

बीच ही में उसकी बात काट कर और मुख पर ज़बरदस्ती मुसकुराहट को घसीट कर मैंने कहा—"बात क्या है, कुछ कहोगी भी। आह, मैं जान गया। तुम और रुपया चाहती हो। तुम्हारा हिसाब-किताब बड़ा अजीब है। ठीक पहली तारीख़ को महीने भर का ख़र्च पाकर भी मुझे सदा सताती रहती हो। बोलो, कितना चाहिए?"

मेरी स्त्री ने किञ्चित् कुपित होकर कहा—"मुझे रुपये न चाहिए। क्या अभी मैंने तुमसे रुपयों के लिए कहा है? हाँ, और यदि रुपयों के लिए कहती भी, तो क्या बुरा था। रुपयों को कुछ मैं निगल तो जाती नहीं। तुम्हारे, तुम्हारे बच्चों के और तुम्हारी माँ के सुख के लिए ही तो सब ख़र्च करती हूँ।"

---

* मार्च १९१८ के "इंडियन रिव्यू" में प्रकाशित (Reformer Reformed नामक) एक आख्यायिका का परिवर्तित अनुवाद।

(युद्ध के दृश्य)
फ्रांस के एक खलिहान में हिन्दुस्तानी पैदल सेना का बैंड बाजा बज रहा है।
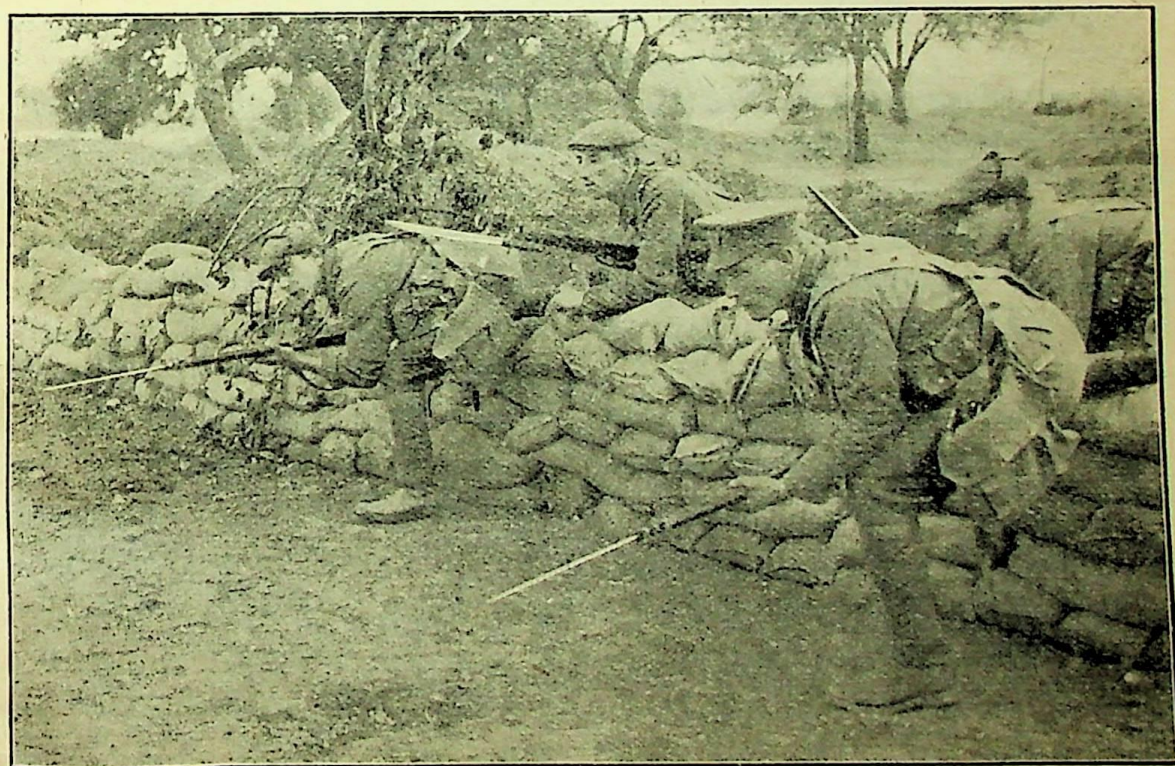
(युद्ध के दृश्य)
खाइयों से निकल कर सैनिक सुन रहे हैं कि शत्रु क्या कर रहा है।

मैंने भी क्रोध का भाव प्रकट करते हुए कहा—"अच्छा तो बतलाअोगी भी, है क्या बात? मुझे देर तक बात करने का अवकाश नहीं। बहुत काम करना है।" यह कह कर मैंने सामने पड़े हुए अधूरे लेख पर दृष्टि डाली।

"काम! काम तुम्हें काम कब नहीं रहता। हर घड़ी तो तुम्हें लिखते ही पढ़ते पाती हूँ।"

अब भी अपनी स्त्री को असल बात पर आते न देख मैंने लिखने के लिए फिर लेखनी उठाई। तब उसने कुछ नम्र होकर कहा—"विशेष बात कुछ नहीं है। मैं केवल यह जानना चाहती हूँ कि तुम डिपुटी-कलेक्टर के यहाँ के ब्याह में जाअोगे या नहीं?"

नगर में जिसके मुँह से सुनो उसीके मुँह से डिपुटी-कलेक्टर के यहाँ के ब्याह की चर्चा! डिपुटी-कलेक्टर नगर के एक उच्च अफ़सर और समाज के सिरमौर थे। अतएव ऐसा होना स्वाभाविक ही था। इसके सिवा एक बात और भी थी, जिसके कारण शिक्षित समाज में भी इस ब्याह से हलचल मची हुई थी। डिपुटी-साहब-बाल-विवाह के पक्के विरोधी थे। वे बहुधा सभा-समाजों में भी अपने इस विरोध-भाव को बड़े ज़ोरदार शब्दों में प्रकट करते थे। पर अब उन्हींको अपनी आठ वर्ष की दूध-मुही कन्या का ब्याह करते देख सब चकित हो गये थे—हतबुद्धि हो गये थे। उनकी अधिकार-सम्पन्नता से भय खा कर साहसी से साहसी वकील भी, उनसे, उनकी इस मानसिक दुर्बलता के विषय में, कुछ न कह सकते थे। अतएव मैंने निश्चय किया कि "सच्चा सुधारक" में एक लेख देकर, उसकी आड़ में उन पर आक्रमण किया जाय—उनकी ख़ूब ख़बर ली जाय। उक्त निश्चय को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए मैंने लेख लिखना आरम्भ किया था कि मेरी स्त्री ने आकर मुझे बाधा पहुँचाई। मैंने सोचा, यह डिपुटी-कलेक्टर के यहाँ ब्याह में जाने के लिए आकुल होगी और उसी के लिए मुझ से पूछने आई है।

मैं भी पक्का समाज-सुधारक था। अतएव, मैं भी इस ब्याह से ख़ुश न था। मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं इस ब्याह में कदापि सम्मिलित न हूँगा। तथापि मैं इस बात का विरोधी न था कि मेरी स्त्री भी वहाँ न जाय। इसलिए मैंने अपनी स्त्री को उत्तर दिया—"क्यों, क्या तुम जाना चाहती हो? मैं तो कभी न जाऊँगा। मैंने तो डिपुटी-कलेक्टर के सदृश "जोरू का ग़ुलाम" कभी नहीं देखा। उसकी कन्या को मैंने अपनी आँखों देखा है। वह केवल आठ वर्ष की है। पर वह उसका ब्याह कर रहा है। इसलिए कि उसकी स्त्री उसे ऐसा करने के लिए विवश कर रही है। अपनी स्त्री के इतने दबाव में रहना किसी भी मनुष्य के लिए बड़ी लज्जाजनक बात है। मैं इस ब्याह में कदापि सम्मिलित न हूँगा। पर यदि तुम जाना चाहती हो तो जा सकती हो।"

मेरी स्त्री ने व्यङ्ग्य पूर्वक उत्तर दिया—"जी हाँ, यदि सभी स्त्रियों के पति तुम्हारे ही जैसे हों तो फिर बेड़ा पार है। ज़रा सोचो तो सही, तुम आज तीन वर्षों से अपनी लड़की के ब्याह के लिए टालमटोल कर रहे हो, इतनी बड़ी लड़की को कुँवारी रखने के कारण सारी दुनिया तुम्हें हँस रही है। तुम तो समझते हो, वह निरी बालिका है, पर..............."

मैंने ज़रा तेज़ी से कहा—"बस करो, बहुत हुआ। मैं समझता हूँ, तुम डिपुटी-साहब के यहाँ जाने के लिए मुझ से पूछने आई हो। यदि यही बात है तो तुम प्रसन्नता-पूर्वक वहाँ जा सकती हो।"

मेरी स्त्री को कमला का ब्याह बड़ा प्रिय विषय था। वह जब तब, अवसर पाते ही, मुझ से इस विषय में सदैव झगड़ा करती थी। वह इस विषय को भी छेड़ती, घण्टों मेरा मग़ज़ चाट जाती। इसी से डर कर मैंने उसे डिपुटी-कलेक्टर के यहाँ जाने की आज्ञा देकर टरकाना चाहा। पर उसने मेरी बात अस्वीकृत करते हुए किञ्चित् उत्तेजित स्वर से कहा—"प्रत्येक जन मुझसे पूछ रहा है कि तुम्हारे यहाँ ब्याह क्यों नहीं होता। इस दशा में मैं दूसरों के यहाँ विवाहोत्सव देखने कैसे जा सकती हूँ।"

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ मेरी स्त्री कमला के ब्याह के लिए मुझे सदा सताती थी। पर उसका आज का यह उत्तेजित भाव देख कर मैंने जान लिया कि डिपुटी-साहब के यहाँ के ब्याह ने उसकी इच्छाग्नि में घी डालने का काम किया है। मैंने इस प्रज्वलित अग्नि को हँसी की बौछार से शान्त करने का प्रयत्न किया। मैंने मुसकुराते हुए कहा—"प्रिये, तुम तो मुझे पागल जा

पड़ती हो। तुम्हारा तो वही हाल है कि सारी रामायण पढ़ डाली, पर यह न जाना कि सीता के राम कौन होते थे। मैं सदा से तुम्हें बुद्धिमती समझते चला आया हूँ। पर जान पड़ता है तुम्हारा वर्तमान समय का ढङ्ग देख कर मुझे अपने मत में परिवर्तन करना पड़ेगा। जब से हमारा तुम्हारा गठबन्धन हुआ है तब से क्या मैं तुम्हें बाल-विवाह की बुराइयाँ नहीं बता रहा हूँ?"

मेरी स्त्री ने मुँह फुला कर उत्तर दिया—"बड़ा भाग्य, जो आज तुमने मेरी बुद्धिहीनता का पता पा लिया। और लोग तो इस बात को बहुत पहले से ही जानते हैं। ख़ैर, तुम मेरे लिए चिन्ता न करो। अपनी लड़की के ब्याह की तैयारी करो।"

मैंने भी रुष्ट होकर कहा—"अच्छा तो सुनो। यही बात आज मैं दस वर्षों से कहते आया हूँ और आज भी कहता हूँ। मेरी किसी लड़की का ब्याह तब तक न होगा जब तक वह इतनी बड़ी न हो जाय कि विवाह का मतलब खुद न समझ सके।"

किसी अनर्थ की आशङ्का से हृदय में जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें मुख पर प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हुए मेरी स्त्री ने किञ्चित् करुणस्वर से कहा—"सच है, मैं बहुत दिनों से तुम्हारे मुँह से बाल-विवाह की काल्पनिक बुराइयाँ सुन रही हूँ। पर जो बात सनातन से चली आई है उसके विरुद्ध तुम कैसे चलोगे? क्या तुम्हें धर्म अधर्म का कुछ भी ख़याल नहीं?"

मैंने अब उससे इस विषय पर अधिक वितण्डावाद करना व्यर्थ समझा। इसके पहले मैं उसे सैकड़ों बार समझा चुका था कि उन नियमों के अनुसार, जिन्हें किसी अतीत काल में हमारे निर्बोध पूर्वजों ने बनाया था, अब चलना महा कठिन है। हमें देश और काल पर सदा ही ध्यान रख कर उन नियमों में परिवर्त्तन करना चाहिए।

स्त्रियों को सदा दबाव में रखना चाहिए, इस मत का पक्षपाती होने के कारण मैंने उसे समझाना छोड़ कर उससे क्रुद्ध स्वर में चिल्ला कर कहा—"तू मुझे यह नहीं सिखा सकती कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं। मैं तुझ से सहस्रों बार कह चुका हूँ कि जब तक कमला वयस्क न हो जायगी उसका ब्याह न करूँगा मैंने तुझे लाखों बार समझाया है कि बाल-विवाह के कारण ही हमारा देश अवनति के गढ़े से नहीं निकलता। अब हमें अविलम्ब ही इस सत्यानाशी रीति से पीछा छुड़ाना चाहिए। पर तू भला कैसे समझेगी। तुझ में तो वही अवगुण भरे हुए हैं जो स्त्री-जाति में स्वभावतः होते हैं।"

मेरी स्त्री, जिससे मैं सदा ही स्त्रीजन-सुलभ आज्ञाकारिता की आशा रखता था, मेरे तिरस्कार-पूर्ण वचन सुन कर उनका विरोध करने के लिए व्यग्र हो उठी। उसने कहा—"हठ छोड़ो और मेरा कहना मानो। जो रीति हमारे कुल में......................"

उसने अपना कथन पूरा न कर पाया था कि एकाएक माँ को कमरे के दरवाज़े के पास खड़ी देख वह चुप हो गई।

हमारी माँ का यह नियम प्रतिदिन का था कि वह सोने के पहले घूम घूम कर सब दरवाज़ों और खिड़कियों को देख लेती कि वे भीतर से बन्द हैं या नहीं। आज भी वह अपने इसी नियम का पालन करके अपने कमरे की ओर लौट रही थी कि मेरे आफ़िस के कमरे में इतनी रात को प्रकाश देख उसे कुछ आश्चर्य सा हुआ। उसने कमरे में प्रवेश करके दरवाज़े के पास खड़े हो कहा—"बच्चा, यदि तुम इस प्रकार दिन रात काम करोगे तो ज़रूर तुम्हारा स्वास्थ्य बिगड़ जायगा।" यह कह कर उसने मेरी स्त्री की ओर तीव्र दृष्टि से देख कर मानो यह पूछा कि इतनी रात को इस कमरे में तेरे उपस्थित रहने का क्या प्रयोजन?

माँ को देख कर मानों मेरी स्त्री की जान में जान आई। उसने कहा—"माँ, आप भी इनसे कमला के ब्याह के विषय में नहीं कहतीं? ये कहते हैं, जब तक कमला किशोरावस्था को प्राप्त न हो जायगी, मैं उसका ब्याह न करूँगा।"

माँ ने यह सुन कर अपने दाहने हाथ की उँगलियों को अपने मुँह पर रख कर मानों यह कहने का भाव प्रकट किया कि भला मेरा बेटा कहीं ऐसा अपराध कर सकता है। पर मेरी स्त्री अपने उत्तेजित स्वर से कहती ही गई—"भला यह बात कहीं हमारी जाति, कुल या गोत्र के योग्य है? दुनिया क्या कहेगी, इसका इन्हें कुछ भी ध्यान ही नहीं। कोई हमारे हाथ का एक बूँद पानी तक तो न पियेगा। मैं इनसे कुछ कहती हूँ तो ये मुझे मूर्ख ठहराते

हैं—मुझ पर नाराज़ होते हैं। हाय, मैं क्या करूँ! माँ, तुम बड़ी हो। तुम्हीं इन्हें समझाओ, जिससे कमला का ब्याह इसी वैशाख अथवा ज्येष्ठ में हो जाय।"

अपनी स्त्री की इस करुणा-पूर्ण अपील को सुन कर मेरा चित्त कुछ चञ्चल हो उठा। माँ चुपचाप खड़ी रही। अपनी स्त्री को फिर कुछ कहने के लिए मुँह खोलते देख, मैंने उसे रोक कर, माँ से कहा—"माँ, भला तुम्हीं बताओ, कमला के ब्याह की ऐसी क्या जल्दी पड़ी है? उसकी उम्र अभी केवल सात वर्ष की है। अभी हम कम से कम चार पाँच वर्ष ब्याह न करें तो कोई हानि नहीं।"

मेरी स्त्री ने आँखें फाड़ कर घोर आश्चर्य का भाव प्रकट करते हुए कहा—"कमला की उम्र केवल सात वर्ष की है! मुझे डर है, तुम स्वयं अपनी उम्र न कहीं भूल जाव। कमला को अब नौ पूरा होकर दसवाँ लगा है।"

मेरी स्त्री कमला की उम्र के विषय में मुझसे कभी सहमत न होती थी। कमला जब केवल एक वर्ष की थी तब वह उसे तीन वर्ष की बताती थी। जब वह तीन वर्ष की हुई तब उसके हिसाब से उसे छठा वर्ष लगा। कमला की उम्र के विषय में यदि पञ्चाङ्ग बनानेवाले भी मेरी स्त्री से विवाद करते तो मुझे विश्वास था कि वे उस दिन से कान पकड़ कर पञ्चाङ्ग बनाना छोड़ देते। अस्तु, अपनी स्त्री से झगड़ा करना व्यर्थ समझ कर मैंने माँ की ओर देखा कि देखूँ वे क्या कहती हैं।

माँ ने सदा की तरह अपने कोमल स्वर से उत्तर दिया—"छोटी अवस्था में ब्याह कर डालना मैं सदा से अच्छा समझती हूँ। बेटा, तुम जानते हो, मैं दिन प्रति दिन निर्बल होती जाती हूँ। मुझे आँखों से कम देख पड़ता है। कान बहरे हो चले हैं। मुझे अब थोड़े ही दिनों की सङ्गिनी समझो। सो यदि तुम मेरे जीते जी कमला का ब्याह कर डालोगे तो मैं सुख से मर सकूँगी। मैं इस विषय पर तुमसे और अधिक क्या कहूँ। तुम स्वयं विचार कर सकते हो।"

मैंने माँ की बात छुड़ाने की चेष्टा करते हुए हँसते हँसते कहा—"माँ, तुम डरो मत। अभी तुम बीस वर्ष और जिओगी। कमला तो एक ओर रही उसकी पुत्री का भी ब्याह करके तुम मरोगी।"

इतने में सामने लटकती हुई घड़ी ने ठन ठन करके बारह बजाये। माता ने कहा—"अब बस करो। रात अधिक हो गई। जाओ, सोओ। फिर कभी इस विषय पर बातचीत हो जायगी। यह कह कर वह कमरे से बाहर हो गई। मेरी स्त्री ने भी अपने पक्ष की सफलता देख कुछ उल्लास दिखाते हुए माँ का अनुसरण किया।

अधूरे लेख को मेज़ के ड्राअर में डाल मैंने बिछौने की शरण ली। मैंने मन ही मन कहा, यह जीव सहज ही स्त्रियों के फन्दे में आने वाला नहीं।

(२)

पूर्वोक्त घटना के बाद मेरा घर मुझे ही दुःखदायी जान पड़ने लगा। या यों कहिए, उसे दुःखदायी बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा। मेरी स्त्री, जो मेरे भोजन करते समय, सदा निकट बैठ कर पङ्खा झला करती थी और हँसते मुसकुराते हुए—यह खाओ, वह खाओ—कह कर मेरे भोजनकाल को सदा सुखमय बनाने का प्रयत्न किया करती थी, अब ऐसा भाव दिखलाने लगी मानों उसे एक तो यों ही बड़ा काम रहता है, तिस पर भी उससे भोजन परोसने का काम लेकर ज़रूरत से ज़ियादह कष्ट दिया जाता है। माँ का यह हाल था कि दिन रात अपने कमरे में पड़ी रहती; किसी से न बोलती न चालती। अपनी पुत्री का मैं बड़ा प्यार करता था। पर वह तक इस षड्यंत्र में शामिल थी। उससे मैं बड़े प्यार से बोलता तो वह तुले हुए शब्दों में तिनक कर उत्तर देती। इस प्रकार मैं अपनी स्त्री की प्रफुल्लित करनेवाली मुसकुराहटों और पुत्री की कभी समाप्त न होनेवाली अनर्गल और निरर्थक, किन्तु मधुर और मन तथा प्राण को शीतल करनेवाली, बातों से अपने को वञ्चित करके बड़ा दुखी हुआ।

पर मैंने सब सह लिया। मैंने कहा, समाज-सुधार के सदृश पवित्र कार्य के लिए मैं किसी की परवा न करूँगा। मैंने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि जो मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं उनका अप्रिय होकर भी मैं जिन सिद्धान्तों को अनुमान बारह वर्षों से मानता चला आया हूँ और जिनके प्रतिपादन के लिए मैंने बीसों लम्बे लम्बे लेख लिखे हैं, तथा पचासों व्याख्यान दिये हैं, उनका कदापि त्याग न करूँगा।

इसके ठीक पन्द्रह दिन पश्चात् एक घटना ऐसी हुई जिससे मुझे अपनी प्रतिज्ञा से विचलित होना पड़ा। एक दिन सन्ध्या को जब हम कई मित्र क्लब में बैठे हुए गप्पें लड़ा रहे थे, समाज-सुधार का प्रश्न छिड़ गया और मैं बात ही बात में कह उठा—"उस मनुष्य को जो दूसरों को शिक्षा तो ख़ूब देता है, पर स्वयं उसके विरुद्ध आचरण करता है, समाज-सुधार-समिति का सदस्य कदापि न रहने देना चाहिए। और, इतने ही से अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेना चाहिए, प्रत्युत अख़बारों द्वारा उसकी ख़ूब ख़बर लेनी चाहिए—उसकी ख़ूब खिल्ली उड़ानी चाहिए।"

मेरे मित्र, बाबू वैकुण्ठनाथ ने कहा—"भाई तुम तो ज़रा ही में तेज़ हो जाते हो। इस रीति से हमें कभी सफलता प्राप्त न होगी। जनता को अपने पक्ष में लाने का यह ढङ्ग नहीं।"

मैंने चिल्ला कर कहा—"तुम कैसी नासमझी की बातें कर रहे हो। क्या तुम्हारा यह मतलब है कि जब तक जनता हमारे सुधारों को स्वीकार न कर ले तब तक हम चुप बैठे रहें? क्या तुम्हारा यह ख़याल है कि जनता हमारे पक्ष में हो ही जायगी? यदि तुम ऐसा समझते हो तो भूलते हो। सभी देशों में सुधारकों की संख्या सदा से ही थोड़ी रही है और उनके विरोधी शत्रु सदा ही अधिक रहे हैं।"

वैकुण्ठ बाबू ने गम्भीरता के साथ कहा—"मैं क्या यह नहीं समझता? मैं सब समझता हूँ। पर तुम्हीं देखो, डिपुटी-साहब को कैसे अपने गृह-शासन के सम्मुख विवश होकर माथा नवाना ही पड़ा और अपने सिद्धान्तों के प्रतिकूल............"

मारे क्रोध के मेज़ पर हाथ पटक कर मैंने कहा—"डिपुटी-साहब! गृह-शासन! तुम कैसी बातें कर रहे हो। तुम एक ज़रा सी बात नहीं समझते। अरे, जब तुम दूसरों के गुलाम बनने के लिए तैयार रहोगे तब ऐसा कौन मूर्ख है जो हुकूमत छोड़ना पसन्द करेगा? तुम ज़रा यह तो दिखाओ कि हम में भी स्वतन्त्रता का कुछ बीज है। कुछ तो स्वार्थ-त्याग करो। वैकुण्ठनाथ, सुनो। यदि तुम सच्चे सुधारक बनना चाहते हो, यदि तुम्हें जनता का सच्चा उपकार करना है, तो तुम सब प्रकार के कष्ट और दुःख सहने के लिए तैयार रहो। इस पवित्र-कार्य के लिए तुम एक बार अपना प्राण देने से भी मत हिचकिचाओ कदाचित् तुम्हें ज्ञात होगा कि मुझे अपने घर में कितना त्रास सहना पड़ता है, क्योंकि मैं अपनी स्त्री की इच्छा के विरुद्ध चल रहा हूँ।"

उत्तेजना के मारे मेरा शरीर थर थर काँप रहा था।

वैकुण्ठ बाबू ने कहा—"तुम्हारा कहना सच है। पर मेरा तो यह विश्वास है कि जब तक स्त्रियाँ शिक्षित न होंगी और वे स्वयं बाल-विवाह की बुराइयों को न समझ लेंगी तब तक चाहे सैकड़ों वर्ष क्यों न बीत जाँय, इस हानिकारिणी प्रथा............"

वैकुण्ठ बाबू की बात पूरी न हो पाई थी कि मेरे एक पड़ोसी ने, जो जल्दी जल्दी क़दम उठाता हुआ मेरी ही ओर आ रहा था, मुझे देखते ही कहा—"क्यों अभी तक तुम यहीं हो?"

उसके अचानक आगमन और उसकी आकुलता को देख कर मैंने किसी अनर्थ की आशङ्का करते हुए उससे पूछा—"बात क्या है, रामनारायण?"

उसने किञ्चित तिरस्कार-व्यञ्जक स्वर में उत्तर दिया—"भाई, तुम क्या नहीं जानते? माँ बीमार हैं, दौड़ो"।

माँ को सबेरे कुछ हलका सा बुख़ार हो आया था, यह मुझे मालूम था। मैंने कहा—"घबड़ाने की कोई बात नहीं। हलका सा बुख़ार है। उतर जायगा"।

"अरे भाई, वे सख़्त बीमार हैं। मेरी स्त्री बतलाती थी कि उनके हाथ-पैर ठंढे पड़ गये हैं"।

व्याकुल होकर अपनी गाड़ी पर चढ़ मैं घर की ओर दौड़ा। रास्ते में मैंने चाहा कि अपने डाक्टर को भी साथ ले लूँ, पर उनके घर जाने से मालूम हुआ कि वे बाहर चले गये हैं और देर से लौटने को कह गये हैं। निराश होकर मैंने फिर घर की ओर गाड़ी छोड़ी। पहुँच कर देखता हूँ तो मेरी स्त्री दरवाज़े के पास खड़ी मेरी बाट जोह रही है।

गाड़ी से कूद कर मैंने उससे पूछा—"माँ कैसी हैं?"

उसने करुण स्वर में, उत्तर दिया—"सो मैं कैसे कह सकती हूँ। न वे बोलती हैं, न साँस लेती हैं, न आँखें खोलती हैं। जल्दी डाक्टर के लिए गाड़ी भेजो। हाय! न जानें हमारे भाग्य में क्या बदा है।" यह कह कर उसने इस ढङ्ग से मेरी ओर देखा, मानों वह यह कह रही हो कि

तुम्हारे ही पाप के कारण यह अनर्थ हो रहा है। इसके बाद उसने अपना मुँह फिर दूसरी ओर फेर लिया।

मैं दौड़ता हुआ माँ के कमरे में गया। देखता हूँ तो वह एक चटाई पर बेसुध पड़ी हुई है। उसकी इस अवस्था को देख कर, अपने निज के डाक्टर की अनुपस्थिति के कारण, मुझे एक और डाक्टर को बुलाना पड़ा, जो हमारे घर के निकट ही रहता था। उसने कुछ ही महीने पहले मेडिकल-डिग्री प्राप्त की थी और दवा-दारू के बदले उसे बाल सँवारने और नेकटाई-कालर लगाने का विशेष अभ्यास था। सो, इस डाक्टर की होशियारी में सन्देह रखते हुए भी, मुझे स्त्री की सिफ़ारिश से विवश होकर, इसे ही बुलाना पड़ा। मेरी स्त्री ने इसके बुलाने की राय देते हुए इसकी होशियारी की बड़ी बड़ाई की थी। पर मुझे ज्ञात नहीं, उसे इसका अनुभव कैसे हुआ था। कदाचित् उसने इसके कालर की ऊँचाई और अँगरेज़ी टोप को देख कर अपना मत स्थिर किया हो, क्योंकि हमारा निज का (फेमिली) डाक्टर न कालर लगाता था, न टोप पहनता था।

कपड़े बदल कर मैं फिर माँ के बिछौने के पास जा बैठा। मेरी स्त्री कुछ दूर पर आ खड़ी हुई। मैंने माँ के माथे को हाथ से धीरे धीरे दबाते हुए कोमल स्वर में पुकारा—"माँ, माँ।"

आँखें खोल कर वह कुछ क्षण तक मेरी ओर इकटक देखती रही। फिर उन्हें बन्द करके चुपचाप पड़ रही। थोड़ी देर बाद फिर उसने आँखें खोल कर पुकारा—"निरुपमा, निरुपमा! तुम कहाँ हो"! यह कह कर उसने फिर आँखों को बन्द कर लिया और मेरे प्रश्नों का उत्तर न देकर चुपचाप पड़ी रही।

कुछ मिनट बाद मैं यह देखने के लिए बाहर निकला कि डाक्टर आ रहा है या नहीं? मुझे बाहर निकलते देख मेरी स्त्री भी मेरे पीछे पीछे चली आई। जब मैं सदर दरवाज़े पर पहुँचा तब मुझ से वह कहने लगी—"तुम अपनी बहिन को शीघ्र चले आने के लिए एक तार क्यों नहीं भेज देते?"

इस विषय पर कुछ क्षण तक विचार कर मैंने माँ के पास जाकर पूछा—"माँ, क्या मैं निरुपमा को बुलवा भेजूँ?" माँ ने, जो अब तक बेसुध पड़ी हुई थी, आँखें खोल दीं और बड़ा प्रेम प्रकाशित करते हुए कहा—"निरुपमा, आ मेरी बेटी, आ।" यह कह कर, और यह समझ कर कि निरुपमा सामने खड़ी है, उसे हृदय से लगाने के लिए उसने हाथ फैला दिये।

मैंने कहा—"माँ, मैं यह पूछता हूँ कि निरुपमा को क्या तार भेज कर बुलवा लूँ?"

माँ ने कुछ देर तक मेरा कहना न समझा। फिर एकायक उसके मस्तिष्क में मानों प्रकाशोदय हो आया और वह बोल उठी—"हाँ बेटा, उसको शीघ्र बुला भेजो"। यह कह कर उसने फिर आँखें बन्द कर लीं।

अपने आफ़िस के कमरे में जाकर मैंने तार लिखने के लिए लेखनी उठा ही थी कि दरवाज़े पर किसी ने धक्का दिया। मैंने दौड़ कर दरवाज़ा खोला और देखा तो डाक्टर। अभिवादन और कर-मर्दन के पश्चात् मैं उसे अपने कमरे में ले गया।

मैंने माँ के कान के पास मुँह लेजाकर कहा—"माँ, डाक्टर साहब आ गये हैं"।

माँ चौंक कर उठ बैठी और नाक-भौं सिकोड़ कर दूसरी ओर मुँह फेरते हुए बोली—"मुझे डाक्टर फाक्टर न चाहिए"।

फाक्टर की एक नई उपाधि से अपने को विभूषित देख डाक्टर साहब से हँसी न रोकी गई। स्त्री-पुरुष हम दोनों भी हँस पड़े।

तथापि डाक्टर के परीक्षा करते समय माँ कुछ न बोलीं। जब डाक्टर साहब अपनी परीक्षा समाप्त करके प्रिस्क्रिप्शन (नुसख़ा) लिखने के लिए मेरे आफ़िस की ओर चले तब मैं भी उनके पीछे पीछे गया। रोगिणी के कमरे से ज़रा दूर चले आने पर मैंने डाक्टर से रोगी के विषय में उसकी सम्मति पूछी।

डाक्टर ने अपने चेहरे को बड़ा विषाद-पूर्ण बना कर कहा—"बड़ी सख़्त बीमारी है। न्यूमोनिया हो गया है। आप रोगिणी की सेवा-शुश्रूषा के लिए विशेष रूप से प्रबन्ध कीजिए और साथ ही उसके वियोग-जन्य दुःख को सहन करने के लिए अपना हृदय दृढ़ कर रखिए। अपने पेशेवालों की आदत के विरुद्ध मेरे स्पष्ट कथन के लिए

आप मुझे क्षमा करेंगे। लाइए क़लम दावात, मैं प्रिस्क्रिप्शन लिखे देता हूँ। ईश्वर कुशल करें।"

यह कह कर उसने नुसख़ा लिख दिया और फ़ीस लेकर चलता बना।

डाक्टर की सूचित की हुई अशुभ आशङ्का को मैंने गुप्त ही रक्खा और तत्काल ही बहिन के लिए तार भेज दिया—Mother dangerously ill. Anxious to see you. Start immediately. (माँ सख़्त बीमार है। तुम्हारे देखने के लिए आकुल है। शीघ्र रवाना हो)

(३)

माँ ने वह रात बड़े कष्ट से काटी। रात भर वह तड़पती रही। सबेरा होते होते वह कुछ स्थिर हुई और सो गई। इसी समय दरवाज़े पर आकर एक गाड़ी खड़ी हुई।

गाड़ी से जल्दी जल्दी उतर कर निरुपमा ने पूछा—"भैया, माँ कैसी है?"

मैंने कहा—"अभी तो वह सो रही है। पर सारी रात उसने बड़े कष्ट से काटी है। वह तुम्हारी बहुत याद करती थी। रात में वह कई बार तुम्हारा नाम लेकर चिल्ला उठी थी।"

"मेरी माँ, मेरी माँ"—कह कर निरुपमा रो उठी, मैं धीरज देते हुए उसे भीतर ले गया।

मेरी स्त्री और बहिन ने एक दूसरे को देख कर मुसकरा दिया। फिर, कुछ देर बाद मेरी स्त्री निरुपमा का हाथ पकड़ कर माँ के कमरे में लेगई।

निरूपमा का मृदुल स्वर सुनते ही माँ जाग उठी। अपनी एकलौती पुत्री को अपनी मृत्यु-शय्या के निकट पा कर माँ को बहुत सन्तोष हुआ। उसने हर्ष-पूर्वक उसे छाती से लगा लिया और धीरे धीरे उसका और उसके परिवार का हाल पूछा।

मुझे ११ बजे रोटी खा कर कचहरी जाना था। सो, मैं अपना अधिक समय बहिन के साथ नहीं बिता सका।

सन्ध्या समय कचहरी से लौट कर देखता हूँ तो सारा घर मारे हँसी के गूँज रहा है। मेरी हँस-मुख और विनोदप्रिय बहिन ही इस हँसी का कारण थी। जान पड़ता है उसने ऐसी कोई बात कह दी थी—जिसके कारण मेरी स्त्री और पुत्री की तो बात ही जाने दीजिए, मेरी माँ तक का, इस अशक्तावस्था में भी, हँसते हँसते बुरा हाल था।

मुझे देखते ही सब की हँसी बन्द होगई। मेरी बहिन तक ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। मैंने कहा—"निरुपमा, है क्या बात जो सब इतना हँस रही हो?"

निरुपमा ने मेरी स्त्री की ओर एक तीव्र कटाक्ष फेंक कर मुसकुराते हुए कहा—"भैया, ऐसी कोई बात नहीं है जो तुम्हारे सुनने लायक़ हो"।

मैंने कहा—"अच्छा, ख़ैर, माँ की तबीयत कैसी है?"

निरुपमा—"माँ की तबीयत अच्छी नहीं है। वह दवा खाने से इनकार करती है। वह कहती है, मेरे दिन अब पूरे होगये हैं। वह दोपहर को ख़ूब रो रही थी।"

मैंने दुःखित होकर पूछा—"क्यों, किस लिए?"

निरुपमा ने पहले मेरी स्त्री के मुख की ओर देखा। फिर माँ के मुख की ओर। फिर चुप होरही।

उसकी इस हिचकिचाहट को देख कर मुझे कुछ आश्चर्य्य हुआ। मैंने तीनों के मुख की ओर देख कर निरुपमा से कहा—"बहिन, बोलो बात क्या है?"

निरुपमा मुसकुरा कर फिर उत्तर देने में आगा-पीछा करने लगी। मैंने अधीर होकर कहा—"बोलो।" निरुपमा ने मानों डरते हुए कहा—"भैया, माँ चाहती है कि कमला का व्याह हो जाय। पर तुम्हारी राय नहीं है। इसलिए वह आज दोपहर को रो रही थी और कह रही थी कि मैं ऐसी पापिन हूँ जो जीते जी नातिन का व्याह नहीं देख सकती। वह कहती है कि तुम मेरे कहने से अपनी हठ छोड़ दोगे। परन्तु, भैया, ऐसा कब हो सकता है! जब तुम माँ और भाभी का कहना नहीं माने तब भला मेरा कहना कैसे मानोगे?" यह कह कर उसने फिर मुसकुरा दिया।

मैंने हँसते हँसते उत्तर दिया—"अच्छा। अब मुझे मालूम हुआ। अब मेरी समझ में आया कि तुम्हारी भाभी तुम्हें तार देकर बुलवाने के लिए क्यों इतनी आकुल थी। हाँ, तो तुम भी इनके षड्यंत्र में शामिल हो? क्यों न?

निरुपमा ने कहा—"न भैया, यह बात नहीं है। मैंने तो तुमसे वही बात कही है–जो माँ ने मुझसे कहने के लिए कहा था। जान पड़ता है, भाभी ने इस विषय में तुमसे कई

बार कहा था, पर तुमने उसके कथन पर कभी ध्यान न दिया; उलटा उसको मूर्ख बनाया। सो जिस समय से मैं यहाँ पहुँची हूँ माँ और भाभी दोनों मुझे इस विषय में तुमसे बात-चीत करने के लिए तङ्ग कर रही हैं। वे कहती हैं, इस कार्य्य के लिए मुझसा योग्य व्यक्ति दूसरा नहीं। मैं नहीं जानती, वे ऐसा क्यों कहती हैं।" यह कह कर वह एक क्षण के लिए चुप हो रही और बड़ी गम्भीरता दिखाते हुए फिर बोली—"इस ज़िन्दगी का कुछ ठिकाना नहीं। भैया, कौन कह सकता है, जो आज जीता है वह कल भी जीता रहेगा। माँ का स्वास्थ्य चिन्ता-जनक है। ऐसी स्थिति में यदि तुम उसकी इच्छा के अनुसार काम करोगे तो सभी प्रसन्न होंगे। भैया, मेरे इस कहने पर तुम मुझ पर नाराज़ मत होना। मैं तो तुमसे वही बात कह रही हूँ जो माँ ने कहने के लिए कहा है"।

मैंने हँसते हुए कहा—"अच्छा, तो तुम माँ और अपनी भाभी की ओर से विकालत करने आई हो। निरुपमा, यदि तुमने क़ानून पढ़ा होता तो अच्छी वकील होती।"

उसने भी हँसते हुए उत्तर दिया—"तो क्या मैं अभी किसी से कम हूँ। क़ानून के साथ मेरा सदा से सम्बन्ध है और रहेगा। मैं अर्ज़ी-नवीस भानजी, वकील की बहिन और मुन्सिफ़ की स्त्री हूँ"

मैं कुछ उत्तर न देकर हँसने लगा। मेरी स्त्री भी ख़ूब हँस रही थी। उसने मुझ पर आक्रमण करने का यह अवसर अच्छा समझा। उसने कहा—"तुम्हारी बहिन ही तुम्हें ठीक कर सकती है। तुम दूसरे के क़ाबू में थोड़े ही आ सकते हो"।

मैं हँसता हुआ अपने कमरे की ओर चला गया।

व्यालू के बाद मैं छत पर जा बैठा। वैशाख-पूर्णिमा का चन्द्रमा अपनी शीतल और सुखदायक चाँदनी से सारे जगत् को प्रफुल्लित देख उसी तरह आनन्दित जान पड़ता था जिस तरह एक उदार और न्यायी राजा अपनी प्रजा को उसके सारे स्वत्वों का प्रदान करके और उसे उनका उपभोग करते देख, सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है। थोड़ी देर बाद मेरी बहिन भी मेरी स्त्री को साथ लेकर मेरे पास आ बैठी। अपनी स्त्री के बनाये हुए बीड़े सुखपूर्वक चबाता हुआ मैं इधर उधर की गप शप आरम्भ करना ही चाहता था कि निरुपमा ने अपने सुकोमल, सुस्पष्ट और सुमधुर शब्दों में "पुत्र की आज्ञाकारिता" पर एक संस्कृत-श्लोक कह सुनाया।

मैंने कहा—"तुम अपने सुमधुर स्वर से पत्थर को भी पिघला सकती हो, निरुपमा।

निरुपमा ने हँसते हुए उत्तर दिया—"पर कदाचित् ही तुम्हारा हृदय पिघला सकूं, भैया।"

मैंने भौंहें चढ़ा कर कहा—"क्या मैं इतना वज्र-हृदय हूं, बहिन?"

निरुपमा विनयपूर्वक बोली—"भैया, नाराज़ मत होना। मैंने यह बात केवल इस लिए कही, क्योंकि तुम कमला के व्याह के विषय में अपनी हठ नहीं छोड़ते। भैया, यदि तुम मेरा और माँ का प्यार करते हो तो हमें प्रसन्न और सन्तुष्ट रखने के लिए तुम्हें चेष्टा करनी चाहिए"

मैंने कहा—"निरुपमा, तुम अपने धुन की बड़ी पक्की हो।"

निरुपमा मेरे कथन का कुछ ख़याल न करते हुए बोली—"माँ कहती है, भैया, जब विश्वनाथ ने मैट्रिक पास कर लिया है तब फिर विलम्ब करने का कोई प्रयोजन नहीं।"

मैंने आश्चर्यान्वित हो कर कहा—"ओफ़ निरुपमा, तुम कितनी चतुर हो। तुमने कमला के लिए वर भी ठीक कर रक्खा है और वह वर भी तुम्हारे ही रिश्तेदार। विश्वनाथ है तो अच्छा लड़का, इसमें सन्देह नहीं।"

निरुपमा ने कहा—"सिवा इसके वह परिश्रमी कितना है। उसके रूप, गुण और शील की तो प्रशंसा ही नहीं हो सकती। तुम्हारे बहनोई ने जिस समय से कमला को देखा है, उसी समय से उन्होंने उसे विश्वनाथ को देना निश्चय कर लिया है। वे कई बार मुझसे कह चुके हैं कि कमला और विश्वनाथ की क्या अच्छी जोड़ी बनेगी। विश्वनाथ के माता-पिता से भी वे इस विवाह को तय कर चुके हैं।"

"हल्लो तो मुन्सिफ़ साहब ने फ़ैसिला भी कर दिया है। निरुपमा, विश्वनाथ को बी० ए० पास कर लेने दो। हम तब तक ठहर सकते हैं। ऐसी कौन जल्दी पड़ी है।" यह कह कर मैंने फिर एक पान मुख में रख लिया।

निरुपमा ने ज़रा रुखाई से कहा—"भैया, जब तुम्हारा विवाह हुआ तब तुम क्या पास थे ? उस समय तुमने ए० बी० सी० डी० तक न सीखी थी। क्या अब तुम बी० ए०, एल० एल० बी० नहीं हो और अपनी कमाई से गाँव पर गाँव नहीं ख़रीद रहे हो ?"

कहना नहीं होगा, अपनी कमाई से मैंने कई गाँव ख़रीदे थे।

मैंने कहा—"बहिन, मैं सुधारक हूँ। मैंने बाल-विवाह के विरुद्ध सैकड़ों व्याख्यान और पचासों लेख लिखे हैं। यदि इस समय मैं ही अपनी बालिका कन्या का ब्याह कर दूँ तो लोग क्या कहेंगे ?"

बहिन ने गरज कर कहा—"लोग क्या कहेंगे। कहें, जो जी में आवे सो कहें। हमें उसकी परवा नहीं। क्या तुमने चोरी की है। या किसी को ठग लिया है ? मुझे बताओ, ऐसा तुमने कौनसा अधम कार्य्य किया है जिसके कारण लोगों को मुँह दिखलाने में तुम शरमाओगे ?" फिर उसने सूखी हँसी हँस कर तिरस्कार-पूर्ण शब्दों में कहा—"भैया, तुम जिन लोगों को डरते हो, जिनकी दुहाई तुम बात बात में देते हो क्या वे तुमसे यह कहते हैं कि तुम अपनी आसन्न-मरणा माँ की अन्तिम आज्ञा का पालन मत करो।"

मैंने तीव्रता-पूर्वक उत्तर दिया—"निरुपमा, तुम इन सब बातों को नहीं समझ सकती।"

"न समझूँ; कोई हानि नहीं। मैं केवल माँ की अन्तिम किन्तु शुभेच्छा की पूर्ति के लिए प्रयत्न कर रही हूँ। वह कहती है, ज्येष्ठ मास के प्रथम सप्ताह में कई अच्छे लग्न हैं। आज पूर्णिमा है। सो अब भी हमें तैयारी करने के लिए १५ दिन का अवकाश है।"

मैंने कुपित होकर कहा—"निरुपमा, तुम पागल हो गई हो।"

निरुपमा ने भी उसी स्वर में उत्तर दिया "मैं पागल हूँ, पर प्रयोजन-सहित। तुम ब्याह करोगे और अपनी हठ के लिए पछताओगे।" यह कह कर वह ज़ोर से पाँव पटकते हुए नीचे उतर गई। मेरी स्त्री ने भी छाया की तरह उसका साथ दिया।

मैं किङ्कर्तव्य-विमूढ़ हो कर वहीं बैठा रहा। अपनी प्यारी बहिन के जी को दुखाना मेरे लिए असम्भव था। उसी प्रकार अपनी वृद्धा माता की अन्तिम इच्छा को पूर्ण न कर उलटा उसे जान-बूझ कर मृत्यु के मुख में ढकेलना भी बड़ा नीच कार्य था। इधर बाल-विवाह पर अपने लिखे और दिये हुए पिछले लेखों और व्याख्यानों पर ख़याल करता, अपने उस ज़ोश पर लक्ष्य देता जो मैं मित्रों साथ इस के विषय पर विवाद करते समय प्रकट करता था तो ऐसा जी चाहता कि पृथ्वी फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ। मैंने मन ही मन बहुतेरे उपाय सोचे, अनेक तर्क-वितर्क किये; पर मैं कुछ निश्चय न कर सका। यह कठिन समस्या किसी प्रकार हल न हो सकी। मारे चिन्ता के मेरा मस्तिष्क गरम हो उठा। मैं बिछौने पर लेट गया और सोने की कोशिश करने लगा। पर नींद न आई। घोर मानसिक यातना सहने का यह मेरा पहला ही अवसर था। इससे रिहाई पाने के लिए "अन्तिम निर्णय" ही उपयुक्त ओषधि थी। पर बारंबार प्रयत्न करने पर भी मैं उस से वञ्चित रहा।

इस प्रकार निद्रा-रहित और कष्टदायक अवस्था में मैं पाँच घण्टे तक पड़ा रहा। सबेरा होने में अभी कुछ देर थी। चार बजे थे। छत से नीचे उतर कर मैं फुलवारी में टहलने जाने का विचार कर ही रहा था कि ऐसा जान पड़ा मानों कोई दौड़ता हुआ सीढ़ियों पर से ऊपर चढ़ रहा है। मैं घबरा कर उठ बैठा। मेरी स्त्री हाँफती हुई आई और व्याकुल हो कर बोली—"सुनते हो, माँ आँय बाँय बक रही हैं। उनका अन्तिम समय निकट है। जल्दी चलो। आओ।" यह कह कर वह उसी तरह दौड़ते हुए नीचे उतर गई।

मैंने रात को जब माँ को देखा था तब उसकी अवस्था उतनी ख़राब न थी। अतएव, मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था कि उसका अन्त इतना शीघ्र आ जायगा। शीघ्रता पूर्वक नीचे उतर कर मैं माँ के कमरे में गया और उसके पास जा बैठा। मैंने कहा—"माँ, माँ, तुम कैसी हो। तुम पागल के सदृश छत की ओर इकटक क्यों देख रही हो" ?

उसने छत की ओर से दृष्टि हटा कर और मेरे हाथ पकड़ कहा—"वह देखो, वह मुझे बुला रहा है। वह यम है। हाँ, हाँ, यम।" यह कह कर उसने मुझे ज़ोर से पकड़ लिया
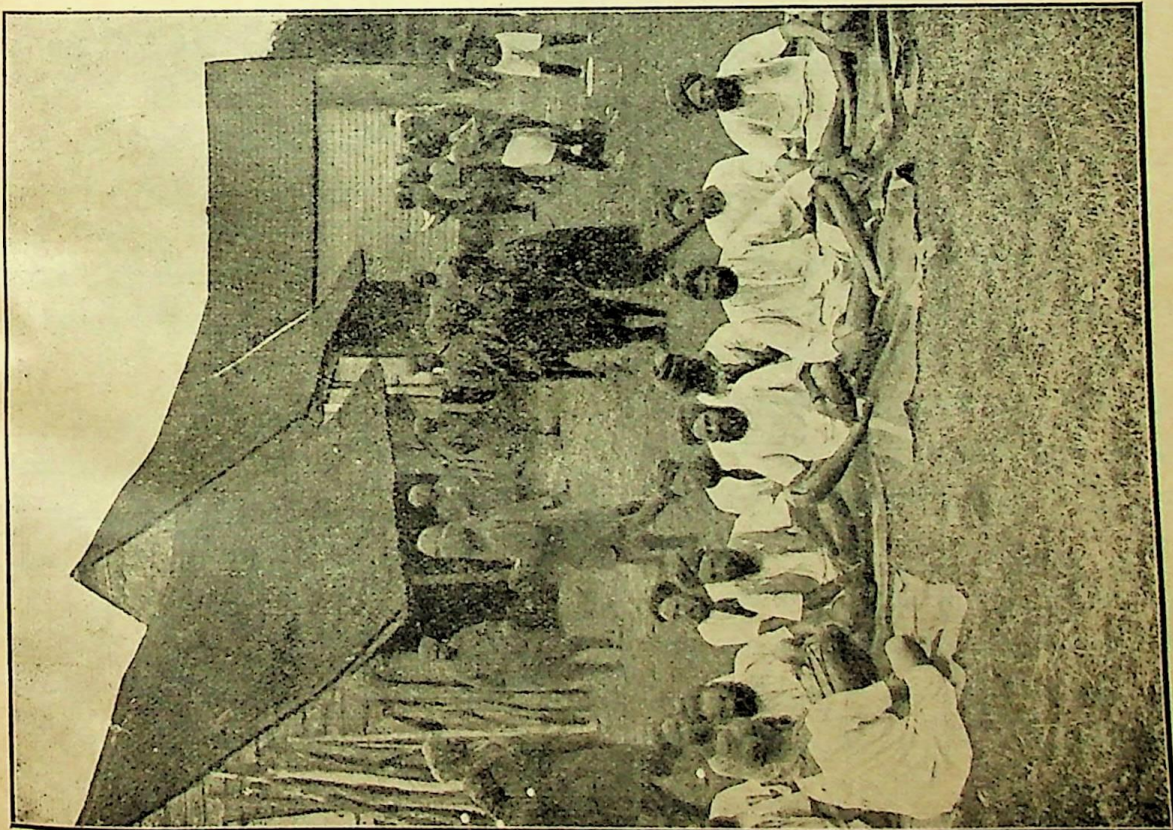
(युद्ध के दृश्य)

पड़ाव के बाहर बैठे हुए सिक्ख धार्म्मिक भजन गा रहे हैं।
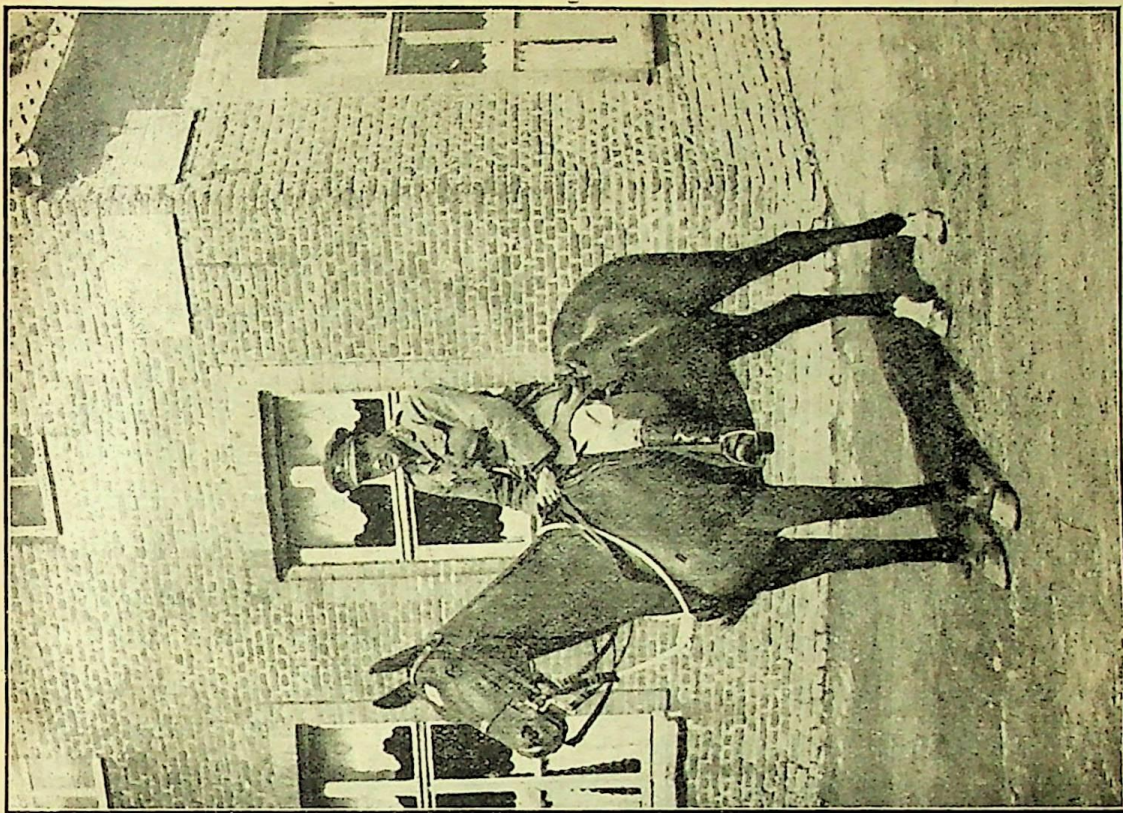
(युद्ध के दृश्य)

कूच बिहार के लफ्टिनेंट हितेन्द्र, घोड़े पर।

तथा भयभीत दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा—"तुम कमला का ब्याह न करोगे। अच्छा मत करो। मत करो। मेरी आत्मा को शान्ति न मिलेगी। मत मिले। घूमे, भटके, तड़फे। तेरा भला हो। बोल, ब्याह करेगा?"

मेरा हृदय पसीज उठा। मैंने आँसू-भरी आँखों से कहा—"मैं ब्याह कर दूँगा। तुम शन्त हो जाव।" इस प्रतिज्ञा के करते ही मेरी आत्मा की मृत्यु हो गई और माँ की आत्मा ने नया जन्म पाया।

मेरी बहन ने, जो माँ के निकट ही बैठी हुई दोनों हाथ से मुँह ढाँक कर रो रही थी, सिर उठाया, आँसू पोंछे और मुसकरा उठी। मेरी स्त्री ने एक लम्बी साँस छोड़ कर जी का दुःख हलका किया।

माँ अब स्वस्थ-चित्त थी। उसने कहा—"बेटा, जुग जुग जीओ। मैं अब कमला का ब्याह देख लूँगी तब मरूँगी। तुम कुछ चिन्ता न करो।" मैं उदास चित्त से अपने कमरे में लौट आया।

"सच्चा सुधारक" के एक अङ्क में मैंने डिपुटी कलेक्टर की मानसिक दुर्बलता पर ताने मारे थे। दूसरे अङ्क में मेरी करतूत पर खिल्ली उड़ाई गई। कहाँ तक लिखूँ, कुछ दिनों तक मुझे घर से निकलना कठिन हो गया।

इस प्रकार जीवन्मृत होकर मैंने यह सीखा—यह समझा कि एकाङ्गी शिक्षा से भारतवासियों का उद्धार न होगा। यदि हमें सच्ची सामाजिक उन्नति करनी है तो समाज के दोनों अङ्ग, स्त्री और पुरुष को समय के साथ चलने लाक़य शिक्षित बनाना पड़ेगा।

× × × × × ×

मेरी माँ जो काल के गाल के निकट पहुँच गई थी, कुछ दिनों बाद अच्छी हो गई और जब तक उसने विश्वनाथ-कमला के प्रथम सुत के मुखचुम्बन का आनन्द नहीं लूटा, तब तक फिर उसने यम के आगमन की कोई शिकायत न[illegible]हा की।

प्यारेलाल गुप्त।

एक स्वप्न।

एक रात की बात है कि मैं, मेरा छोटा भाई और मेरे चचा ये सब लोग भोजन के पश्चात् बातें कर रहे थे। जिस दिन की बात है वह वैशाख का पहला ही शुक्रवार था। कितने ही उपयोगी विषयों पर बातें हो रही थीं। हमारे पड़ोसी मदन-मोहन भी उस समय वहाँ उपस्थित थे। होते होते बात भारत की वर्तमान दुर्दशा के कारण खोजने तक जा पहुँची।

मदन-मोहन प्राचीन विचारों के आदमी हैं। आप का ख़याल है कि—"कलिरेषः प्रभवति" के अनुसार सारा संसार दिन पर दिन अवनत हो रहा है। समय ही उन्नति और अवनति करता रहता है। अतएव, इस अवनति रूपी महा अन्धकार को दूर करना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है। पाश्चात्यों ने भौतिक शास्त्रों में जो कुछ उन्नति की है वह "राक्षसी है" उस का अन्त सुखदायी न होगा। आप के सभी विचार प्रायः इसी श्रेणी के हैं। पर मेरे चचाजी वैसे आदमी नहीं उनके मन पर आधुनिक संस्कारों का कुछ असर पड़ चुका है। ऐसे विषयों पर वे अपना मत स्पष्ट प्रकट करने में सङ्कोच नहीं करते। वे कलि के सामर्थ्य पर विश्वास नहीं रखते थे। हाँ, दैव के कुछ पक्षपाती वे अवश्य हैं—उनका मत है कि अज्ञान रूपी घोर तम में हिन्दुस्तान इतना डूब गया है कि उसे उन्नत करने के लिए बड़े दीर्घ प्रयत्नों की आवश्यकता है। पर वर्तमान परिस्थिति में वैसे प्रयत्नों का किया जाना असाध्य-प्राय है।

अब हम दोनों भाइयों के विचार सुनिए। महात्माओं की उक्ति है कि—"प्रयत्न और ईश्वर दो नहीं। वे एक ही हैं। अविराम प्रयत्न करने से सिद्धि अवश्य होती है। बहुतेरी सांसारिक बातों में सफ

लता होना मनुष्य के प्रयत्नों पर अवलम्बित है।" हम दोनों ही इन विचारों के क़ायल हैं।

वार्तालाप बराबर जारी था। सब लोग अपने अपने मत की पुष्टि की चेष्टा कर रहे थे। करते करते रात बहुत बीत गई। मुझे नींद आने लगी। अतएव मैं बीच ही में सोने चला गया। बिछौने पर पड़ते मुझे नींद लग गई।

निद्रा-देवी का स्वामित्व होते ही विचार-माला कुण्ठित हो गई। नूतन शक्ति की प्राप्ति के लिए इन्द्रियाँ विश्रान्ति-सागर में मग्न हो गईं। मैंने एक स्वप्न देखा। मुझे मालूम होने लगा कि मैं किसी नवीन सृष्टि में सञ्चार कर रहा हूँ। मुझे चार पुरुष मिले। मेरे मनोदेश में वही पूर्वोक्त वार्तालाप विचरण कर रहा था। अतएव मैंने उनसे छूटते ही यह प्रश्न किया कि हमारी वर्तमान स्थिति का सुधार कैसे होगा? मेरा प्रश्न सुन कर पहले तो वे मुसकराये। फिर मुझे एक बड़े भारी सभामण्डप में ले गये। वहाँ वे मुझे "ते हि नो दिवसा गताः" का पाठ सुनाने लगे। उन्होंने कहा—आज नये युग का आरम्भ होनेवाला है। उनकी अश्रुतपूर्व बातें सुन कर मैं आश्चर्य-चकित हो उठा और इधर उधर देखने लगा। मैं यह जानने के लिए कि इस नये संसार में क्या क्या परिवर्तन हुए हैं, बहुत ही उत्कण्ठित हो गया। इस बीच में मुझे कितने ही नये नये दृश्य दिखाई दिये। उन दृश्यों को देख कर मन ही मन मुग्ध हो रहा था कि इतने में साधुओं की कुछ जमातें वहाँ आईं।

साधुओं को देख कर मैंने उपर्युक्त चार पुरुषों में से एक से पूछा कि क्या आज यहाँ भोज होनेवाला है। उसने कहा—नहीं; ये तुम्हारे पूर्व जन्म के—स्वप्नावस्था से पहले के—भिखमँगे साधु नहीं हैं। ये देश-सेवा के लिए स्वार्थत्याग करनेवाले सत्पुरुष हैं। "प्रेम-मूलक भिन्नता समाज का जीवन है; पर मत्सर-जन्य भिन्नता विष के समान दुःखदायिनी है। ये बातें इन साधुओं के हृदय-पटल पर लिखी हुई सी जान पड़ती हैं। ये विश्व-कुटुम्बी हैं। ये सत्य के अनुयायी हैं। "पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते" के ये पूर्ण अनुयायी हैं। जो लोग अपनी अनुचित प्राचीन प्रथाओं में परिवर्तन तो करना चाहते हैं पर मनोदौर्बल्य से नहीं कर सकते, उन्हें समझा बुझा कर ये लोग उनकी दुर्बलता को दूर करेंगे। आशा है, अब, लोग भी एकमत होकर इनके विचारों का आदर करेंगे। इन्हीं लोगों ने प्राचीन संसार में अज्ञान-वृक्ष का आरोपण किया था। जन-समाज का अधिकांश इनका अनुयायी था। इस कारण देशोन्नति में बड़ी बाधा पड़ती थी। ज़रा समय का प्रताप तो देखिए। वही लोग जो पूर्व युग में अपने अधःपात के प्रशंसक थे, इस नवयुग में उस पुराने पथ के विपक्षी हो रहे हैं। अब तो ये उन्नति के पथ पर बड़ी तेज़ी से दौड़ रहे हैं। जो अध्यात्म-विद्या प्राचीन युग में उन्नति की विरोधिनी मालूम होती थी वही अब उसकी सहायता कर रही है। यह बात पहले लोगों को न मालूम थी कि वेदान्त में सृष्टि-नियमों का भी समावेश है। यह बात अब मालूम हो गई है। इसीसे उसके ज्ञाता भी अब उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं।

इस प्रकार उस पुरुष से मेरा वार्तालाप हो ही रहा था कि सभामण्डप लोगों से खचाखच भर गया। सभा का काम आरम्भ होने में अभी कुछ देर थी। इस लिए अपने पास बैठे हुए कुछ लोगों से अपने नये मित्रों से—मैं बातचीत करने लगा। मैंने उनसे भी कितने ही प्रश्न पूँछे। सब प्रश्नोत्तर तो याद नहीं। कुछ अवश्य याद हैं। उन्हें सुनाता हूं। सुनिए—

मैं—मित्रवर, प्राचीन जाति-भेद आदि विषयों में नवयुग ने क्या क्या सुधार किये हैं?

मित्र—वेदान्त में लिखा है कि सम्पूर्ण संसार

द्वैत मयाद्वैत है यह बिलकुल सच है। मनुष्य के हस्ताक्षर ही लीजिए। एक ही मनुष्य के एक ही समय के लिखे हुए अक्षरों में भी, सूक्ष्म दृष्टि से देखिए तो सादृश्य नहीं दिखाई देता। तथापि मनुष्य यह निश्चय पूर्वक कह सकता है कि यह हस्ताक्षर अमुक मनुष्य का है। "द्वैतमया द्वैत" को माने विना इसकी उपपत्ति ही नहीं हो सकती।

भारतवर्ष पहले चाहे उन्नतिशील रहा हो, पर अब वह नितान्त अवनत देश है। व्यक्ति-विषयक भेदों को भूल कर जब तक लोग एक दिल से उसकी उन्नति की चेष्टा न करेंगे तब तक वह उन्नत न होगा। इस नये युग के लोग, देशोन्नति के विषय में, अपने को समष्टिरूप समझते हैं। व्यक्ति-भेद इनमें छू तक नहीं गया। नागरिक के नाते ये सब अपने को एक मानते हैं। इनके जाति-भेद का ढङ्ग ही निराला है। इनमें भी कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय है, कोई वैश्य है और कोई शूद्र है। इनके अधिकारों में—स्वत्वों में—कुछ भेद नहीं। इसी कारण इनका पारस्परिक प्रेम दिन पर दिन बढ़ रहा है। ये लोग एक दूसरे की उन्नति को देख कर जलनेवाले नहीं। इस युग में भी ब्राह्मण यज्ञ करते हैं। पर यज्ञों के देवताओं को सन्तुष्ट करने की प्रणाली पहले से भिन्न है। "कर्मणा जातिः" का तत्त्व चारों ओर प्रचलित है। लोग तिल-तण्डुलों के क्षय को ही अब यज्ञ नहीं कहते। अब तो तप की व्याख्या भी बदल गई है। रसायन-शास्त्र के भौतिक-शास्त्र आदि के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने ही को लोग अब तप कहते हैं। नये नये तत्त्वों की खोज और आविष्कार आदि के लिए मन की जिस एकाग्रता की आवश्यकता है उसी को लोग अब 'समाधि' कहने लगे हैं। नये नये कल-कारख़ाने खोल कर अपने निरुद्यमी भाइयों को उद्यमी बना देना ही अब लोगों के ख़याल में हस्त के देवता इन्द्र को सन्तुष्ट करना है। इनका सिद्धान्त है कि घृत आदि द्रव्यों का हवन करना तो देश की दरिद्रता बढ़ाना है। इस से देवता भी तो सन्तुष्ट नहीं होते। क्योंकि व्यापार-धन्धे के विना देश दरिद्र होता जाता है। इस से देशवासियों का मन प्रसन्न नहीं रहता। जब इन्द्रियाँ ही अप्रसन्न और असन्तुष्ट हैं तब उनके स्वामी देवता कैसे सन्तुष्ट हो सकेंगे। अथवा यह कहिए कि लोगों की इन्द्रियों की असन्तुष्टता, देवताओं की असन्तुष्टता का ही चिह्न है। लोगों के मन, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, हस्त इत्यादि इन्द्रियों के तृप्त हुए विना उन के स्वामी चन्द्रमा, अग्नि, वायु, सूर्य, दिक्, इन्द्र आदि देवता तृप्त नहीं हो सकते। देशभाइयों की इन्द्रियों को सन्तुष्ट करना उनके भोग की सामग्री प्राप्त करा देना ही मानों देवताओं को हव्यभाग देना है—उन्हें प्रसन्न करना है। यही सच्चा हवन है—यही सच्चा यज्ञ है।

इन लोगों का मत है कि अज्ञान में फँसे हुए अपने भाइयों को ज्ञानी बनाने से ही चन्द्रमा नाम के देवता सन्तुष्ट होंगे। लोगों को वर्तमान स्थिति का सच्चा दृश्य दिखाने से ही चक्षु के देवता सूर्य प्रसन्न होंगे।

इस तरह की कितनी ही बातें मेरे मित्र ने मुझ से मेरे प्रश्न के उत्तर में कहीं। पर, खेद है, वे सब इस समय मुझे याद नहीं।

हाँ, एक बात और याद आ गई। कुछ साधुओं को दिखा कर मेरे मित्र ने कहा कि इनके व्यवहार, बर्ताव रहनसहन आदि से पूरी प्राचीनता झलकती है। पुराने विचारों के कट्टर पक्षपाती हैं। तथापि ये सत्य के अनुयायी हैं। इसी कारण अपने सभी पुराने विचारों के क़ायल नहीं। सत्य की कसौटी पर उतरे हुए आधुनिक मतों को भी ये मानते हैं। इससे जान पड़ता है कि मतमतान्तर के अनुयायियों का पूर्वकालीन विरोध अब नष्ट-प्राय हो गया है। यह सच है कि इन सभी लोगों के मत सभी विषयों में परस्पर नहीं मिलते हैं, पर केवल मतभेद होने

ही के कारण ये प्रतिपक्षी का अहित नहीं चाहते—उससे द्वेष नहीं करते। जिस विषय में इनका मत नहीं मिलता उस विषय में ये लोग तटस्थ रहते हैं। जिस विषय में मतैक्य होता है उस विषय में सब लोग अत्यन्त प्रेम-पूर्वक एक दूसरे के सहायता देते हैं। मत-भेद इनमें हठाग्रह-पूर्वक नहीं होता। ये लोग एक दूसरे के साधक बाधक प्रमाण शान्ति-पूर्वक सुनते हैं। ये सत्यनिर्णय के लिए सदा उत्सुक रहते हैं। इनके वाद-विवाद में दोष की मात्रा नहीं रहती।

इतने में सभा की घण्टी बजी। उपस्थित लोग टकटकी लगा कर चुपचाप सभापति के आसन की ओर देखने लगे। मैं भी प्रफुल्ल-हृदय होकर उस ओर देखने की चेष्टा करने लगा! परन्तु, अफ़सोस! इतने ही में मेरी नींद खुल गई। आँखें खुलते ही पास के घण्टा-घर से आवाज़ आई टन्—टन्—टन्—टन्! ओह, ४ बज गये! सबेरा हो गया। तथापि वह स्वप्न देखने की लालसा मेरे हृदय में बनी ही रही। मैं फिर लेट गया। मैंने अनेक यत्न किये कि निद्रा-देवी फिर मुझे उसी सभामण्डप में ले जाय। पर मेरा प्रयत्न व्यर्थ हो गया।

हे संसार-स्वप्न के विधाता! क्या मैं यह आशा करूँ कि मेरा स्वप्न, स्वप्न ही न रहेगा वह कभी सच भी हो जायगा? क्या कभी भारतवासी इस स्वप्न के सच्चा कर दिखावेंगे? मन ही मन यह प्रार्थना करता हुआ मैं बिस्तरे से उठ बैठा।

विश्वनाथ गणेश आगाशे, बी. ए.

मिट्टी का तेल।

यदि मिट्टी के तेल पर विचार किया जाय तो कुछ लोग कहेंगे कि मिट्टी का तेल एक बड़ी दुर्गन्धित वस्तु है ओर अपवित्र होने के कारण उस के छूना नहीं चाहिए। कोई स्वदेश-भक्त यह भी कह सकता है कि यह एक वस्तु विदेशियों की चलाई हुई है ओर जब से इस का व्यवहार आरम्भ हुआ तब से तेलियों का कार्य्य मारा गया। इस लिए इसका व्यवहार त्याग देना चाहिए, जिस से कि अपने भारतवर्ष की शिल्पकारी जारी रहे ओर उसकी उन्नति करने का अवसर भी मिले। परन्तु वे लोग यह नहीं जानते कि मिट्टी का तेल कितना उपयोगी है। उससे पश्चिमीय विज्ञान-वेत्ताओं ने कितनी उपयोगी वस्तुयें बनाई हैं उनकी गणना करना बहुत कठिन है। तथापि उन में से कुछ के यहाँ लिखे देते हैं। वे भी इस कारण कि जिन के पढ़ने से अपने भारतवासियों में साइन्स पढ़ने की उत्तेजना हो। पहले तो यह है कि जितना तेल खानों से निकलता है उसका बहुत थोड़ा अंश अपने जलाने के काम में आता है, यहाँ तक कि यदि जलाने के काम में मिट्टी के तेल का व्यवहार तनिक भी न किया जाय तो भी मिट्टी के तेल का खानों से निकालना उसी ज़ोर शोर से चलता रहेगा जिस प्रकार आज कल चल रहा है। इस तेल से एक गैस बनती है जो कि रेल के कारख़ानों, शहरों ओर कालेज इत्यादिकों में रोशनी ओर गर्मी के लिए बहुत ख़र्च होती है। इसी तेल के एक अंश से जिसे पाराफिन कहते हैं मोमबत्तियाँ बनती हैं जिनको कि लोग अपनी गाड़ियों बग्घियों ओर अपने घरों में रोशनी करने के लिए बहुत इस्तेमाल किया करते हैं। इस तेल का दूसरा अंश जिसके अंग्रेज़ी में पिच कहते हैं बिजली के कारख़ानों में अति आवश्यक होता है। यह तेल एक रूप में जिसको लुवरीकेटिङ्ग आयल कहते हैं हर कारख़ाने में जहाँ छोटी से छोटी कल (Machine) का भी व्यवहार होता है काम में लाया जाता है। इसके लगाने से मेशीन शीघ्र घिसने नहीं पाती। इसी के आधार पर बहुत से सुगन्धित तेल, इतर ओर बारनिशें बनती हैं। अनेक प्रकार

के रङ्ग जिनसे लोग अपने कपड़े इत्यादि रँगते हैं इसीसे बनते हैं। जहाँ एलूमीनियम धातु चिकनी मिट्टी से निकाली जाती है वहाँ इसका बहुतायत से प्रयोग होता है। यदि यह न हो तो जितनी भर वस्तुयें रबर (Rubber) की आती हैं वे एक भी न दिखलाई दें। इनके अतिरिक्त और भी अनेक वस्तुयें हैं जिनके बनाने अथवा चलाने में मिट्टी के तेल का उपयोग किया जाता है। जैसे मोटरों का चलना, हवाई जहाज़ों का उड़ना इत्यादि यदि मिट्टी का तेल न हो तो कदापि नहीं हो सकता।

पचास वर्ष के कुछ पहले से यह तेल भूगर्भ से निकाला जाने लगा है और इतने ही दिनों में इसका व्यवहार बहुत विस्तीर्ण हो गया है। १८५९ ई० में करनेल ड्रेक ने पहले पहल इसका कुआँ अमेरिका में खोदा था। इसके पहले भी कहीं कहीं इस पृथ्वी पर मिट्टी के तेल की खानें लोगों को मालूम थीं। कहीं कहीं तो चरवाहे इसके स्थान को जानते थे जहाँ वे अपने जानवरों को ले जाते थे और इस तेल को जला कर अग्नि तापते थे। ईसूमसीह के पहले काकेशस पहाड़ पर पारसियों का एक मन्दिर था। वहाँ भूमि के नीचे इस तेल की एक खान थी उसी के ऊपर एक छेद भी था। वहाँ से इस तेल की बाष्प अर्थात् गैस निकला करती थी जिसको लोगों ने जला रक्खा था और वह दीपक के रूप में बिना किसी तेल या बत्ती के सदा जला करती थी। अग्नि के उपासक पारसी लोग इसे पूजा करते थे। पुराने समय में मिश्र के लोग भी इसका व्यवहार करते थे। चीन और जापान में भी इसकी खानों से पुराने तरीक़े से काम लिया जाता था। गेलीसिया और रुमानिया की पुरानी पुस्तकों से मालूम होता है कि इसके पहले भी मनुष्य इस तेल को भूमि से निकालते थे। परन्तु इस समय इसकी विशेष खानें जिनसे दुनिया भर को तेल पहुँचता है निम्नलिखित देशों में हैं। यूनाइटेड स्टेट्स से अर्थात् अमेरिका, रूस, रूमानिया, अस्ट्रिया-हङ्गरी, ब्रह्मा, आसाम, जापान, जर्मनी, परशिया इत्यादि। इन स्थानों को छोड़ कर और भी अनेक स्थान हैं जहाँ कि यह तेल भरा पड़ा है और जहाँ अभी तक मनुष्यों ने हाथ भी नहीं लगाया। यदि पूर्वोक्त खानें जिनसे सारी दुनिया को तेल इस समय मिलता है, खाली हो जायँ तो भी अभी ऐसी खानें भरी पड़ी हैं कि जिनसे दुनिया भर को सैकड़ों हज़ारों वर्षों के लिए तेल पहुँच सकता है। आज कल हर सप्ताह में १० लाख टन तेल पूर्वोक्त खानों से निकाला जाता है।—

आरम्भ में यह नहीं मालूम था कि इस तेल का व्यवहार प्रकाश उत्पन्न करने के लिए होगा। परन्तु जब से यह मालूम हुआ तब से अमेरिका के विज्ञान-वेत्ताओं ने इसकी ओर ध्यान दिया और इसी मिट्टी के तेल से अनेक प्रकार की वस्तुओं को निकाल कर संसार भर में बेचते हैं जिससे उनके देश की आर्थिक उन्नति हुई और उन सब चीज़ों के बनाने के तरीक़ों के निकालने में उनके देश की हर विद्या की उन्नति हुई। परन्तु अभी तक वे यह स्थिर नहीं कर सके कि यह तेल भूगर्भ में किन किन वस्तुओं से बनता है। इसके बारे में बहुतों की यह राय है कि यह तेल जानवरों और वृक्षों के उन मृतक शरीरों से बना है जो कि भूमि के नीचे दब गये थे। इस बात को साबित करने के लिए एङ्गलर नामक विज्ञानवेत्ता ने जीवों की चर्बी से एक ऐसी वस्तु बनाई जो बिलकुल मिट्टी के तेल के समान है।

मिट्टी के तेल से अनेक प्रकार के काम हुए और अभी तक नये नये काम निकलते आते हैं और इसका ख़र्च दिन दिन बढ़ता ही जाता है। यहाँ तक कि ४० वर्ष में इसका ख़र्च १९ गुणा बढ़ गया है। १८७८ ई० में यह तेल २०, ७७, २९१ मेट्रिक टन खानों से निकाला गया था और १९१८ ई० में ३,९४,६८,५२९।

इतना व्यवहार होने पर भी कुछ कुछ मनुष्यों का ऐसा विचार है कि अभी तो इस नये उद्योग का आरम्भ ही हुआ है।

जिस स्थान में इसकी खानें होती हैं वह स्थान एक काले जले हुए जङ्गल के समान मालूम होता है। वहाँ सब चीज़ें काली होती हैं, यहाँ तक कि आकाश भी इसके धुएँ से काला हो जाता है। यह तेल भूमि के बहुत नीचे भाग में बालू और जल के संग मिला हुआ रहता है। और वहाँ से पम्प और नलों के ज़रिये से निकाला जाता है, अथवा बड़े बड़े डोलों के ज़रिये से ये नल भूमि में गाड़ दिये जाते हैं और जब इनकी लम्बाई १००० से २५०० फ़ीट की होती है तब तेल की सतह मिलती है। फिर इतन नीचे से तेल एञ्जिन और पम्प के ज़रिये से ऊपर लाया जाता है।

जिन खानों में तेल अधिक बालू सहित निकलता है वहाँ पम्प और नल काम नहीं देते, क्योंकि बालू नलों में भर जाती है। इसलिए वहाँ डोलों का व्यवहार होता है। यह डोल ५० या ६० फ़ीट लम्बे नल के समान होते हैं एक डोल में लगभग २७५ गेलन (एक गेलन में ६ बोतलें होती हैं) तेल आता है। यों यह २४ घण्टों में १०००८० गेलन निकाल लाता है। इस प्रकार जब तेल कुओं से निकाला जाता है तो पहले वह एक कुण्ड में स्थिर होने के लिये रक्खा जाता है। जब वहाँ सब बालू इत्यादि बैठ जाती है तब साफ़ तेल दूसरे तालाबों में भरा जाता है। कभी कभी आरम्भ ही में जब नल तेल तक पहुँचता है तब तेल इतने ज़ोर से ऊपर उठता है कि फिर वह क़ाबू में नहीं रहता, उसकी धार बड़े भयङ्कर रूप में ऊपर आती है वह भूमि से बहुत ऊँची उठ जाती है और कभी कभी उसमें अग्नि भी लग जाती है तो उसका रूप और भी भयङ्कर हो जाता है। कभी कभी तेल इस प्रकार थोड़े ही समय तक निकला करता है, पर, कभी कभी तो साल साल भर तक बराबर निकलता जाता है। जैसे बाकू में अभी तक जारी है। इस अवस्था में तेलवालों को बड़ी हानि पहुँचती है। जब स्वच्छ तेल के तालाब भर जाते हैं तब वहाँ से तेल नलों से सफ़ाई के कारख़ानों में पहुँचाया जाता है, वहाँ भबकों के ज़रिये से साफ़ होता है और कई अंशों में विभाजित किया जाता है जैसे केरोसिन, पेराफ़िन, बेनजीन, पेट्रोल इत्यादि।

ये सब अंश बड़े महत्त्व के हैं और इनसे बड़े बड़े काम लिये जाते हैं। यह असंख्य घरों को प्रकाश पहुँचाते हैं। जब समुद्र में तूफ़ान आता है तब वहाँ मिट्टी का तेल अर्थात् केरोसिन डाल दिया जाता है जिसके पड़ने से समुद्र शान्त हो जाता है। बहुत से लोग मच्छरों और अनेक प्रकार की बीमारियों के कीड़ों के मारने के लिए इसका छिड़काव करते हैं। अनेक शहरों में इसी तेल से सड़कें भी छिड़की जाती हैं ताकि गर्दा न उड़े। पहले समय में भी मिट्टी के तेल का व्यवहार मनुष्य किया करते थे, परन्तु इतना नहीं जितना आज कल हो रहा है। क्योंकि विज्ञानवेत्ताओं ने इसका अध्ययन किया है और जैसे जैसे उसके गुण और उपयोग उनको मालूम होते जाते हैं वैसे ही वैसे इसका ख़र्च भी बढ़ता जाता है। यह सब महिमा विज्ञान की है न कि तेल की क्योंकि उसी ने इससे नई नई वस्तुयें तैयार कर उसका व्यवहार मनुष्य मात्र में बढ़ाया है। अन्यथा तेल तो सदैव से भूमि के नीचे दबा पड़ा रहता था। अपने भारतवर्ष में भी अनेक वस्तुओं की खानें भरी पड़ी हैं, केवल मिट्टी के तेल की ही नहीं, बल्कि और चीज़ों की भी जैसे लोहा, ताँबा, चाँदी, सोना इत्यादि। परन्तु भारतवासी विज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण यह नहीं जानते कि कौन सी वस्तु कहाँ भरी पड़ी है और उसको वहाँ से कैसे निकालें और किस तरह उसका उपयोग करें। इसलिए भारतवासियों को चाहिए कि विज्ञान की ओर

ध्यान दें और उसकी शिक्षा को उत्साह के साथ बढ़ावें ताकि उनकी आर्थिक और वैज्ञानिक उन्नति हो।

(प्रोफ़ेसर) हरनारायण बाथम, एम० ए०

जीव क्या वस्तु है ?
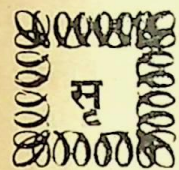
सृष्टि के पदार्थ-समूहों के दो बड़े विभाग किये जा सकते हैं। एक निर्जीव, दूसरा सजीव। पहले विभाग में पत्थर, मिट्टी इत्यादि सभी खनिज पदार्थों का समावेश होता है और दूसरे में अतिसूक्ष्म अङ्कुर से लेकर गगनचुम्बी वृक्ष इत्यादि समस्त वनस्पतियों और केवल सूक्ष्मदर्शक-यन्त्र से ही दिखाई देनेवाले प्राणि-कोटि के आदि प्राणी—कीटाणु—से लेकर ठेठ मनुष्य तक समस्त प्राणियों का अन्तर्भाव होता है।

अच्छा, तो सजीव और निर्जीव का अर्थ क्या है? सजीव का अर्थ है जीव-सहित अर्थात् जिसमें जीव–प्राण—हो। यथा–मनुष्य, पशु, पक्षी, मछली इत्यादि। और, निर्जीव का अर्थ है—जीव-रहित अर्थात् जिसमें प्राण न हो; यथा—पत्थर, मिट्टी, ताँबा, लोहा, सोना इत्यादि। इस प्रकार सजीव और निर्जीव का अर्थ कर देना तो आसान बात है। पर यह समझाना कि सजीवता का लक्षण क्या है, कठिन बात है। यदि यह कहें कि हम चलते हैं, बोलते हैं, देखते हैं, अतएव हम सजीव हैं तो इस से समाधान नहीं हो सकता। क्योंकि स्पंज और प्रवाल-कीटक, इत्यादि कितने ही सजीव प्राणी स्थलान्तर नहीं कर सकते। अर्थात् एक जगह से दूसरी जगह जा आ नहीं सकते। स्टारफिश, मकड़ी इत्यादि अनेक प्राणियों में वाक्-शक्ति नहीं अर्थात् वे शब्द नहीं कर सकते। इसी प्रकार अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी के कितने ही जीवों के आँखें नहीं हैं अर्थात् वे देख नहीं सकते। मतलब यह कि ऐसे कितने ही पदार्थ मिलते हैं जिनमें चलने, बोलने, देखने इत्यादि की शक्तियाँ—और शक्तियाँ ही क्यों इन्द्रियाँ भी—नहीं हैं। पर उनमें सजीवत्व है। सो सजीव और निर्जीव का भेद समझ लेना हँसी नहीं।

अच्छा, तो सजीवता है क्या वस्तु? वह कहाँ से आती है? कहाँ मिलती है? उसके अस्तित्व के लक्षण क्या हैं? जब तक हम ये बातें न जान लेंगे तब तक कोई वस्तु सजीव अथवा निर्जीव क्यों है, यह न सिद्ध कर सकेंगे।

सजीव और निर्जीव शब्दों में जीव शब्द साधारण है। अतएव जीव किसे कहते हैं, पहले इसी की खोज करनी चाहिए। "जीव" की व्याख्या भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है। कुछ विद्वानों की राय है कि मरण-प्रतिबन्धक क्रिया-समुदाय ही का नाम जीव है। परन्तु यह व्याख्या उसी श्रेणी की है जिस श्रेणी की यह कि—"प्रकाश का अर्थ है अन्धकार का अभाव"। और भी कितनी ही व्याख्यायें जीव की हैं; पर वे सभी थोड़ी बहुत सदोष हैं। अतएव यहाँ उनका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। हाँ, एक व्याख्या है, जो कुछ कुछ ठीक ठीक अर्थ व्यक्त करती है। वह है-"विशेष द्रव्यों के विशेष स्थिति में रहते हुए अधिकांश में नियमित रूप से विशेष प्रकार के परिवर्तन व्यक्त करने की प्रवृत्ति"। यह व्याख्या भी है तो सन्दिग्ध, अतएव दुर्बोध। परन्तु सजीवता के सम्बन्ध में आगे जो कुछ कहा जाता है उसको अच्छी तरह समझ लेने पर आशा है, यह बहुत कुछ सुबोध हो जायगी।

जीव दृष्टि-गोचर पदार्थ नहीं; अर्थात् उसे कोई देख नहीं सकता। न उसके रूप-रङ्ग का ही वर्णन किया जा सकता है। जीव के अस्तित्व का अनुमान केवल बाहरी लक्षणों से ही किया जा सकता है। एक ही पदार्थ ऐसा है, जो सभी जीवधारी पदार्थों में अवश्यमेव पाया जाता है। उसका नाम है—

कीटाणु या प्राणोत्पादक पदार्थ। उसे अँगरेज़ी में (Protoplasm) प्रोटोप्लाज़्म कहते हैं। कारबन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, आक्सिजन फ़ास्फ़रस और गन्धक, इन छः तत्त्वों के संयोग से प्रोटोप्लाज़्म बनता है। यह पदार्थ कैसे उत्पन्न हुआ, अर्थात् पूर्वोक्त तत्त्वों का संयोग किसने किया, यह बताना अत्यन्त कठिन है। इस प्रश्न को हल करने के लिए विज्ञान से ज़रा भी सहायता नहीं मिलती। अतएव कितने ही शास्त्रज्ञों ने तो यह कह दिया है कि यह संयोग ईश्वर ही ने किया है। अर्थात् इन विद्वानों ने परोक्ष भाव से स्वीकार कर लिया है कि प्रोटोप्लाज़्म की उत्पत्ति का हाल हम नहीं जानते। कुछ-विद्वानों का कथन है कि पृथ्वी को वर्तमान स्वरूप प्राप्त होने के पहले उसके कितने ही रूपान्तर हो चुके हैं। इस काम में अपरिमित समय लगा है। उसी समय-समूह में कभी वायु-मण्डल इत्यादि की स्थिति विशेष प्रकार की हो गई थी। इसी से पूर्वोक्त छः मूल तत्त्वों का आप ही आप संयोग हो गया। सजीवता का आधारभूत पदार्थ, प्रोटोप्लाज़्म इसी संयोग का फल है। यदि यह मत ठीक हो तो पूर्वोक्त प्रकार की विशेष स्थिति का साद्यन्त ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कृत्रिम प्रोटोप्लाज़्म भी तैयार कर लेना कठिन काम नहीं। जो कुछ हो; पर एक बात निस्सन्देह है। आप किसी भी सजीव पदार्थ को ले लीजिए। प्रोटोप्लाज़्म से युक्त और उसके अस्तित्व का कारणीभूत एक और भी पदार्थ आप उसमें अवश्य पाइएगा। इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिए कि प्रोटोप्लाज़्म प्रत्येक सजीव पदार्थ के सर्वाङ्ग में भरा हुआ है। क्योंकि नीचे दरजे के प्राणियों और वनस्पतियों को छोड़ कर और सब प्राणियों के शरीर का कुछ भाग निर्जीव-तुल्य पदार्थों का बना हुआ पाया जाता है। अर्थात् शरीर के उन भागों में प्रोटोप्लाज़्म नहीं रहता। उदाहरण के लिए—मनुष्य की बाहरी चमड़ी, दाँतों के ऊपर जमा हुआ थर, नाख़ून इत्यादि भाग निर्जीव ही हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक सजीव पदार्थ में थोड़ा बहुत प्रोटोप्लाज़्म रहता ही है।

प्रोटोप्लाज़्म अन्तस्थ पदार्थ है। अर्थात् वह सजीव पदार्थ के भीतर रहता है, । परन्तु सजीवता के बाहरी लक्षणों को प्रकट करने के लिए सजीव पदार्थ को कुछ बाहरी वस्तुओं की अनुकूलता भी आवश्यक है। ऐसी पहली वस्तु पानी है। किसी भी सजीव पदार्थ से यदि सारा का सारा पानी निकाल दिया जाय तो, नब्बे फ़ी सदी प्रयोगों में, प्राणोत्क्रमण हो जायगा। हाँ, यदि पानी का थोड़ा भी अंश रहने दिया जाय तो उसकी सजीवता क़ायम रह सकती है। परन्तु इससे उसके बाह्य लक्षण व्यक्त नहीं किये जा सकते। इसका एक उदाहरण लीजिए। किसी पौधे के बीज को घर में ला कर रख दीजिए। उसे पानी का ज़रा भी स्पर्श न कराइए। इस दशा में वह बीज, प्रायः वैसा ही बना रहेगा और, निर्जीव पदार्थ के सदृश देख पड़ेगा। परन्तु पानी का संयोग होते ही उस से अङ्कुर निकल आवेगा। इससे तथा और और क्रियाओं से भी उसकी सजीवता प्रकट होती है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि पहले उस में सजीवता थी ही नहीं। बात यह है कि पानी के अभाव के कारण, उस की सजीवता अव्यक्त थी। इस से तो यही सिद्ध हुआ कि बीज में—प्रोटोप्लाज़्म था। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो पानी डालने पर बालू से भी अङ्कुर निकले। अथवा सजीवता का और कोई चिह्न प्रकट हो। पर कहीं ऐसा होता दिखाई नहीं देता। वनस्पतिजन्य अथवा प्राणिजन्य पदार्थ पानी में उबाल कर उस पानी को कुछ दिनों तक खुली हुई हवा में रख दीजिए। उस में एक जाति के प्राणी—कीट—पैदा हो जायँगे। अब उस पानी को सुखा डालिए और उन कीड़ों को किसी बोतल में रख लीजिए। इस दशा में भी वे जीवित ही रहेंगे और

पानी का स्पर्श होते ही उन में सजीवता-सूचक चलन-क्रिया होती देख पड़ेगी। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव के लिए पानी बड़े महत्त्व की वस्तु है।

दूसरी अनुकूल वस्तु उष्णता है। प्रत्येक जाति के प्राणी में थोड़ी बहुत उष्णता अवश्य रहती है। उसमें सहसा परिवर्तन होने से परिणाम हानिकारक होता है। परन्तु यदि उष्णता क्रम क्रम से कम या ज़्यादह की जाय तो कितने ही जीवधारी उसे सहन कर सकते हैं। इस समय उन में सजीवता के बाहरी चिह्न चञ्चलता आदि नहीं देख पड़ते। शीत-प्रधान देशों में रहनेवाले, भालू की जाति के प्राणी, सरदी के दिनों में हवा की उष्णता बहुत कम हो जाने से, शिथिल हो जाते हैं। उन्हें एक प्रकार की शीत-स्थिरता प्राप्त हो जाती है। इस दशा में वे किसी जगह कुछ समय तक निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। उस समय उनका चलना फिरना और मज्जातन्तुओं का स्फुरण बन्द हो जाता है। सिर्फ़ श्वासोच्छ्वास और एक रक्त-सञ्चालन इत्यादि कार्य जारी रहते हैं, जो प्राणिमात्र में साधारण रूप से विद्यमान हैं। इन्हीं से उन की सजीवता का बोध होता है। मेढक, गिलहरी, बीरबहूटी—इत्यादि प्राणी भी इसी के उदाहरण हैं। यदि उष्णता का परिमाण बढ़ा दिया जाय तो भी शरीरस्थ जल का अंश कम हो जाता है और पूर्वोक्त ही परिणाम होता है। यह परिणाम मगर-जाति के प्राणियों में और पूर्व-कथित सड़े पानी में उत्पन्न हुए जीवों में दृष्टिगत होता है। तात्पर्य्य यह कि कुछ निश्चित सजीव पदार्थों में निश्चित उष्णता प्राप्त होने पर, सजीवता के बाहरी लक्षण प्रकट होने लगते हैं। मुर्ग़ियाँ तथा अन्य पक्षी अपने अण्डों को जो गर्मी पहुँचाते हैं उस का कारण यही है।

सजीवता के लक्षण प्रकट होने के लिए असंयुक्त आक्सिजन की भी आवश्यकता है। यह तीसरी अनुकूल वस्तु है। क्योंकि सजीवत्व के बाहरी चिह्नों को व्यक्त करने के लिए प्रोटोप्लाज़्म का रासायनिक संयोग आक्सिजन से सम्मेलन होना अत्यन्त आवश्यक है।

इसके सिवा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष भाव से सूर्य्य-प्रकाश भी आवश्यक है। यह चौथी अनुकूल वस्तु है। यद्यपि कुछ जीव और वनस्पति अन्धकार में भी जीवित रह सकते हैं तथापि समष्टिरूप से उनकी सजीवता सूर्य-प्रकाश पर अवलम्बित रहती है। इस से स्पष्ट है कि सूर्य्य के नाश होने पर जीव का भी नाश हो जायगा।

सारांश यह कि जिस पदार्थ में थोड़ा बहुत प्रोटोप्लाज़्म हो, तथा पानी, उष्णता, वायु, प्रकाश इत्यादि बाहरी साधन जिसे अनुकूल हों, उसी में सजीवता का अस्तित्व सम्भवनीय है। ऐसे ही पदार्थ सजीव कहे जा सकते हैं।*

मक्खियाँ।

यह प्राणी ऐसा विकट है कि मनुष्य-जाति इससे तङ्ग सी आगई है। इस की प्रशंसा में एक दो भी भले शब्द कहनेवाला कोई विरला ही पुरुष मिलेगा। समाज में जब जब मक्खियों का नाम आता है तब तब उन्हें खुले बाज़ार गालियाँ मिलती हैं। इसका कारण यही है कि मक्खियों की आदतें गन्दी और मनुष्य के लिए हानिकारक हैं। उन में ढूँढने पर भी गुण नहीं मिलते। चिउँटी, मधु-मक्खी, बर्र आदि कीड़ों में बुद्धि अच्छी पाई जाती है; परन्तु मक्खियाँ बुद्धि-हीन होती हैं। उनका जीवन-वृत्तान्त भी आनन्द-दायक नहीं। तब यह प्रश्न होता है कि इन दुष्ट प्राणियों के जीवन का अध्ययन हम लोग क्यों करें? इसका उत्तर यह है कि उनके उत्पातों

*मराठी के "शास्त्र-रहस्य" से गृहीत।

से बचने के लिए आवश्यक है कि हम इसका पूरा पूरा हाल जानें।

घरेलू मक्खियों की पहचान हमें घर बैठे ही हो जाती है। हम उनका स्वागत करें अथवा न करें, वे तो हाज़िर ही हो जाती हैं, विशेष कर ग्रीष्म और वर्षा-ऋतु में। "मान न मान मैं तेरा मेहमान" इस कहावत को चरितार्थ करती हुई बिना पूछे-पाछे कोई तो दुग्ध-पान करने बैठ जाती हैं, कोई मुरब्बों का स्वाद चखती हैं और कोई देवताओं को अर्पण करने के पहले ही हमारे भोजन को जूठा कर देती हैं। किसी दूसरे अतिथि को एक बार दुतकार देने पर वह फिर दूसरी बार नहीं झाँकता; परन्तु मक्खियों को इसकी ज़रा भी परवा नहीं। आप पचास बार धक्के देकर उन्हें निकाल दीजिए, परन्तु थोड़ी ही देर में वे फिर आ पहुँचती हैं; और, यह दिखलाने के लिए कि हमें मनुष्यों का कुछ भी भय नहीं, वे उसके शरीर के आस पास बार बार आकर भिनभिनाती हैं। नीली मक्खी और भी बुरी होती है। जहाँ किसी भी प्रकार का भोजन उसे दिखाई दिया कि उसने अपने अण्डे रख कर उसे दूषित कर दिया।

मनुष्यों को बर्रों, मधु-मक्खियों तथा लखेरियों से विशेष भय रहता है; क्योंकि ये सब डङ्क मारती हैं। घरेलू मक्खी न काट सकती, न डङ्क मार सकती है। इस कारण लोग उससे भय नहीं करते। परन्तु निर्दोषी दिखनेवाली यह मक्खी यथार्थ में सब से भयङ्कर और अनेक रोगों की जननी है। उसे गन्दी वस्तुओं पर बैठने का बड़ा ही शौक़ है। वह वहाँ से उन वस्तुओं के छोटे छोटे कण पैरों, पङ्खों तथा रोम-युक्त शरीर पर रख कर लाती हैं और फिर बिना नहाये धोये सीधी हमारे भोजन की वस्तुओं पर आ बैठती हैं और उन्हें दूषित कर देती हैं। इसी तरह वह बीमारों के पास जा कर इच्छित जगह पर जा बैठ जाती हैं और रोग के कीटाणुओं को ला लाकर चङ्गे मनुष्यों में रोग फैलाती हैं। सङ्क्रामक रोग इसी प्रकार कीटाणुओं द्वारा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक पहुँच जाते हैं।

इन मक्खियों से बचने का केवल एक उपाय है। हम ऊपर कह आये हैं कि इन्हें गन्दगी बहुत प्रिय है और गन्दी वस्तुयें न मिलने से ये न अण्डे रख सकती, न रह सकती हैं। इसलिए घर की जितनी सफ़ाई की जाय उतनी ही कम मक्खियाँ वहाँ आवेंगी। भोजन ढाँक कर रखने से भी बहुत लाभ है। किसी ने एक बाबाजी से प्रश्न किया कि तुम्हारे चेले बहुत हो गये हैं; उनको खिलाने का क्या प्रबन्ध करोगे? बाबाजी ने उत्तर दिया बच्चा! चेले जब भूखों मरेंगे तब आप ही अपनी राह चले जायँगे। यही हाल मक्खियों का भी है। भोजन ढका रहने तथा घर में सफ़ाई रखने से जब इन्हें खाने को न मिलेगा तब ये आप ही अपना सा मुँह ले कर चली जायँगी।

मक्खी की आयु कुल पाँच सप्ताह की होती है। उसी में वह अपने जीवन का मज़ा ले लेती है। बीच में यदि किसी मकड़ी ने अपने जाल में उसे धर फँसाया, अथवा अन्य किसी हिंसक कीड़े के चुङ्गल में वह फँस गई तो फिर उसे और भी जल्द यमराज के दर्शन करने पड़ते हैं। खाने, पीने, अपने पैरों और पङ्खों की सफ़ाई करने, इधर उधर भिनकते फिरने और यदि मादा हुई तो अण्डे रखने में ही उसकी दिनचर्या समाप्त हो जाती है। उजेला और गरमी उसके सुख की सामग्री है। सरदी चमकते ही उसका अन्त सा हो जाता है। यही कारण है कि ज़ाड़ों में बहुत कम मक्खियाँ देखने में आती हैं।

प्रत्येक मादा पाँच छः बार अण्डे देती है और हर बार सौ से डेढ़ सौ तक अण्डे रखती है। अण्डे इतने छोटे होते हैं कि खाली आँख से बहुत कम देखे जा सकते हैं। बृहत्प्रदर्शक यन्त्र (अर्थात्

मेग्नीफाईङ्गलेन्स) से देखने पर वे दिखाई देते हैं। अन्य कीड़ों-मकोड़ों के समान उनके अण्डों में से इल्ली निकलती है। इल्ली शङ्खी बना कर सोती है और समय आने पर उसे फोड़ कर मक्खी के स्वरूप में निकलती है। यह सब कार्य केवल आठ नौ दिनों में हो जाता है। उत्पन्न होने के उपरान्त शीघ्र ही नवीन मादा भी अण्डे देने लगती है। उसके बच्चे भी आठ नौ दिनों में तैयार हो जाते हैं। मरते दम तक मादा मक्खी पर-दादी और वृद्ध दादी तक बन जाती है; परन्तु उसे स्वर्ग-नसेनी मिलती है या नहीं, इसकी ख़बर किसी को नहीं।

मक्खियाँ कई प्रकार की होती हैं—कोई छोटी और कोई बड़ी। परन्तु यह न समझना चाहिए कि छोटी मक्खी की उम्र कम होती है। शङ्खी से निकलने के उपरान्त कोई भी कीड़ा-मकोड़ा बढ़ता नहीं; उसकी लम्बाई चौड़ाई जन्म से मरण तक—एक सी रहती है। छोटी मक्खियों की एक जाति ऐसी है जो बहुधा तूफ़ान आने अथवा पानी बरसने के पहले दिखाई देती है। क्योंकि तूफ़ान से बचने के लिए वे घरों की शरण लेती हैं। ये तूफ़ानी मक्खियाँ सुई-सी पैनी सूँड़ से हमारे चमड़े को टोंचती हैं। परन्तु चमड़े में छेद इतना बारीक़ होता है कि हमको ख़बर तक तो होती नहीं, और हमारे रक्त में उनका विष पहुँच जाता है।

मक्खियाँ शायद ही कभी पकड़ी जा सकती हों; उन्हें पकड़ने या मारने को हाथ उठाते ही वे साफ़ उड़ जाती हैं। इसका कारण मक्खी की बड़ी बड़ी दो आँखें होती हैं। तथापि यह कहना अनुचित न होगा कि उसके मस्तक में आँखों के सिवा कुछ होता ही नहीं। उसकी आँखों में हज़ारों छोटे छोटे पहल हर तरफ़ रहते हैं। प्रत्येक पहल एक लेन्स या ताल के सदृश होता है। जिस तरफ़ मक्खी को देखना होता है उसी तरफ़ के ताल से वह, बिना सिर घुमाये, देख सकती है। यही कारण है कि मक्खी को धोखा देकर हम लोग नहीं पकड़ सकते।

यद्यपि मक्खी बिना सिर घुमाये सब ओर की सैर कर लेती है तथापि काम पड़ने पर वह अपनी गर्दन अजीब ढङ्ग से झुका सकती है। उसकी गर्दन धागे के समान पतली और छोटी होती है। अपने पाँवों से मुँह साफ़ करते समय मक्खी उसे इस प्रकार मरोड़ती है कि देखने वाले को भय होने लगता है कि कहीं सिर टूट कर अलग न जा पड़े।

मक्खी को शृङ्गार करनेका बड़ा शौक़ है। उसके छोटे और पतले पैरों में एक प्रकार का बुरूश रहता है, जिससे वह अपने पङ्ख, मुख आदि को झाड़ कर स्वच्छ किया करती है। यह वह तभी करती है जब कोई दूसरा काम न हो।

इस प्राणी में सीधी दीवार पर चढ़ने और छत पर उलटा चलने की अद्भुत शक्ति है। ये दोनों कार्य वह बड़ी सुगमता से करती है। यदि हम उसके पैरों का अवलोकन बृहत्प्रदर्शक ताल से करें तो हम को उसकी इस शक्ति पर आश्चर्य न होगा। उसके पैरों के नीचे दो गद्दियाँ रहती हैं। उनसे घुँघराले बाल निकले रहते हैं। ये बाल पोले होते हैं। इन से गोंद सा रस निकलता है। इस कारण पाँव रखते ही मक्खी का पैर रस के कारण उस स्थान से चिपक सा जाता है और मक्खी गिरती नहीं।

मक्खी के एक विचित्र लम्बी सूँड़ होती है, जिसके छोर पर रस, रक्त आदि चूसने के लिए गद्दी के सदृश एक मुख सा रहता है। उसीसे वह भोजन प्राप्त करती है। वह किसी भी गीली वस्तुओं जैसे पसीना, वार्निश आदि से अपना पेट भर सकती है। ठोस वस्तु उस के काम की नहीं। शक्कर को वह सूँड़ से टोंच टोंच कर और उस में रस डालडाल कर गीली करके खाती है।

अन्य कीड़ों के चार पङ्ख होते हैं; परन्तु मक्खी के केवल दो ही होते हैं। जहाँ पङ्खों की दूसरी

जोड़ी होनी चाहिए वहाँ केवल डण्ठुल से रहते हैं और उनके छोर पर गुट्टे-से लगे रहते हैं। उन्हें निकाल लेने से मक्खी नहीं उड़ सकती।

लज्जाशङ्कर झा, बी० ए०

निःस्वार्थ-सेवा।

खींच रहा था हल आतप में बूढ़ा एक बैल सत्रास।
उसे देख कर विकल बहुत ही पूछा मैंने जाकर पास—
"बूढ़े बैल, खेत में नाहक क्यों दिन भर तुम मरते हो?
क्यों न चरागाहों में चल कर, मौज मज़े से करते हो?"
सुन कर मेरी बात बैल ने कहा दुःख से भर कर आह—
"इस अनाथ असहाय कृषक का होगा फिर कैसे निर्वाह?"

मुकुटधर।

लन्दन की पुलिस।

आज कल लन्दन में 'हड़ताल' की भरमार है। दो हफ़्ते के अन्दर हम तीन हड़ताल देख चुके। और तीनों में जीत हड़तालियों की ही रही। पहले बिजली के बल चलनेवाली ट्रामगाड़ी और मोटर बसों को चलानेवाली महिलाओं ने हड़ताल की जो छ दिन तक जारी रही। उनका कहना था कि जब तक हमें भी मरदों की बराबर तनख़्वाह न मिलेगी हम काम न करेंगी। बस उन्होंने ५। ६ दिन की छुट्टी मनाई और अन्त में पाँच शिलिङ्ग अर्थात् ४ रु० फ़ी हफ़्ता की तरक्की पाई। मानों यह उन्हें ५। ६ दिन इस विशाल बस्ती को बस-विहीन बनाने का पारितोषिक मिला।

इन की देखादेखी ज़मीन के अन्दर बिजली के बल चलनेवाली रेल-गाड़ी चलानेवाली अबलाओं ने अपना बल दिखाया। उन्होंने भी विजय प्राप्त की। यानी दो दिन की हड़ताल से अपना वेतन बढ़वाया।

तब पुलिसवालों को भी हड़ताल करने की सूझी। ट्राम अथवा बस या रेल-गाड़ी बिना इस विशाल नगरी का काम कुछ दिन चल भी सकता है पर 'पुलिस' के बिना एक दिन भी गुज़र होनी मुश्किल है।

यदि कोई हमसे पूछे कि इस टापू में सबसे उपयोगी प्राणी कौन है। या कोई कहे कि इँग्लैण्ड में कौन ऐसी संस्था है जिस की हम मुक्त-कण्ठ से सराहना करते हैं या यदि हमारे स्वदेश-बान्धव हमसे कहें कि स्वदेश लौटते वक्त इँग्लैण्ड से सर्वोत्तम वस्तु अपने देश के लिए लाना तो हम लन्दन की "पुलिस" की ओर अपनी दृष्टि डालेंगे और कहेंगे कि यही इस टापू में सर्वोत्तम, सराहनीय, और अपने देश को लेजाने योग्य वस्तु है।

किस योग्यता के साथ यहाँ की पुलिस हाथ में बिना छड़ी वा डण्डा लिये चौराहों पर दर्शक, यात्री और गाड़ियों को इधर उधर आने जाने में सहायता पहुँचाती है। जहाँ का चाहो वहाँ का उन से रास्ता पूँछ लो। जिस दर्शनीय भवन वा दृश्य का चाहे उनसे रास्ता वा ठिकाना पूँछ लो। किस नम्रता और विनय के साथ वे उत्तर देते और रास्ता बताते हैं। उनके मुखारविन्द पर हमेशा मुसकराहट और विनय दिखाई देती है। एक दिन हम लन्दन शहर के प्रधान, "मेयर" के निवास-स्थान "मैन्सन्-हाउस" की तलाश में थे। हम इस विशाल भद्दे भवन के दर्वाज़े के सामने ही थे। तिस पर भी, मालूम न होने के कारण, हमने एक विशाल-मूर्ति, पुलिसवाले जवान से पूछा "मैन्सन" हाउस कहाँ है? उसने मुसकराते हुए उत्तर दिया There it is my boy before you बच्चा, यह क्या तेरे सम्मुख है। अगर ऐसी दशा में भारतीय पुलिसवाले से पूछा होता तो क्या उत्तर मिला होता? "क्या आँख का अन्धा है यह क्या तेरे सामने है।"

यहाँ की पुलिस की तनख़्वाह जितनी भी ज़्यादे हो कम ही है। क्योंकि ये बड़े काम के लोग हैं।

इन्हें यहाँ लड़ाई से पहले २७॥) रु० फ़ी हफ़्ता मिलता था। युद्ध के बाद खाद्य पदार्थ की मँहगी के कारण इनका वेतन १२६) रु० माहवार कर दिया गया था। ये लोग इस से भी सन्तुष्ट न हुए और इन्होंने गत अगस्त में हड़ताल की। हठ यह था कि हमारी तनख़्वाह १३ शिलिंग फ़ी हफ़्ता और बढ़ा दी जाय। जिससे पुलिस-कानिस्टबल की तनख़्वाह कम से कम ३२।) रु० फ़ी हफ़्ता हो और

यही तनख़्वाह पेन्शन के वक्त शुमार की जाय। इसके अतिरिक्त लड़ाई के कारण जब तक युद्ध समाप्त न हो ३६) रु० माहवार और मिले। अर्थात् प्रत्येक बिना लड़के-बाले पुलिस-कानिस्टबल को १६५) रु० माहवार मिले और जिस के लड़के-बाले हों उसे प्रत्येक बालक के लिए ७॥) रु० माहवार और मिले। और कानिस्टबल की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा को ३०) रु० माहवार घर बैठे पेन्शन मिले। यह इनकी माँग थी। और एक ही दिन की हड़ताल के बाद प्रधान मन्त्री के बीचबिचाव से उनकी सब माँग पूरी कर दी गई। अर्थात् अब से प्रत्येक पुलिस-कानिस्टबल को १६५) रु० प्रति मास वेतन मिलेगा। यहाँ पर भारतीय पुलिसवालों की तनख़्वाह जो केवल ६) या १०) है विचारणीय है।

इँग्लैण्ड के पुलिस-कानिस्टबल की तनख़्वाह कम से कम १६५) रु० माहवार है।

यहाँ के C. S. "असिस्टैण्ट कलक्टर" का वेतन ३००) रु० माहवार से आरम्भ होता है। और भारतवर्ष के I. C. S. असिस्टैण्ट कलक्टर की तनख़्वाह ५००) रु० माहवार से शुरू होती है। और सहस्रों तक पहुचती है। और तुर्रा यह है कि इम्तहान में जिन का सबसे अव्वल नम्बर होता है वे ८। १० प्रति वर्ष यहीं की सिविल सर्विस में रह जाते हैं। बाक़ी हिन्दुस्तान को भेजे जाते हैं। यहाँ उनको क्लार्क कहते हैं। और उनकी कोई इज़्ज़त नहीं। और हिन्दुस्तान में वे "ज़िला मालिक" हैं जिन्हें बड़े बड़े लोग सलाम करते हैं। हमें पिछले साल मध्य प्रान्त की पुलिस का एक सुप्रिन्टेन्डेन्ट जो घर छुट्टी पर आया हुआ था एक स्टेशन पर मिला। वह हम से खुद ही बातें करने लगा। बोला कि मैं उस महकमे में हूँ जो ख़ूब "बदनाम है"। कुछ देर के बाद उस ने कहा I am longing to go back to my Raj अर्था मुझे अपने 'राज' को लौटने की बड़ी उत्कण्ठा है। यहां मुझे कोई नहीं पूछता। और मध्य-भारत (C. P.) मेरे इलाके में मैं 'राजा' से भी बढ़ कर था। फ़लाने राजा के दो हाथी मेरी सेवा में उपस्थित रहते थे। क्या शिकार खेलता था! क्या ऐश्वर्य था! यहाँ मुझे कोई सलाम करनेवाला भी नहीं प्रभुत्व तो किनारे रहा। हमने इस निर्वासित "राजा" से सहानुभूति प्रकट की!

यहाँ प्रायः सभी प्रकार के मज़दूर और शिल्पी लोगों के अपने अपने 'सङ्घ' (Unions) होते हैं, जिनके द्वारा वे अपना हित साधन करते हैं। हड़ताल इत्यादि करने का मन्तव्य उन्हींके द्वारा होता है। अब तक पुलिसवालों का कोई 'सङ्घ' वा समिति नहीं थी जिस के द्वारा वे अपने दुख दूर करें वा हितचिन्तन करें। पी. सी. थियेल (P. C. Thiel) नाम के एक पुलिस-कानिस्टबल ने (Police Union) पुलिस युनियन स्थापित करने के अभिप्राय से चन्दा जमा करना शुरू किया। सरकार ने कहा पुलिस-वालों का 'सङ्घ'। युनियन क़ानून की दृष्टि में असङ्गत है। पुलिस को ऐसी बला से क्या मतलब? अतएव पुलिस के कमिश्नर सर एडवर्ड हेनरी की आज्ञानुसार मि० थियल, कानिस्टबल बरख़ास्त कर दिया गया। यही इस हड़ताल का असली मूल कारण था। सब पुलिसवालों ने एका कर कहा कि जब तक "थियल" फिर अपनी नौकरी पर वापस न ले लिया जाय और हमारी तनख़्वाह न बढ़ा दी जाय हम काम पर नहीं लगेंगे। इस हड़ताल के दिन पुलिसवालों की कई सभायें और व्याख्यान हुए। हड़तालियों की एक बड़ी भीड़ प्रधान मन्त्री के मकान पर अपनी पुकार लेकर पहुँची। यहाँ घोड़सवार फ़ौजी सिपाही विद्रोह (बग़ावत) रोकने के लिए लाये गये थे। इस हड़ताल और पुकार का परिणाम यह हुआ कि पुलिस-वालों की तनख़्वाह बढ़ा दी गई। इनके नेता कानिस्टबल 'थियल' महाशय गौरव के साथ विजय-पताका फहराते हुए अपनी नौकरी पर वापस पहुँचे। और उनकी कार्य-वाही (समिति के लिए चन्दा जमा करना) न्यायसङ्गत मानी गई। और यह भी निर्णय हुआ कि पुलिसवाले अपनी पुकार सरकार तक पहुँचाने के लिए अपनी समिति 'सङ्घ' बनावें और उसके नियम अन्य शिल्पीय संस्थाओं के हों। इस सबके विरोधी पुलिस के कमिश्नर ने इस्तेफ़ा दिया! क्योंकि उनकी हार और एक छोटे हड़ताली कानिस्टबल थियल की जीत हुई।

मुकुन्दीलाल
आक्सफ़र्ड, इँगलैंड

कृष्णचरित।

घनघोर घटा से घिरी हुई भादों की काली रात है। चारों ओर भयावना जङ्गल है। सिंह दहाड़ रहे हैं, हाथी चिंघाड़ रहे हैं। ऊपर मेघों के झुण्ड के झुण्ड बारम्बार गरज रहे हैं। अन्धाधुन्ध अन्धकार के बीच बीच में बिजली की चकाचौंध और भी अँधियाला बना देती है। जल मूसलाधार गिर रहा है। यमुना जी की नीली नीली लहरें चट्टानों से टकरा कर कलोलें मारती हुई बराबर बढ़ती चली आती हैं। ऐसे भीषण समय में एक पुरुष एक ज़रा से बच्चे को ऊपर उठाये हुए नदी को पैदल पार कर रहा है। बच्चा अभी एक दिन का भी नहीं है परन्तु उसके जीवन पर सारे संसार का मङ्गल स्थित है, और उसके जन्म की बाट सारे संसार के हितू देवता और महात्मागण बड़े विलम्ब से जोह रहे हैं।

कई हज़ार वर्षों की बात है। पृथ्वी पर कराल कलिकाल आ रहा है। मनुष्य क्षीण और दुर्बल हो गये हैं। उनकी आत्मा में बल नहीं है, उनके मस्तिष्क में शक्ति नहीं है। पहले के बड़े बड़े नेता और महापुरुष--महाराज मनु, मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र, पृथ्वीनाथ पृथु, देवर्षि नारद ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य, राजर्षि जनक, और भक्तशिरोमणि प्रह्लाद--आदि एक भी अब ढूँढ़ने से नहीं मिलते। धर्म की जड़ें ढीली पड़ गई हैं। परमात्मा में विश्वास उठा जा रहा है। परोपकार की प्रेरणायें इनेगिने ही चित्तों में उठती हैं। लोग अपने अपने ही भले में मग्न हैं। स्वार्थ और सुख ही को उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है। विलास और आनन्द ही सुख की सीमा मानी जा रही है। मनुष्य मात्र की प्रकृति शिथिल पड़ गई है।

जब किसी देश की अधिक आर्थिक उन्नति होती है, तब उसकी ऐसी ही दशा होती है। भारत में इस समय प्रत्यक्षरूप से किसी बात का अभाव नहीं है। देश धन से, बल से, विद्या से परिपूर्ण है। परन्तु यदि सच्ची दृष्टि से देखिए, तो उसकी इससे अधम अवस्था और नहीं हो सकती। भीतर ही भीतर अश्रद्धा, अविश्वास, अहङ्कार और औद्धत्य के चूहे सारे शरीर को खा गये हैं। केवल देखने भर ही को वह खोखला शरीर बाहर से सुन्दर स्वरूप में खड़ा हुआ है। न उसमें आत्म-बल है, न आत्म-विश्वास है। आत्मा के स्थान में कोरा मन ही मन है।

देश में बड़े बड़े राजा हैं, बड़े बड़े राज्य हैं। कुरु, पाञ्चाल, मगध, मत्स्य, मद्र, चेदि, विदर्भ, भोज, केकय, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, उत्कल, पाण्ड्य, चोल, अन्ध्र, द्रविड़, सिन्धु, बाह्लीक, त्रिगर्त्त, काश्मीर, शाल्व, शाकल, गान्धार--आदि एक से एक शक्तिशाली राज्य स्थित हैं। काशी, अयोध्या, मथुरा, माहिष्मती, प्रस्थल, प्रयाग, प्राग्ज्योतिष, कुण्डिनपुर, शोणितपुर, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, गिरिव्रज, चम्पा, काम्पिल्या--आदि एक से एक समृद्धिशाली नगर उपस्थित हैं। भीष्म, द्रोण, द्रुपद, विराट, कंस, जरासन्ध, हंस, डिम्भक, शल्य, शाल्व, भीष्मक, पाण्ड्य--आदि अनेकानेक वीर और यशस्वी योद्धा वर्तमान हैं। किरात, काम्बोज, शक, हूण, चीन, बर्बर आदि अनेक म्लेच्छ देश उनके बाहुबल को स्वीकार कर चुके हैं, तथा अधीनता मानते और सहायता अर्पण करते आते हैं। सेनाओं की अक्षोहिणी की अक्षोहिणी चलती हैं। अद्भुत अद्भुत अस्त्रों का प्रहार होता है। सब प्रकार के सांसारिक पदार्थ भरे हुए हैं। देश सभ्यता के शिखर पर स्थित है।

परन्तु वास्तव में क्या है? ऐक्यता का नाम नहीं। एक राजा दूसरे से लड़ा मरता है। इधर कुरु और पाञ्चाल में वैर है, तो उधर मत्स्यों और त्रिगर्त्तों में। केकय आदि कई देशों में परस्पर का विरोध है। प्रजा की दशा दिन पर दिन शोचनीय होती चली जाती है। कंस, जरासन्ध सरीखे राजा लोग खुल्लमखुल्ला अत्याचार करते हैं, दूसरे चुरा छिपा कर। धींगा धींगी और मन-मानी चल रही है। कोई शासकशक्ति या समूह नहीं है जो प्रजा की रक्षा और देश का भला करे।

प्रजा में स्वयं कुछ शारीरिक अथवा आध्यात्मिक शक्ति नहीं है। उसकी आध्यात्मिक अवस्था तो अथाह सागर में ग़ोते खा रही है। प्राचीन कर्मकाण्ड निरा आडम्बर से पूर्ण हो गया है। पुराने दर्शन और शास्त्र का साधारण जन-समाज पर अब कुछ प्रभाव नहीं पड़ रहा है। मनुष्यमात्र अपने लक्ष्य, अपने आदर्श को भूला जा रहा है। जो

स्मरण भी करते हैं, उन्होंने भी नैराश्य साधारण कर लिया है। देश की सत्ता का नाश होने से भविष्य भयावने रूप का हो गया है।

ऐसी दशा में, ठीक अर्द्ध रात्रि के समय, उस जाज्वल्यमान ज्योति का जन्म हुआ, जो सर्वकाल से स्थिर है और सर्वकाल तक स्थिर रहेगी। उसी ज्योति की जगमगाहट के एक कण मात्र प्रकाश का आज यहाँ पर थोड़ा बहुत दर्शन करना है।

हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम उन क्षुद्र लोगों की बातों पर यहाँ ध्यान दें, जो इस दिव्य जीवन को जानने और समझने के स्थान में उसकी व्यर्थ की बुराइयों का पाप अपनी मूर्खता दिखाते हुए अपने मत्थे मढ़ते हैं। कृष्ण का जीवन जितना उच्च है, उतना ही कुछ लोग उसे नीच करने का प्रयत्न करते हैं। एक की राय में कृष्ण गुजरात का एक चतुर राजा था, जिसको अन्त में एक बहेलिये ने बधा, परन्तु महाराजा गायकवाड़ में और श्रीकृष्ण में अनन्त अन्तर है। दूसरों की राय में कृष्ण एक धार्मिक नेता थे, जिन्होंने हत्या को उचित बतलाया और भारत में आलस्य का आधिक्य किया। कहना नहीं होगा कि भगवान् कृष्ण की दिव्य शिक्षा से यह लोग मुँह मोड़ कर आँख-कान मूँदे हुए हैं। तीसरे लोगों की घृणित राय में कृष्ण एक मनमौजी गोप-युवक थे जिन पर उन्होंने संसार भर के दोषारोपण किये हैं।

इन मूर्खता के मूर्त्तिमय उदाहरणों का स्मरण करना भी महापाप है। जितना ही छोटा हृदय और छोटा मस्तिष्क होगा, उतने ही छोटे उसके भाव होंगे। 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी।' कुएँ के मेंढ़क को कुएँ से ज़्यादा का ध्यान ही नहीं हो सकता।

स्वयं भगवान् कृष्ण ही को अपने जीवनकाल में बड़ी भारी निन्दा सुननी पड़ी थी। निन्दा की कसौटी पर वह भली भांति कस लिये गये थे। तब उनको संसार ने स्वीकार किया था। युधिष्ठिर के राजसूय में शिशुपाल ने तो जो कहा जा सकता था, कहने में रख नहीं छोड़ा था। वह उनका समकालीन था, सम्बन्धी था, शत्रु था। उनकी रत्ती रत्ती बातों को जानता था। अर्घ्य के अवसर पर जहाँ उसने कहा कि कृष्ण कोई राजा नहीं हैं, उनकी जाति के विषय में सन्देह है, उनको गो, स्त्री और राजा तक की हत्या लगी हुई है, वहाँ उसने कृष्ण के चरित्र पर, जीवन की शुद्धता पर, सदाचरण पर कोई धब्बा नहीं लगाया। यदि उसको कोई भी अवसर मिलता तो जहाँ वह भीष्म को कृष्ण के अर्घ्य का प्रस्ताव करने ही के लिए नपुंसक पुकार चुका था, क्या कृष्ण को इस विषय में 'तिल का ताड़' किये बिना कभी छोड़ देता? महाभारत के अन्त में अश्वत्थामा के अस्त्र से मृतप्राय परीक्षित की जब गर्भ में भगवान् ने रक्षा की थी, तब किस प्रभाव से?

उन्होंने कहा:—''यदि मैंने हँसी में भी कभी झूंठ नहीं कहा है, यदि मैंने युद्ध में भी कभी पीछे पैर नहीं दिया है, यदि मैंने कंस और केशी को धर्मपूर्वक मारा है, यदि मैंने अपने मित्र अर्जुन का कभी स्वप्न में भी विरोध नहीं किया है, यदि धर्म और ब्राह्मणगण मुझको सर्वदा प्यारे रहे हैं, तो यह बालक जीवन को प्राप्त हो।

> यथा सत्यञ्च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
> तथा मृतः शिशुरयं जीवतामभिमन्युजः॥

'यदि मुझमें सत्य की बराबर प्रतिष्ठा है, धर्म की बराबर प्रतिष्ठा है, तो यह मृत बालक अभिमन्यु का पुत्र जीवन को प्राप्त हो।'

तप और तेज की शक्ति से क्या नहीं हो सकता? तामसिक दिवस में चाहे जितना अन्धकार प्रतीत हो, परन्तु उस अनुपम आत्म-ज्योति ही से प्रकृति में प्रकाश होता है। श्रीकृष्ण के इस कर्म के समान हमारे महर्षियों के अनेक उदाहरण वर्तमान हैं। इससे उसमें कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु, वैसे देखिए तो भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन ही आश्चर्यमय है। भागवत धर्म के प्रवाह से भारतवर्ष में जो भक्ति की अपूर्व धारा बही है, उसमें जिस भक्त को देखिए वही उनके उस चरित्र को स्मरण कर आश्चर्य से गद्गद और आनन्द से विह्वल हो जाता है। इतना ही नहीं, उसमें भी एक अलौकिक भाव का आवेश हो जाता है। हम लोगों को कृष्ण का वह पुण्यमय चरित्र दो ग्रन्थों से प्राप्त होता है:—भागवत और महाभारत। भागवत भक्ति का आगार है, महाभारत ज्ञान का भाण्डार। भागवत परमहंस का कहा हुआ पुराण है, महाभारत वेदव्यास का बनाया हुआ इतिहास है। कृष्ण का चरित्र महाभारत

से पूरी पूरी तौर से प्राप्त होता है। उसके पढ़ने से सारी सामयिक अवस्था का चित्र सामने आ जाता है; और कृष्ण का प्रभाव, आदर्श-जीवन और अनमोल उपदेश नई नई भाँति से स्थान स्थान पर प्रकट होता चला जाता है। भागवत में उस दिव्य चरित्र को शुकदेवजी ने भक्ति के सागर में मग्न होकर देखा और वर्णन किया है। वह बहुत ही सीधा सादा, भोला, विश्वासमय वर्णन है। आदि से अन्त तक पवित्रता के भाव से, रस से भरा हुआ है। परन्तु अनेक कलिकाल के कवियों ने उस पर मनमाने छन्द और कवित्त गढ़ गढ़ कर उसको नीच कर डालने की कोशिश की है। अनेक स्वार्थी पुरुषों ने भक्तगण को बहलाने और धोखा देने के लिए उस पवित्र भक्ति-क्षेत्र को घोर प्रकार से दूषित किया है। यदि किसी को सुवर्ण दिया जाय, और वह उससे परोपकार के स्थान में दुष्टता ही की वृद्धि करावे, तो यह उसका दोष है या सुवर्ण का? यदि शैतान को भी इंजील पढ़ाई जाय, और वह उससे भी अपना ही मतलब निकाले, तो यह शैतान का दोष है या इंजील का? कहा है, "पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्।" भुजङ्ग को दूध पिलाने से उसके विष ही की बढ़ती होती है। ऐसे ऐसे ही भयावने भुजङ्ग-भक्तों ने भारतवर्ष में अपना विष फैलाया है। यदि ऐसा न होता, तो धर्म के नाम से इतने अधर्मी पाप क्यों फैलाते फिरते?

कृष्ण का चरित्र! संसार में उससे बढ़ कर दूसरा चरित्र नहीं है। बुद्ध, ईसा आदि सारे हमारी दृष्टि में उसके पीछे ही आते हैं। परन्तु कलङ्क किसको नहीं छूता? कलङ्क कृष्ण को भी लगा था। सत्राजित की सूर्य-मणि के बारे में इनके सारे कुटुम्बियों ने उन पर सन्देह किया था, यहाँ तक कि उनके दूसरे शरीर, दूसरे-हृदय, बड़े भाई बलराम भी उनसे रूठ कर द्वारका छोड़ बैठे थे। परन्तु असत्य असत्य ही है, सत्य सत्य ही। तब कलङ्क का नाम सुनते ही किसी को यकायक घबड़ा उठना न चाहिए, परन्तु उसकी पूरी जाँच करनी चाहिए, जैसी कृष्ण ने प्रसेन की मृत्यु की की थी।

संसारिक भाव लीजिये। कृष्ण क्या नहीं थे? पहले दर्जे के राजनीतिज्ञ—'न कूटनीतिरभवत् श्रीकृष्ण-सदृशः पुरा।' शुक्राचार्यजी कह गये हैं कि श्रीकृष्ण के समान नीति में चतुर कोई नहीं हुआ (इसका तो उनको जन्मजन्मान्तर का अनुभव होगा) महावीरों के महावीर

'अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं भुवि॥
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा॥'

भीष्म पितामह ने राजसूय में एकत्र हुए राजाओं से कहा था कि मैं तुममें से एक को भी नहीं देखता हूँ जिसको श्रीकृष्ण के तेज ने विजय न किया हो। अस्त्रों में श्रेष्ठ उनके चक्र सुदर्शन को जब द्वारिका में जाकर अश्वत्थामा ने उनसे माँगा था, और उनके आज्ञा देने पर भी वह पृथ्वी से उसको नहीं उठा सका था, तो उसने उनको यही उत्तर दिया था:—'हे कृष्ण! तुम सच कहते हो। इस तुम्हारे अस्त्र को तुमसे तुम्हारे मित्र अर्जुन, भाई बलराम, पुत्र प्रद्युम्न आदि किसीने भी कभी नहीं माँगा था, यह मैं जानता हूँ। परन्तु मेरी इच्छा थी कि मैं इसको लेकर तुम्हारे ही साथ युद्ध करूँ जिससे मैं फिर अजेय हो जाऊँ। तुम्हारे सिवा मुझको और किसी से भय नहीं है।' महाभारत-सङ्ग्राम में कौरवों के एक मात्र आधार महावीर कर्ण ने अपने अर्जुन के मारने के प्रण को अलग रख कर कृष्ण ही के वध के लिये इन्द्र की दी हुई शक्ति का प्रयोग करना विचारा था, और देवव्रत भीष्म ने उनकी शस्त्र-ग्रहण की प्रतिज्ञा का भङ्ग कर देना ही अपने पौरुष का लक्ष्य स्थिर किया था।

जहाँ वह नीति में, और वीरता में, बुद्धि में और बल में, संसार में अग्रणी थे, वहाँ उनकी विद्या और उनका सदाचार भी निराला ही था। राजसूय के अवसर पर जब भारत भर के राजा लोग इन्द्रप्रस्थ में एकत्र हुए थे, भगवान् कृष्ण पैर धोने के लिए नियुक्त किये जाने में नहीं शरमाये—नहीं, नहीं, अपने आप को ही उन्होंने नियुक्त किया। अर्घ्य के अवसर पर कुरुवृद्ध भीष्म पितामह ने उनका वर्णन यों किया:—

'ब्राह्मणों में ज्ञान से बड़ाई होती है, क्षत्रियों में बल से। गोविन्द की पूजा के दोनों कारण उपस्थित हैं।'

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलञ्चाप्यधिकं तथा॥
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥

वेदवेदाङ्ग और विज्ञान में अधिक होने से और बल में भी अधिक होने से मनुष्यों के लोक में केशव को छोड़ कर दूसरा ऐसा कौन है जो विशिष्ट कहा जाय?

'दान, दाक्षिण्य, श्रुत, वीर्य, लज्जा, कीर्त्ति, बुद्धि सन्तति, श्री, धृति, तुष्टि, पुष्टि सब अच्युत ही में स्थित हैं।'

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः ।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन ॥

कमल-दल के से नेत्रोंवाले कृष्ण की जो पुरुष पूजा न करेंगे, वे जीवन्मृत जानने चाहिएं। और उनसे बात न करनी चाहिए।

केवल यही नहीं, वे सङ्गीत-विद्या में निपुण थे—मुरली-मनोहर उनका नाम है। वे रास में कुशल थे—उनका नटवरवेष मशहूर है। वे कविता में अद्वितीय थे। उनके दिव्यगीत-भगवद्गीता की तरङ्गें अनन्त समय तक उठेंगी। पौरुष का कोई अङ्ग नहीं दिखलाई पड़ता, जिसको उन्हों ने पूर्ण न किया हो। जङ्गली जानवरों को मार कर, नागों को नाथ कर, पहाड़ों को हटा कर, उन्होंने अपना बचपन वृन्दावन की आनन्दमयी भूमि में खेल कूद कर बिताया। सब स्त्री-पुरुष उन पर मुग्ध हो गये। यदि इस काल में उनके भोले भाले प्रेममय चरित्र पर ज़रा भी लाञ्छन लग सकता, तो क्या गोकुल, बरसाना, नन्दगांव आदि के गोप-गण चुपके बैठे बैठे सब सहा करते? कदापि नहीं। यही लोग कृष्ण के पक्के अनुयायी थे। कृष्ण के गोपाल-गण नेपोलियन के Old Guard की भांति अजेय थे। दुर्योधन उनको पाकर फूल उठा था, और उन्होंने दान दिये जाने पर संशप्तकों का साथ देकर अनेक अमूल्य दिवसों तक कृष्ण के मित्र, कृष्ण के रथी, उस समय के अनन्य वीर अर्जुन के दांत खट्टे कर दिये थे।

बाल्यकाल से निकल कर कृष्ण ने अपने कौशल और पराक्रम से अत्याचारी कंस का नाश किया, भोज वंश के पुराने राजा उग्रसेन को सिंहासन पर फिर से बिठलाया, मगधराज जरासन्ध को बारम्बार हराया, और अन्त में समुद्र-तट पर जाकर एक नई पुरी 'द्वारिका', जो भारतवर्ष का द्वार थी, बनाई। द्वारिका से श्रीकृष्ण का प्रभाव भारतवर्ष भर में फैल गया।

भारतवर्ष को कृष्ण ने जैसा पाया, पहले वर्णन कर चुके हैं। चारों ओर उद्दण्ड राजा लोगों का ज़ोर था। उनकी उद्धत सेनायें क्षत्रियत्व की सची शिक्षा को, सच्चे धर्म को, कभी की तिलाञ्जलि दे चुकी थीं। देश रसातल को जा रहा था। श्रीकृष्ण ने पहले अनार्यों पर आक्रमण किया। उत्तर में नरक और दक्षिण में बाण—यही दोनों उन लोगों में उस समय विशेष बलशाली थे। कृष्ण ने उत्तर जाकर नरक का उसके देश प्राग्ज्योतिष (भूटान) में बध किया। फिर दक्षिण में उन्होंने बाण को हरा कर उसकी कन्या ऊषा का विवाह अपने पोते अनिरुद्ध के साथ होने दिया। उनके पुत्र प्रद्युम्न का भी विवाह मायावती से हुआ था, जो अनार्य असुर शम्बर ही के अधिकृत देश में प्रकट हुई थी। शम्बर का नाश प्रद्युम्न ने स्वयं किया था और यह शम्बर छल के लिए अकेला ही था। शाम्बरी माया अब तक प्रसिद्ध है।

परन्तु क्रूर अनार्य लोगों का बल इस समय बहुत क्षीण अवस्था में था। असली डर तो देश को अनार्य प्रकृति-वाले आर्य राजाओं ही से था। नरक ने हज़ारों कन्याएँ अपने क़िले में क़ैद कर रक्खीं थीं। (कृष्ण के सोलह हज़ार कन्याओं के साथ विवाह करने की कथा महाभारत में नहीं मिलती) परन्तु जरासन्ध ने, जो मगध का चन्द्रवंशी राजा था, छियासी राजाओं को (भागवत में यह 'अयुते द्वे शतान्यष्टौ' कहे गये हैं) जीत कर पहाड़ की गुफा में क़ैद कर रक्खा था, कि अगर वह सौ राजाओं को जमा कर ले, तो उन सब का बलिदान शिवजी को कर देगा। साथ ही साथ जरासन्ध ब्राह्मणों का भी बड़ा भक्त था, और स्नातकों की सर्वदा सहायता करता था, तथा ब्राह्मणों से आधी रात तक भी मिलता था, और उनसे किसी बात की नाहीं नहीं करता था, यह उसके चरित्र से प्रकट है। जरासन्ध के डर से दूसरे सब राजा लोग कांपते थे, परन्तु अकेले उसमें भारत भर को एक कर लेने की बुद्धि नहीं थी। यह थी शिशुपाल में। जिस प्रकार शरीर के भीतर का सारा अशुद्ध रुधिर जमा होकर एक फोड़ा निकल आवे, उसी प्रकार सारे दुष्ट लोगों का शिरोमणि मूर्त्तिमान् शिशुपाल था। हिरण्यकशिपु कोरा दैत्य था। रावण वेद का टीकाकार, ब्राह्मण का बेटा था, जो संसर्गदोष से राक्षस होकर मनुष्य-समाज से पतित हो गया था। परन्तु शिशुपाल चलता फिरता पक्का मनुष्य था; न राक्षस, न दैत्य। मनुष्य ही नहीं, कृष्ण का सम्बन्धी, वसुदेव की बहन का लड़का, चेदियों का शासक, माहिष्मती का महाराज था। उसने जो षड़यन्त्र रचा, उससे भारतवर्ष अत्याचार के अथाह सागर में अनन्तकाल के लिए डूब जाता। उसके प्रयत्न से पौण्ड्रक, भगदत्त, दन्तवक्र, रुक्म आदि अनेक राजा लोग जरासन्ध के पक्ष के हो गये, और उसको भारत का अधीश्वर मानने

में सङ्कोच न करने लगे। यहाँ तक कि स्वयं रुक्मिणी के पिता, श्रीकृष्ण के श्वसुर, विदर्भ ऐसे बड़े राज्य के अधिष्ठाता, महाराज भीष्मक भी जरासन्ध ही के दल के हो गये। ऐसी अवस्था में श्रीकृष्ण को यदि भारतवर्ष का उद्धार करना था, तो बहुत शीघ्र। उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने का उपदेश कर भीम के द्वारा जरासन्ध का कौशल से नाश करवाया। और शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा करने पर भी अपनी प्रकृति की प्रेरणा से वह स्वयं उनकी तेजोऽग्नि में पतङ्ग की भाँति कूद पड़ा। इसके पीछे जब श्रीकृष्ण ने देखा कि कौरव लोग भी किसी प्रकार सुधरनेवाले नहीं हैं, अव्वल दर्जे के अधर्मी और दुराचारी हैं, जिनके प्रचण्ड पाप-पूर्ण प्रताप के आगे भीष्म और द्रोण ऐसे बड़े बड़े विश्वविजयी सरदारों को, विदुर और सञ्जय ऐसे बड़े बड़े राजनीति-विशारद राजवल्लभ महामन्त्रियों को, चुपचाप सिर झुकाये भरी सभा में शकुनि के कपट-द्यूत और द्रौपदी के चीर-हरण सदृश दारुण दृश्यों को विवश होकर देखना पड़ा था, तो उन्होंने महाभारत को भी रोकना पसन्द नहीं किया। और उस अथाह सङ्ग्राम-रूपी सागर में भारत भर का क्षत्रियत्व गोता खा गया। श्रीकृष्ण ने देश के कल्याण के लिए सारा पक्षपात छोड़ कर जिस प्रकार पाण्डवों से कौरवों का वध कराया था, उसी प्रकार अपने उद्दण्ड कुटुम्ब का स्वयं नाश किया। धर्मराज युधिष्ठिर के राज्य मार्ग में देश-हित की कोई बाधा न खड़ी होने दी। यदि पृथ्वी पर कलि-काल को आना था, तो श्रीकृष्ण ने पुरानी सारी बुराइयों को दूर कर, दूषित रुधिर को रुधिर ही की धारा द्वारा बहा कर, मनुष्यों को फिर एक नया अवसर दिया कि वे सुधरे रहें, और कलि के फन्दे में न फँसे। इस अवसर से पूरा लाभ न उठाने का दोष, शिथिलता और मानसिक दौर्बल्य से अधोगति ही को प्राप्त होने का दोष, श्रीकृष्ण पर नहीं है, मनुष्य-मात्र ही पर है।

कहा जाता है कि महाभारत करवा कर श्रीकृष्ण ने भारतवर्ष के पौरुष का नाश कर दिया, और उसकी स्वाधीनता का लोप करा दिया। यह बिल्कुल ठीक नहीं है। जब परशुराम ने इक्कीस बार ढूँढ़ ढूँढ़ कर क्षत्रियों को मारा था, तब भी क्षत्रियों का लोप नहीं हुआ था। बहुत से कुलों के बहुत से बालक बच गये थे, जिनके नाम पूर्ण रूप से महाभारत में मिलेंगे, जिनसे उनके वंश फिर चले और कुरुक्षेत्र में अट्ठारह अक्षौहिणी आकर जमा होगई। महाभारत के अश्वमेध-पर्व को पढ़ने से मालूम हो जायगा कि महाभारत के पीछे भी अनेक क्षत्रिय घराने विद्यमान थे। महाराज युधिष्ठिर ने अर्जुन को साफ़ आज्ञा दे दी थी कि जो कोई महाभारत में मारा गया हो, उसके किसी सम्बन्धी को तुम अब मत मारना। महाभारत के बाद क्षत्रियों का लोप नहीं हुआ, पर कमज़ोरी कुछ समय तक अवश्य हुई। कुछ भी हो, क्या पठानों से लड़ने के लिए पृथ्वीराज और जयचन्द के पास क्षत्रियों की कमी थी? कमी थी तो न राजाओं की, न रजपूतों की; पर दूसरी ही बात की, जिसकी शिक्षा उनको श्रीकृष्ण भारत के इतिहास में काफ़ी तौर पर दे गये थे, यदि उनमें उससे लाभ उठाने की बुद्धि होती।

सच तो यह है कि जिस प्रकार परशुराम से नाश होने के बाद मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र का चरित्र देख कर भारतवर्ष ने फिर से बल धारण कर लिया था, उसी प्रकार महाभारत के बाद भगवान् श्रीकृष्ण के आदर्श से उसने फिर वृद्धि नहीं की। यह कलि के प्रभाव और मनुष्यों की दुर्बलता का परिणाम है। व्यर्थ श्रीकृष्ण पर इसका दोष लगाना वृथा है। उन्होंने एक सिरे से एक बार फिर देश को नया कर दिया। धर्मराज स्थापित कर, धर्म का उपदेश कर, स्वयं धर्म का मार्ग बतला दिया। यदि संसार ने श्रीकृष्ण के उस सरलातिसरल धर्ममार्ग तथा कर्ममार्ग से लाभ नहीं उठाया, तो संसार का दोष है, श्रीकृष्ण का नहीं।

श्रीकृष्ण ने धर्म का क्या मार्ग बतलाया—इस प्रश्न का उत्तर देना श्रीकृष्ण के जीवन के सच्चे तात्पर्य को जान लेना है। उपनिषदों में जिनको 'कृष्ण देवकीपुत्र' कहा है, यह वही थे जिन्होंने एक बेर कलिकाल में ग़ोता खाते हुए, आलस्य और विलासिता में डूबते हुए, मनुष्यों की आत्मा को फिर से नया कर देना चाहा। उनका उपदेश ऐसा था कि वह मुर्दे से भी मुर्दे मनुष्य को एक बार जीता जागता बना कर ही छोड़े। यह उपदेश भगवद् गीता है—भगवान का गीत।

गीता संसार-साहित्य में एक अपूर्व पुस्तक है। उसके कई भाव महाभारत में श्रीकृष्ण के मुख से जगह जगह

पर निकले हैं, परन्तु जिस स्थान पर गीता स्वयं कही गई है, वह अद्वितीय है। गीता उससे अमर है।

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्र लड़ने के लिए तैयार शस्त्र उठाये हुए कौरवों और पाण्डवों की अट्ठारह अक्षौहिणियों के बीच में एक अकेला रथ खड़ा हुआ है। सारा युद्ध ठहर गया है। वह रथ अर्जुन का है, और यह भगवान् कृष्ण अपना दिव्यगीत—नर को नारायण का सन्देश—कह रहे हैं, जिसको पान करने के लिए सब लोग चित्र लिखे से हो रहे हैं, और आगे भी होते रहेंगे।

अर्जुन की अवस्था प्रत्येक मनुष्य की अवस्था है। मनुष्य के जीवन-क्षेत्र में अनेक स्थानों पर कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं, मार्ग साफ़ नहीं मालूम देता। एक धर्म कहता है यह मत करो। दूसरा कहता है वह अवश्य करो। तब मनुष्य चकरा कर निराश हो जाता है कि वह किस प्रकार तै करे कि उसका कर्तव्य क्या है? गीता इसी का प्रत्यक्ष उत्तर है।

गीता का ज्ञान अनन्त है। उस पर भारतवर्ष के बड़े बड़े विद्वानों ने टीकायें लिखी हैं। उसके बिना श्रीकृष्ण के जीवन के उद्देश्य ही को निष्फल समझना चाहिए, इसलिए यहाँ पर उसका कम से कम सारांश ही कह देना आवश्यक है।

भगवान ने कहा है कि मनुष्य को व्यर्थ का सोच न करना चाहिए। वह कभी नहीं मरता अथवा नाश होता—फिर सोच काहे का? दुःख और क्लेश उसको ज़रा भी नहीं व्याप्त होते। मनुष्य की आत्मा का नाश नहीं होता। उसका जीवन अनन्त है। प्रत्यक्ष में वह संसार में मर जाता है, परन्तु असल में बराबर जीता रहता है। मनुष्य को चाहिए कि वह इसी असल अवस्था में हमेशा रहे, इस संसार के जीवन को ही अपना असली जीवन न मान बैठे। प्रश्न यह है कि उस सच्चे असली जीवन को मनुष्य किस प्रकार प्राप्त हो सकता है, (क्योंकि वही मोक्ष, कल्याण, निर्वाण है) देखना चाहिए कि वह सच्चा जीवन इस संसार का झूठा जीवन कैसे हो जाता है?

श्रीकृष्ण कहते हैं:—माया के सबब से। माया कैसे पैदा होती है? कर्मों से। मनुष्य कर्म करता है, उसका फल होता है। उन फलों को वह भोगता है। दुख सुख जो कुछ हो, उसे भोगना होता है। वह अपना समय इस झूठे स्वर्ग-नरक संसार में बिताता फिरता है। इसी से इस माया का, इस झूठे संसार का, और इस झूठे जीवन का अन्त नहीं होता। यदि माया छूट जाय, तो इससे भी छुटकारा मिल जाय और मोक्ष हो जाय।

माया कैसे छूट सकती है? श्रीकृष्ण ने कहा है कि कर्मों से। कर्मों ही से वह पैदा होती है, और कर्मों ही से वह नाश भी होती है। पर कैसे कर्मों से?—निष्काम कर्म से। यही श्रीकृष्ण का उपदेश है। कर्म करो, बराबर कर्म करो, परन्तु कैसे कर्म?—निष्काम (इच्छा-रहित, स्वार्थ-रहित, वासना-रहित कर्म) इन कर्मों का कुछ फल नहीं होता, क्योंकि वह फल की कामना से नहीं किये गये हैं। उनका फल तुम्हारे लिए नहीं होगा, दूसरों के लिए होगा। सङ्ग्राम में सिपाही युद्ध करते हैं, शत्रुओं को मारते हैं। क्यों? सेनापति की आज्ञा से। अपनी इच्छा से नहीं। उनका कर्म निष्काम है। उसका पाप-पुण्य उनको नहीं लग सकता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को ईश्वर का सिपाही होना चाहिए। जो कुछ ईश्वर करावे, आँख बन्द कर निष्काम करना चाहिए। ईश्वर को प्रिय भले काम होते हैं। उनको मनुष्य करे, परन्तु कामना छोड़ करके। परिणाम यह होगा कि उसको उन कर्मों का कुछ फल न होगा। वह कामना से धीरे धीरे रहित हो जायगा। स्वर्ग-नरक के चक्रव्यूह से छूट जायगा। माया उसको छोड़ देगी। यह झूठा जीवन भी छूट जायगा। उसका मोक्ष हो जायगा और वह सच्चे जीवन को प्राप्त होगा, क्योंकि उसका नाश तो हो ही नहीं सकता।

मोक्ष को मनुष्य बहुत कठिन समझते थे कि कहीं करोड़ों जन्म-जन्मान्तरों में जाकर प्राप्त होगा, परन्तु इससे सीधा रास्ता और क्या हो सकता है? बुद्धि के अनुसार भी यह बिल्कुल ठीक है। निष्काम कर्म ही मोक्ष का सीधा सरल रास्ता है। यही भगवान् की शिक्षा है। कलिकाल में सीधा रास्ता बतलाये जाने की ज़रूरत थी। इसी लिए भगवान् का अवतार हुआ था।

माया नाश करने के और भी रास्ते हैं। भक्ति, ज्ञान और कर्म श्रीकृष्ण ने तीनों मार्ग दिखलाये हैं। तीनों की प्रशंसा की है, और तीनों का आपस में सम्बन्ध बतलाया है। किस

सीढ़ी से मनुष्य कितनी दूर पहुंचता है और किस मार्ग से उसको कम कठिनाई होती है, यह भगवान् के उपदेश से प्रकट होता है, परन्तु सब से सरल और मार्ग वा सीढ़ी निष्काम कर्म ही की है यह श्रीकृष्ण का सब से बड़ा सन्देश है।

निष्काम कर्म के विषय में श्रीकृष्ण का यह भी उपदेश है। यदि मनुष्य में विद्या है, तो वह संसार से—सब भूतों से—प्रेम करेगा। यदि उसको सब जीवों से प्रेम होगा। तो उसको प्रकृति से प्रेम होगा। यदि प्रकृति से प्रेम होगा, तो प्रकृति की आत्मा से भी होगा, यदि प्रकृति की आत्मा से प्रेम होगा तो वह परमात्मा पर भरोसा रक्खेगा। यदि परमात्मा पर भरोसा रक्खेगा, तो उसके कर्म भी निष्काम होंगे। निष्काम-कर्मों से माया का नाश होगा, भवसागर से मोक्ष होगा, सच्चा-जीवन प्राप्त होगा।

गीता में वे वे भाव हैं, जो सारे संसार को एक करते हैं। मनुष्य-मात्र भगवान् के सामने बराबर है—यही शिक्षा इन श्लोकों की शङ्खध्वनि द्वारा दी गई है। भगवान् ने कहा है:—

"कोई बड़ा दुराचारी भी मेरी अनन्य रूप से सेवा करे, तो उसको साधु मानना चाहिए।"

"जो जो जिस जिस का भक्त होकर श्रद्धा-पूर्वक उसकी पूजा करता है, मैं उसी में उसकी भक्ति को दृढ़ करता हूँ।"

"देवताओं की भक्ति करनेवाले देवलोक को जाते हैं, पितरों की भक्ति करनेवाले पितृलोक को, भूतों की भूतों के लोक को और मेरी पूजा करनेवाले मेरे लोक को।"

"पत्र पुष्प, फल जल, जो कुछ मुझको भक्ति-पूर्वक दिया जाय, वही मैं प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण करता हूँ"—जैसे, सुदामा के चावल या विदुर का साग।

"जो मेरी जिस प्रकार सेवा करते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ। सारे मनुष्य मेरे ही मार्ग में लगे हुए हैं।"

"जो अपने ही समान सबको एक सा देखता है, सुख-दुख सब को बराबर समझता है, वही योगी है।"

"मुझसे परे और कुछ नहीं है। जो करते हो, खाते हो, देते हो, यज्ञ करते हो, तप करते हो, सब मुझ को अर्पण करो।"

संसार के इतिहास में वेद को छोड़ गीता ही परम पुरानी पुस्तक है, जिसमें साफ़ साफ़, सबसे प्रथम, परमेश्वर द्वारा अपना पथ प्रकट किया जाना वर्णित है। गीता से बढ़ कर हितकर उपदेश संसार को कहां मिलता है?

यदि सारे संसार ने भगवद्गीता से पहले पूरा लाभ नहीं उठाया, तो अब उठाने को तैयार हो रहा है। धीरे धीरे पूर्व, पश्चिम, योरप, अमेरिका, चारों ओर इस अमूल्य रत्न का प्रकाश फैल रहा है, और मनुष्य-मात्र अपने सच्चे जीवन को जान रहा है

हम हिन्दू लोग मानते हैं, और स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"जब जब धर्म का क्षय और अधर्म का अभ्युदय होता है, तब तब हे भारत! मैं अपने को सृजता हूँ।" यह भगवान् का वचन है। जहां मर्यादा-पुरुषोत्तम के दो अक्षर के 'राम' नाम ही को हम परमेश्वर का नाम मानते हैं, वहां कृष्ण को हम कोई विशेष नाम लेकर भी नहीं पुकारते। केवल **'भगवान्'** ही कहते हैं। उनके लिए वही नाम यथार्थ है। भगवान् ही से सब कुछ है।

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

"जहाँ सत्य है, धर्म है, लज्जा है, सीधापन है, वहाँ ही भगवान् पाये जाते हैं। जहाँ भगवान् हैं, वहाँ ही जय होती है।"

भगवान् श्रीकृष्ण ने जय का—संसार-जय का—सीधा, सरल, रास्ता बतलाया है। फिर क्यों न कहें?

यतः कृष्णस्ततो जयः॥

जिसके हृदय में कमलदल-लोचन दुरित-दुख-मोचन वृन्दावन-विहारी भक्त-भयहारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र रहेंगे, उसकी अनन्त विजय होगी, इसमें सन्देह का नाम-मात्र नहीं। हमारा प्रत्येक हिन्दू से, प्रत्येक प्राणी से, यही कहना है:—

"गीता को मत भूलो। श्रीकृष्ण को मत भूलो। निष्काम मार्ग ही से कल्याण है। भगवान् ही से निर्वाण है।"

(प्रोफ़ेसर) शिवाधार पाण्डेय,
(एम० ए०, एल० एल० बी०)

ओस की बूँद ।

ठहरोगी तुम बूँद ओस की, कै घड़ी ?
इतराती हो अहो ! पुष्प पर बैठ के !
छलक रही हो यथा नहीं कुछ भी रहा—
पङ्खड़ियों से प्रेम तथा सम्बन्ध है !
ढुलकावेगा अभी तुम्हें यह छलकना
उस भू पर जिसमें कि सहस्रों मिल गईं ।
बूँदें तुम-सी तथा विशेष बढ़ी चढ़ी
मार्दव, आकृति, गन्ध, चमक में से भला ।
किस पर यह अभिमान ? तनिक हम भी सुनें
यह अनुपम आकार तुम्हें जिसने दिया ।
वही कौतुकी पवन उड़ा देगा अभी
हलकी थपकी एक लगा कर ही तुम्हें !
और चमक यह ? नहीं नहीं, यह कुछ नहीं
जब तक तव सौभाग्य-सूर्य्य का उदय है
तब तक है, फिर वही अँधेरी रात है
सौरभ यह कुछ जो कि अभी है दीखता ।
वह फूलों की धूल लगी है देह में
अरे, पांसुला बनी और यह गर्व है !
यह मार्दव है नहीं किसी भी काम का
सहृदयता या स्नेह नहीं जब नाम को

कृष्णदास

राजकीय शास्त्र ।

संसार में इस समय जो लोग निवास करते हैं और भूत काल में जो लोग निवास करते थे उनको हम, भिन्न भिन्न दृष्टियों, से भिन्न भिन्न प्रकार के वर्गों में विभाजित कर सकते हैं । जाति की दृष्टि से देखिए तो आप कह सकते हैं कि वर्तमान समय में मनुष्य आर्य, मङ्गोलियन, सेमेटिक, हबशी, और मलाय इन पाँच बड़े बड़े वर्गों में और अमरीकन इण्डियन, आस्ट्रेलियन, आदिमवासी अफ्रीकन हाट-

न्टाट इत्यादि अनेक छोटे छोटे वर्गों में विभाजित हैं । प्रत्येक जाति के सब लोग भी बिलकुल एक ही तरह के नहीं हैं । उनमें भी बहुत से भेद हैं । उदाहरणार्थ आर्य जाति को भारतीय, पारसीक, अफ़ग़ान, यूनानी, रोमक, केल्टिक, ट्यूटन, स्लाव आदि आठ दस उपजातियों में विभाजित कर सकते हैं । प्रत्येक उपजाति की भी कई कक्षायें हैं; जैसे ट्यूटनों में जर्मन, डच (हालैंड-देश-वासी), अँगरेज़ और स्काट सम्मिलित हैं; स्लावों में रूसी, पोल (पोलैंड-देशवासी) लिथ्युएनियन, रुथेनियन, जेच (बोहेमिया-प्रदेश-वासियों का एक अंश) सम्मिलित हैं । प्राचीन समय में इनके अलावा और बीसों जातियाँ थीं, जिनका इस समय नाम-निशान भी नहीं है, या जिनके व्यक्तियों की कुछ क़ब्रें, भाषा के कुछ शब्द, धर्म के कुछ सिद्धान्त, रीति-रिवाज़ के कुछ चिह्न मात्र शेष रह गये हैं, या जो क्षीण होते होते अब बहुत थोड़ी रह गई हैं । ऐसी भी बहुत सी जातियाँ उपजातियाँ हैं जो पहले पृथ्वी के किसी और भाग में बसती थीं पर अब दूसरे ही भाग में बसती हैं अथवा जो दो दो या अधिक जातियों या उपजातियों के मिश्रण से बनी हैं । जब कोई विचारशील चैतन्यमनस्क पुरुष इन बातों को सोचता है तब उसके मन में बहुत से प्रश्न उठते हैं । क्या कोई ऐसा भी समय था जब सब मनुष्य एक ही जाति के थे ? भिन्न भिन्न जातियाँ कैसे उत्पन्न हुईं ? नदी, पर्वत, समुद्र, समतल, विषमतल, मरुस्थल, जलवायु आदि भौगोलिक बातें मनुष्य के शरीर की बनावट, रूप, रङ्ग और बल पर, मानसिक शक्तियों पर, सामाजिक सङ्गठन पर, धर्म और रीति-रिवाज़ पर क्या प्रभाव डालती हैं ? किन कारणों से, किस प्रकार से और कैसी परिस्थिति में एक बड़ा समुदाय अनेक छोटे छोटे समुदायों में विभक्त हो जाता है या अनेक छोटे छोटे समुदायों का, मिल कर, एक बड़ा समुदाय बन जाता है ? इस पार्थक्य या मिश्रण का, व्यक्तियों और संस्थाओं पर

क्या प्रभाव पड़ता है ? क्या किसी जाति या उपजाति में कोई विशेष स्वाभाविक गुण होते हैं जो अन्य समुदायों में न तो हैं और न किसी प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं ? सन्तान में गुणों का सङ्क्रमण कैसे होता है ?

इन सब **जाति-सम्बन्धी** प्रश्नों का उत्तर या तो यों ही अटकल से दिया जा सकता है जो सम्भव है सत्य हो, सम्भव है असत्य हो, सम्भव है थोड़ा सत्य और थोड़ा असत्य हो पर जो कभी पूर्णतः विश्वसनीय नहीं हो सकता, या इनका उत्तर **वैज्ञानिक रीति** से दिया जा सकता है जो सत्य घटनाओं के आधार पर स्थिर हो और जो प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष को यदि एकदम विश्वसनीय नहीं तो कम से कम आदरणीय अवश्य जान पड़े। यह वैज्ञानिक रीति क्या है ? जाति-विज्ञानवेत्ता पहले तो जाति-सम्बधी सब तथ्यों (Facts) को सङ्ग्रह करेगा; संसार भर की सभ्य असभ्य सब जातियों के विषय में प्रत्यक्ष निरीक्षण और यात्रियों के वर्णन के द्वारा वर्तमान-घटनाओं का, और इतिहास के द्वारा भूतपूर्व घटनाओं (Facts) का, जितना ज्ञान प्राप्त हो सकता है उतना ज्ञान प्राप्त करेगा। तत्-पश्चात् वह इन घटनाओं की परस्पर तुलना करेगा; समता और विषमता के अनुसार उनका तथा उनकी अधिकारिणी जातियों का वर्गीकरण करेगा। इसके बाद वह पूर्णतः निष्पक्ष रागद्वेष-शून्य भाव से अपनी विचार-शक्ति से काम लेगा और व्यापक नियमों की खोज करेगा। वह अपने निकाले हुए नियमों की, प्रत्यक्ष दृष्टान्तों के द्वारा, बारम्बार परीक्षा करेगा उनमें आवश्यक परिवर्तन करेगा और तब उनको वैज्ञानिकों के सामने या सर्व साधारण के सामने उपस्थित करेगा। वह हठधर्मी कभी न होगा, अपनी भूलों को स्वीकार करने और सुधारने को सदा प्रस्तुत रहेगा। जैसे जैसे नई घटनायें और नई युक्तियाँ उसके सामने आवेंगी वैसे ही वैसे वह पूर्वनिश्चित सिद्धान्तों की पुनः परीक्षा करेगा। यह वैज्ञानिक रीति है। अधिक से अधिक सत्य घटनाओं का सङ्ग्रह, उनकी समता-विषमता का निरीक्षण, उनका वर्गीकरण, वर्गों की परस्पर तुलना, व्यापक नियमों या सिद्धान्तों की स्थापना, स्थापनाओं की परीक्षा ; पूर्ण निष्पक्षता—ये वैज्ञानिक रीति के लक्षण हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में इस प्रणाली का प्रयोग निर्जीव भौतिक बातों का विचार करने में ही नहीं, वनस्पतियों और जन्तुओं का विचार करने में ही नहीं किन्तु मनुष्य-सम्बन्धी बातों का—जाति, धर्म, भाषा, समाज, शासन, क़ानून आदि का—विचार करने में भी किया जाता है। हम अभी देख चुके हैं कि जाति-सम्बन्धी अन्वेषण करने में इस प्रणाली का प्रयोग किस प्रकार होता है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञानवेत्ता भाषा-सम्बन्धी तथ्यों की और समाज-शास्त्री सामाजिक रीति-रिवाज़ संस्था-सम्बन्धी तथ्यों की और राजकीय शास्त्रवेत्ता शासन-सम्बन्धी अथवा राजनीति-सम्बन्धी सब तथ्यों की जाँच पड़ताल, और छानबीन करेगा।

हम देखते हैं कि कुछ थोड़े से अत्यन्त असभ्य आदमियों को छोड़ कर संसार के सब लोग किसी न किसी राजकीय शासन के अधीन हैं, किसी न किसी राजकीय समाज के सभ्य हैं, किसी न किसी राज-कीय शरीर के अङ्ग हैं। पर यह राजकीय शासन, यह राजकीय समाज सब जगह एक ही प्रकार के नहीं किन्तु अनेक अंशों में एक दूसरे से भिन्न हैं। कोई देश स्वतंत्र है, कोई परतन्त्र। कहीं एक वंश परम्परागत राजा के हाथ में बड़े अधिकार हैं, कहीं थोड़े अधिकार हैं, कहीं नाम मात्र के अधिकार हैं और कहीं राजा का अस्तित्व ही नहीं है। कहीं एक विशेष वर्ग ने सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली है और अपने स्वार्थ-परिपोषण के लिए जैसा चाहा वैसा शासन स्थापित कर रक्खा

है। कहीं राजकीय शक्ति—सर्वोच्च राजनैतिक अधिकार—साधारण जनता के हाथ में है; वहीं राष्ट्रपति का या पार्लियामेन्ट का चुनाव करती है। केन्द्रिक शासन (Central Government) सम्बन्धी अन्य अनेक भेद गिनाये जा सकते हैं पर दृष्टान्त के लिए इतने ही पर्याप्त होंगे। प्रान्तीय या स्थानीय शासक वर्ग (Provincial or Local Authorities) को कहीं तो बड़े विस्तृत अधिकार हैं, वे अपनी समझ के अनुसार कर लगा सकते हैं, ख़र्च कर सकते हैं, क़ानून बना सकते हैं इत्यादि और कहीं उनको बात बात में केन्द्रिक शासन अर्थात् सर्वदेशी सरकार की सम्मति या आज्ञा माँगनी पड़ती है। यह शासक-वर्ग भी कहीं केन्द्रिक-शासन द्वारा नियुक्त होते हैं, कहीं अंशतः नियुक्त और अंशतः जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं और कहीं सर्वथा निर्वाचित होते हैं। यह सब उदाहरण सभ्य जातियों की शासन-प्रणालियों के हैं। अर्धसभ्य जातियों की ओर देखिए तो मानों आपको एक नया, सर्वथा अपरिचित, संसार ही दृष्टिगोचर होगा। कुछ समुदाय तो ऐसे हैं जिनका कोई वासस्थान ही नहीं; वह अपने भेड़-बकरियों को, गाय-बैलों, को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाया करते हैं; उनके यहाँ क़ानून की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि परम्परागत रीतिरवाज़ का द्वन्द्वहीन राज्य है; वास्तविक शासन भी बहुत थोड़ा है या बिलकुल नहीं है, क्योंकि सब बातें रीतिरिवाज़ के अनुसार तै हो जाती हैं। बहुत से ऐसे समुदाय हैं जिनमें पैतृक-शासन की प्रथा (Patriarchal Government) हैं अर्थात् प्रत्येक वंश के मुखिया को वंश के सदस्यों की देख भाल करनी पड़ती है, उनको दण्ड देने का अधिकार होता है, युद्ध में उनका नेता बनना होता है तथा अन्य काम करने पड़ते हैं। इन समुदायों में शासन-व्यवस्था बड़ी ही अविकसित, अपूर्ण अवस्था में है। पैतृक शासन के भी अनेक भेद हैं। सभ्य और अर्द्धसभ्य-समुदायों को छोड़ कर असभ्य समुदायों को देखिए तो अत्यन्त विचित्र और अपरिचित जनों के लिए अत्यन्त आश्चर्य-जनक, दृश्य सामने आते हैं। यहाँ तो शासन-व्यवस्था का अङ्कुर भी मुश्किल से मिलेगा; वह अभी बीज अवस्था में है।

यह तो हुई वर्तमान समय की बात। यदि हम भूमण्डल के देशों के इतिहास को ध्यान से पढ़ें तो राजकीय शासन के, राजनैतिक समाजों के और बहुत से भेद मिलेंगे। प्राचीन यूनान और रोम में, मध्यकालीन उत्तर इटली और उत्तर जर्मनी में, तथा वाणिज्य-कुशल फिनिशियनों की उत्तर अफ़्रीक़ा तटवर्ती बस्ती कार्थेज में बहुत से नगर स्वाधीन थे, जैसे आज कल इग्लैंड एक स्वाधीन राज्य है, फ़्रान्स एक स्वाधीन राज्य है, वैसे ही उन दिनों एथेन्स नगर स्वाधीन था, स्पार्टा स्वाधीन था, रोम स्वाधीन था। ११ वीं, १२ वीं, १३ वीं, और १४ वीं शताब्दी में अधिकांश योरुप में ज़मींन्दारी शासन प्रथा (Feudalism) का दौर दौरा था जिस का संक्षेप से वर्णन करना असम्भव है पर जिसके विषय में यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि वंशपरम्परागत ज़मींदारों को शासन-सम्बन्धी शक्ति प्राप्त थी। प्राचीन पैलेस्टाइन में पुरोहितों का राज्य था, मध्यकालीन (अर्थात् ५ वीं शताब्दी से ले कर १५ वीं शताब्दी तक) यूरुप में कहीं ज्यादा, कहीं बहुत ज्यादा, पर सब जगह अवश्य थोड़ा बहुत राजनैतिक अधिकार पुरोहितों को प्राप्त था। तिब्बत में तो अब तक बड़े पुरोहित दलाईलामा का "शासन" (यदि तिब्बतियों की व्यवस्था को 'शासन' नाम से सम्बोधन कर सकते हैं तो) प्रचलित है। दूर क्यों जाइए, मनुस्मृति तथा अन्य प्राचीन भारतीय स्मृतियों और नीतिग्रन्थों में जिस शासन-पद्धति का विधान है उस में ब्राह्मणों को महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली स्थान दिया गया है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत

में जिस समाज का चित्र खींचा गया है उस के राज-नैतिक शासन में ऋषि-मुनियों का बड़ा भाग है। यूनानी इतिहासकारों से पता लगता है कि तेईस चौबीस सौ वर्ष हुए जब मक़दूनिया के राजा सिकन्दर ने भारत पर चढ़ाई की थी तब वर्तमान सिन्ध-प्रदेश में रहनेवाली जातियों का राज-नैतिक शासन बहुत कुछ ब्राह्मणों के हाथ में था। शासन के रूप के अन्य अनेक भेद इतिहास से उद्धृत किये जा सकते हैं।

शासन के भिन्न भिन्न अङ्गों के परस्पर सम्बन्ध भी सैकड़ों तरह के होते हैं। अमेरिकन राज्यसङ्घ में कार्य-विभाग (Executive) व्यवस्थापक सभा या कांग्रेस (Legislative) और न्याय-व्यवस्था (Judiciary) एक दूसरे के आश्रित नहीं हैं किन्तु, कम से कम सिद्धान्त में, स्वतन्त्र हैं। इंग्लिस्तान में पार्लियामेंट अर्थात् व्यवस्थापक सभा सर्वोपरि है, कार्य-विभाग और न्यायालय उसकी आज्ञा मानने को बाध्य है। प्राचीन नगर एथेन्स में तो जन सभा एक्लीज़िया (Ecclesia) ने ही समर प्रारम्भ करने का, सन्धि करने का, विदेशी एलचियों से बातचीत करने का, शासक-वर्ग को नियत करने का, उनको दण्ड देने का तथा और बहुत सी बड़ा से बड़ी छोटी से छोटी बातों का निर्णय अपने हाथ में रक्खा था। बहुधा स्वेच्छाचारी राजाओं ने नये क़ानून बनाने या पुराने क़ानून रद्द करने या क़ानूनों में परिवर्तन करने के एवं न्याय के सब अधिकार अपने पास रक्खे हैं, या रखने का प्रयत्न किया है।

अच्छा तो संसार की वर्तमान अवस्था के निरीक्षण से और इतिहास के अध्ययन से हमको बीसों प्रकार के शासनों का या यों कहिए बीसों प्रकार की राजनैतिक समाजों का तथा शासन के भिन्न भिन्न अङ्गों के परस्पर सम्बन्धों के बीसों प्रकारों का पता लगता है। राजकीय शास्त्रवेत्ताओं का कर्तव्य है इन सब तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करें, उनकी समता विषमता के आधार पर उनका वर्गीकरण और तुलना करें और व्यापक नियमों का पता लगावें।

पर यहाँ कुछ और प्रश्न आप से आप उत्पन्न होते हैं? राजनैतिक समाज की उत्पत्ति कैसे हुई? कब हुई? उत्पत्ति के मूल कारण और सहायक कारण क्या थे? किसी जाति या प्रदेश में जब एक प्रकार का शासन प्रचलित हो गया तब उसमें परिवर्तन होने के क्या कारण थे? उस शासन ने किन कारणों से अन्य अवस्थाओं को और अन्ततः वर्तमान अवस्था को प्राप्त किया? भिन्न भिन्न समुदायों और प्रदेशों में भिन्न भिन्न शासन पद्धतियाँ प्रचलित होने के क्या कारण हैं? शासक-वर्ग का शासित जनता से क्या सम्बन्ध हैं और वैसे सम्बन्ध क्यों हैं?

स्पष्ट है कि इन मामलों की मीमांसा करने के लिए इतिहास का अवलम्बन करना पड़ेगा। वर्तमान अवस्थाओं के परिशीलन से भी बड़ी सहायता मिलेगी, पर मुख्यतः हमारे अन्वेषणों का आधार इतिहास ही हो सकता है। प्राचीन से प्राचीन समय के और प्राचीन से प्राचीन ढङ्ग के मनुष्य-समुदायों को लेकर हमें देखना चाहिए शासन का विकास कैसे होता है। इतिहास को लेकर हमें देखना चाहिए कि इस समय संसार में जो शासन-पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जो राजनैतिक समाज विद्यमान हैं, उनका विकास कैसे हुआ है। सब राजनैतिक अवस्थाओं और परिवर्तनों के कार्य-कारण-सम्बध की ओर हमको विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। तब इस विकास-क्रम के, इस कार्य-कारण-सम्बन्ध के आधार पर हमें व्यापक नियमों या सिद्धान्तों की स्थापना करनी चाहिए। विवेचन की इस रीति को "ऐतिहासिक प्रणाली" (Historic Method) कहते हैं।

राजकीय मामलों के अनुसन्धान और विवेचन में हम वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनों प्रणालियों के मिश्रण से बनी हुई वैज्ञानिक-ऐतिहासिक प्रणाली का प्रयोग करेंगे। अर्थात् हम राज्यों के रूप, बनावट, अङ्ग और अङ्गों के परस्पर सम्बन्धों का वर्गीकरण भी करेंगे और साथ ही उनके ऐतिसिक विकास तथा उस विकास के ढङ्ग और कारणों की मीमांसा भी करते जायँगे। बस, यही राजकीय शास्त्र या राजनीति शास्त्र या तुलनात्मक राजनीति है। जैसे भाषा-शास्त्री का लक्ष्य मनुष्यों की भाषा है अर्थशास्त्री का लक्ष्य धन है, प्राणिशास्त्री का लक्ष्य जीवन है। वैसे ही हमारा लक्ष्य शासन या राजनीति है। जैसा कि ऊपर के कथन से प्रकट है, इसके विस्तृत क्षेत्र में असभ्य और अर्द्धसभ्य समुदाय भी शामिल हैं, पर पारस्परिक महत्त्व के विचार से राजकीय शास्त्री-गण मुख्यतः सभ्य और उनमें भी विशेषतः सुसभ्य समुदायों की विवेचना करते हैं।

मनुष्य स्वभावतः सामाजिक जीव है। यह सामाजिकता कहाँ से आई, परमेश्वर की कृपा का फल है, या सैकड़ों वर्षों के क्रमिक विकास का परिणाम है? इस समस्या पर हमें इस समय विचार नहीं करना है। हमारे प्रयोजन के लिए इतना समझ लेना काफ़ी है कि जहाँ जहाँ मनुष्य हैं वहाँ वहाँ उनके स्वभाव में सामाजिकता अवश्य है। मनुष्य समाज में ही रहता है। मनुष्यों को मिलजुल कर रहने की प्रकृति से ही कुटुम्ब, समाज, उद्योग, व्यापार, भाषा, कला, साहित्य आदि की उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य मिलजुल कर रहते हैं तब उनके परस्पर सम्बन्धों की कुछ व्यवस्था भी अवश्य हो जायगी, उनके पारस्परिक व्यवहारों का कुछ नियमन भी अवश्य हो जायगा। चाहे उनको इस बात का ज्ञान हो चाहे न हो। यही प्रारम्भिक व्यवस्था, यही प्रारम्भिक नियमन विकसित होते होते उस रूप में परिणत हो जाता है जिसे हम 'शासन' नाम से सम्बोधन कर सकते हैं। इस प्रकार देखने से मालूम होता है कि शासन का उत्पत्तिस्थान, मूल कारण, मनुष्य-स्वभाव है। इस लिए मनुष्य को सामाजिक जीव ही नहीं किन्तु राजनैतिक जीव भी कह सकते हैं। राजनीति-शास्त्र के जन्म-दाता सुविख्यात तत्त्ववेत्ता अरस्तू ने बाईस सौ वर्ष पूर्व ही कहा था कि मनुष्य राजनैतिक जीव है *। मनुष्य का सामाजिक स्वभाव प्राकृतिक वस्तु है। उस स्वभाव से प्राकृतिक रीति से ही शासन प्रकट होता है। इस लिए बहुत से विचारवान् राजकीय शास्त्र को समाज-शास्त्र का अङ्ग मानते हैं और बहुत से उसकी गणना प्राकृतिक शास्त्रों में ही करते हैं। ये दोनों मत सत्य हैं। दूसरे मत को अच्छी तरह समझ लेने से हम मनुष्य की राजनैतिक प्रकृति का यथेष्ट ध्यान रक्खेंगे और राजकीय मामलों को आकस्मिक घटना या खिलवाड़ नहीं, किन्तु अत्यन्त गम्भीर बात मानेंगे। पहला मत—राजकीय-शास्त्र को समाज-शास्त्र का अङ्ग मानने वाला मत—हमारा ध्यान इस विषय की ओर भी आकृष्ट करता है कि इन दोनों शास्त्रों का परस्पर कैसा सम्बन्ध है और समाज-शास्त्र के अन्य अङ्गों से राजकीय शास्त्र का क्या सम्बन्ध है?

मनुष्यों के सुख-दुख पर—उद्योग, व्यापार, समाज-सङ्गठन, साहित्यकला, मानसिक चतुरता, साहस इत्यादि पर—राजनैतिक संस्थाओं का अतुलनीय प्रभाव पड़ता है। अतएव इन संस्थाओं का विवेचन करनेवाला शास्त्र अत्यन्त महत्त्व का है।

बेनीप्रसाद एम० ए०,

---

* अरस्तू की "राजनीति" देखिए।

विविध विषय।

१—धूप में सुखलाई गई तरकारी।

कुछ दिन हुए लाहौर में एक विज्ञान-परिषद् हुई थी। उसमें बड़े बड़े वैज्ञानिक इकट्ठे हुए थे। वैज्ञानिकों में मिस्टर जबरैल हावर्ड एम० ए० भी थे। इन्होंने धूप में सूखी हुई तरकारियों की उपयोगिता पर एक प्रबन्ध पढ़ा। हावर्ड महाशय को लड़ाई के दिनों में शायद क्वेटा में रह कर कुछ काम करना पड़ा। आप ताज़ी तरकारी धूप में सुखा कर फ़ौज के लिए भेजा करते थे। इस विषय में आपने एक अच्छी गवेषणा की। यों तो बहुतेरी चीज़ें सूख-साख कर डब्बों में बन्द हो विलायत से आया करती हैं। तरकारियों के विषय में भी कोई न कोई ऐसी ही वैज्ञानिक हिकमत से काम लिया जा सकता है। परन्तु इन हिकमतों में बड़ी झंझट है। हावर्ड साहब ने सीधी सादी तरकीब निकाली। हर तरह की सब्ज़ तरकारियों को वे बाइकारबोनेट आफ़ सोडा में कुछ उबाल कर धूप में सुखा लेते थे। फिर उसे दबा दबा कर टीन के कनस्टरों में भर सिपाहियों के लिए रवाना कर देते थे। एक बेटालियन के एक हफ़्ते के ख़र्च के लिए सिर्फ़ १२ कनस्टरों में तरकारी समा जाती थी। और इन एक दर्जन कनस्टरों को एक ख़च्चर लादने के लिए काफ़ी था। तरकारियाँ जब बना कर खाई जाती थीं तब उनमें वही स्वाद और उनका वही रङ्ग रहता था मानों अभी वे ताज़ी तोड़ कर तैयार की गई हैं। हावर्ड साहब का मत है कि इस विषय में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। एक तो यह कि सुखलाने के पहले तरकारियाँ ताज़ी हों, बिगड़ने न पावें। दूसरे सूखने में देरी न होनी चाहिए और जहाँ तरकारियाँ सुखलाई जायँ वहाँ की हवा में ख़ुश्की हो। इस कार्य्य के लिए वे बिलोचिस्तान बहुत उपयुक्त समझते हैं, और वहाँ की भी देहात जहाँ मज़दूर वग़ैरह सस्ते हों। परन्तु उद्योगी पुरुषों को चाहिए कि इस व्यापार का तजरुबा अन्यत्र भी करें। अगर कामयाबी होगई तो ख़ासा रोज़गार है। कितने ही स्थान हैं जहाँ ताज़ी तरकारियाँ दुर्लभ हैं। वहाँ के रहनेवाले टटकी शाक़भाजी का आनन्द उठा कर धन और आशीर्वाद दोनों ही देंगे।

२—गणेश कौन हैं?

उस दिन, पूने में, श्रीयुत केशव रामचन्द्र छापरवाने, एम० ए०, एल्-एल्० बी०, का एक व्याख्यान हुआ। प्रतिपाद्य विषय था—"गणों का ईश" अर्थात् "गणेश"। गणेश शब्द का अर्थ करते हुए आपने कहा—"गण" शब्द का अर्थ, पृथक् पृथक् व्यक्ति, भी है और सङ्घ, समाज, समुदाय भी है। जुदा और बिलकुल स्वतन्त्रतापूर्वक रहने की प्रवृत्ति जीव मात्र में बहुत ही कम पाई जाती है। मनुष्य भी दिन पर दिन अधिकाधिक समाजशील होता जाता है। प्राणिमात्र में इस प्रकार मिल कर रहने की प्रवृत्ति क्यों देख पड़ती है? कुछ लोग इसका उत्तर देते हैं—सृष्टि-स्वभाव (Nature) जो ईश्वर के अस्तित्व के क़ायल हैं वे कहते हैं, यह सब ईश्वर की लीला है। मैं इन दोनों बातों का क़ायल नहीं। न मैं यह मानता हूँ कि यह विश्व-व्यापार आप ही आप हो रहा है और न यह कि ईश्वर ही स्वयं ऐसे काम किया करता है। मेरे विचार और ही तरह के हैं। सामान्य शासनकार्य्य में, ऊपर से नीचे तक, न्यूनाधिक श्रेणी के अधिकारियों की मालिका हम देखते हैं। उसी प्रकार सृष्टि-रचना का व्यवहार सुचारु रूप से चलाने के लिए एक परमेश और उसके मातहत अनेक ईश तथा ईश के अधीन अनेक भिन्न भिन्न देवता होने चाहिए। हमारे प्राचीन ऋषियों का भी यही कथन है कि सृष्टितन्त्र को सुयन्त्रित रखने के लिए अदृश्य "गणदेवता" संसार में घूमा करते हैं। अतएव मेरी राय में हमारे "गणेश" समाज के देवता हैं। किसी कार्य्य के आरम्भ में विघ्न-निवारक गणेश की ही पूजा करने की प्रथा समाज में प्रचलित है। इससे यह न समझिएगा कि केवल विघ्न-हर्त्री शक्ति ही इस देवता में है; किन्तु समाज को जागृत करना, उसमें स्फूर्ति का सञ्चार करना और विचारैक्य उत्पन्न करना—समाज की उन्नति करना—इस देवता का कार्य्य है। इसीलिए गणेश समाज के अधिष्ठाता देवता हैं।

३—जनरल बालमुकुन्द दुबे का देहावसान।

बड़े दुःख की बात है कि गत २१-६-१८ को इन्दौर-राज्य का एक बहुत बड़ा हितैषी सदा के लिए संसार से

जनरल बालमुकुन्द दुबे ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

प्रस्थान कर गया! उसका शुभ नाम था—बालमुकुन्द दुबे। आप इन्दौर-राज्य के सेनापति वर्षों तक रहे थे। मृत्यु-समय पेन्शन पाते थे। आपके देहान्त से इन्दौर-राज्य बहुत दुखी है।

जनरल बालमुकुन्द दुबे का जन्म कार्तिक ब. ३ संवत् १६०६ को इन्दौर में हुआ। आपके पिता का नाम था—पण्डित गयादीन दुबे। आप कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और श्रीमान् महाराजा साहब के ख़ासगी विभाग में नौकर थे। आर्थिक अवस्था आपकी साधारण थी। तथापि आपने अपने पुत्रों को उस समय की दृष्टि से यथेष्ट शिक्षा दिलाई। जनरल बालकुमुन्द दुबे का अध्ययन अँगरेज़ी में प्रवेश-परीक्षा तक हुआ था। विद्यार्थि-अवस्था से ही आपके सैनिक गुणों का परिचय होने लगा था। अतएव उसी अवस्था में आपको श्रीमान् स्वर्गीय बड़े तुकोजीराव महाराज ने मानकरी बेड़े में एक जगह दी। आपके ज्येष्ठ-बन्धु भवानीसिंह दादा साहब इन्दौर-रियासत के सरनोबत (कमांडर-इन-चीफ) थे। १८५७ ईसवी में जो लोग विशेष प्रसिद्ध हुए उनमें भवानीसिंहजी भी थे। इससे बालमुकुन्द जी सहज ही श्रीमान् तुकोजीराव महाराज के कृपा-पात्र हो गये। इस का फल यह हुआ कि शिक्षा-क्रम समाप्त होते ही, १८६५ ईसवी में, आपको मुलकी सेना में ५०) मासिक का एक पद मिला। अपनी कार्य्य-तत्परता और कार्य्य-क्षमता के बल पर उसी पद से बढ़ते बढ़ते आप पहले तो मुलकी सेना के नायब और अन्त को १८८५ ईसवी में, यहाँ के प्रधान सेनापति (जनरल कमांडर-इन-चीफ) हो गये। इस बड़े ही उत्तर-दायित्व-पूर्ण पद का कार्य्य-भार आपने अत्यन्त दक्षता और कुशलता पूर्वक वहन किया। कोई ८ वर्षों तक आपने इस पद को अलङ्कृत किया। आपके सेनापतित्व में इन्दौर की सैनिक शिक्षा की दशा सन्तोष-जनक और प्रशंसनीय रही। सेना के भिन्न भिन्न अङ्गों में आपने कितने ही उपयोगी सुधार किये। इससे श्रीमान् स्वर्गीय शिवाजीराव महाराज आप से बड़े प्रसन्न और सन्तुष्ट रहते थे। उसका फल-स्वरूप श्रीमान् ने आप को १२५ बीघा ज़मीन वंश-परम्परा के लिए इनाम दे दी और ५०) मासिक आपके जीवन पर्य्यन्त पेन्शन कर दी। श्रीमान् शिवाजीराव महाराज आप पर-पूर्ण विश्वास रखते थे। उन्होंने दुबेजी को वर्तमान महाराजा साहब के ए० डी० सी० के स्थान पर नियुक्त किया था। और कुछ ही दिनों बाद आपको उनका अभिभावक (Guardian) भी बना दिया था। यह दुबेजी की अचल राजनिष्ठा और उनके प्रति महाराजा साहब के विश्वास और आदर का प्रमाण है। १६०८ ईसवी में आपको ३००) मासिक पेन्शन हो गई। इधर कुछ समय से आप श्रीमान् तात्या साहब महाराज होलकर के गार्डियन बनाये गये थे। उसी सिलसिले में एक दिन आप मोटर में मंडलेश्वर जा रहे थे। रास्ते में एक दुर्घटना हो गई, जिससे आपको गहरी चोट पहुँची। उससे तो आप अच्छे हो गये थे; पर तभी से आपका स्वास्थ्य दिन पर दिन बिगड़ता गया, अधिकाधिक क्षीणता आती गई और अन्त में मूत्रपिण्ड-रोग के बहाने कालदेव ने आपको अपने दरबार में बुला लिया!

जनरल बालमुकुन्दजी सेना-सम्बन्धी कार्य्यों में तो निष्णात थे ही; पर साथ ही आप बड़े विद्या-प्रेमी और लोक-हित-चिन्तक भी थे। आपकी धाक बहुत थी और मर्य्यादा-पालन (डिसिप्लिन) पर आप बड़ी कड़ी दृष्टि रखते थे। आपने श्रीमान् शिवाजीराव महाराज से सिफ़ारिश करके यहाँ सैनिकों के लिए एक हाईस्कूल खुलवाया था। स्थानीय होलकर कालेज के जन्म देने में भी कहते हैं, आपका हाथ था। आपकी प्रेरणा से इन्दौर में "कान्यकुब्ज-हितकारिणी" नाम की एक सभा भी स्थापित हुई है। आप के पाँच पुत्र हैं। पाँचों को आपने ऊँचे दरजे की शिक्षा प्राप्त कराई है। सब से बड़े पुत्र, राय-बहादुर-मेजर रामप्रसाद दुबे, एम० ए० बी-एस० सी०, एल० एल० बी, आजकल होल्कर राज्य के प्रधान मन्त्री हैं। दूसरे पुत्र, कप्तान माधवप्रसाद, श्रीमान् महाराजा साहब के मिलिटरी सेक्रेटरी हैं। तीसरे, पण्डित आनन्दीप्रसाद दुबे, बी० एस०, एल-एल० बी०, बार एट-ला, आजकल प्रयाग में विकालत करते हैं।

सचमुच जनरल साहब का भाग्य वर्णनीय है। उत्तम शरीर-स्वास्थ्य, राजकृपा, अधिकार, सद्गुणी और कर्तृत्ववान् सन्तान, इन सभों का एकीकरण आपके यहाँ एक ही समय में हुआ था। किसी संस्कृत कवि का वचन है—

"यदि रामा यदि च रमा यदि तनयो विनयधीगुणोपेतः।
तनये तनयोत्पत्तिः सुरवरनगरे किमाधिक्यम्।"

यह उक्ति हमारे दुबेजी पर ठीक चरितार्थ होती थी। आपका शरीरान्त क्या हुआ, वृद्ध, अनुभवी और इन्दौर का अन्तिम कर्तृत्वशाली पुरुष खो गया! आपके वियोग से आपके कुटुम्बियों और आप्तेष्टों को विशेष दुःख होना स्वाभाविक ही है। मृत्यु के समय आपकी अवस्था ६९ वर्ष की थी। परमात्मा आपकी आत्मा को शान्ति और पारिवारिक जनों को यह दुःख सहने की शक्ति दे। जनरल दुबे का पाञ्चभौतिक शरीर यद्यपि संसार में न रहा तो भी आपका कीर्ति कलेवर अवश्य चिरञ्जीवी होगा —कीर्तिर्यस्य स जीवति।

पुस्तक-परिचय।

१—पण्डित भवानीदयालुजी की जीवनी—प्रकाशक, श्रीयुत पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय, औदुम्बर-कार्यालय काशी। मूल्य।)

दक्षिण अफ़्रीका के भारतवासियों के दुःख दूर करने में महात्मा गाँधी को सत्याग्रह का व्रत धारण करना पड़ा था। इस व्रत के पालन करने में उन्हें और उनके अनुयायियों को बहुत कष्ट उठाने पड़े थे। उन्हीं अनुयायियों में पण्डित भवानीदयालुजी भी हैं। इस पुस्तक में इन्हीं पण्डितजी की जीवनी लिखी गई है। भाषा रोचक है। आदि पृष्ठ में इनके और इनके धर्मपत्नी के चित्र भी दिये गये हैं।

❋

२—स्वराज्यवीणा—प्रकाशक, महताबसिंह वर्म्मा, "देशभक्त" कार्य्यालय सिर्सागञ्ज, मैनपुरी; मूल्य ।=)

स्वराज्य-सम्बन्धिनी कविताओं का एक उत्तम सङ्ग्रह है। आदि में नेताओं सहित भारतमाता का चित्र है। पुस्तक स्वराज्यप्रेमियों के रखने योग्य है। जिल्द व चित्र यदि अधिक स्थायी बनाये जाते तो उत्तम होता।

❋

३—प्रथम कर्म ग्रंथ—श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रथम कर्मग्रन्थ। प्रकाशक, श्रीआत्मानन्द जैन, पुस्तकप्रचारक मण्डल, रोशन मोहल्ला, आगरा; और वहीं से प्राप्य। मूल्य कच्ची जिल्द १।) पक्की जिल्द १।=) जैन-साहित्य में कर्मग्रन्थों का बड़ा आदर है। और यह उन्हींमें से पहले कर्मग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद है। यह अनुवाद सर्वसाधारण जैन-मतावलम्बियों को विशेष उपयोगी प्रतीत होगा। इसमें ग्रन्थकार की जीवनी भी दी गई है। अनुवाद के बाद चार परिशिष्ट लगाये गये हैं, जिन में से पहले परिशिष्ट में जैनियों के दोनों सम्प्रदाय के कर्म-विषयक समान तथा असमान सिद्धान्त तथा भिन्न भिन्न व्याख्यावाले समान पारिभाषिक शब्द और समानार्थक भिन्न भिन्न संज्ञायें-सङ्ग्रह की हैं।

शुद्धि-पत्र बहुत बड़ा है। आशा है कि यह त्रुटियाँ दूसरे संस्करण में जाती रहेंगी। इन त्रुटियों को छोड़ कर छपाई साफ़ और भाषा रोचक है। जैन-मतावलम्बियों के बड़े काम की पुस्तक है।

चित्र-परिचय

प्रभात।
(१)

प्रभात होते ही पक्षियों को आनन्द होता है। प्रकृति का सौन्दर्य्य सूर्य्योदय में देख पक्षी कल्लोल करने लगते हैं। यही दृश्य इस संख्या के रङ्गीन चित्र में दिखलाया गया है।

युद्ध के दृश्य
(२)

संयुक्त प्रान्त की गवर्नमेंट के भेजे हुए युद्ध-सम्बन्धी छः चित्र इस संख्या में भी प्रकाशित किये जाते हैं। गवर्नमेंट की आज्ञा है कि इन्हें कोई पुस्तकाकार न प्रकाशित करे। इनके प्रकाशन का अधिकार गवर्नमेंट ने अपने ही अधीन रक्खा है।

कानपुर का श्मशान।
(३)

इन्फ़्लूएन्ज़ा के कारण कानपुर के श्मशान में मुर्दों के ठठ्ठ लगे रहते हैं। इसी भयानक दृश्य का चित्र इस संख्या में दिया गया है।

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad.
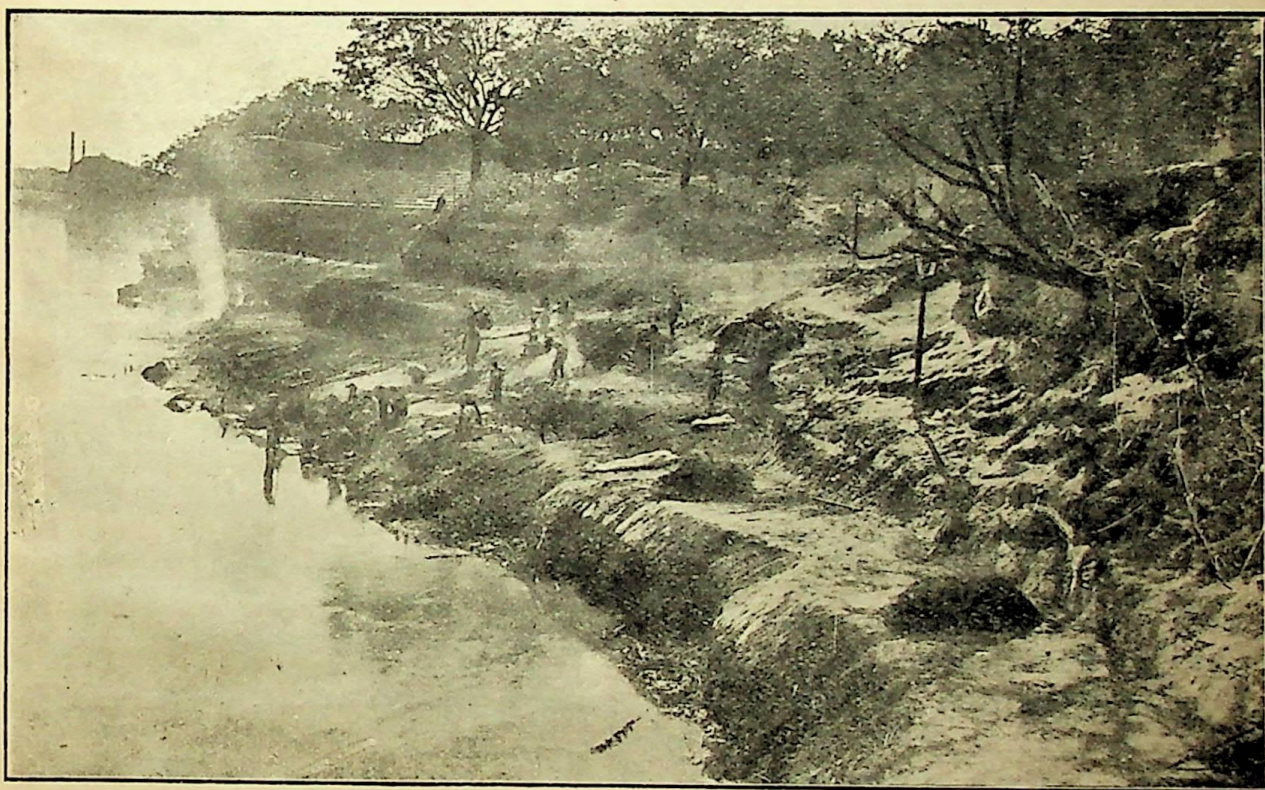
कानपुर का श्मशान।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

अलबेरूनी का भारत ।

(पहला भाग)

महमूद गज़नवी के ज़माने में अलबेरूनी नाम के एक विद्वान् मुसलमान ने भारत में आकर यहाँ का अपनी आँखों देखा हाल लिखा है। इस विद्वान् ने संस्कृत पढ़ कर हम लोगों के धर्मशास्त्र का भी ख़ूब अध्ययन किया था। संसार के इतिहास में यह पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है। भारत की उस समय क्या दशा थी इसका सच्चा और मनोरञ्जक वृत्तान्त जानना हो तो इसे अवश्य पढ़िए। मूल्य केवल १।), अनुवादक हैं श्रीयुत सन्तराम बी० ए०।

कुमारसम्भव

जिन सरस्वती-सम्पादक पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के ग्रन्थ पढ़ने के लिए लोग चातक की तरह दृष्टि लगाये रहते हैं, जिन्होंने स्वाधीनता, रघुवंश, महाभारत, सम्पत्तिशास्त्र आदि ग्रन्थ लिखे हैं उन्हीं की रचना यह भी है। यदि जगत्प्रसिद्ध कालिदास की लेखनी का रसास्वादन करना हो, यदि बिना ही संस्कृत पढ़े काव्यानन्द लूटना हो तो इसे अवश्य लीजिए। मूल्य केवल ।||)

मेघदूत

यह भी द्विवेदी जी महाराज की ही लेखनी का चमत्कार है। कालिदास की प्रसिद्ध पुस्तक 'मेघदूत' का रसास्वादन करना अभीष्ट हो तो इस पुस्तक को अवश्य पढ़िए। मूल्य केवल ।—)

पता—मैनेजर, इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

इन्साफ़-संग्रह—तीसरा भाग

जिन्होंने जोधपुर के प्रसिद्ध मुंसिफ़ मुंशी देवीप्रसादजी के लिखे हुए इन्साफ़-संग्रह पुस्तक के दोनों भाग पढ़े हैं उनसे इस पुस्तक की अधिक प्रशंसा करना व्यर्थ है। पुस्तक एक बार प्रारम्भ करने से फिर छोड़ने को जी नहीं चाहता। पुस्तक चतुराई और बुद्धिमत्ता का ख़ज़ाना है। मूल्य केवल ।≡)

पता—मैनेजर, इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

FORMATION OF A RESERVE OF PROBATIONARY CLERKS FOR SERVICE OVERSEAS.

With a view to facilitate the recruitment of a suitable class of clerks for service overseas, sanction is accorded to the entertainment of clerks as follows:—

(1) The clerks will be enrolled for the period of the war and will be paid at the rate of Rs. 30-0-0, each per mensem while on probation, and Rs. 50-0-0, each per mensem when accepted as suitable. The period of probation should not be less than one month. Their pay overseas will be as allowed for the appointment for which they are selected, with a minimum of Rs. 80-0-0, per mensem consolidated.

(2) Probationers, who are found to be unlikely to make efficient clerks within a reasonable period, should be discharged by their Commanding Officers.

(3) The clerks should have some experience of office work and should be able to translate reasonably well from the Vernacular into English.

(4) The clerks will not be entitled to free clothing or rations whilst in India.

Intending candidates should apply to the undersigned:

MAHENDRA PRASAD,
Deputy-Collector, and District Assistant Recruiting officer,
ALLAHABAD.

COLLECTORATE,
25th March, 1918.